प्रकाशक
श्री रामेश्वर सिंह
इन्डोलाजिकल बुक हाउस
सी के ११।१, नेपाली खपड़ा
वाराणसी

मूल्य १२)
प्रथम संस्करण १९६६

मुद्रक
श्री प्रेस
कृष्णपुर, विश्वेश्वरगंज,
वाराणसी

पाणिनि-प्रशस्तिः

मैत्र्या प्रशान्तो दयया शरण्यो
वदान्यमूर्तिर्मुदितावलेन ।
शब्दार्थसंबन्धरहस्यविज्ञो
जयत्यसौ पाणिनिनामधेयः ॥ १ ॥

यस्तप्तवान् घोरतपो महात्मा
गोपर्वते शैववराभिलाषी ।
येनार्षदृष्ट्या विहितं च शास्त्रं
दाक्षीसुतं तं शरणं व्रजामि ॥ २ ॥

येनाष्टकं वै ग्रथितं सुबुद्ध्या
अध्यायपादैः सुविभक्तरूपम् ।
गूढार्थकैः सूत्रचतुःसहस्रैः
शालातुरीयं तमहं नमामि ॥ ३ ॥

आश्रित्य तन्त्राणि महान्ति प्राचां
विहाय तन्त्रान्तरसंस्थदोषान् ।
अकालकं शास्त्रमतीव रम्यं
येनर्षिणोक्तं तमिह प्रपद्ये ॥ ४ ॥

शब्दार्थनिश्चायकमार्गभूतं
अनेकवृत्त्यादियुतं महद् यत् ।
सप्रातिशाख्यं सखिलं सशिक्षं
धिया विनेया नितरां पठन्तु ॥ ५ ॥
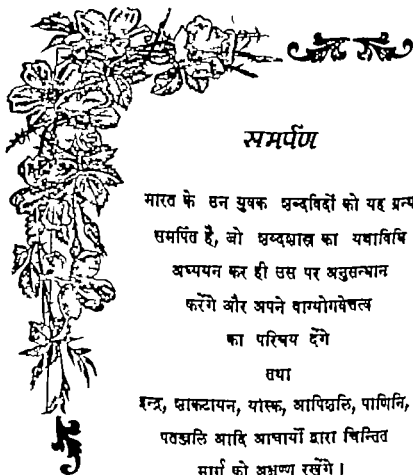
समर्पण

भारत के उन युवक शब्दविदों को यह ग्रन्थ
समर्पित है, जो शब्दशास्त्र का यथाविधि
अध्ययन कर ही उस पर अनुसन्धान
करेंगे और अपने वाग्योगवेत्तृत्व
का परिचय देंगे
तथा
इन्द्र, शाकटायन, यास्क, आपिशलि, पाणिनि,
पतञ्जलि आदि आचार्यों द्वारा चिन्तित
मार्ग को अक्षुण्ण रखेंगे।

लेखक का निवेदन

प्रस्तुत ग्रन्थ मे पाणिनीय व्याकरण के शास्त्रीय पक्ष से सम्बद्ध गवेषणा-प्रधान लेखो का सग्रह है। इन लेखो मे पूर्वाचार्यों का अनुसरण कर पाणिनीय-व्याकरण-सम्बन्धी अनेक विशिष्ट विषय सप्रमाण विचारित हुए है। यह नि सकोच रूप से कहा जा सकता है कि 'व्याकरणशास्त्र के विपयो का शास्त्रीय पद्धति के अनुसार विचार करने का अकपट प्रयास' इस ग्रन्थ मे किया गया है। हिन्दी मे शास्त्रीय विपयो को शास्त्रीय पद्धति से कितनी सफलता से प्रदर्शित किया जा सकता है—यह इस ग्रन्थ से सहज रूप से जाना जा सकता है। हमारा पूर्ण विश्वास है कि सभी शास्त्र (शास्त्रीय पद्धति को क्षुण्ण न कर) सस्कृत-प्रधान हिन्दी मे यथार्थत व्याख्यात और विवृत हो सकते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ मे निम्नोक्त दृष्टियाँ पाठको को मिलेंगी —

(क) **पूर्वाचार्यों के मतों का खण्डन :** हमने यह दिखाया है अनेक स्थलो मे व्याकरणशास्त्र के प्राचीन व्याख्याकार भ्रान्त हुए हैं। अष्टवा व्याकरण का तात्पर्य, सूत्र का छन्दोरूपत्व आदि लेख इस प्रसङ्ग मे द्रष्टव्य हैं। हमारी मान्यता है कि जैसे-जैसे प्राचीनतर ग्रन्थ मिलते जाएगे, वैसे-वैसे अनेक भ्रान्त मतो का परिज्ञान होता जाएगा।

(ख) **आधुनिक गवेषकों के मतों का खण्डन :** कई लेखो मे यह दिखाया गया है कि व्याकरणशास्त्र के आधुनिक गवेषक शास्त्रीय पद्धति को न जानने के कारण या अन्य कारणों से कही-कही भ्रान्त मत का प्रचार करते हैं। यवनानी, पदकार, शिशुक्रन्दीय आदि शब्दो के विचारप्रसङ्ग मे यह भ्रान्ति भलीभाँति दिखाई गई है। आधुनिक गवेषको से हमारा अनुरोध है कि वे शास्त्रीय पद्धति को जानने के बाद ही शास्त्रीय निर्देशो के गूढ तात्पर्य का अन्वेषण करें। शास्त्रकार जिस पद्धति से शास्त्र रचते हैं, उस पद्धति को न जानकर शास्त्रीय विवरणो से कुछ निष्कर्ष निकाल लेना अशोभनीय कार्य ही है।

(ग) **अष्टाध्यायी के गूढ़ रहस्यों का प्रदर्शन :** सम्भवत प्रस्तुत ग्रन्थकार ने ही यह चेष्टा सर्वप्रथम की है कि अष्टाध्यायी के प्रकरणक्रमो का स्थापन साभिप्राय एवं तर्कसङ्गत है। निपातनसूत्र एवं सज्ञापदघटित सूत्रों पर इतना विशद विचार शायद ही अन्यत्र किया गया है। कवर्ग का उच्चारणस्थान सम्बन्धी लेख यह सिद्ध करता है कि प्राचीन निर्देशों का तात्पर्य कभी-कभी कितना गूढ़ होता है और यदि शास्त्रीय प्रक्रिया को न जाना जाय तो भ्रान्ति होने की सम्भावना रहती ही है।

(ऋ) **संस्कृत भाषा और व्याकरण का स्वरूप :** यद्यपि प्रस्तुत ग्रन्थ मे इन दो विषयो पर विचार करना प्रसक्त नही था, तथापि पाणिनीय वैयाकरणो का उपर्युक्त विषयो मे जो दृष्टिकोण है, वह यहाँ एकाधिक लेखो मे विवृत हुआ है। लोकप्रामाण्यवाद, व्याकरण की मर्यादा, अभिधान-अनभिधान, प्रकृतिप्रत्यय का विश्लेषण आदि पर जो पुष्कल सामग्री इस ग्रन्थ मे समाहृत हुई है, उस पर आधुनिक भाषाशास्त्री को ध्यान देना चाहिए और यह देखना चाहिए कि प्राचीन वैयाकरणो की मान्यताएँ कहाँ तक न्याय्य हैं।

(ॠ) **सूत्र-भाष्यादि के पाठ :** अष्टाध्यायी के पाठान्तरो का सकलन एव पाठान्तर विचार—ये दो विशिष्ट लेख इस ग्रन्थ मे हैं। पाठान्तरो का सग्रह इससे पहले किसी ग्रन्थ मे प्रकाशित नहीं हुआ है। पाठान्तर-सम्बन्धी विचार कीलहर्न आदि कई विद्वानो ने किया है। इस ग्रन्थ मे जो सरणि दिखाई गई है, वह व्यापकतर है—ऐसी मेरी धारणा है। भाष्यादि के पाठो की कुछ अशुद्धियो पर स्पष्ट विवेचन किया गया है। ऐसे अनेक स्थल हैं जिन पर व्याकरणाध्येताओ को विचार करना चाहिए।

इस अनुसन्धानात्मक ग्रन्थ के प्रकाशन के समय मैं सर्वाधिक कृतज्ञता के साथ जिनका नाम स्मरण कर सकता हूँ वे शब्द-विद्या मे कृतपरिश्रम डा० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल महोदय हैं, जिनकी प्रेरणा, अनुकम्पा और परामर्श के कारण मैं ग्रन्थलेखन मे समर्थ हुआ हूँ। 'अनुसन्धान' शब्द से जो भी कुछ मैं समझता हूँ, वह अग्रवाल महोदय की देन है। तथैव मैं नतशीर्ष होकर स्वीकार करूँगा कि जो भी मुझमे व्याकरणशास्त्रसबद्ध शास्त्रीय ज्ञान है, वह पूर्णरूप से मुझे विद्यार्हन्तीचण वेदान्तचुञ्चु रघुनाथ शर्मा महोदय से ही मिला है। शास्त्रीय दृष्टि से यदि इस ग्रन्थ मे क्वचित् स्खलन दृष्ट हो तो वह मेरी बुद्धि का ही दोष है, गुरुवर का नही—यह निवेदनीय है।

यह मेरा सौभाग्य है कि आरम्भ से ही प्रख्यात विद्वानो का ध्यान मेरे शब्दशास्त्रीय लेखो पर आकृष्ट हुआ था। म० म० गोपीनाथ कविराज, श्री को० अ० सुब्रह्मण्य अय्यर, डा०मङ्गलदेव शास्त्री, प० सरस्वती प्रसाद चतुर्वेदी, श्री युधिष्ठिर मीमासक, श्री विधुशेखर भट्टाचार्य, डा० आर्येन्द्र शर्मा, श्री नलिनविलोचन शर्मा, श्री गुरुपद हालदार, डा० क्षितीशचन्द्र चट्टोपाध्याय आदि अनेक सुगृहीतनामधेय विद्वानो द्वारा मैं इस मार्ग मे कार्य करने के लिये अनुप्रेरित और उपदिष्ट हुआ हूँ। इन विद्वानो से प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से मुझे जो उत्साह मिला है, तदर्थ उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रणयन मे मेरे दो मित्रो का सहयोग स्मरणीय है। श्री गोपाल शर्मा के दीर्घकालीन प्रेमपूर्वक सहयोग से ही पूर्वप्रकाशित लेखो का सग्रथन, सज्जीकरण आदि

पूर्वक नवीन ग्रन्थ का प्रणयन करना इतना शीघ्र संभव हो सका। अनुक्रमणिकादि कार्य में भी रमापद चक्रवर्ती ने निष्ठापूर्वक जो श्रम किया है वह प्रशंसनीय है। इस ग्रन्थ के प्रकाशक श्री रामेश्वर सिंहजी साधुवाद के पात्र हैं, जिन्होंने नीरस शब्दविद्या से सम्बद्ध एक ग्रन्थ का प्रकाशन केवल प्राचीन भारतीय विद्या के प्रचार की दृष्टि से किया।

अनिवार्य कारणों से ग्रन्थ में कुछ मुद्रणप्रमाद हो गए हैं, शुद्धिपत्र के अनुसार जिनका संशोधन कर लेना आवश्यक है।

इस ग्रन्थ में जो विचार प्रदर्शित हुए हैं, उनपर यदि कोई संशय उत्थापन करें या मतविशेष का कोई खण्डन करें तो मैं सहर्ष उत्तर देने के लिये प्रस्तुत हूँ। 'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः' न्याय को मानकर ही कोई विचारक अपने विचार को प्रकाशित कर सकता है। ग्रन्थ में कुछ ऐसे मत अवश्य ही प्रतिपादित हुए हैं जो न प्राचीनपन्थी को रुचिकर लगेगा और न नवीनपन्थी को ही सङ्गत प्रतीत होगा। मैंने अपनी ओर से विचार का मार्ग खुला ही रखा है।

व्याकरणसम्बन्धी कुछ गूढ़ तथ्य इस ग्रन्थ में विवृत नहीं हुए। 'संस्कृतभाषा का अनुशीलन' नामक आगामी ग्रन्थ में उन पर विवेचन किया जाएगा। इति—

रामनवमी
३० मार्च १९६६
११।१ ३ धोमारपुरा
वाराणसी

निवेदक
रामशङ्कर भट्टाचार्य

विषयसूची

— । —

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध पाठ	शुद्ध पाठ
१	२२	को	के
५	२५	प	पष्ठ
१४	३२	सत्र	सूत्र
२०	२७	गौण भी सवन्ध	गौण सवन्ध भी
२१	२९	किया है	की है
३२	१३	कृन्	कृत्
४४	२७	इस	इन
५०	२९	पाष्ठिक	पाष्ठिक
५१	२४	उसके	इसके
५५,५७,५९	(लेख नाम का निर्देश 'अष्टाध्यायी की प्राचीन वृत्तियां' होगा)		
६१	४	उस	उन
६३	(लेख नाम का निर्देश 'पाणिनि के ग्रन्थो से ' होगा)		
६३	११	सङ्खाय	सङ्ख्या
६५	२८	१।४।०५	१।४।१०५
६९	२९	प्रसद्धयेह	प्रसिद्ध्येह
७१	२	कर	को
७८	२१	व्यपहार	व्यवहार
८७	४	काशिका	काशिका का ऐसा कहना अनावश्यक है,छन्दसि दृष्टानुविधि. न्याय से ही उक्त कार्य हो सकता है।
९१	१४	उसका	उसके
९३	३०	शृङ्गोति	शृङ्गेति
१०६	२०	सिद्धयर्थ	सिद्ध्यर्थ
११०	३१	मनीत्ये	मनित्ये
१११	९	ब्रह्म चारिणी	ब्रह्मचारिणि
१११	२८	सज्ञा	संज्ञायाम्

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध पाठ	शुद्ध पाठ
११२	४	रहस्यर्थे	रहस्यर्थे
११७	२४	मागेवा मे	मार्गेश
११८	२	वाभा	वाले
११९	९	प्रवयवानुसारी	प्रवयवार्थानुसारी
१२५	२१	इग	इन
१२६	२०	हार्पो	हार्पो
१३४	२५	स्वाङ्गाम्यु	स्वाङ्गाम्युपर्य
१३७	१०	पप	पप
१३८	२४	के	को
१४	११	विपम	विपय
१४१	२९	वैबिम्य	द्वैबिम्य
१४२	३	हुप	वह
१४२	९	पकाबयति	पाचयति
१४२	१८	योगिवाक्य	योगिकवाक्य
१४२	१	क्रियया	क्रियया
१४२	१०	हरिनामामृत क्रियाकार	हरिनामामृतकार क्रिया
१४१	५	स्यय	स्वप
१५१	२६	का ही	की ही
१५८	२१	मंयुस्य	मस्तुस्य
१६४	६	प्रतीतस्तु	प्रतीतिस्तु
१७०	२९	वेद को	वेद की
१७४	२१	वसुमि	वसुमि
२९	१२ (& चिह्न नहीं रहेगा तथा As से नया वाक्य शुरू होगा)।		
१ ९	११	528	422
१९४	२०	Period compared	period. Compared
१९५	१६	विवक्षा ही	विवक्षा में ही
२ ६	२८	शास्त्र	शास्त्र
२११	४	वस्तुपगमेत्	वस्तूपगमे
२११	१८	पगा	गया
२१५	२१	उसको	उसके

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध पाठ	शुद्ध पाठ
२१५	२४	ओर वलिष्ठ	अधिक वलिष्ठ
२१६	२६	तत्वत·	तत्वत.
२१७	१५	भाषाशिक्षार्थी	वे भाषाशिक्षार्थी
२१८	१०	का व्यापार	के व्यापार
२१९	१८	पाणिनि को	पाणिनि के
२१९	२३	शब्दो को	शब्दो के
२२१	१५	कैयट से	कैयट ने
२२४	९	दोनो सबन्ध	दोनो का सबन्ध
२२४	१०	नित्य	नित्यत्व
२२७	३०	मनुकर्त्यम्	मनुवर्त्यम्
२३२	१०	समनुपाती	समानुपाती
२३४	२२	नीयां पृथग् गणनायाना	नीयाना पृथग् गणनाया
२३५	१	प्रसग होता	प्रयोग होता
२३५	१६	ओर इसका	ओर इसके
२३७	४	(भाषा वैज्ञानिक शब्द को आधुनिक शब्द के बाद पढे)	
२३८	१२	भ्रष्ट	भ्रष्ट
२४०	१७	कठ्यो	कण्ठ्यो
२४७	२३	व्यापितत्वात्	व्यापित्वात्
२४९	२६	वेज्ञानिक	वैज्ञानिक
२५२	१३	मनोवज्ञानिक	मनोवैज्ञानिक
२५३	१८	उनके	उसके
२५४		नही सकता	नही हो सकता
२५६	१५	असमजता	असमञ्जसता
२६२	१७	होता	होती
२६४	टि० १	महाभाष्य	सिद्धान्तकौमुदी
२६९	९	सस्कृ	सस्कृत
२६९	२३	राष्ट्रक	राष्ट्रिक
२६९	२७	तद्धितीय	तद्धित
२८३	११	लोकापे या	लोकापेक्षया
२८३	२७	कियते	क्रियते

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध पाठ	शुद्ध पाठ
२८८	१	हुए हैं	हुआ है
२८८	१६	स्पृश्यते	स्पृश्यन्ते
२८९	३	व्याकरम्	व्याकरणम्
२९१	११	सिम्पत्न	सिम्पन्न
२९१	२९	प्रज्ञा	प्रज्ञापूर्ण
२९३	२४	हो	है
२९५	१	प्रयय	प्रयोग
२९५	१८	विष्ट	विष्ट का
२९९	२२	सामान्त	सामान्य
२९९	२७	कर्तुत्व	कर्तृत्व
३ १	१३	मह्रुण	ग्रहण
३ ३	२०	सामत्य	सातत्य
३ ४	५	यथाधिकाया	यथादिकाया
३ ४	१२	क्रियान्तर० गृय	क्रियान्तरस्य
३ ४	११	मुख्ता	मुख्ता ।
३०४	२७	संभवति मुख्यस्य	संभवति मुख्यस्य
३०४	२९	मानकप्रधान	मानप्रधान
३ ५	२८	क्रियार्यो	क्रियार्यो
३ ५	२९	प्रधान्यात्	प्राधान्यात्
३ ६	२२	माधीत	माधित
३ ८	२१	मुख्तरवाद	मुख्यत्वाद
३ ९	१५	का यधीन	के अधीन
३११	१६	प्रकृति विकृत	प्रकृति-विकृति
३१२	२६	प्रासादेष्ट	प्रासादेष्ट
३१३	६	मनाप्त	मण्याप्त
३१३	२६	यत्	यत्
३१४	२१	को	की
३१७	२९	कर्विषयम्	कर्मविषयम्
३१७	३	ग्राम	ग्राम
९१	१०	सिद्धो	सिद्धे

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध पाठ	शुद्ध पाठ
३२०	३१	घवनी	घमनी
३३१	३	न—चापर	—नचापर
३४१	२४	हेलाराजेक्त	हेलाराजोक्त
३४३	१४	पणिनि	पाणिनि
३४७	३	१। ।२२	१।४।२२
३४७	१५	परि उन्होने इति पद का त्याग	उन्होने इति पद का परित्याग
३५२	२५	किल्वपो	विकल्पो
३५२	२६	वर्तेत	वर्तते
३५३	१९	उनके	उनको
३५७	१	प्रचलित	प्रचलित था
३५७	२	तदनुसारी का	तदनुसारी
३६१	२	विडूर आ	विडूर आदि
३६२	१२	वृत्तकारेण	वृत्तिकारेण
३६३	३	आनुमानित	आनुमानिक
३६४	२३	नडशादा	नडशादाड्
३६७	८	पाठ के	पाठ का
३६७	११	अन्य	अन्यत्र
३७१	१६	रावय	रावाय
३७७	२३	काशिकानरूप	काशिकानुरूप
३७८	२३	अप्रशस्ता	अप्रशस्तता
३८०	१९	पिभ्या	पिभ्या
३८०	२०	(" चिह्न नही होगा)	
३८१	३	व्रतीण	व्रतीण्

पाणिनीय व्याकरण का अनुशीलन

प्रथम परिच्छेद

अष्टाध्यायी के प्रकरण-क्रमों की संगति

अष्टाध्यायी के प्रकरणो के क्रमिक स्थापन मे कोई यौक्तिकता है या नही, यह यहाँ विवेचित हो रहा है। शास्त्रीय दृष्टि से विचार करने पर यह विज्ञात हो जाता है कि भगवान् पाणिनि ने अष्टाध्यायी में प्रकरणो का क्रम पर्याप्त विचार पूर्वक ही रखा है। हम यह भी देखते हैं कि प्रकरणक्रम के विचार से व्याकरणगत अनेक गूढार्थों का ज्ञान हो जाता है। पूर्वाचार्यों को भी यह तथ्य ज्ञात था और कही कही उन्होंने भी प्रकरणबल पर विचार किया है।

अष्टाध्यायी और प्रकरण—विचार प्रारम्भ करने से पहले अष्टाध्यायी और प्रकरण-क्रम के स्वरूप के विषय मे कुछ विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है। आचार्य-पाणिनि-रचित यह अष्टाध्यायी आठ अध्यायो मे विभक्त है, तथा प्रत्येक अध्याय मे चार-चार पाद हैं। प्रत्येक पाद में शब्दशास्त्र-सम्बन्धी विषय अनेक प्रकरणो मे बाँटे गए हैं। प्रकरण = 'एकार्थविच्छिन्न' सूत्र-समुदाय', अत प्रत्येक प्रकरण मे एक ही विषय होना चाहिए, तथा एक विषय अनेक स्थलो पर भाषित नही होना चाहिए, ऐसा कहना असगत नही है, पर वस्तुस्थिति कुछ भिन्न है। प्राय. यह भी देखा जाता है कि एक ही विषय अष्टाध्यायी मे एकाधिक स्थलो पर उपन्यस्त है तथा असबद्ध विषयो का क्रमिक स्थापन भी किया गया है।

पाणिनि जैसे क्रान्तदर्शी प्रमाणभूत आचार्य ने इस प्रकार असामञ्जस्यपूर्ण व्यवहार असावधानी से किया है, ऐसा विश्वास करने की प्रवृत्ति नही होती। स्वय भाष्यकार ने पाणिनि की विमल प्रतिभा तथा अनवद्य यश की स्थान-स्थान पर प्रशसा की है, तथा अर्वाचीन वैयाकरणों ने भी नतमस्तक होकर पाणिनि के प्रामाण्य को माना है। जिस शास्त्र का एक वर्ण भी निष्प्रयोजन नहीं है, उस शास्त्र को प्रकरण-क्रमो में असामञ्जस्य तथा न्यायदोष है, ऐसा कहना अनुचित प्रतीत होता है। यदि अष्टाध्यायी मे कही पर उपर्युक्त असमञ्जसता दिखाई पड़ती है, तो उसके लिये कोई गूढ कारण या रहस्य होगा, ऐसा प्रतीत होता है। स्वय पतञ्जलि ने स्पष्ट शब्दो मे कहा है—"यदि एकं वाक्य तच्च इद च, किमर्थं नानादेशस्य क्रियते ? कौशलमेतदाचार्यो दर्शयति, यदेक वाक्य सन्नानादेशस्थ करोति

मन्यदपि किञ्चित् संग्रहीष्यामीति (४।१।१)। शंकाकारी द्वारा दिखाए गए प्रत्येक असामञ्जस्य के लिये कोई न कोई विशिष्ट कारण है ऐसा हमारा विश्वास है और यही प्रतिपद इस निबन्ध में दिखाया गया है।

प्रकरण-संगति—शास्त्र-सम्बन्धी मालोच्य विषयों में प्रकरण-संगति भी एक अवश्यविचार्य विषय है जो पूर्वोत्तरमीमांसा में दिखाई पड़ती है। इन शास्त्रों के व्याख्याकार यत्नपूर्वक प्रकरण-संगति दिखाते हैं, तथा इस संगति के बल पर सूत्रार्थसम्बन्धी अनेक विवादास्पद विषयों का निर्णय भी करते हैं। (देखिए—वैयासिक न्यायमाला आदि प्रकरण-ग्रन्थ तथा वेदान्तदर्शन की टीकाएँ)। प्राचीन पद्धति के अनुसार रचित होने के कारण अष्टाध्यायी में भी यह रीति चरितार्थ होगी इसमें कोई सन्देह नहीं है।

प्रकरणबलसंबन्धी शब्दशास्त्रीय उदाहरण—पाणिनिशास्त्र के प्राचीन व्याख्याकारगण भी प्रकरण-बलसंबन्धी विचार कर अनेक स्थलों पर गूढ़ अर्थों का ज्ञापन कर चुके हैं जो उपर्युक्त धारणा के लिये पर्याप्त प्रमाण है तथा शंकाकारियों के मतों के खंडन में समर्थ भी है। यहाँ कुछ ऐसे स्थल उपस्थित किए जा रहे हैं, जो प्रकरण-महिमा के स्पष्ट ज्ञापक हैं —

(क) ३।१।२७ सूत्र-वार्तिकादि में प्रकरण-बल से सौत्र धातु की प्रकृति का निर्णय किया गया है

(ख) प्रकरण विशेष-अर्थ के निर्धारण में सहायक होता है ऐसा भर्तृहरि ने स्पष्ट कहा है (वाक्यप २।३१७-३१८)। टीकाकार ने लौकिक उदाहरण से इसको समझाया है।

(ग) प्रकरण-बल से बहुवचन नहीं होने पर भी बहुवचन का ज्ञान कराया गया है (प्रदीप ४।१।१)।

(घ) नागेश भट्ट ने कहा है—प्रकरणस्य अभिधानियामकत्वसिद्धान्त् (परिभाषेन्दुशेखर-परिभाषा ९)। यह वाक्य प्रर्थव्यापार में प्रकरण की शक्ति का ज्ञापक है।

(ङ) एक सूत्र को उसके नियत प्रकरण में न पढ़कर अन्यत्र पढ़ने से उस सूत्र से सिद्ध कार्य में अन्यथाभाव हो जाता है इसका सोदाहरण विचार कैयट ने किया है (प्रदीप ३।१।१)।

(च) कभी-कभी कोई ज्ञापकसिद्ध नियम उस प्रकरणविशेष में ही प्रवर्तित होता है सर्वत्र नहीं। इससे प्रकरण तथा प्रकरण की अवधि का ज्ञान शास्त्रीय कार्य के लिये एक अवश्य विशेय तथ्य है—यह सिद्धान्त निर्गलित होता है (देखिए—उद्योत ४।१।१४ तथा प्रदीप ४।१।१ आदि)।

उपर्युक्त अल्प उदाहरणो से यह प्रमाणित होता है कि सूत्रार्थविचार के लिये प्रकरण-सगति भी एक आश्रयणीय विषय है। प्रकरण बल का दूसरा उदाहरण है—यत्तु तत्र .. एव प्रकरणत्वात्' वाक्य (उद्द्योत २।४।६२), अतः प्रकरण की सगति लौकिक बुद्धि स विचार्यमाण होने पर सूत्रार्थ यथार्थ रूप से हृदयङ्गम होता है, इसमे सन्देह नही है।

अष्टाध्यायी की रचनापद्धति—जिस पद्धति से अष्टाध्यायी की रचना की गई है, उसको जानना आवश्यक है। आजकल जिस उद्देश्य से व्याकरण ग्रन्थों की रचना की जाती है, उस उद्देश्य से अष्टाध्यायी की रचना नही की गई है, क्योंकि पाणिनि के समय सस्कृतभाषा सिखाने मात्र के लिये व्याकरण की आवश्यकता नही थी। अष्टाध्यायी मे सस्कृत भाषा के शब्दो का विश्लेषण कर उसका साधुत्व दिखाया गया है। व्याकरण (प्राचीन ऋषियो के मतानुसार) अन्वाख्यान करता है और अष्टाध्यायी से साधु शब्द का ज्ञान होता है (द्र० 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' ६।३।१०९ का भाष्य), इसलिये अष्टाध्यायी मे पदसिद्धि की अपेक्षा (जैसा कि अर्वाचीन व्याकरणो मे हैं) शाब्दिक उपादानो के क्रमिक उल्लेख पर अधिक ध्यान दिया गया है। यदि पदसिद्धि करना ही पाणिनि का अभीष्ट होता, तो जिस रीति से आशु पद का निर्माण होता है, उस रीति का ही पाणिनि आश्रय लेते, ऐसा होने पर अष्टाध्यायी मे 'समास' के बाद 'समासान्त', 'तद्धित' प्रकरण के साथ सम्बद्धपदो की षत्व-णत्वविधि...इस प्रकार के क्रम ही होते, क्योंकि इस प्रकार के प्रकरण-सन्निवेश से शीघ्र पद-निर्माण हो जाता है, अर्वाचीन व्याकरणो मे यही पद्धति दिखाई पडती है। पाणिनि द्वारा प्रकरण-क्रम इस प्रकार सज्जित हैं कि पूर्ण अष्टाध्यायी के ज्ञान के बिना एक भी पद नही बनाया जा सकता, वाक्य बनाना तो दूर की बात है, अतः मानना पडता है कि पाणिनि ने अज्ञात भाषा की शिक्षा नही दी है (जो आजकल व्याकरण से दी जाती है) प्रत्युत सुज्ञात भाषा के शब्दो का सूक्ष्म विश्लेषण किया है, जिससे सस्कृत शब्दो का साधुत्व अवगत हो जाए।

उद्देश्य की भिन्नता से क्रिया मे विभिन्नता होती है, अत अर्वाचीन व्याकरण की रचना-पद्धति से अष्टाध्यायी की रचना-पद्धति पूर्णतः पृथक् है। इसमे प्रकरण-क्रम मूलत. ज्ञानक्रमानुसार (शास्त्र से सिद्ध ज्ञानक्रमानुसार, लौकिक ज्ञानक्रमानुसार नही) सज्जित है। दूसरे शब्दो में सिद्ध शब्दो का अन्वाख्यान करने के लिये लोपागमवर्णविकार तथा पदविभाग आदि सामग्री का जो ज्ञान क्रमश. उपस्थित होता है, उसके अनुसार ही मुख्यतया प्रकरण-क्रम सस्थापित हैं।

अष्टाध्यायी के तीन भाग—पाणिनीय दृष्टि से विचार करने पर प्रतीत होता है कि अष्टाध्यायी में तीन भाग हैं। पहले भाग (१-२ अध्याय) में पाणिनि ने वाक्यों से पदों का संकलन किया उसके बाद दूसरे भाग (३-५ अध्याय) में उन पदों को प्रकृति-प्रत्यय में विश्लिष्ट किया तथा तीसरे भाग (६-७ अध्याय) में पुनः आगम-आदेशादि का विधान कर तथा विश्लिष्ट प्रकृति-प्रत्ययों को जोड़कर पदनिर्माण किया। त्रिपादी अंश (अष्टम अध्याय के २-४ पाद) ऐच्छिक हैं अर्थात् विशिष्ट संकेत कर शेषादिक विषयों का सन्निवेश षष्ठ या सप्तम अध्याय में किया जा सकता था पर आचार्य ने लाघव के लिये वैसा नहीं किया। अष्टम अध्याय के प्रथम पाद में पद-कार्य हैं इसी लिये अन्यत्र इसका पाठ नहीं किया गया है।

सूत्रक्रम की संगति—प्रकरण-क्रम-विचार के साथ-साथ और भी एक विचार प्रसक्त होता है। वह है प्रत्येक प्रकरण के अन्तर्गत सूत्रक्रम की संगति अर्थात् एक विषय के अनेक सूत्रों को किस नियम के अनुसार क्रमशः रखा गया है उसका प्रतिपादन। यह विषय स्वतन्त्रनिबन्धसाध्य है। अष्टाध्यायी का प्रकरणक्रम अर्वाचीन व्याकरणों की अपेक्षा निरतिशय उत्कर्ष-सम्पन्न है इसका सप्रमाण निरूपण अन्यत्र किया जाएगा।

यहाँ यह निवेदन करना है कि प्रकरण-क्रम-संगति-सम्बन्धी यह विचार अपनी प्रारम्भिक अवस्था में है अतः इसमें भ्रान्तियों का होना असम्भव नहीं है। मैंने यथास्थान अपनी सन्देहों का भी उल्लेख कर दिया है तथा जहाँ प्रकरण-क्रम में असंगति प्रतीत हुई उसका भी संकेत कर दिया है, जिससे भावी विद्वान् उसका समाधान कर सकें।

प्रथम अध्याय का संगति-विचार—इस अध्याय में मूलतः वाक्यों से सामान्य पदों का संकलन किया गया है। प्रक्रियादशा में व्याकरणशास्त्र का अन्वाख्यान दो भागों में विभक्त होता है—'वाक्य-विभज्यान्वाख्यान' तथा 'पदविभज्यान्वाख्यान'। प्रथम विभाग में वाक्यों से पदों का पृथक्करण तथा पदों के जाति-निर्देश आदि किए जाते हैं और द्वितीय विभाग में संकलित पदों को प्रकृति-प्रत्यय में विभक्त किया जाता है। शब्दार्थों के अनुसार शास्त्रबोध मूलतः वाक्य से होता है पदों से नहीं अतः वाक्यों से पदों का संकलन जब तक नहीं किया जाएगा तब तक पद-निर्माण-रूपी मुख्य प्रक्रिया का प्रसंग ही नहीं हो सकता है इसलिये पाणिनि ने सबसे पहले प्रथम अध्याय में सभी प्रकार के पदों का संकलन किया है।

वैयाकरण अन्वाख्यान करने के लिये वाक्य से पदो का पृथक्करण कर सकता है। आचार्य भर्तृहरि ने यथार्थतः कहा है—'द्विधा कैश्चित् पद भिन्न चतुर्धा पञ्चधाऽपि वा, अपोद्धृत्यैव वाक्येभ्यः—' (वाक्यपदीय ३।१)। शङ्का हो सकती है कि उन्होने तो यह भी कहा है—'वाक्यात् पदानामत्यन्त प्रविवेको न कश्चन', (१।७३) पर यह बात स्फोटदृष्टि से ही सगत होती है, व्याकृति की दृष्टि से नही, अत. अन्वाख्यानपरायण व्याकरण मे इस प्रकार का तर्क निरर्थक है।

यद्यपि अष्टाध्यायी के प्रथम अध्याय मे सामान्य पदो का सकलन है, तथापि पद-विवरण से पहले कुछ आवश्यक सज्ञाओ का उल्लेख किया गया है, क्योंकि प्रत्येक शास्त्र में प्रवेश के लिये कुछ विशिष्ट सज्ञाओ का ज्ञान शास्त्र-सम्बन्धी पदार्थ-ज्ञान से पहले आवश्यक होता है। पदविभागभूत नाम भी सज्ञा शब्द से कहे जाते हैं, अतएव प्रथम अध्याय को 'सज्ञाध्याय' कहा जा सकता है (सज्ञाधिकारश्चायम्—१।४।१ भाष्य)। नागेशभट्ट ने भी इस मत की पुष्टि की है (तस्मात् सज्ञाप्रकरणे प्रथमाध्याये—५।२।१२२ उद्द्योत)। सज्ञाओ के आरम्भ से पहले पाणिनि ने 'अथ सज्ञा' नही कहा है, तथापि सज्ञा का बोध जिस रीति से होता है, पतञ्जलि ने उसका विचार किया है (भाष्य १।१।१)।

प्रथम अध्याय के चारो पादो मे सज्ञाओ का विवरण है। यह निश्चित है कि इन चारो पादो की सज्ञाओ मे कुछ विलक्षणता है (अन्यथा एक ही पाद मे सभी सज्ञाओ का उल्लेख हो सकता था), क्योंकि विलक्षणता के विना पादभेद करने का कारण प्रतीत नही होता। यहाँ एक पाद से अन्य पाद की संज्ञाओ की विलक्षणता का विचार किया जाएगा और साथ-साथ यह भी दिखाया जाएगा कि प्रत्येक पाद की सज्ञाओ के क्रमिक स्थापन का कारण क्या है।

प्रथम पाद.—व्याप्ति की दृष्टि से सज्ञा दो प्रकार की होती है—सर्वशास्त्रव्यवहार्य; तथा प्रकरणनियत। अष्टाध्यायी के आरम्भ मे जिन वृद्धि, गुण आदि सज्ञाओ का विवरण है, वे सर्वशास्त्र मे व्यवहार्य हैं (अर्थात् उनका संज्ञी किसी प्रकरणविशेष का विषय नहीं है) परन्तु तृतीय या षष्ठ अध्याय आदि मे व्यवहृत सज्ञाएँ तत्तत् प्रकरण के लिये नियत हैं, जैसा कि 'उपपद' (३।१।९२) 'अभ्यास' (६।१।४) आदि अध्यायान्तरीय सज्ञाओ मे दिखाई पडता है। इन सज्ञाओ के सज्ञी अपने-अपने प्रकरण मे नियत हैं, और इसीलिये अभ्यास-सज्ञा का व्यवहार अष्टम अध्याय के द्वित्व-प्रकरण (८।१।१) मे नही होता है, यद्यपि दोनो स्थलो पर द्वित्व रूप सामान्य धर्म है। अन्य अध्यायान्तरीय संज्ञाओ के विषय मे भी यही बात है। किञ्च अन्य अध्यायो मे जो सज्ञा [illegible]ठित हुई है, उसका पाठ प्रथम अध्याय मे नही हो सकता (यद्यपि प्रथम अध्याय के सज्ञाध्याय

होने के कारण सभी संज्ञाओं का पाठ प्रथम अध्याय में ही होना चाहिए) स्वयं पतञ्जलि ने इसका सोदाहरण विवेचन किया है (द्र भाष्य १।२।१२७)। संज्ञाओं का उपर्युक्त विभाग प्राचीन व्याकरण-ग्रन्थों में यद्यपि दृष्ट नहीं है तथापि संज्ञासंज्ञि-संबन्ध के विचार से उक्त निर्णय तर्क-सम्मत होता है। पतञ्जलि ने संज्ञाओं का जो *'कृत्रिमाकृत्रिम'-रूपविभाग किया है,* उससे इस विभाग का कोई सम्बन्ध नहीं है क्योंकि यह विभाग प्रर्थवत्ता की दृष्टि से किया गया है।

अष्टाध्यायी का आरम्भ वृद्धि संज्ञा से है। वृद्धि शब्द मङ्गलार्थ है अतः सर्वादि में इसका उपन्यास किया गया है यह समाधान पतञ्जलि आदि आचार्यों को अनुमत है। व्याकरणप्रक्रिया में गुण-वृद्धि का साहचर्य अतिप्रसिद्ध है अतः वृद्धि के बाद गुणसंज्ञा का उल्लेख किया गया है। गुण-वृद्धि-संज्ञा के बाद १।१।३ सूत्रमें एक परिभाषा कही गई है। अष्टाध्यायी में सर्वत्र संज्ञा तथा परिभाषा सूत्रों का मिश्रित पाठ है। चू कि ये दोनों एक ही पदार्थ नहीं हैं, इसलिये इन दोनों का मिश्रित पाठ क्यों किया गया—ऐसा प्रश्न हो सकता है। देखा जाता है कि सरस्वतीकण्ठाभरण में एक स्वतन्त्रपाद में सभी परिभाषाओं का पाठ है। पाणिनि ने यही रीति क्यों नहीं अपनाई ? उत्तर यह है कि यद्यपि व्यवहार की दृष्टि से संज्ञा और परिभाषा में भिन्नता है पर वस्तुगत्या दोनों समानजातीय ही हैं, और इसीलिये इन दोनों का मिश्रित पाठ पाणिनि ने किया है। व्यवहारतः संज्ञा और परिभाषा दो पदार्थ हैं (अर्थात् विधिसूत्रों के व्यापार में कोई असमञ्जसता या बाधा न हो तथा लाघव हो इसलिये संज्ञा परिभाषा-सूत्रों की रचना को जाती है 'लघ्वर्थं संज्ञाकरणम्', 'अनियमे नियम कारिणी परिभाषा') पर दोनों में समान रूप में 'यथोद्देश' तथा 'कार्यकाल' पक्ष का आश्रय लिया जाता है (देखिए—परिभाषेन्दुशेखर २-३ परिभाषा)। इस प्रकार के सूत्रों (संज्ञासूत्र परिभाषासूत्र विधिसूत्र नियमसूत्र, अतिदेशसूत्र तथा अधिकारसूत्र) में संज्ञा-परिभाषासूत्र ही ऐसे सूत्र हैं, जो एक शब्द की सिद्धि के लिये रचित नहीं होते हैं, यद्यपि प्रयोगसाधक सूत्र एक उदाहरण के लिये भी रचे जाते हैं [१]। दीपिका टीका में आचार्य भर्तृहरि ने भी इस सिद्धान्त

१—इस प्रसङ्ग में निम्नोक्त विषय द्रष्टव्य है। भाष्यकार ने कहा है 'महद् अनुदाहरणं योगारम्भं प्रयोजयति (अ१।१९६)। आजकलके कुछ विद्वानों ने इसका अर्थ किया है—'एक उदाहरणके लिये सूत्र रचा नहीं जाता है' (देखिए 'प्रतापसिंह शास्त्री में संस्कृत व्याकरण का विकास' लेख नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका पृ० १०२

की पुष्टि की है (१।१।४१ सूत्रीयटीका)।

वस्तुतः सज्ञा और परिभाषाओ मे इतनी समानता है कि कभी-कभी कोई सूत्र सज्ञासूत्र है या परिभाषासूत्र है—इसके निर्णय मे भी सन्देह होता है (देखिए 'अपृक्त' १।२।४१ सूत्र पर कैयट तथा नागेश के मत), यदि सज्ञा तथा परिभाषा सम्पूर्ण विजातीय पदार्थ होती, तो कदापि दोनो से इस प्रकार का अविशेष बोध नही हो सकता था। दोनो पदार्थों मे असाधारण सदृशता होने पर ही सशय उत्पन्न हो सकता है। यह भी देखा जाता है कि जिस सज्ञा के प्रयोग-विषय मे जिस परिभाषा की मुख्य या गौणरूप से आवश्यकता है, उस परिभाषा का पाठ उस सज्ञा के बाद प्रायेण किया गया है। सज्ञा और परिभाषा परार्थ होते हुए भी परस्पर-सम्बद्ध हैं (सज्ञा-परिभाषयोः परार्थयोरपि परस्परसम्बन्धदर्शनात्—उद्द्योत ५।१।१), अतएव सज्ञा और परिभाषा का एकत्र पाठ दोषावह नही है।

पुनः शङ्का हो सकती है कि सज्ञासूत्र के बाद ही परिभाषा-सूत्र क्यो पठित हुआ है ? उत्तर यह है कि सज्ञा-सूत्र से पदार्थ का सामान्य ज्ञान होने के बाद ही उसके प्रयोग मे असमञ्जसता या अनियम का बोध हो सकता है, जिसके निवारण के लिये परिभाषासूत्र रचित है, अतः ज्ञानक्रमानुसार ही सज्ञा एव परिभाषा का क्रमिक पाठ है। सरस्वतीकण्ठाभरण की परिभाषा से पाणिनि-पठित अष्टाध्यायीस्थ परिभाषाओ मे भेद है। अष्टाध्यायी मे पठित परिभाषा केवल सूत्रार्थ-निर्णय या क्वचित् सूत्र-व्यापार-सम्बन्धी विवाद के निर्णय के लिये है, पर कण्ठाभरण की परिभाषा इन दोनो उद्देश्यो के अतिरिक्त प्रक्रियानिर्वाह के लिये भी है। प्रक्रिया-निर्वाह के लिये (सूत्रार्थ-व्यापार-निर्वाह के लिये नही) जिन परिभाषाओ की आवश्यकता है, उनको पाणिनि ने अपने सूत्रो की रचना-रीतिसे ज्ञापित किया है, जिनको लेकर आचार्य व्याडिने परिभाषा-पाठकी रचना की थी। ग्रन्थशरीर मे लाघव के लिये पाणिनि ने इन परिभाषाओ को 'ज्ञापक-

---

वर्ष ४९, अङ्क १–४, सवत् २००१), पर यह अर्थ अशुद्ध है, क्योकि अष्टाध्यायी मे कितने ही ऐसे सूत्र हैं, जिनसे एक ही शब्द बनता है, यथा 'अग्नेर्ढक्' (४।२।३३) 'इच्छा' (३।३।१०१) आदि। इस वाक्य का यथार्थ अर्थ है—'एक उदाहरण के लिये सामान्य सूत्र की रचना नही होती है' अर्थात् यदि अग्नि शब्द से कोई शास्त्रीय कार्यविशेष अभिप्रेत हो, तो 'इवर्ण से शास्त्रीय कार्य होगा' ऐसा न कहकर अग्नि शब्द का उल्लेख ही कर दिया जाता है। यह पाणिनि की सूत्र-रचना-सम्बन्धी एक विशिष्ट रीति है।

सिद्ध' किया, कण्ठरव से नहीं पढ़ा—यह पाणिनि की एक मौलिक विशिष्टता है।

प्रप्रकरणनिष्ठ संज्ञाओं के स्थापन में निम्नलिखित क्रम रखा गया है —

पहले पाणिनि ने वर्णसम्बन्धी वृद्धि-गुण आदि संज्ञाओं का उल्लेख किया है और तदनन्तर प्रगृह्यसंज्ञा (१।१।११) से वर्णसमूहात्मक-शब्दस्वरूपविषयिणी संज्ञाओं का सङ्कलन है। यह प्रकरण १।१।४३ सूत्र पर्यन्त व्यापी है।

'विभाषा' संज्ञा का उल्लेख इस प्रकरण के बाद है (१।१।४४)। यहाँ इसके स्थापन के लिये निम्नलिखित रहस्य द्रष्टव्य है। स्वरूप-दृष्टि से संज्ञा दो प्रकार की है—शाब्दी संज्ञा (अर्थात् जब संज्ञी कोई शब्दविशेष होता है) तथा आर्थी संज्ञा (अर्थात् जब संज्ञी कोई अर्थ = मनोभाव होता है)। विभाषा संज्ञा से आर्थी संज्ञा का प्रारम्भ होता है अर्थात् 'नवेति विभाषा' (१।१।४४) सूत्र का अर्थ है— 'न-वा-शब्द का जो अर्थ है उसकी विभाषा संज्ञा है। ठीक इसी प्रकार सम्प्रसारण संज्ञा (१।१।४५) भी आर्थी है (अर्थात् सम्प्रसारण संज्ञा का संज्ञी अर्थ है, शब्द नहीं) चूंकि सिद्धान्तपक्ष में यही माना जाता है कि इस सूत्र से वा की संज्ञा की गई है इसलिये यह भी सिद्ध होता है कि सम्प्रसारण आर्थी संज्ञा शाब्दी नहीं। काशिकाकार ने भी कहा है—वाक्यार्थः संज्ञी' (१।१।४५)। उन्होंने यह भी दिखाया है कि कोई-कोई आचार्य इस संज्ञा को शाब्दी संज्ञा मानते थे (वहाँ) तथा भर्तृहरि ने भी दीपिका में इसका उल्लेख किया है-उभयथा आचार्येण शिष्या प्रतिपादिता केचिद् वर्णस्य केचिद् वाक्यस्य (१।१।१४५ पुण्यटीका) पर किसी ने यह निर्णय नहीं किया कि पाणिनि अनुसार कौन सिद्धान्त यथार्थ है। यदि सम्प्रसारण संज्ञा वर्णसंज्ञा ही होती वर्णसंज्ञाओं के साथ इसका भी पाठ होता पर वैसा न कर पाणिनि ज्ञापित करते हैं कि उनके अनुसार यह संज्ञा आर्थी है शाब्दी नहीं।

सम्प्रसारण-संज्ञा के बाद पुनः 'आद्यन्तौ टकितौ' (१।१।४६) सूत्र परिभाषा-प्रकरण का प्रारम्भ किया गया है। इसका कारण यह है—सम्प्रसार संज्ञा में 'यणः स्थाने विधीयमान' ऐसा अर्थ किया जाता है और चूंकि विधीः मानरूप धर्म आदेश तथा आगम में ही दिखाई पड़ता है अतः सम्प्रसारणसंज्ञ के बाद ही आदेश तथा आगम-सम्बन्धी परिभाषाओं का विवरण किया गया है अनेक स्थलों में अष्टाध्यायी में कार्यसाहचर्यनिबन्धन प्रकरण-क्रमों को रखा गय है जैसा कि यथास्थान विवृत होगा।

आगम और आदेश-सम्बन्धी परिभाषाओं का पाठ एकत्र क्यों है ? उत्तर य है कि संज्ञा और परिभाषा की तरह आगम तथा आदेशों में भी वास्तविक सम्पर्क है (प्रक्रियादृष्टि से भिन्नता होने पर भी)। कहा भी गया है—'आगमानन्तरम्

सागमका आदेशाः' या 'सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः' इत्यादि (भा० १।१।२०)। यदि आगम और आदेशो मे वस्तुगत्या एकजातीयता नही होती, तो उपर्युक्त वचनो का अर्थ बुद्धिग्राह्य नही होता। आगम-सम्बन्धिनी परिभाषा के उल्लेख के बाद ही आदेशविषयिणी परिभाषा का पाठ किया गया है, क्योकि आगम-सम्बन्धी परिभाषाएँ अत्यल्प हैं, अतः 'सूचीकटाह' न्यायानुसार आगमीय परिभाषा का उल्लेख पहले किया गया है—ऐसा समझना चाहिए। आदेशीय परिभाषा के साथ-साथ आदेश का वैशिष्ट्य भी कहा गया है। इस प्रकार यह प्रकरण १।१।५९ सूत्र पर समाप्त होता है।

प्रासगिक विधीयमानत्वविचार के बाद पुन. १।१।६० सूत्र मे अर्थसज्ञा रूप लोप-सज्ञा का विधान किया गया है। यह सज्ञा वस्तुत· पदार्थ की है, शब्द की नही, जैसा कि काशिकाकार ने कहा है—"पदार्थस्येय सज्ञा, न शब्दस्य" (१।१।६०)। यहाँ लोप का विशेष विवरण भी दिया गया है।

उसके वाद १।१।६४ सूत्र में 'टिसज्ञा' तथा १।१।६५ सूत्र मे 'उपधा-सज्ञा' का विवरण है। यद्यपि इन दोनो सज्ञाओ का स्थापन आर्थी सज्ञा से पहले (क्योकि ये शाब्दी सज्ञाएँ हैं) शब्दसज्ञाओ के साथ करना ही युक्तियुक्त प्रतीत होता है, तथापि 'आदेश' और 'लोप' के साथ 'टि' तथा 'उपधा' का सम्बन्ध निकटतम है (अर्थात् आगमादेश बहुलतया टि-उपधास्थल मे ही होते हैं), ऐसा जानकर यहाँ इन दोनो सज्ञाओ का पाठ किया गया है। इस प्रसङ्ग मे यह भी ज्ञातव्य है कि टि और उपधा सज्ञा वृद्धि आदि सज्ञाओ की तरह 'किसी के स्थान पर आदिष्ट होने वाली सज्ञाओ' की तरह नही है, अर्थात् टि तथा उपधा किसी के स्थान पर नही होती हैं, प्रत्युत शास्त्रीय कार्य टि तथा उपधा के स्थान पर होते हैं। वृद्धि आदि को कार्य की दृष्टि से 'आधेय सज्ञा' कहा जा सकता है, तथा टि–उपधा को 'आधार सज्ञा'।

उसके वाद १।१।६६ सूत्र से सौत्र शब्द-सम्बन्धी कुछ परिभाषाओ और उसके वाद अन्य सज्ञाओं का उल्लेख है। आदेश आदि के विधायक सूत्रो के सार्थक प्रयोग के लिये इन सूत्रो की आवश्यकता है, इसलिये इनका पाठ यहाँ किया गया है। शास्त्रज्ञान के लिये पहलेही इन सूत्रो का ज्ञान अपरिहार्य है, अत. पहले पाद के अन्तिमाश मे आचार्य ने इनका पाठ किया है। अन्त मे 'वृद्ध' सज्ञा (१।१।७३) क्यो है ? टि तथा उपधा सज्ञा की तरह यह भी 'आधारसज्ञा' है, अतएव उनके साथ ही इसका पाठ होना चाहिए, किन्तु उनके साथ यह क्यो पठित नही हुई—यह चिन्तनीय है। सम्भव है कि उपक्रम और उपसहार की एकरूपता की रक्षा के लिये सूत्रकार ने अन्तिमाश मे अत्यन्तसदृश

(वृद्धि-वृद्ध) इस संज्ञा का पाठ किया है, यद्यपि यह समाधान सर्वथा चिन्त्य है।

द्वितीय पाद—क्ङित्प्रत्ययसम्बन्धी निर्देश प्रारम्भ में ही है। यह प्रकरण प्रत्ययविषयक है अतः प्रत्यय-संकलनात्मक तृतीय-अध्याय में इसका पाठ होना चाहिए, पर वहाँ पाठ करने से प्रयोग-व्यापार में कुछ दोष होता (देखिए—१।२।१ की *प्रदीप—उद्द्योत—टीकाएँ*) अतएव पाणिनि ने वैसा नहीं किया है। प्रचलित व्याख्यान-ग्रन्थों में इस प्रकरण को 'अतिदेशप्रकरण' कहा गया है (अतिदेश = अन्यधर्मस्य अन्यत्र आरोपणम्) और इस अतिदेशप्रकरण के बाद पुनः संज्ञाओं का विवरण है। शङ्का हो सकती है कि दो संज्ञा-प्रकरणों के मध्य में एक अतिदेशप्रकरण का पाठ क्यों है ? क्या यहाँ पर 'प्रक्रमभङ्गदोष' नहीं हुआ है ? उत्तर है कि *वस्तुतः यह प्रकरण संज्ञाप्रकरण ही है।* भाष्यकार ने संज्ञापक्ष का उल्लेख कर उस पक्ष में अपनी दृष्टि से दोष दिखाकर अतिदेशपक्ष को ही सिद्धान्तित किया है। किसी-किसी वृत्तिकार के मतानुसार यह 'संज्ञा प्रकरण' ही है और दृष्टि भेद से यही पक्ष निर्दोष ठहरता है तथा भाष्य का दोष-प्रदर्शन निमूल हो जाता है। यह विचार अत्यन्त जटिल है अतः यहाँ *उसका उपन्यास नहीं किया गया।*

देखा जाता है कि ऐसे स्थलों में प्राचीन उणादि वृत्तिकारों ने संज्ञापक्ष ही माना है, जहाँ भाष्यकारीय दृष्टि के अनुसार अतिदेश पक्ष होना चाहिए (देखिए दशपादी उणादिवृत्ति १।२१ १।१९ आदि)। यहाँ यह उत्तर भी हो सकता है कि 'अतिदेश संज्ञा से कोई विजातीय पदार्थ नहीं है वस्तुतस्त्वा अतिदेश आरोपित संज्ञा ही है अतः संज्ञाधिकार में इस प्रकरण का पाठ असङ्गत नहीं है। इस अध्याय में अनेक प्रकार की संज्ञाओं का संकलन है शाब्दी संज्ञा आर्थी संज्ञा वर्तमान अतिदिष्टा संज्ञा तथा वक्ष्यमाण धर्मसंज्ञा आदि। अतः पृथक् पाद में क्ङित्पृथक्धर्मयुक्त संज्ञा का कथन न्यायसंगत तथा रोचक ही होता है।

उसके बाद १।२।२७ सूत्र से ह्रस्व आदि संज्ञाओं का विवरण है। शङ्का हो सकती है कि ये संज्ञाएँ तो सम्पूर्ण रूप से शाब्दी हैं, अतः प्रथम पाद में क्यों नहीं पठित हुई ? उत्तर—इन संज्ञाओं की मौलिक विशिष्टता तथा वृद्धि आदि संज्ञाओं से विलक्षणता ही दोनों के एकत्र पाठ की बाधिका है क्योंकि ये संज्ञाएँ न केवल शब्दशास्त्र के ही पारिभाषिक शब्द हैं परन्तु समान रूपसे शिक्षाशास्त्रीय भी हैं, जैसा कि कैयटने कहा है—'शिक्षो हि वेदाध्यायिनां शिक्षायामेव उदात्तादिव्यवहारः (प्रदीप१।१।२२)। इस वाक्य में जो 'एव' पद है वह ज्ञापित करता है कि ये संज्ञाएँ व्याकरणशास्त्र की स्वकीय नहीं हैं (टि घ आदि की तरह)

अत. तान्त्रिकी वृद्धि आदि सज्ञाओ के साथ इनका पाठ आचार्य ने नहीं किया है। वस्तुतः यहाँ का स्वरप्रकरण (१।२।२९ से १।२।४० सूत्र तक) अतिसामान्य तथा अल्पविषयक है, और इस विषय के पूर्णज्ञान के लिये अन्य प्रातिशाख्यादि शास्त्र भी गम्भीर रूप से आलोच्य हैं। किञ्च ह्रस्व आदि सज्ञाएँ वस्तुत' शब्दरूपी धर्मी की नही हैं, प्रत्युत शब्दधर्म (क्योकि ह्रस्वादि मात्रास्वरूप हैं, तथा उदात्त आदि वायुनिष्ठ हैं—ये वैयाकरणो के सिद्धान्त हैं) की हैं, अतः पृथक् पाद मे इन सज्ञाओ का विवरण दिया गया है। अनुनासिक सज्ञा चूँकि धर्मी की सज्ञा है (मुखनासिकावचनोऽनुनासिक.—१।१।८) अत. प्रथम पाद मे ही कही गई है, यदि अनुनासिक केवल वायु के आघातजन्य ही होता तो निश्चय ही इस द्वितीय पाद मे इसका भी पाठ होता। स्वर से तथा उच्चारण धर्म से सम्बन्धित होने के कारण इम प्रकरण मे एकश्रुति आदि उच्चारण-विशेषो का भी विचार किया गया है। यह प्रकरण १।२।४० सूत्र पर समाप्त होता है।

इसके बाद 'अपृक्तसज्ञा' (१।२।४१) का पाठ है। हम पहले कह चुके हैं कि इस अध्याय मे सभी प्रकार की संज्ञाओ का सकलन है, अतः प्रत्ययसम्बन्धी एक सज्ञा का विवरण यहाँ दिया गया है, यद्यपि प्रत्ययाध्याय मे भी इसके पाठ होने से कोई दोष प्रतीत नही होता। यह भी हो सकता है कि यह सज्ञासूत्र नही है, परिभाषासूत्र है (प्रदीप १।१।१) और चूँकि यह अल्विषयिणी परिभाषा है, अतः यह सूत्र अल्संज्ञाओं के साथ पठित हुआ है।

इसके बाद समास-सम्बन्धी 'कर्मधारय' (१।२।४२) तथा 'उपसर्जन' (१।२।४२) सज्ञा का पाठ है। ये सज्ञाएँ समास-सम्बन्धी हैं, अतः समासप्रकरण मे (द्वितीय अध्याय) इनका पाठ करना यद्यपि उचित प्रतीत होता है, तथापि वहाँ पाठ करने से पाणिनीय प्रक्रिया के अनुसार विपर्यय होता, इसलिये वैसा नही किया गया, जैसा कि कर्मधारय के विषय मे कैयट ने कहा है—तत्पुरुषसंज्ञाप्रकरणे इय सज्ञा न कृता, एकासज्ञाधिकारात् तत्पुरुषसज्ञाया बाधो भविष्यति (प्रदीप १।२।४२)। उपसर्जन सज्ञा के विषय मे भी ऐसी कोई बाधा रही होगी, जो हमलोगों को विज्ञात नही है। सभव है कि यदि समासप्रकरण मे उपसर्जन सज्ञा का पाठ होता तो 'कष्टश्रित.' प्रयोग में कष्ट की उपसर्जन सज्ञा नही हो सकती थी, क्योकि समास मे कष्ट शब्द मे प्रथमा नही है। इस सूत्र मे समास का अर्थ 'समासार्थ शास्त्र' (भाष्य) है। समासप्रकरण मे इसका पाठ होने से यह अर्थ नहीं हो सकता, अतएव इसका पाठ समासप्रकरण मे नही किया गया है।

इस प्रकार शास्त्र में प्रवेशार्थ जितनी संज्ञाओं का विवरण अपेक्षित था, उन सभी का विवरण यहाँ पर समाप्त हो गया है। अब पदों के संकलनकार्य का आरम्भ हो रहा है। प्रयोगनिर्वाहक संज्ञाओं की समाप्ति के ज्ञापन के लिये पाणिनि ने १।२।६४ सूत्र में 'च' का पाठ किया है। वस्तुतः यह 'च' अनुवृत्ति के लिये नहीं है, पर विषय-समाप्ति के द्योतन के लिये है। अष्टाध्यायी में 'च' का प्रयोग अनेक अर्थों के द्योतन के लिये किया गया है, यह मातव्य है।

पाणिनीय सिद्धान्त के अनुसार पद चार या पाँच प्रकार का होता है। उन पदों में जो सबसे मुख्य है उसका उल्लेख सबसे पहले प्रातिपदिक नाम से (१।२।४५) किया गया है। पाणिनि के अनुसार जो प्रातिपदिक है यास्क के अनुसार उसी को नाम कहा जाता है—'यद् प्रातिपदिकं प्रोक्तं तन्नाम्नो नाभिरिष्यते' (शब्दसंक्षिप्तप्रकाशिका १४)। यह नाम अन्य चार प्रकार के पदों ('चत्वारि पदजातानि, नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च'—निरुक्त १।१) में मुख्यतम है, यह निरुक्त टीका में आचार्य दुर्ग ने सयुक्तिक दिखाया है। निरुक्त का यह सिद्धान्त वैयाकरण-सम्प्रदाय में भी मान्य है अतः मुख्य होने के कारण प्रातिपदिक का ही उल्लेख सबसे पहले किया गया है। प्रातिपदिक से नित्यसम्बद्ध होने के कारण ही यहाँ पर युक्तवद् का विचार (१।२।५१) तथा उसका प्रत्याख्यान आदि किए गए हैं।

प्रातिपदिक-विचार के साथ-साथ १।२।६४ सूत्र में 'एकशेष' का विचार है। यहाँ पर एकशेष के पाठ के विषय में निम्नलिखित युक्ति विशेष रूप से अवधानयोग्य है—

पाणिनि ने प्रातिपदिकविचार के साथ 'एकशेष' का पाठ किया है जिससे यह स्पष्ट रूपसे विज्ञापित होता है कि उनके अनुसार 'प्रातिपदिकानामेकशेष' यह सिद्धान्त ही मान्य है 'सुबन्तानामेकशेष' यह मत सुतरां अपाणिनीय है। इन तर्कों से भाष्यकार ने भी इसी मत का समर्थन किया है, पर प्रकरण-सङ्गति से भी यही मत न्याय-सङ्गत होता है। यदि सुबन्तपदों का एकशेष होता, तो द्वन्द्वसमास के बाद 'एकशेष' का पाठ होता क्योंकि सुबन्त पदों का द्वन्द्वसमास होता है। इससे एक सिद्धान्त यह भी निर्णीत होता है कि 'द्वन्द्वानामेकशेष' यह पक्ष पाणिनिसम्मत नहीं है क्योंकि यदि वैसा ही होता तो द्वन्द्वसमास के बाद ही एकशेष का प्रसङ्ग किया जाता।

इस प्रसङ्ग में निम्नलिखित मत विचारणीय है। पाणिनि ने 'अशिष्य' सूत्र (१।२।५१) के बाद वचन तथा एकशेषप्रकरण को पढ़ा है, यद्यपि सम्बन्ध की निकटता की दृष्टि से अशिष्यप्रकरण को बाद में ही पढ़ना चाहिए था। इस

प्रकरण-विभाग से सूत्रकार यह विज्ञापित करते है कि 'एकशेष' भी अशिष्य है, अर्थात् यद्यपि प्राचीन आचार्यों ने उसको अपने शास्त्र मे विवृत किया है, पर पाणिनि उसकी लोकप्रमाणगम्यता के कारण उसको 'अशिष्य' = अशासनीय समझते हैं। यह बात हमलोगो की स्वकपोलकल्पित नही है, भाष्य से प्राचीन माथुरी वृत्ति मे यह मत स्पष्ट रूप से कहा गया है (द्रष्टव्य—भाषावृत्ति १।२।२७), अत एकशेषप्रकरण मे अशिष्य पद की अनुवृत्ति हो, इसलिये पाणिनि ने अशिष्यप्रकरण के बाद एकशेष प्रकरण का पाठ किया है। वस्तुतः एकशेष 'वृत्ति' नही है, शब्देन्दुशेखरादि मे इसकी वृत्तिता का खण्डन द्रष्टव्य है। यदि एकशेष कोई वृत्ति होती तो 'समर्थः पदविधि.' (२।१।१) सूत्र के बाद ही इसका पाठ होता। कैयट ने स्पष्टतया कहा है—'एकशेषो न वृत्ति.'। इस मत की युक्तता को देखकर ही आचार्य चन्द्रगोमी ने अपने चान्द्र व्याकरण मे एकशेष का विवरण नही दिया है। चन्द्राचार्य प्रातिपदिक मे ही एकशेष का अन्तर्भाव करते थे, जो पाणिनि की दृष्टि से भी सङ्गत है। इस विषय मे यह भी जानना चाहिए कि पदविधित्व एकशेष मे नही है (देखिए—वैयाकरण भूषणसार की प्रभा टीका पृ० २७९)। पाणिनि ने प्रातिपदिक की एक विशिष्टता की तरह एकशेष का उपन्यास किया है। यह पाद इस प्रकरण के साथ समाप्त होता है।

तृतीय पाद—आरम्भ मे धातु = आख्यात (भू आदि) का उल्लेख है। एक विजातीय पद के लिये पृथक् पाद का व्यवहार सङ्गत ही है [नाम = सत्त्व-वाची, आख्यात = क्रियावाची]। धातु नाम का अधीन होता है (आख्यातस्य नामपदवाच्यार्थाश्रयक्रियोपलक्ष्यत्वात्—दुर्गनिरुक्तटीका १।१। ख०), अत नाम = प्रातिपदिक के बाद धातु का उपन्यास किया गया है। इसी पाद मे पहले प्रकृति-सम्बद्ध धातु सञ्ज्ञा का उल्लेख है, और उसके बाद उपग्रह (अर्थात् आत्मनेपद—परस्मैपद) का विवरण १।३।१२ सूत्र से किया गया है। आत्मनेपद के बाद परस्मैपद का विवरण 'विप्रतिषेध' नियम (१।४।२) के अनुसार है, अर्थात् किसी प्रयोग मे आत्मनेपद और परस्मैपद मे विप्रतिषेध हो जाए, तो परस्मैपद ही होगा (द्र० आत्मनेपद परस्मैपद प्रकरण की व्याख्याएँ)।

धातु और उपग्रह के बीच 'इत्सञ्ज्ञा' का प्रसङ्ग है। यहाँ शङ्का होती है कि धातु और उपग्रह के मध्यमे इत्सञ्ज्ञा का विचार किसलिये किया गया है ? धातु या उपग्रह से इत्सञ्ज्ञा का कोई भी सम्बन्ध प्रतीत नही होता, अत. इत्सञ्ज्ञा के शब्दसञ्ज्ञात्व के कारण प्रथमपाद मे ही इसका उपन्यास क्यो नही किया गया ? उत्तर—पाणिनि ने आत्मनेपद और परस्मैपद का [illegible]

अनुसार भी किया है (अर्थात् धातु ङित् होने से आत्मनेपदी होगा इत्यादि) अतः उपग्रह से पहले ही इत् का विचार अपेक्षित होता है। किञ्च पाणिनि ने धातुओं को अनुबन्ध (= इत्संज्ञायोग्य वर्ण) के साथ पढ़ा है अतः धातुस्वरूप के ज्ञान के लिये भी अनुबन्ध का ज्ञान नित्य अपेक्षित होता है। (धातोः सानुबन्धकत्वात्—उद्योत ७।१।१५ वाक्य आलोचनीय)। अपि च धातुजन्य तिङन्त प्रयोगों में अनेक कार्य अनुबन्ध से निर्दिष्ट हुए हैं अतः धातु के साथ अनुबन्धज्ञान की अपरिहार्यता के कारण धातु के बाद अनुबन्ध का विचार किया गया है।

चतुर्थ पाद—परिशिष्ट संज्ञा (जिसका पाठ पहले होने से न्यायतोष होता) तथा अवशिष्ट पदों का विवरण यहाँ दिया गया है। इस पाद की कुछ संज्ञाओं (यथा नदी आदि) को यद्यपि प्रथम पाद में पढ़ा जा सकता था, पर चूँकि इन संज्ञाओं को वहाँ पढ़ने से पाणिनि-प्रक्रिया के अनुसार असमञ्जसता होती अतएव चतुर्थ पाद में इन संज्ञाओं को पढ़ा गया है। इन संज्ञाओं में 'एकसंज्ञा' (१।४।१) तथा 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' (१।४।२) रूप दो विशेष नियम प्रवर्तित होते हैं, जो प्राक्तन संज्ञाओं में नहीं होते।

इस पाद में लघु (१।४।१) आदि कुछ संज्ञाएँ हैं जो धर्मसंज्ञाएँ हैं, अतः धर्मसंज्ञाओं के साथ (द्वितीय पाद) में क्यों नहीं पठित हुई? उत्तर—इन संज्ञाओं में उपर्युक्त दो नियम प्रवर्तित होते हैं, अतः धर्मसंज्ञाओं के साथ इनका पाठ नहीं किया गया। किञ्च ह्रस्व तथा लघु का स्वरूप प्रक्रियाक्षेत्र में सर्वथा एकरूप नहीं है। ह्रस्व होता हुआ भी स्वर गुरु हो सकता है, पर दीर्घ नहीं हो सकता अतः 'सन्वत् लघुनि (७।४।९३) आदि सूत्रों में ह्रस्व के स्थान पर 'लघु' शब्द का ग्रहण किया गया है (व्याख्यान-ग्रन्थ द्रष्टव्य) लघु आदि संज्ञाओं का पाठ पृथक् पाद में करना अन्याय्य नहीं है; लघु आदि धर्मसंज्ञा नहीं हैं, प्रत्युत अक्षर की संज्ञाएँ हैं (द्र० प्रक्रिया सर्वस्व) अतः इनका पृथक् पाठ उचित है—ऐसा भी कहा जा सकता है। इस पाद में अङ्ग (१।४।१३) आदि संज्ञाओं के पाठ के विषय में विशेष नियम-प्रवर्तन-रूप कारण के अतिरिक्त अन्य हेतु भी है। इस अङ्ग आदि संज्ञाओं में 'यथोद्देश पक्ष' ही प्रवर्तित होता है 'कार्यकालपक्ष' नहीं (यद्यपि अन्य सभी संज्ञाओं में दोनों पक्ष समान रूप से प्रवर्तित होते हैं) अतः वृद्धि आदि संज्ञाओं के साथ इन संज्ञाओं का पाठ होने से इन संज्ञाओं के प्रयोग में विपर्यास होता। यह प्रकरण १।४।२ सूत्र पर समाप्त होता है।

इसके बाद कारकाधिकार १।४।२३ सूत्र से प्रवर्तित होता है। कारक से पहले

एकवचन और द्विवचन का उल्लेख किया गया है (१।४।२१-२२), क्योंकि कारकविधायक सूत्र के साथ वचनविधायक सूत्र की एकवाक्यता है तथा सख्या-वोध के वाद ही कारक का वोध होता है (द्रष्टव्य—'कुत्सिते' ५।३।७४ का भाष्य)। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि वाक्यार्थ मे क्रिया प्रधान होती है ('आख्यात सविशेषण वाक्यम्', क्रियामुख्यविशेष्यक वाक्यार्थ वैयाकरणो का सिद्धान्त है)', अतः क्रिया-सम्बद्ध आख्यातप्रकरण के वाद ही कारकप्रकरण का आरम्भ न्याय-प्राप्त होता है। चूंकि नदी आदि सज्ञाएं प्राक्तन सज्ञाओ की परिशिष्टस्वरूप हैं, अतः चतुर्थ पाद के आरम्भ मे ही उनका उल्लेख कर दिया गया गया है। कारकप्रकरण मे यथाक्रम अपादान, सम्प्रदान, करण, अधिकरण, कर्म तथा कर्तृकारको को रखा गया है। यह क्रम विप्रतिषेधनियम के अनुसार है, अर्थात् यदि युगपत् दो कारको की प्राप्ति हो, तो परस्थ कारक ही प्रयुक्त होगा। भर्तृहरि ने भी इस मत का उल्लेख किया है—'अपादान-सम्प्रदानकरणाधारकर्मणाम्, कर्तुश्चोभयसम्प्राप्तौ परमेक प्रवर्तते' [1]। भाष्यकार ने भी कहा है 'अपादानसज्ञाम् उत्तराणि कारकाणि वाधन्ते' (१।४।१)। कारकप्रकरण १।४।५५ सूत्र पर समाप्त होता है।

उसके वाद १।४।५६ सूत्र से 'निपात'-सज्ञक पदो का सङ्कलन किया गया है। यहाँ यह चिन्तनीय है कि क्यो 'निपात' तथा वक्ष्यमाण 'उपसर्ग' कारक के वाद कहे गए है, जवकि अन्य दो पद (नाम तथा आख्यात) कारक से पहले हैं। क्या यह कहा जा सकता है कि कारक का साक्षात् सम्वन्ध आख्यात तथा नाम से है और उपसर्ग-निपात-सज्ञक पदो से कारक का कोई मुख्य सम्वन्ध नही है—इसलिये कारकप्रकरण से पहले निपात तथा उपसर्ग का विवरण नही किया गया है ?

पाणिनि ने पहले निपात (१।४।५६) और उसके वाद उपसर्ग (१।४।५९) का विचार किया है, परन्तु आचार्य यास्क के क्रम मे उपसर्ग के वाद निपात आता है (निरुक्त १।१ ख०), वस्तुतः यह भ्रम या विपर्यास के कारण नही हुआ है। भगवान् पाणिनि ने निपातसज्ञक प्रादि को क्रियायोग होने पर उपसर्ग-सज्ञक माना है, अत निपातविचार के वाद ही उपसर्ग का विचार प्रसक्त होता

१—यह कारिका मुद्रित वाक्यपदीय मे नही दिखाई पडती। परन्तु जगदीश तर्कालङ्कार ने शब्दशक्तिप्रकाशिका मे (८२ कारिका) इस वचन को भर्तृहरि-वचनरूप से उद्धृत किया है। व्याख्यानग्रन्थो मे ऐसे अनेक वचन मिलते हैं, जिनको व्याख्याकार 'भर्तृहरिवचन' कहते हैं, पर वाक्यपदीय मे वे नही मिलते हैं।

अनुसार भी किया है (अर्थात् धातु ङित् होने से आत्मनेपदी होना इत्यादि) अतः उपग्रह से पहले ही इत् का विचार अपेक्षित होता है। किन्तु पाणिनि ने धातुओं को अनुबन्ध (= इत्संज्ञायोग्य वर्ण) के साथ पढ़ा है अतः धातुस्वरूप के ज्ञान के लिये भी अनुबन्ध का ज्ञान नित्य अपेक्षित होता है (धातोः सानुबन्धकत्वात्—उद्द्योत ४।१।१५ वाक्य आलोचनीय)। यदि च धातुरूप तिङन्त प्रयोगों के अनेक कार्य अनुबन्ध से निर्दिष्ट हुए हैं, अतः धातु के साथ अनुबन्धज्ञान की अपरिहार्यता के कारण धातु के बाद अनुबन्ध का विचार किया गया है।

चतुर्थ पाद—परिशिष्ट संज्ञा (जिनका पाठ पहले होने से न्यायदोष होता) तथा अवशिष्ट पदों का विवरण यहाँ दिया गया है। इस पाद की कुछ संज्ञाओं (यथा नदी आदि) को यद्यपि प्रथम पाद में पढ़ा जा सकता था, पर चूँकि इन संज्ञाओं को वहाँ पढ़ने से पाणिनि-प्रक्रिया के अनुसार असमञ्जसता होती अतएव चतुर्थ पाद में इन संज्ञाओं को पढ़ा गया है। इन संज्ञाओं में 'एकसंज्ञा' (१।४।१) तथा 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' (१।४।२) रूप दो विशेष नियम प्रवर्तित होते हैं, जो प्राक्तन संज्ञाओं में नहीं होते।

इस पाद में लघु (१।४।१०) आदि कुछ संज्ञाएँ हैं जो वर्णसंज्ञाएँ हैं अतः वर्णसंज्ञाओं के साथ (द्वितीय पाद) ये क्यों नहीं पठित हुईं ? उत्तर—इन संज्ञाओं में उपर्युक्त दो नियम प्रवर्तित होते हैं, अतः वर्णसंज्ञाओं के साथ इनका पाठ नहीं किया गया। किञ्च ह्रस्व तथा लघु का स्वरूप प्रक्रियाक्षेत्र में सर्वथा एकरूप नहीं है। ह्रस्व होता हुआ भी स्वर गुरु हो सकता है, पर दीर्घ नहीं हो सकता अतः 'सन्वल्लघुनि' (७।४।९३) आदि सूत्रों में ह्रस्व के स्थान पर 'लघु' शब्द का ग्रहण किया गया है (व्याख्यान-ग्रन्थ द्रष्टव्य)। लघु आदि संज्ञाओं का पाठ पृथक् पाद में करना अन्याय्य नहीं है। लघु आदि वर्णसंज्ञा नहीं हैं, प्रत्युत अक्षर की संज्ञाएँ हैं (द्र० प्रक्रिया सर्वस्व) अतः इनका पृथक् पाठ उचित है—ऐसा भी कहा जा सकता है। इस पाद में अङ्ग (१।४।१३) आदि संज्ञाओं के पाठ के विषय में विशेष नियम-प्रवर्तन-रूप कारण के अतिरिक्त अन्य हेतु भी है। इन अङ्ग भ आदि संज्ञाओं में 'यथोद्देश पक्ष' ही प्रवर्तित होता है 'कार्यकालपक्ष' नहीं (यद्यपि अन्य सभी संज्ञाओं में दोनों पक्ष समान रूप से प्रवर्तित होते हैं) अतः वृद्धि आदि संज्ञाओं के साथ इन संज्ञाओं का पाठ होने से इन संज्ञाओं के प्रयोग में विपर्यास होता। यह प्रकरण १।४।२ सूत्र पर समाप्त होता है।

इसके बाद कारकाधिकार १।४।२३ सूत्र से प्रवर्तित होता है। कारक से पहले

एकवचन और द्विवचन का उल्लेख किया गया है (१।४।२१-२२), क्योंकि कारकविधायक सूत्र के साथ वचनविधायक सूत्र की एकवाक्यता है तथा सख्या-बोध के बाद ही कारक का बोध होता है (द्रष्टव्य—'कुत्सिते' ५।३।७४ का भाष्य)। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि वाक्यार्थ मे क्रिया प्रधान होती है ('आख्यात सविशेषण वाक्यम्', क्रियामुख्यविशेष्यक वाक्यार्थ वैयाकरणो का सिद्धान्त है)' अतः क्रिया-सम्बद्ध आख्यातप्रकरण के बाद ही कारकप्रकरण का आरम्भ न्याय-प्राप्त होता है। चूँकि नदी आदि सज्ञाएँ प्राक्तन सज्ञाओ की परिशिष्टस्वरूप हैं, अतः चतुर्थ पाद के आरम्भ मे ही उनका उल्लेख कर दिया गया गया है। कारकप्रकरण मे यथाक्रम अपादान, सम्प्रदान, करण, अधिकरण, कर्म तथा कर्तृकारको को रखा गया है। यह क्रम विप्रतिषेधनियम के अनुसार है, अर्थात् यदि युगपत् दो कारको की प्राप्ति हो, तो परस्थ कारक ही प्रयुक्त होगा। भर्तृहरि ने भी इस मत का उल्लेख किया है—'अपादान-सम्प्रदानकरणाधारकर्मणाम्, कर्तुश्चोभयसम्प्राप्तौ परमेक प्रवर्तते' [१]। भाष्यकार ने भी कहा है 'अपादानसज्ञाम् उत्तराणि कारकाणि बाधन्ते' (१।४।१)। कारकप्रकरण १।४।५५ सूत्र पर समाप्त होता है।

उसके बाद १।४।५६ सूत्र से 'निपात'-सज्ञक पदो का सङ्कलन किया गया है। यहाँ यह चिन्तनीय है कि क्यो 'निपात' तथा वक्ष्यमाण 'उपसर्ग' कारक के बाद कहे गए हैं, जबकि अन्य दो पद (नाम तथा आख्यात) कारक से पहले हैं। क्या यह कहा जा सकता है कि कारक का साक्षात् सम्बन्ध आख्यात तथा नाम से है और उपसर्ग-निपात-सज्ञक पदो से कारक का कोई मुख्य सम्बन्ध नही है—इसलिये कारकप्रकरण से पहले निपात तथा उपसर्ग का विवरण नही किया गया है ?

पाणिनि ने पहले निपात (१।४।५६) और उसके बाद उपसर्ग (१।४।५९) का विचार किया है, परन्तु आचार्य यास्क के क्रम मे उपसर्ग के बाद निपात आता है (निरुक्त १।१ ख०), वस्तुतः यह भ्रम या विपर्यास के कारण नही हुआ है। भगवान् पाणिनि ने निपातसज्ञक प्रादि को क्रियायोग होने पर उपसर्ग-सज्ञक माना है, अत. निपातविचार के बाद ही उपसर्ग का विचार प्रसक्त होता

१—यह कारिका मुद्रित वाक्यपदीय मे नही दिखाई पडती। परन्तु जगदीश तर्कालङ्कार ने शब्दशक्तिप्रकाशिका मे (८२ कारिका) इस वचन को भर्तृहरि-वचनरूप से उद्धृत किया है। व्याख्यानग्रन्थो मे ऐसे अनेक वचन मिलते हैं, जिनको व्याख्याकार 'भर्तृहरिवचन' कहते हैं, पर वाक्यपदीय मे वे नही मिलते हैं।

है। इस प्रसंग में यह भी जानना चाहिए कि सामान्यादिसम्बद्ध कई विषयों में यास्क और पाणिनि का मत सम्पूर्ण सदृश नहीं है। यास्कानुसार जो उपसर्ग *तथा नि रत हैं, पाणिनि के अनुसार वे अव्यय हैं। यास्क की वचोभङ्गी से यह* पता चलता है कि प्राचीनकाल में प्र परा आदि शब्द नाम या आख्यात में से किसी के साथ युक्त होने पर उपसर्ग नाम से अभिहित होते थे पर पाणिनि ने प्र परा आदि के विभिन्न प्रकार के पदों के साथ योग होने पर विभिन्न नाम रखे हैं (१।४।८०-६०)। उपसर्ग के बाद गतिसंज्ञा (१।४।६) का विचार किया गया है, क्योंकि उपसर्ग ही क्रियायोग से शून्य होने तथा अन्य विशेषण से युक्त होने पर गतिसंज्ञक होते हैं।

चूंकि निपात के विचार में सहचरता-सम्बन्ध से उपसर्ग विचार भी प्रसक्त होता है तथा अनु आदि उपसर्ग अर्थविशेष में 'कर्मप्रवचनीय' संज्ञक होते हैं अत: गति-संज्ञा-प्रसङ्ग के बाद १।४।८३ सूत्र से 'कर्मप्रवचनीय' संज्ञा का उल्लेख किया गया है। वस्तुत: कर्मप्रवचनीय एक पदभेद ही है। (पञ्चपाद वादी की दृष्टि में)। पाणिनिदर्शन में सायणाचार्य ने कहा है—'कर्मप्रवचनीयेन वै पञ्चमेन सह पदस्य पञ्चविधत्वमिति हेलाराजो व्याख्यातवान् (सर्वदर्शन-संग्रह पृ २९९)।

पहले कहा गया है कि इस अध्याय में वाक्यस्थ पदसामान्यों का संकलन है। वाक्य = एकतिङ् (भाष्य २।१।१) अत: तिङ्विचार के बिना वाक्यावयवों का संकलन पूर्ण नहीं हो सकता है और इसीलिये १।४।९९ सूत्र से तिङ् का उल्लेख भी किया गया है। जिस प्रकार तिङ् विभक्ति है उसी प्रकार सुप् भी विभक्ति है किन्तु सुप् के बिना पदों का ज्ञान नहीं हो सकता है—'न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या न केवल: प्रत्यय:' —इस न्याय से (३।१।९४ भाष्य) अत: यहाँ सुप् का भी विवरण दिया गया है।

१।४।९९-१०० सूत्र में परस्मैपद तथा आत्मनेपद संज्ञा का उल्लेख है। शङ्का हो सकती है कि इस अध्याय के तृतीय पाद में परस्मैपद तथा आत्मनेपद कार्य का विधान है (१।३।१२ सूत्र से) पर संज्ञा का उल्लेख बाद में क्यों किया गया? संज्ञा के ज्ञान के बिना तत्सम्बद्ध कार्य का ज्ञान कैसे हो सकता है? उत्तर—आत्मनेपद संज्ञा से परस्मैपद संज्ञा का बाध हो जाए, इसलिये तृतीय पाद में पाठ न कर चतुर्थ पाद में इन दोनों संज्ञाओं का पाठ किया गया है क्योंकि चतुर्थ पाद से 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' यह न्याय प्रवर्तित होता है (प्रदीप १।४।९८)।

१।४।१०१-१०८ सूत्र मे प्रथमादि 'पुरुष' सज्ञा का विचार है। इस स्थल पर इस सज्ञा के पाठ का विशेष कारण है। परस्मैपद तथा आत्मनेपद सज्ञा से पुरुष सज्ञा का समावेश हो—यह इस क्रम का प्रथम कारण है। शङ्का हो सकती है कि चतुर्थ पाद से एकसज्ञाधिकार (आकडारादेका सज्ञा १।४।१) प्रवर्तित होता है, अतः दोनो सज्ञाओ का समावेश कैसे हो सकता है ? उत्तर—पतञ्जलि ने ज्ञापक वल से यह प्रमाणित किया है कि इस प्रकरण मे एक सज्ञाधिकार प्रवर्त्तित नही होता (१।४।९८ भाष्य)। यदि यहाँ पर पुरुष सज्ञा (काशिका १।४।१०५) का पाठ नही होता, तो जो दोष होता, उसे कैयट ने निम्नलिखित शब्दो मे दिखाया है—'अन्यथा पुरुष-सज्ञाः सावकाशाः तङ्क्षु अनवकाशया आत्मनेपद-सज्ञया वाध्येरन्' (१।४।९८)। तिङ् विभक्ति के उल्लेख के समय (तृतीय अध्याय, चतुर्थ पाद) भी परस्मैपद सज्ञा का विधान नही किया गया, क्योकि वैसा करने पर आत्मनेपद सज्ञा का वाव नही होता।

अन्त मे सहिता (१।४।१०९) तथा अवसान (१।४।११०) सज्ञा का विचार है। चूँकि प्रत्येक वाक्य प्रक्रिया की दृष्टि से पदसमष्टि ही है (पदसमूहो वाक्यम्—न्यायभाष्य २।१।५५), अतः प्रत्येक वाक्य मे वर्णों की अत्यन्त-सन्निधिरूप सहिता तथा वर्णोच्चारण-प्रयत्न-विरामरूप अवसान अवश्य होगे। चूँकि ये वर्ण पद तथा वाक्य के सिद्ध होने के बाद होते हैं, अत अध्याय के अन्त मे ही इन दोनो का उपन्यास किया गया है।

द्वितीय अध्याय का संगति-विचार—पहले अध्याय मे वाक्य से सामान्य पदो का सकलन किया गया है। द्वितीय अध्याय मे विशेष पदो का सकलन किया जाएगा। विशेप पद का अर्थ यह है कि या तो वह एकाधिक पदो के मिश्रण से वनता है, या उस पद का स्वरूप कुछ विचित्र प्रकार का है, जो रामादि सामान्य पद की तरह नही है। इस अध्याय मे विशेष पदो से साक्षात् सम्बद्ध कुछ विपयो का भी उल्लेख किया गया है, क्योकि उन विपयो के विना विशेष पदो का अर्थ वोवगम्य नहीं हो सकता है।

प्रथम-द्वितीय पाद—विशिष्ट पद का प्रथम प्रकार 'समास' है और मुख्यता के कारण सवमे पहले 'समर्थ. पदविधिः' (२।१।१) सूत्र मे इसका ही विवेचन किया गया है। चूँकि यहाँ से 'पद-विधि' (=पद-सम्वन्धी विधि) का आरम्भ किया गया है, इसलिये इससे पहले प्रथम अध्याय में ही पद-सामान्यो का विवरण करना युक्तियुक्त हुआ है—ऐसा जानना चाहिए। व्याकरण शास्त्र के अनुसार वाक्य दो प्रकार के होते हैं—व्यासरुप तथा समास-

रूप ('पदसमूहो वाक्यम्' इस मत के अनुसार)। समासरूप वाक्य का लक्षण है—'एकार्थीभावापन्न' अर्थात् समुदायशक्तियुक्त पदसमुदायविशेष (वैयाकरण-भूषणसार का समासशक्तिप्रकरण द्रष्टव्य)। समास के उपयोगी होने के कारण पहले व्यासरूप वाक्य (=सामान्य पद) का निरूपण किया गया है और उसके बाद इस अध्याय में पर्यवान् सामान्य पदों के विशेष रूप (अर्थात् समास) का विवेचन किया जाएगा। यही दोनों अध्यायों की आर्थिक संगति है। पहले समास का सामान्य सूत्र (सह सुपा २।१।४) तथा तत्सम्बन्धी स्वर है और उसके बाद विशेष समासों का विवरण है।

इन विशेष समासों (अव्ययीभाव आदि) के स्थापन-क्रम का रहस्य यहाँ आलोचित हो रहा है। पाणिनीय सम्प्रदाय एकार्थीभाववादी (समास के अवयवभूत पदों में शक्ति का अस्वीकारकारी) है और पदप्राधान्य-प्रयुक्त व्यवस्था (अर्थात् पूर्वपदप्रधान, उत्तरपदप्रधान इत्यादि) को प्रायिक मानता है ऐसा कहना न्याय्य होगा (द्र० वैयाकरणभूषणसार का समासशक्ति-प्रकरण)। मालूम पड़ता है कि अव्ययीभाव के प्रायेण पूर्वपदार्थप्रधान होने के कारण सब से पूर्व उसका ही अनुशासन किया गया है। उसके बाद २।१।२२ सूत्र से प्रायेण उत्तरपदार्थप्रधान तत्पुरुष समास का आरम्भ होता है। चूँकि तत्पुरुष प्रायेण द्विपदघटित है अतएव द्वन्द्व-बहुव्रीहि से स्वल्प-शरीर होने के कारण इन दोनों से पहले इसका प्रसङ्ग किया गया है। उसके बाद २।२।२३ सूत्र से प्रायेण अनेकपदघटित बहुव्रीहि और तदनन्तर द्वन्द्व (२।२।२९) है। अव्ययीभाव और तत्पुरुष समासघटित शब्दों की अपेक्षा द्वन्द्व-बहुव्रीहिसमास-घटित पद प्रायः अधिक शब्दयुक्त होते हैं, अतः अव्ययीभाव के बाद द्वन्द्व या द्वन्द्व के बाद तत्पुरुष इत्यादि क्रम से समासों का स्थापन नहीं किया गया है।

तत्पुरुष समास में द्वितीया तृतीया आदि विभक्तिघटित समासों का जो क्रम रखा गया है वह सुप् विभक्ति के अनुसार है। इस प्रसङ्ग में यह लक्षणीय है कि इस पाद में षष्ठीतत्पुरुष का अनुशासन नहीं है जिससे यह ज्ञापित होता है कि

१—इह कश्चित् समासः पूर्वपदार्थप्रधानः, कश्चिदुत्तरपदार्थप्रधानः, कश्चित् अन्यपदार्थप्रधानः कश्चिदुभयपदार्थप्रधानः (भाष्य २।१।६)।

२—अव्ययसंज्ञा चेयं महती पूर्वपदार्थप्राधान्यम् अव्ययीभावस्य दर्शयति (वार्तिक २।१।५)।

पाणिनि के अनुसार 'सम्बन्ध' कारक नही है[1]। पहले विभक्तिसहभावी तत्पुरुष, और उसके बाद सामानाधिकरण्य-घटित तत्पुरुष का उल्लेख है। द्वितीय पाद मे तत्पुरुष के जिस अश का विवरण है, उसे तत्पुरुष का परिशिष्टभूत कहा जा सकता है। यह प्रकरण २।२।२२ सूत्र पर समाप्त होता है। तत्पुरुष को दो पादों मे रखने का कारण क्या है, यह चिन्त्य है। हो सकता है कि तत्पुरुष के जितने सूत्र द्वितीय पाद मे हैं, उनकी निजी विशिष्टता है। वे मुख्यतः षष्ठीविभक्ति से सम्बद्ध है। और, षष्ठी वस्तुतः कारक नही है। इससे यह निर्गलित होता है कि प्रथम पाद मे कारक से सम्बद्ध तत्पुरुष का विवरण है, तथा द्वितीय पाद मे उससे भिन्न तत्पुरुष का सङ्कलन है और इस भेद के ज्ञापन के लिये पृथक् पाद का व्यवहार किया गया है।

२।२।२३ सूत्र से बहुव्रीहि समास का आरम्भ है। यहाँ यह शङ्का की जा सकती है कि सम्पूर्ण तत्पुरुषप्रकरण ही क्यो नहीं प्रथम पाद मे पढा गया ? किस हेतु से एक विषय दो पाद मे विभाजित हुआ ? उत्तर—बहुव्रीहि तत्पुरुषसमास का ही शेष है (शेषो बहुव्रीहि. २।२।२३), यदि तत्पुरुष और बहुव्रीहि पृथक् पृथक् पाद मे पठित हो तो शेष-शेषि-सम्बन्ध उपपन्न नही होता, अतः तत्पुरुष के परिशिष्ट भाग को पृथक् पाद में कहकर उसके बाद बहुव्रीहि का अनुशासन आचार्य ने किया है। पुन. शका की जा सकती है कि तब तत्पुरुष और बहुव्रीहि को एक पाद में ही क्या नही आचार्य ने पढा, जिससे शेष-शेषि-सम्बन्ध और भी स्पष्ट रूप से द्योतित होता ? उत्तर यह है कि अवयव की दृष्टि मे तत्पुरुष और बहुव्रीहि में विलक्षणता है (जैसा कि पहले कहा गया है), और चूंकि द्वन्द्व के साथ समता है, अतएव द्वन्द्व और बहुव्रीहि के लिये पृथक् पाद की रचना करना ही आचार्य ने न्याय्य समझा। इससे यह भी ज्ञापित होता है कि तत्पुरुष का ही शेष बहुव्रीहि है, अव्ययीभाव का नही। यह बात भाष्य से भी प्रमाणित होती है[2]। यह प्रकरण २।२।२९ सूत्र मे समाप्त होता है।

१—कारकाणामविवक्षा शेषः (भाष्य २।३।५०)। द्र० वाक्यपदीय ३ का०—'सवन्ध. कारकेभ्योऽन्य ... मिधीयते' (साधनसमुद्देश १५६)।

२—तत्पुरुषसमास मे अनुक्त प्रथमा विभक्ति ही 'शेष है'—त्रिकतस्तर्हि शेषग्रहणम्। यस्य त्रिकस्य अनुक्तः समास स शेष.। कस्य चानुक्त', प्रथमायाः (भाष्य २।२।२३)। प्रथमान्ताना पदाना बहुव्रीहिरित्यर्थात् समानाधिकरणानां भवति। कण्ठेकाल इत्यादौ सप्तमीविशेषणे इति पूर्वनिपातविधानात् ज्ञापकाद् भवति (प्रदीप)।

उपसर्जन का प्रयोग सभी समासों से सम्बद्ध है, अतएव सभी समासों के बाद २।२।३० सूत्र से उपसर्जन का उपन्यास किया गया है। इस प्रसङ्ग में और एक विषय आलोच्य है। यद्यपि उपसर्जनप्रकरण अन्यत्र भी पढ़ा जा सकता था तथापि यहीं पर पढ़ने का एक गूढ़ उद्देश्य है। व्याकरणशास्त्र में उपसर्जन पद दो अर्थों में व्यवहृत होता है—अप्रधान (गौण) अर्थ में तथा पाणिनि वर्णित पारिभाषिक अर्थ में (द्र० १।२।४३)। समासप्रकरण के साथ उपसर्जनप्रकरण का पाठ कर पाणिनि ज्ञापित करते हैं कि यह शब्द यहीं पर पारिभाषिक अर्थ को ही कहेगा (क्योंकि पारिभाषिक अर्थ समास से ही सम्बद्ध है)—अप्रधान अर्थ को नहीं कहेगा। साथ ही यह भी विज्ञापित होता है कि असमासप्रकरण में कथित उपसर्जन शब्द सर्वत्र अप्रधानवाची ही होगा, जैसे 'अनुपसर्जनात्' (४।१।१४) आदि सूत्रों में देखा जाता है प्रकरण के बल पर अनेक सन्दिग्धार्थक शब्दों के अर्थ स्पष्ट हो जाते हैं[1] जिसके अनेक उदाहरण इस निबन्ध में यथास्थान दिए गए हैं। कुछ शब्द भिन्न प्रकरण में भिन्नार्थ के वाचक होते हैं, अष्टाध्यायी में व्यवहृत 'गोत्र' शब्द इसका एक उदाहरण है। व्याख्याकारगण कहते हैं कि अपत्याधिकार (चतुर्थ अध्याय का प्रथम पाद) से अन्यत्र पठित गोत्र शब्द लौकिक गोत्रवाची है पाणिनि द्वारा परिभाषित अर्थ का वाचक नहीं है।

तृतीय पाद—सुप् विभक्तियों का अर्थ (अर्थात् किस अर्थ में कौन विभक्ति होती है) और उन विभक्तियों का विधान इस पाद में है। समास के बाद भिन्न पाद में विभक्तियों का अनुशासन क्यों किया गया है इसके उत्तर में वक्ष्यमाण न्याय द्रष्टव्य है यथा—पूर्वोक्त समास के बाद समास के प्रातिपदिक सुबन्त पद की घटक सुप् विभक्तियों का अर्थ-कथन न्याय-प्राप्त होता है (अष्टाध्यायी में सर्वत्र किसी विषय के निर्देश के बाद उसका अर्थ कहा गया है क्योंकि शब्द ज्ञान के बाद ही उसके अर्थज्ञान के लिये प्रवृत्ति होती है) अतः सुप् विभक्तियों का अर्थ तथा उनका विषय-निर्देश यहाँ पर किया गया है। बाद के अध्यायों में इसका अनुशासन हो नहीं सकता क्योंकि उन अध्यायों के विषय से इस विषय का कोई गौण भी सम्बन्ध नहीं है। पहले अध्याय में भी यह विषय

१—'वैयात्तात्' (५।४।२४) सूत्र पर नागेश कहते हैं—तदर्थे स्वार्थिकात् स्वार्थे यद् इत्यर्थः। प्रकरणाविरोधाय एवमेव युक्तं व्याख्यानम् (बृहत् शब्देन्दु पृ १५१८)। प्रकरण के विरोध-अविरोध के प्रभाव के लिये यह स्थल द्रष्टव्य है।

कथित नही हो सकता, क्योकि सामान्य पदो के सङ्कलन से इन विभक्तियो का कोई साक्षात् सम्बन्ध उपलब्ध नही होता। यह कहना और भी युक्ततर होगा कि अब तक पदो का सम्पूर्ण भेद और कारक का विवरण दिया गया है, पर पद और कारक की सिद्धि के लिये विभक्ति का प्रयोगात्मक ज्ञान अपरिहार्य है, अत. तृतीय पाद मे (इन विषयो के कथनानन्तर) उसका अनुशासन किया गया है। यह भी जानना चाहिए कि समास का अर्थ सुप् विभक्ति से रहित नही है (द्र० शब्दरत्न १ २।४६), अतः समास के बाद सुप् विभक्ति का अनुशासन सर्वथा न्याय्य है।

विभक्तियो के निर्देश-क्रम मे रहस्य है। क्रम है—द्वितीया, चतुर्थी, तृतीया, पञ्चमी, सप्तमी, प्रथमा और षष्ठी। कुछ ऐसे स्थल हैं, जहाँ चतुर्थी द्वितीया की बाधिका होती है, तथा कुछ विशेष स्थलो पर सप्तमी चतुर्थी की बाधिका होती है। तृतीया और पञ्चमी के विषय मे भी यही नियम प्रवर्त्तित होगा, अतः स्पष्ट है कि इस क्रम मे विप्रतिषेध-नियम (१।४।१) अनुस्यूत है। षष्ठी सब के अन्त मे है, क्योकि सभी विभक्तियो से षष्ठी बलिष्ठ और व्यापकतम है, जैसा कि कहा जाता है—'सम्बन्धमात्रविवक्षाया षष्ठी'। किञ्च कारकान्तर की अप्राप्ति के स्थल मे षष्ठी ही होती है। इस प्रकार देखने से पता चलता है कि किस प्रकार वैयाकरण-सम्प्रदाय में प्रचलित अनेक मुख्य सिद्धान्त सूत्रक्रमविचार से ही ज्ञापित होते हैं। भाष्यवार्त्तिको के अनेक मौलिक मत सूत्रो मे बीज रूप मे अवश्यमेव निहित हैं (सूत्रेष्वेव हि तत् सर्वं यद् वृत्तौ यच्च वार्त्तिके—तन्त्रवार्त्तिक पृ० ६०६)—यह प्राचीन मत कपोलकल्पित नही है[1]।

चतुर्थ पाद:—समास-सम्बन्धी लिङ्ग-वचनो का निर्देश आरम्भ मे किया गया है। इसका कारण यह है कि जिस प्रकार सामान्यपदो की सिद्धि के लिये

१—इस मत का अतिरेक भी है (द्र०शब्देन्दु, बहुव्रीहिप्रकरण भैरवमिश्रटीका) जिसमे यह सोचा जाता है कि सूत्रकार ने वार्त्तिकोक्त सभी बातो को जानकर भी उनका सनिवेश सूत्र मे नही किया, क्योकि वे जानते थे कि वार्त्तिककार उन मतो को बाद मे कहेंगे। सूत्रकार ने सक्षेपार्थ अनेक प्राचीन शब्दो का अन्वाख्यान नही किया, यह मानना ही सगत जंचता है। यह भी असम्भव नही कि पाणिनि के बाद भी कुछ नए शब्द प्रवर्तित हुए हो। सूत्रो से सभी वार्त्तिकोक्त बातो को निकालने के लिये जो चेष्टा न्यासकार ने किया है, वह कही कही हास्यजनक ही है, यद्यपि यह भी सत्य है कि वार्त्तिकोक्त कुछ बाते सूत्रो से भी न्याय्य पन्था से सिद्ध होती हैं।

विभक्ति की आवश्यकता है उसी प्रकार विशेषपदरूप समास के विविध अवयव-ज्ञान के लिये (अर्थात् कभी-कभी समास के कारण ही लिङ्ग-वचन में विलक्षणता आ जाती है, अन्यथा नहीं आती—यही अवयव-वैचित्र्य है) भी लिङ्ग और वचन का ज्ञान अवश्य करणीय होता है क्योंकि 'सुबरहित समासार्थ नहीं हो सकता है' तथा लिङ्ग-वचनों के साथ सुप् का सम्बन्ध अविच्छेद्य है अतः चतुर्थपाद में इन दोनों विषयों का उपन्यास किया गया है। पहले वचन का उल्लेख और उसके बाद लिङ्ग का उल्लेख क्यों किया गया—यह चिन्तनीय है। सम्भव है कि यहाँ वचन के रूप में 'एकवद्भाव' का विचार है, जो औत्सर्गिक एकवचन के कारण लिङ्ग से अधिक व्यापक है और इसलिये प्रधानता के कारण पहले उल्लिखित हुआ है। इस प्रसङ्ग में यह भी विशेष है कि चूँकि यह प्रकरण समासरूप पदविशेष के लिये है इसलिये व्यासरूप सामान्यपद के लिये बाधित विभक्त्यर्थ-विचारात्मक पाद से पृथक् पाद में यह अनुचिन्त हुआ है। यह प्रकरण २।४।३१ सूत्र में समाप्त होता है।

२।४।३२ सूत्र से *जिन विषयों का उपन्यास किया गया है,* वे विशेष पद के परिशिष्टभूत हैं—ऐसा कहा जा सकता है। पाणिनि ने अन्वादेश को विशेष पद की तरह पढ़ा है। इस विषय में निम्नलिखित न्याय द्रष्टव्य है—अन्वादेशजन्य पद राम इत्यादि पदसामान्यों की तरह नहीं हैं (क्योंकि अन्वादेशजन्य पद का अर्थ अन्य-पदार्थ सापेक्ष है जबकि रामादि पदों का अर्थ स्वप्रतिष्ठ है) तथा यह कारक वाचक आदि की तरह स्पष्ट रूप से प्रकृति प्रत्ययों में विभजनीय भी नहीं है अतः इस विषय को प्रथम तथा तृतीय अध्याय में नहीं कहा गया है (यदि उपर्युक्त विशिष्टता न होती तो यह इन दोनों अध्यायों में से किसी एक में अवश्य पठित होता क्योंकि प्रथम अध्याय में पदसामान्य का सङ्कलन है तथा तृतीय अध्याय में पदों का प्रकृति-प्रत्यय में विभाग है)। समास जिस प्रकार विशिष्ट पद है (एकाधिक बोध से सम्पृक्त होने के कारण) उसी प्रकार अन्वादेश भी *विशिष्ट पद है (बोधान्तरसापेक्षता के कारण)*। अतः पाणिनि ने अन्वादेश को समास के बाद पढ़ा है। यह भी जानना चाहिए कि अन्य अध्यायों में जो पद के स्थान में आदेश हैं (जैसे षष्ठ अध्याय में) वे प्रत्यय-सापेक्ष हैं, और यहाँ का अन्वादेश बोधसापेक्ष है, अतः प्रत्ययादिसापेक्ष अन्य प्रकार के पदादेशों के साथ इसका पाठ पाणिनि ने नहीं किया है। यह प्रकरण २।४।३४ पर्यन्त है।

जिस प्रकार अन्वादेश एक विशिष्ट पद है उसी प्रकार आर्धधातुक-सम्बन्धी धात्वादेश भी एक विशिष्ट धातु ही है अतः नामादेश के बाद २।४।३५ सूत्र से

धात्वादेशो का उपन्यास किया गया है। आर्धधातुक-सम्बन्धी अन्य एक अधिकार-सूत्र षष्ठ अध्याय (६।४।४६) मे भी है, पर इन दोनो धात्वादेशो मे मौलिक भेद होने के कारण एकत्र दोनो का पाठ नही किया गया है। षष्ठ अध्याय गत आर्धधातु-कीय सूत्रो से निर्दिष्ट कार्य करने के लिये यह आवश्यक है कि आर्धधातुक प्रत्यय वस्तुतः आगे (पर मे) उपस्थित हो, अर्थात् षष्ठ अध्याय के 'आर्धधातुके' (६।४।४६) सूत्र मे जो सप्तमी है, वह परसप्तमी है, पर यहाँ आर्धधातुक प्रत्ययो के विषय मे (अर्थात् भविष्य मे प्रत्यय आनेवाला है) धात्वादेश प्रसक्त होता है, अतएव आर्धधातुक-सम्बन्धी धात्वादेशो को दो पृथक् अध्यायो मे विभाजित किया गया है। वस्तुतः इस प्रकरण का आदेश यथार्थ आदेश भी नही है, क्योकि जितने धातु आदिष्ट हुए हैं (यथा भू, ख्या, वच् आदि) वे स्वतन्त्र धातु है। अन्य अध्यायो के आदेशो मे यह बात सर्वतोभाव से घटती नही है। प्रक्रिया मे लाघव के लिये पाणिनि ने दोनो धातुओ मे स्थान्यादेशभाव की कल्पना की है। यह प्रकरण २।४।५७ सूत्र पर समाप्त होता है।

इसके बाद २।४।५८ सूत्र से पदसम्बन्धी लुक्प्रकरण का आरम्भ होता है (प्रसङ्गतः गौणरूप से विकरण-सम्बन्धी लुक् भी है [२।४।७२], पर मूलतः यह लुक्प्रकरण नामसम्बन्धी है)। यद्यपि यह प्रकरण तद्धितप्रत्यय-सम्बन्धी है, तथापि यहाँ पर पढने का विशिष्ट कारण है, यथा—जिस प्रकार प्रत्ययविशेष के विषय मे स्वतन्त्र धातु (वच्यादि) आदेश रूप से निर्दिष्ट हुए है, उसी प्रकार प्रत्यय-विशेषरूप लुक् के विषय में भी स्वतन्त्र (शब्दजन्य नही) शब्द की सिद्धि लुग्विधान के द्वारा यहाँ की गई है, और इसी साम्य के कारण हीं धात्वादेश के बाद लुक्प्रकरण का आरम्भ किया गया है। जैसे औडुलोमि शब्द (इकारान्त) के बहुवचन मे अकारान्त शब्द की तरह रूप होता है— लोम्नोऽप-त्येपु बहुष्वकारो वक्तव्य '—इस वार्त्तिक (४।१।८५) से। यद्यपि प्रक्रिया मे लाघव के लिये ऐसा किया जाता है, पर इस बहुत्व मे जो अकारान्त उडुलोम शब्द है वह औडुलोमि शब्द से जात नही है—स्वतन्त्र है। यह हमलोगो की कपोल-कल्पित बात नही है, स्वय भट्टोजिदीक्षित ने इस मत का स्पष्ट उल्लेख किया है—'तथा च बहुत्वाभावे औडुलोमिशब्द इकारान्त। बहुत्वे तु अका-रान्त उडुलोमशब्दोऽन्य एव। तस्य चेकारान्तेपु व्युत्पादन प्रासङ्गिकमिति भावः। तथा च औडुलोमिशब्दस्य इदन्तस्य बहुत्वेऽदन्तत्वम् इति न भ्रमितव्यम्' (प्रौढमनोरमा, अजन्तपुलिङ्गप्रकरण)। जान पडता है कि शब्द और अर्थ के साम्य को देखकर ही आचार्य ने एक से अन्य की उत्पत्ति दिखाई है।

लुक के प्रसङ्ग में अन्यविषय-सम्बन्धी लुक् का विवरण भी है। यहाँ यह शङ्का होती है कि चतुर्थ अध्याय के प्रथम पाद में भी (४।१।१७५–१७८) नाम-सम्बन्धी तद्धित-प्रत्ययपराश्रित लुक का विवरण है, जो इस प्रकरण के लुक के सदृश है अतः चतुर्थ पाद के लुक्[1] प्रकरण में ही तद्धितीय लुक् प्रकरण का पाठ क्यों नहीं किया गया ? ज्ञानेन्द्र सरस्वती ने इसका उचित उत्तर दिया है यथा— 'तत्राजस्य बहुषु (२।४।६२) इति प्रकरण एवेदं न कृतम्, अपेक्षार्थबाधकस्याप्रो लुगभावप्रसङ्गात्। यद्यपि लुगधिकारे पुनर्लुग्विधानसामर्थ्यात् अपेक्षयोरप्यप्रो लुग्भविष्यत्येवेति वक्तुं शक्यं तथापि अतत्राजस्यापि लुकप्रसङ्ग[illegible]पत्तेर्नाभावाच्च तत्प्रकरणे न कृतमित्याहुः (तत्त्वबोधिनी ४।१।१७५)। यद्यपि यह विचार केवल 'कम्बोजाल्लुक' (४।१।१७५) सूत्र के लिये किया गया है, तथापि यह पूर्ण प्रकरण में चरितार्थ होगा।[2]

लुकप्रकरण के बाद 'लुटः प्रथमस्य डारौरसः' (२।४।८५) सूत्र से इस पाद की समाप्ति होती है। यह सूत्र नाम-सम्बन्धी नहीं है प्रत्युत आदेश-सम्बन्धी है, अतः तृतीय अध्याय के आदेशों (३।४।७८–११७) के साथ इसका पाठ क्यों नहीं किया गया है—ऐसी शङ्का होती है। उत्तर में वक्तव्य है कि पाणिनीय प्रक्रिया की विशिष्टता के लिये ही इस सूत्र को यहाँ पर पढ़ा गया है अन्यथा यह 'परस्मैपदानाम् ……' (३।४।८२) सूत्र के साथ ही पठित होता। अर्थात् यदि यह सूत्र प्रत्ययाधिकार (अर्थात् तृतीय अध्याय के चतुर्थ पाद) में पठित होता तो डा की इत् संज्ञा होने के कारण अनेकाल्त्व न रहने से 'डा' आदेश का सर्वादेशत्व

---

१ गोत्रेऽलुगचि (४।१।८९) से तत्राजप्रकरणविहित (२।४।६२) लुक का अलुक होता है अतः गोत्रेऽलुगचि सूत्र को द्वितीयाध्याय में ही क्यों नहीं रखा गया—यह प्रश्न हो सकता है। नागेश कहते हैं—प्राग् दीव्यतीय इति विषय लाभार्थं द्वितीये नैतत्कारि (शब्देन्दु, तद्धित प्रकरण पृ १९२)।

२ एकवाक्यता के कारण उत्सर्गापवाद के बाध्य-बाधकभाव की स्थिति अष्टाध्यायी में सर्वत्र है। वाक्यपदीय के ये श्लोक इस प्रसङ्ग में स्मार्य हैं— अनेकाख्यातयोगेऽपि वाक्यं न्यायापवादयोः। एकमेवेष्यते कैश्चिद् भिन्नरूपमिव स्थितम्॥ नियमः प्रतिषेधश्च विधिशेषः तथा सति। द्वितीये यो लुगाख्यातः तच्छेषमलुकं विदुः॥ (२।३५३–३५४) द्वितीयअध्याय-गत लुग्विधि का शेष षष्ठाध्यायगत लुक-प्रतिषेध है उसी प्रकार षष्ठाध्याय के 'अलुगुत्तरपदे' सूत्र में जिस लुकप्रतिषेध का विधान है वह 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' (२।४।७१) सूत्र का शेष है।

सिद्ध नहीं होता और इस सर्वादेशत्व के विना 'भविता' प्रयोग का निर्माण दुष्कर होता, अतः प्रक्रियालाघव के लिये इस सूत्र को प्रत्ययाधिकार से हटाकर (जो इसका उपयोगी स्थल है) यथेच्छरूपेण द्वितीय अध्याय के अन्त में (अर्थात् प्रत्ययाधिकार से पहले) पढ़ा गया है।

इस प्रकार इन दोनों अध्यायों में वाक्यों से सामान्य तथा विशेष पदों का संकलन समाप्त हो जाता है, इसके बाद संकलित पदों का विश्लेषण (प्रकृति-प्रत्ययविभाग) किया जाएगा।

तृतीय अध्याय का संगतिविचार—अब हम अष्टाध्यायी के द्वितीय भाग (३—५ अध्याय) अर्थात् पद-विश्लेषण-प्रकरण की संगति के विषय में आलोचना करेंगे। प्रथम और द्वितीय अध्याय में यथाक्रम सामान्य तथा विशेष पदों का संकलन हो चुका है, अतः यहाँ से उन संकलित पदों का विश्लेषण (प्रकृति प्रत्यय में विभाग) किया जाएगा। कैयट ने कहा है—'पदनिमित्तात् प्रत्ययविधेः' (प्रदीप ३।१।९२), अतः पदों का संकलन करने के बाद प्रकृति-प्रत्यय-प्रकरण का आरम्भ करना संगत ही होता है।

शङ्का हो सकती है कि इस अध्याय का प्रथम सूत्र 'प्रत्ययः' (३।१।१) ही क्यों है, जब कि प्रकृति तथा प्रत्यय दोनों का ही उल्लेख इन अध्यायों में किया जाएगा? उत्तर यह है कि प्रत्यय सदा प्रकृतिसापेक्ष ही होता है, क्योंकि प्रत्ययों के स्वकीय अर्थ नहीं है, अतः प्रत्यय के उल्लेख से ही प्रकृति का भी उल्लेख अविनाभावी सम्बन्ध के कारण हो जाता है—ऐसा समझना चाहिए। किंच व्याकरण की यह विशिष्टता है कि वह पदों का अन्वाख्यान प्रकृति तथा प्रत्यय में विभागकर करता है, निरुक्तशास्त्र की तरह केवल प्रकृति का उल्लेख कर ही शब्दों का विश्लेषण नहीं करता, अतः व्याकरणशास्त्र की अपनी विशिष्टता के ज्ञापनार्थ पाणिनि ने 'प्रत्ययः'—ऐसा अधिकार-सूत्र रचा है। धातु और नाम रूप प्रकृतिद्वय का उल्लेख पहले किया जा चुका है। यह भी विज्ञेय है कि शब्दशास्त्र में एक न्याय है—'प्रकृति-प्रत्ययार्थयोः प्रत्ययार्थस्यैव प्राधान्यम्'[1] अतः 'प्रत्यय' के लिये पृथक् अध्यायों की रचना (३-५ अध्याय) करना उचित ही है।

अष्टाध्यायी के प्रथम विभाग से इस दूसरे विभाग की एक मौलिक विशिष्टता है। इस विभाग में जिस प्रकार का शाब्दिक विश्लेषण किया जाएगा, वह काल्पनिक (शास्त्रमात्रगम्य) है अर्थात् लोकविदित नहीं है। लोक में पदप्रयोग

---

१ वैयाकरणभूषणसार (८ कारिका)—गत विवरण द्रष्टव्य।

के समय प्रकृति-प्रत्यय के ज्ञानपूर्वक पदों का प्रयोग नहीं किया जाता। व्याकरण-शास्त्र में पदों के अर्थ की तरह प्रकृति-प्रत्ययों के अर्थों का अनुशासन किया गया है, पर पदों का अर्थ प्रकृति-प्रत्ययों के अर्थ की तरह काल्पनिक नहीं है। पद को जब अर्थवान् कहा जाता है तब वह अर्थ लौकिक (लोकविदित), भाषामात्र बोधगम्य होता है, पर प्रकृति-प्रत्यय को जब अर्थवान् कहा जाता है तब वह अर्थ केवल शास्त्रीय (व्याकरण में वर्णित) मात्र होता है—व्याख्याकारों ने स्पष्ट रूप से इस मत का प्रतिपादन किया है। प्रकृत्यादि के अर्थों की काल्पनिकता के विषय में भट्टोजिदीक्षित ने कहा है—'प्रकृत्यादिविभागः तदर्थविभागश्च सर्वं कल्पित एव (प्रौढमनोरमा १।२।४५)।'[1]

इस द्वितीय भाग में पहले धातु के विकसित स्वरूप का विवरण उसके बाद उन धातुओं से नामों का व्युत्पादन तथा धातुजन्य तिङन्त पदों का प्रयोग और उसके बाद नाम से नाम का व्युत्पादन किया गया है। यहाँ पहले व्यावहारिक शब्दों का उल्लेख और उसके बाद उससे बाद शब्दों का उल्लेख ऐसा क्रम रखा गया है; तथा क्वाचित् अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग दृष्टि से भी प्रकरणों की स्थापना की गई है जैसा आगे स्पष्ट दिखाया जाएगा।

प्रथमपाद—'प्रत्ययः' 'परश्च' इन दोनों सूत्रों (३।१।१-२) के बाद प्रत्यय सम्बन्धी मुख्य स्वर का उल्लेख 'आद्युदात्तश्च' (३।१।३) सूत्र में किया गया है। शङ्का हो सकती है कि यह स्वर-विधि षष्ठ अध्याय के विस्तृत स्वर-विधि के साथ क्यों नहीं पठित हुई? प्रत्यय के साथ ही प्रत्यय-स्वर का उल्लेख क्यों किया गया जब कि इसके अन्य सजातीय स्वर षष्ठ अध्याय में विहित हुए हैं? भाष्यकार ने इस पर विस्तृत विचार कर उत्तर दिया है (द्र० भाष्य ३।१।३)। नागेश ने उसका सारांश निम्नलिखित वाक्य में दिखाया है—'एवं च लोपनिवारणद्वारा आगमानुदात्तत्वसिद्धये एवात्रास्य सूत्रस्य पाठः' (उद्योत)। यदि यह विशिष्ट प्रयोजन नहीं होता तो यह अवश्य ही षष्ठ अध्याय में पठित होता।

१—इस प्रकृतिप्रत्यय-विभाग में यह भी ज्ञातव्य है कि तद्धित में जो प्रकृति-प्रत्यय विभाग है उसमें प्रकृति-अंश उतना कल्पित नहीं जितना कि 'भवति' प्रयोग गत भू-धातु-रूप प्रकृति भाग कल्पित है। तद्धित-प्रत्यय की प्रकृति निश्चित है सम्भवतः सुबन्तात् तद्धितोत्पत्तिः कहने से भी यही सिद्ध होता है। समास में एकार्थीभाव मानने पर भी उसके अवयव निश्चित रहते हैं, जब कि 'भवति' के धातुरूप अवयव को 'भू' भी माना जा सकता है, 'भव' भी। प्रकृति-प्रत्यय विभाग की काल्पनिकता पर स्वतन्त्र निबन्ध में विचार किया जाएगा।

मुख्यता के कारण प्रत्यय-विचार के वाद ही कृत्रिम धातु के निष्पादक प्रत्ययो का उल्लेख ३।१।५ सूत्र से किया गया है। पहले धातु-सम्बन्धी प्रत्ययो का उल्लेख है, क्योकि शब्दशास्त्र के अनुसार धातु ही सभी शब्दो के मूल हैं ('धातूना सर्वमूलत्वात्'—शब्देन्दुशेखर ३।१।७१)। प्रयोग की दृष्टि से (परमार्थत नही) धातु दो प्रकार का होता है—मौलिक (भू आदि) तथा कृत्रिम, अर्थात् मूलधातु से प्रत्यय जोडकर जो नूतन धातु वनता है (यथा भू से वुभूष् धातु)। चूंकि ये दो प्रकार के धातु ही कृदन्त शब्दो के मूल हैं, अत. कृत् प्रत्यय के आरम्भ से पहले ही इन धातुओ का विवरण दिया गया है (सन्, यङ् आदि प्रत्ययो के उल्लेख के साथ), क्योकि कृत्रिम (प्रत्ययान्त) धातु, इन्ही सन्-यङ् आदि प्रत्ययो से वनते है। सनादि प्रत्यय धात्वंशभूत प्रत्यय कहे जाते हैं, और अशभूत होने के कारण ही इसी स्थल पर इनका उपन्यास किया गया है—किसी स्वतन्त्र प्रघट्टक मे नही। इन सनादि प्रत्ययो का विवरण ३।१।३१ सूत्र पर समाप्त होता है।

यहाँ पर दो शङ्काएँ होती है। प्रथम—पहले अध्याय मे जहाँ धातु का उल्लेख है (भूवादयो धातवः १।३।१), वहीं इन कृत्रिम धातुओ का उल्लेख क्यो नही किया गया है, तथा द्वितीय—क्यो नही धातुसज्ञाविधायक सूत्र (१।३।१) ही इस स्थल पर पठित हुआ? यदि पाणिनि 'सनाद्यन्ता धातव.' (३।१।३२) सूत्र के वाद 'भूवादयश्च'—ऐसा सूत्र-क्रम रखते, तो अवश्य ही लाघव होता।

प्रथम शङ्का के उत्तर मे यह वक्तव्य है कि भू आदि मौलिक धातुओ और और इन कृत्रिम धातुओ में व्यवहारत भेद है, भू आदि धातु विभाज्य नही है, और ये सनाद्यन्त धातु प्रकृति-प्रत्यय मे विभाज्य हो सकते हैं, अत. अखण्ड-सखण्ड-रूप विशिष्टता के कारण आचार्य ने पृथक् प्रत्ययविवरणात्मक अध्याय मे सखण्ड धातुओ का उपन्यास किया है। द्वितीय शङ्का के उत्तर मे यह जानना चाहिए कि सूत्रकार ने वैसा नही किया है, क्योकि 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' (१।३।१२) सूत्र मे धातुपद की अनुवृत्ति की आवश्यकता है, जो पहले धातु-सज्ञासूत्र के रहने पर ही सम्भव हो सकता है, अत 'भूवादयो धातव' सूत्रो को पृथक् कर प्रथम अध्याय मे पढना पडा। पुन यह शङ्का उठाई जा सकती है कि 'अनुदात्त .... ' (१।३।१२) सूत्र को ही तृतीय अध्याय मे पढकर इस स्थल पर भूवादि सूत्र का पाठ क्यो नही किया गया? उत्तर यह है कि प्रत्यय-विधानात्मक इस विभाग मे आत्मनेपद के उपन्यास की कोई भी सङ्गति नही होती, अत. पाणिनि ने वैसा नही किया है।

धातुस्वरूप के विवरण के बाद ३।१।३३ सूत्र से 'विकरण' (एक विशिष्ट प्रकार का प्रत्यय) का आरम्भ किया गया है। चूंकि ये विकरण धातु के अव्यवहित पर में होते हैं तथा कृत्प्रत्यय से ये अन्तरङ्ग हैं, अतः कृत्प्रत्ययों से पहले इन विकरणों का उपन्यास किया गया है। विकरणों के स्थापन-क्रम में भी एक लक्षणीय बात है यथा—विकरण दो प्रकार के होते हैं—(१) आर्धधातुक विकरण—स्य सिच् आदि तथा (२) सार्वधातुक विकरण या शप् आदि। आर्धधातुक विकरणों के उल्लेख के बाद सार्वधातुक विकरणों का उल्लेख किया गया है क्योंकि गणभेद होने पर भी आर्धधातुक विकरण परिवर्तित नहीं होते हैं, अतः नियतता के कारण आर्धधातुक विकरणों का उल्लेख पहले किया गया है। किंच स्य सिच् आदि आर्धधातुक विकरण अन्तरङ्ग हैं, और शप् आदि बहिरङ्ग[1] हैं (भाष्य ३।१।३१) इसलिये भी आर्धधातुक विकरण के बाद सार्वधातुक विकरण कथित हुए हैं। यह भी जानना चाहिए कि कृत्प्रत्ययों से पहले इन विकरणों के उल्लेख का कारण यह है कि अनेक कृदन्त प्रयोगों में (यथा भारयः, भारम आदि पदों में) कृत्प्रत्यय से पहले विकरण होते हैं, अतः प्रयोग में प्राथम्य के कारण विकरणों का उपन्यास पहले किया गया है। यह प्रकरण ३।१।८६ सूत्र पर समाप्त होता है।

उसके बाद ३।१।८७ सूत्र में कर्मकर्तृवाच्य का प्रसंग है। यद्यपि यहाँ पर इस सूत्र का औचित्य प्रतीत नहीं होता है (कारकप्रकरण में इसको कहना चाहिए था—ऐसा कहा जा सकता है), तथापि यहाँ पर इसको कहने का एक विशिष्ट प्रयोजन है। कर्मकर्तृ भाव से यक् चिण् आदि का सम्बन्ध है और ये यहीं उपदिष्ट हुए हैं, अतः लाघव के लिये सूत्रकार ने यहां पर कर्मवद्भाव का प्रसङ्ग किया है। किञ्च कर्मकर्तृभाव में कर्तृपद की आवश्यकता है और कर्तृत्व-सम्बन्धी विकरण इस स्थल के 'कर्तरि शप्' (३।१।६८) सूत्र में कहा गया है अतः लाघव के लिये सूत्रकार को यहीं कर्मवद्भाव का प्रसंग करना पड़ा।

कृत्प्रत्ययों की प्रकृतिभूत सामग्री का विवरण यहाँ तक हो जाता है, अतएव 'धातोः' (३।१।९१) इस अधिकारसूत्र से कृत्प्रत्ययों का आरम्भ किया गया है। यदि 'धातोः' सूत्र यहाँ पर पठित नहीं होता तो नाम से भी कृत्प्रत्यय होने लगते इस दोष के निराकरण के लिये यहाँ इस सूत्र का पाठ किया गया है।

१—अथवा अन्तरङ्गाः स्यादयः। कान्तरङ्गता ? लावस्थायामेव स्यादयः सार्वधातुके शबादयः। इस स्थल पर प्रदीपोद्द्योत का विचार महत्त्वपूर्ण है। स्यादि विकरण प्रत्यापेक्ष है यह भी एक मत है।

कृत्प्रत्ययो के दो मुख्य विभाग हैं—कृत् और कृत्य। कृत्य तथा कृत् मे कुछ मौलिक भेद है, जिसके लिये आचार्य को एक कृत् प्रत्यय के दो भाग करने पडे। कृत्य प्रत्ययो मे कालावलम्बी बोध आवश्यक नही है, वस्तुतः इन प्रत्ययो मे विधि आदि प्रकारो एव भाव-कर्म का बोध प्रबल है, इसलिये कृत्प्रत्ययो मे कृत्यरूप एक अवान्तर विभाग की कल्पना करनी पडी। किञ्च स्वर-विधि मे कृत्यसज्ञक प्रत्यय मे विशिष्ट कार्य होता है (अष्टा० ६।२।१६०) तथा कृत् और कृत्य प्रत्ययो के निश्चित अर्थ भी हैं[1]। अत इन दोनो विभागो की कल्पना करना न्यायसगत है। इस विषय मे यह भी द्रष्टव्य है कि यद्यपि कुछ कृत् प्रत्यय (यथा ण्वुल्, तृच् आदि) और सभी कृत्यप्रत्ययो का कालविशेष से अनवच्छिन्नअर्थ-बोधन मे साम्य है (-अर्थात् ये दो ही त्रैकालिक क्रिया का द्योतन करते हैं) तथापि इन दोनो का पृथक्करण न्याय्य है क्योकि कृत्यसज्ञक प्रत्यय सकर्मक और अकर्मक रूप प्रकृतिभेद से क्रिया तथा कारक—इन दोनो का वाचक होता है, परन्तु कृत् प्रत्यय सदैव कारकवाचक होता है, अत. कृत् प्रत्ययो से कृत्य नामक एक अवान्तर भेद की कल्पना पाणिनि को करनी पडी। स्वरूप मे लघुता(सख्याल्पता) के कारण पहले कृत्य प्रत्यय हैं और उसके बाद कृत्प्रत्यय हैं (सूचीकटाह-न्याय से)। यह प्रकरण ३।१।१३२ सूत्र पर समाप्त होता है।

नाम-विशेषण-निष्पादक कृत्य प्रत्ययो के बाद नाम-विशेषण-निष्पादक कृत् प्रत्ययो का आरम्भ ३।१।१३२ सूत्र से है। ये प्रत्यय (ण्वुल्, तृच् आदि) कालानुसार विभक्त हैं, कारक तथा साधन आदि के अनुसार नही। कालानुसार कृत्प्रत्ययो के विभाजन के विषय मे कैयट ने कहा है—'कालप्रकरणात् कालेन सामानाधिकरण्यार्थम्' (प्रदीप ३।३।१३१)। इस विषय मे निम्नलिखित न्याय भी द्रष्टव्य है—कृत्प्रत्ययो से द्रव्य (लिङ्गसख्यान्वित द्रव्यम्, यह द्रव्य शब्दशास्त्र का पारिभाषिक शब्द है, वैशेषिक के 'गुणक्रियावद् द्रव्यम्' से इसका कोई सम्बन्ध नही है) का अभिधान होता है। वह द्रव्य दो प्रकार का है—कारकरूप तथा क्रियारूप। कारकरूप जैसे 'पक्व', 'पक्ता', 'पाचक' इत्यादि और क्रियारूप जैसे 'पाक', 'पक्ति' इत्यादि। भाष्य मे भी दो प्रकार के 'भावो' का उल्लेख है—जो

---

१ यद्यपि कर्ता और करण मे भी कभी-कभी कृत्यप्रत्ययान्त शब्द निष्पन्न होते हैं, तथापि कृत्यप्रत्यय के भावकर्म रूप दो अर्थ लिए जाते हैं। जयकृष्ण कहते हैं—"यद्यपि कृत्यानामर्थौ भव्यगेय इत्यादौ कर्तापि, स्नानीयमित्यादौ करणादिरपि, तथापि न तत्र कृत्यत्वेन कर्त्रादिपु विधान किं तर्हि स्वरूपेण। कृत्यतया विधान तु भावकर्मणोरेवेति (कृत्यार्थे ३।४।१४ सुबोधिनी)।

उसके 'कृदभिहितो भावो द्रव्यवद् भवति' (३।१।६७) इस वाक्य से ध्वनित होता है। 'द्रव्यवद् भवति' का अर्थ है—द्रव्यधर्मान्[1] लिङ्गसंख्यादीन् गृह्णाति (प्रौढ-मनोरमा भावकर्मप्रक्रिया पृ० ७५)। 'सार्वधातुके यक्' (३।१।६७) सूत्रभाष्य में इन दोनों प्रकार के भावों का सविशेष वर्णन है। कृत् प्रत्यय से कारक का अभिधान होने पर भी प्रकृति के द्वारा क्रिया का ही अभिधान होता है और क्रिया सर्वदा कालसापेक्ष ही होती है जैसा कि वाक्यपदीय में कहा गया है—क्रियाभेदाय कालस्तु (३।९।२),-अतः यद्यपि कृत्प्रत्यय कारक-विशेष में विहित है तथापि कालानुसार उसका विधान न्यायसंगत ही होता है। प्राकर ग्रन्थों में इस युक्ति का विशदीकरण द्रष्टव्य है।

कालानुसारी कृत्प्रत्यय-विभाग में निम्नलिखित क्रम है। पहले (३।१।१३१ सूत्र से ३।२।८३ सूत्र तक) सर्वकालद्योतक ण्वुलादि प्रत्यय उसके बाद ३।२।८४ सूत्र से भूतकाल-सम्बन्धी प्रत्यय और उसके बाद वर्तमानकालद्योतक प्रत्यय हैं। तीसरे पाद में पहले भविष्यत्कालद्योतक प्रत्यय और उसके बाद विशेष्यपद निष्पादक कृत्प्रत्यय हैं। चूंकि वर्तमानकाल से पहले भूतकाल होता है और वर्तमानकाल के बाद भविष्यत्काल होता है अतएव 'भूत-वर्तमान-भविष्य' कालक्रमद्योतक प्रत्ययों का विभाग न्याय्य है। यदि ऐसा तर्क किया जाए कि भूत-भविष्यत्प्रत्ययों को एक स्थल में तथा वर्तमान प्रत्ययों को अन्य स्थल मे पृथक्-पृथक् क्यों नहीं पढ़ा गया तो उत्तर यह है कि व्याकरणशास्त्रानुसार भविष्यत्काल से वर्तमानकाल का बाध होता है, अतएव ऐसा क्रम युक्त नहीं है (प्रदीप ३।३।३)। चूंकि पाणिनीय-परिभाषा के अनुसार विप्रतिषेध में 'पर' ही बलवान् होता है (१।४।२) इसलिये भविष्यत् को वर्तमान के बाद पढ़ना पड़ा।

द्वितीय पाद —सर्वकालद्योतक ण्वुलादि प्रत्ययों में भी अवान्तर क्रम है। प्रथम पाद में वे प्रत्यय हैं, जिनमें उपपद (३।१।९२) की अपेक्षा नहीं है, और द्वितीय पाद से उपपदसापेक्ष सार्वकालिक प्रत्यय हैं। इसीलिये सूत्रकार ने सार्वकालिक प्रत्ययों को दो पृथक् पादों में रखा है। द्वितीयपाद में भी पहले कर्तृद्योतक प्रत्ययों का उपन्यास है और उसके बाद अन्यकारकद्योतक

१—इस पर शब्दरत्नकार की व्याख्या महत्त्वपूर्ण है—एवं च घटादिपदप्रतिपाद्यघटादिद्रव्यमिव लिङ्गादिहेतुना अत्रन्तादि-प्रतिपाद्ये सत्त्वमनुमीयते इति भावः। इदमपि अव्ययकृदतिरिक्तविषयम्। कृत्स्वेषु नपुंसकेतरलिङ्गयोगाभावेन असत्त्वव्यवहारः केषांचिदिति बोध्यम्।

प्रत्ययों का। इन सार्वकालिक प्रत्ययों से निष्पन्न पद मुख्यतः विशेषणभूत हैं। भूतकालिक प्रत्ययों से निष्पन्न पद भी तादृश ही हैं।

तृतीय पाद--पहले उणादि-सम्बन्धी विवेचन है (३।३।१ से ३।१।३ तक) और उसके बाद भविष्यत्कालिक प्रत्यय हैं। उणादि सूत्रों का अनुशासन यहाँ पर क्यों है—यह एक गम्भीर प्रश्न है। उत्तर में वक्तव्य यह है कि उणादि-निष्पन्न शब्दों के अर्थों तथा इस पाद में दर्शित घञादिप्रत्ययनिष्पन्न शब्दों के अर्थों में पर्याप्त समानता है, अर्थात् द्वितीयपादपर्यन्त जितने कृत्-प्रत्यय हैं, उनसे निर्मित शब्दों में यौगिक भाव अत्यधिक है, और तृतीय पाद में दर्शित प्रत्ययों से निर्मित शब्दों में रूढ अर्थ अधिक मात्रा में है, अतः तृतीय पाद में ही रूढशब्द-निष्पादक उणादिप्रकरण का आरम्भ किया गया है[1]। किञ्च द्वितीय पाद पर्यन्त जितने शब्द बनते हैं, वे सभी कर्तृवाच्य में होते हैं (स्वल्प अपवादों को छोड़कर), पर तृतीयपादीय प्रत्ययों से निष्पन्न शब्द वाच्यान्तर में भी होते हैं, और चूंकि उणादि में भी यही बात दिखाई पड़ती है, अत यहाँ पर उणादि अनुशिष्ट हुआ है।

नाम-विशेषण-निष्पादक प्रत्ययों के बाद ३।३।१८ सूत्र से 'भाव' का अधिकार किया गया है (अर्थात् इन प्रत्ययों से निष्पन्न शब्द भाववाची हैं) क्योंकि कारकार्थक प्रत्ययविधान के बाद क्रियार्थक प्रत्यय का विधान ही प्रसक्त होता है। भावाधिकार के साथ 'कर्तृभिन्नकारक' (३।३।१९) का अधिकार भी है, क्योंकि भावार्थक प्रत्यय शब्दशक्तिस्वाभाव्य के कारण कारकार्थक भी होते हैं, अतः अर्थभेद होने पर भी लाघव के लिये पाणिनि ने भावप्रत्ययों का कारकार्थकत्व भी दिखाया है। करणादिकारक में जो ल्युडादि प्रत्यय होते हैं, वे भी प्रसङ्गत. इस प्रकरण में सङ्कलित हुए हैं। इस प्रकार कृत्प्रत्ययों का विचार ३।३।१२० सूत्र में समाप्त होता है।

पहले कहा जा चुका है कि 'धातो' (३।१।७१) सूत्र का अधिकार तृतीय-अध्यायपर्यन्त है। धातु से दो प्रकार के प्रत्यय होते हैं; कृत् और तिङ्। कृत् की

१—'उणादिजनित रूढ शब्द' पर निम्नोक्त वाक्य द्रष्टव्य है—प्राय उणादि-प्रत्ययान्ता रूढिशब्दा. अवयवार्थशून्या., असन्तमपि अवयवार्थमाश्रित्य व्युत्पाद्यन्ते। तत्रापि प्राय. कर्तरि। बाहुलकादन्यत्रापीति द्रष्टव्यम्। तत्रापि प्रायो वर्तमानकाले एवेति भूते इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् (बृहच्छब्देन्दु पृ० २०७८)। वर्तमानकालद्योतक प्रत्यय के बाद उणादि का जो अनुशासन किया गया, उसका यह एक कारण प्रतीत होता है।

उनके 'कृदभिहितो भावो द्रव्यवद् भवति' (३।१।६७) इस वाक्य से ध्वनित होता है। 'द्रव्यवत् भवति' का अर्थ है—द्रव्यधर्मान्[1] लिङ्गसंख्यादीन् गृह्णाति (प्रौढ-मनोरमा भावकर्मप्रक्रिया पृ० ७५०)। सार्वधातुके यक् (३।१।६७) सूत्रभाष्य में इन दोनों प्रकार के भावों का सविशेष वर्णन है। कृत् प्रत्यय से कारक का अभिधान होने पर भी प्रकृति के द्वारा क्रिया का ही अभिधान होता है और क्रिया सदैव कालसापेक्ष ही होती है जैसा कि वाक्यपदीय में कहा गया है—क्रियाभेदाय कालस्तु (३।७।२), अतः यद्यपि कृत्प्रत्यय कारक-विशेष में विहित है तथापि कालानुसार उसका विधान न्यायसंगत ही होता है। आकर ग्रन्थों में इस युक्ति का विपरीकरण द्रष्टव्य है।

कालानुसारी कृत्प्रत्यय-विभाग में निम्नलिखित क्रम है। पहले (३।१।१३३ सूत्र से ३।२।८३ सूत्र तक) सर्वकालद्योतक ण्वुलादि प्रत्यय उसके बाद ३।२।८४ सूत्र से भूतकाल-सम्बन्धी प्रत्यय और उसके बाद वर्तमानकालद्योतक प्रत्यय हैं। तीसरे पाद में पहले भविष्यत्कालद्योतक प्रत्यय और उसके बाद विशेष्यपद निष्पादक कृत्प्रत्यय हैं। चूंकि वर्तमानकाल से पहले भूतकाल होता है और वर्तमानकाल के बाद भविष्यत्काल होता है, अतएव 'भूत-वर्तमान-भविष्य' कालक्रमद्योतक प्रत्ययों का विभाग न्याय्य है। यदि ऐसा तर्क किया जाए कि भूत-भविष्यत्प्रत्ययों को एक स्थल में तथा वर्तमान प्रत्ययों को अन्य स्थान में पृथक्-पृथक् क्यों नहीं पढ़ा गया तो उत्तर यह है कि व्याकरणशास्त्रानुसार भविष्यत्काल से वर्तमानकाल का बाध होता है, अतएव ऐसा क्रम युक्त नहीं है (प्रदीप ३।३।१)। चूंकि पाणिनीय-परिभाषा के अनुसार विप्रतिषेध में 'पर' ही बलवान् होता है (१।४।२) इसलिये भविष्यत् को वर्तमान के बाद पढ़ना पड़ा।

द्वितीय पाद —सर्वकालद्योतक ण्वुलादि प्रत्ययों में भी अवान्तर क्रम है। प्रथम पाद में वे प्रत्यय हैं, जिनमें उपपद (३।१।९२) की अपेक्षा नहीं है, और द्वितीय पाद से उपपदसापेक्ष सार्वकालिक प्रत्यय हैं। इसीलिये सूत्रकार ने सार्वकालिक प्रत्ययों को दो पृथक् पादों में रखा है। द्वितीयपाद में भी पहले कर्तृद्योतक प्रत्ययों का उपन्यास है और उसके बाद अन्यकारकद्योतक

१—इस पर शब्दरत्नकार की व्याख्या महत्त्वपूर्ण है—एवं च घटादिपद प्रतिपाद्यघटादिद्रव्यमिव] लिङ्गादिहेतुना [पचनादि-प्रतिपाद्ये सत्त्वमनुमीयते इति भावः। इदमपि प्रथमकृद्व्यतिरिक्तविषयम्। कृत्येषु नपुंसकेतरलिङ्गयोगा भावेन असत्त्वव्यवहारः केषांचिदिति बोध्यम्।

प्रत्ययों का। इन सार्वकालिक प्रत्ययों से निष्पन्न पद मुख्यतः विशेषणभूत हैं। भूतकालिक प्रत्ययों से निष्पन्न पद भी तादृश ही हैं।

तृतीय पाद--पहले उणादि-सम्बन्धी विवेचन है (३।३।१ से ३।१।३ तक) और उसके बाद भविष्यत्कालिक प्रत्यय हैं। उणादि सूत्रों का अनुशासन यहाँ पर क्यों है--यह एक गम्भीर प्रश्न है। उत्तर में वक्तव्य यह है कि उणादि-निष्पन्न शब्दों के अर्थों तथा इस पाद में दर्शित घञादिप्रत्ययनिष्पन्न शब्दों के अर्थों में पर्याप्त समानता है, अर्थात् द्वितीयपादपर्यन्त जितने कृत्-प्रत्यय हैं, उनसे निर्मित शब्दों में यौगिक भाव अत्यधिक है, और तृतीय पाद में दर्शित प्रत्ययों से निर्मित शब्दों में रूढ अर्थ अधिक मात्रा में हैं, अतः तृतीय पाद में ही रूढशब्द-निष्पादक उणादिप्रकरण का आरम्भ किया गया है[1]। किञ्च द्वितीय पाद पर्यन्त जितने शब्द बनते हैं, वे सभी कर्तृवाच्य में होते हैं (स्वल्प अपवादों को छोड़कर), पर तृतीयपादीय प्रत्ययों से निष्पन्न शब्द वाच्यान्तर में भी होते हैं, और चूंकि उणादि में भी यही बात दिखाई पड़ती है, अतः यहाँ पर उणादि अनुशिष्ट हुआ है।

नाम-विशेषण-निष्पादक प्रत्ययों के बाद ३।३।१८ सूत्र से 'भाव' का अधिकार किया गया है (अर्थात् इन प्रत्ययों से निष्पन्न शब्द भाववाची हैं) क्योंकि कारकार्थक प्रत्ययविधान के बाद क्रियार्थक प्रत्यय का विधान ही प्रसक्त होता है। भावाधिकार के साथ 'कर्तृभिन्नकारक' (३।३।१९) का अधिकार भी है, क्योंकि भावार्थक प्रत्यय शब्दशक्तिस्वाभाव्य के कारण कारकार्थक भी होते हैं, अतः अर्थभेद होने पर भी लाघव के लिये पाणिनि ने भावप्रत्ययों का कारकार्थकत्व भी दिखाया है। करणादिकारक में जो ल्युडादि प्रत्यय होते हैं, वे भी प्रसङ्गवः इस प्रकरण में सङ्कलित हुए हैं। इस प्रकार कृत्प्रत्ययों का विचार ३।३।१३० सूत्र में समाप्त होता है।

पहले कहा जा चुका है कि 'धातो.' (३।१।७१) सूत्र का अधिकार तृतीय-अध्यायपर्यन्त है। धातु से दो प्रकार के प्रत्यय होते हैं; कृत् और तिङ्। कृत् की

१—'उणादिजनित रूढ शब्द' पर निम्नोक्त वाक्य द्रष्टव्य है—प्राय उणादि-प्रत्ययान्ता रूढिशब्दा अवयवार्थशून्याः, असन्तमपि अवयवार्थमाश्रित्य व्युत्पाद्यन्ते। तत्रापि प्रायः कर्तरि। बाहुलकादन्यत्रापीति द्रष्टव्यम्। तत्रापि प्रायो वर्तमानकाले एवेति भूते इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् (बृहच्छब्देन्दु पृ० २०७८)। वर्तमानकालद्योतक प्रत्यय के बाद उणादि का जो अनुशासन किया गया, उसका यह एक कारण प्रतीत होता है।

समाप्ति के बाद उपसम्बन्धी चर्चा ('म'—का प्रयोग) का आरम्भ ३।३।१३१ सूत्र से किया गया है। इससे पहले लट्, लुट् आदि लकारों का विधान यथास्थान किया गया है। अब उन सभी का अर्थ-प्रदर्शन (लकारार्थ) प्रसक्त होता है। अष्टाध्यायी में प्रत्ययविधान के बाद ही प्रत्ययार्थ का अनुशासन किया गया है क्योंकि शब्दश्रवण के बाद सहजतः अर्थ जिज्ञासा उत्पन्न होती है। व्याकरण शब्दप्रधान है ('व्याकरणे लक्षणप्रधाने—निरुक्त की दुर्गटीका २।२ ख) अतः प्रत्ययानुशासन के बाद ही प्रत्ययार्थानुशासन करना युक्त होता है।

चतुर्थ पाद—आरम्भ में जो विचार है वह कृत्प्रकरण का परिशिष्ट कहला सकता है। अव्ययकृत्प्रत्ययों का विवरण इसमें मुख्यतमा है। अन्तिम अंश में (३।४।७७ सूत्र से) आदेश (ल् के स्थान में आदेश ल्=दश लकार) का प्रसंग है। यहाँ इस प्रकरण के उपस्थापन का कारण यह है कि साधेयसिद्ध पद विशेष्यवाची होता है (वैयाकरणमत), अतः विशेष्यपदनिष्पादक अव्यय-कृत् (३।४।९ से आरम्भ) के बाद आदेश का प्रसंग अन्याय्य नहीं है। विवरण और कृत् की अपेक्षा आदेश बहिरङ्ग है (भाष्य १।१।३२ द्रष्टव्य) अतः लकार विधान के बाद आदेश का कथन न्यायसंगत ही है। यह भी हो सकता है कि जो 'सिद्धा कारकाङ्क्ष्या भावरूपा क्रिया' है उसका विवरण समाप्त हो चुका है, 'विशेषणभूता साध्या क्रिया' भी समाप्त हो गई है केवल विशेष्यभूता साध्या क्रिया' ही अवशिष्ट है अतः ३।४।७७ सूत्र से उसका विवरण दिया गया है। आदेश में भी पहले टित्लकार (लट्, लिट् आदि) और उसके बाद ङित्लकार (लङ् लिङ् आदि) का विवरण है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि टित्लकार में धातु का अविकृततर अंग अविकृत रहता है पर ङित् में अविकांश विकृत हो जाता है संभव है कि इस विविक्तता के लिये ही पाणिनि ने टित् के बाद ङित् का विधान किया हो।

चतुर्थाध्याय का संगति-विचार—तृतीय अध्याय में धातु से सर्वविध नामों की उत्पत्ति दिखाई गई है। अब ४-५ अध्यायों में प्रधानतः नाम से नाम की उत्पत्ति दिखाई जाएगी। जिस प्रकार की प्रकृति से प्रत्यय जोड़कर नाम बनेंगे उस प्रकृति का नाम सबसे पहले लिया गया है— 'ङ्याप् प्रातिपदिकात्' (४।१।१) सूत्र से। उसके बाद सुब्विभक्ति का सूत्र है (स्वौजसमौट्...४।१।२)। इस सूत्र को यहाँ पढ़ने का कारण यह है कि व्याकरणशास्त्र के अनुसार सुबन्तपद से तद्धितप्रत्यय होते हैं (सुबन्तात् तद्धितोत्पत्तिः) अतएव सुप् विभक्ति के अनुशासन के बाद ही तद्धित का

अनुशासन करना न्याय्य है। 'स्त्रियाम्' सूत्र से पहले 'स्वादिसूत्र' क्यो है—यह चिन्त्य है। कुछ ऐसे स्त्रीप्रत्यय हैं, जो सुप् के बाद होते हैं (या, सा आदि स्त्रीलिङ्ग पद इसके उदाहरण हैं), अत. स्त्रीप्रत्ययो से पहले सुब्विभक्ति का अनुशासन किया गया है, ऐसा कहना सम्भवत अनुचित नही होगा।

सुप्सूत्र के बाद 'स्त्रियाम्' (४।१।३) सूत्र से स्त्रीप्रत्यय का अधिकार किया गया है। तद्धित से पहले स्त्रीप्रत्ययो के उपन्यास का विशेष कारण है, क्योकि वक्ष्यमाण तद्धितप्रत्यय जिस प्रकार सामान्य नाम से होता है, उसी प्रकार ङ्यावन्त से भी होता है (ङ्याबन्तात् तद्धितोत्पत्तिर्यथा स्यात् ङ्याब्भ्या प्राङ् मा भूत्—सिद्धान्तकौमुदी ४।१।१)[1]। यह भी जानना चाहिए कि किसी प्रयोग मे यदि स्त्रीप्रत्यय तथा तद्धितप्रत्यय युगपत् प्राप्त हो, तो स्त्रीप्रत्यय की प्राप्ति के बाद ही तद्धितप्रत्यय होगा—इस तत्त्व के ज्ञापनार्थ भी पहले स्त्रीप्रत्यय कहा गया है। स्त्रीप्रत्यय मे दो अवान्तर भेद हैं—पहला साधारण स्त्रीप्रत्यय तथा दूसरा 'अनुपसर्जनात्' (४।१।१४) सूत्राधिकार के अन्तर्गत। यह प्रकरण ४।१।८१ सूत्र पर समाप्त होता है।

उसके बाद 'समर्थाना प्रथमाद् वा' (४।१।८२) सूत्र से तद्धितप्रकरण का आरम्भ होता है। शङ्का हो सकती है कि कृत् और तद्धित—इन दोनो से नाम का ही निर्माण किया जाता है, अत दोनो के लिये पृथक् अध्याय क्यो है? उत्तर—कृत्प्रत्यय तथा तद्धितप्रत्यय की प्रकृति मे भेद है, इसलिये पृथक् अध्यायो की आवश्यकता हुई। महाभाष्यकार भी कहते हैं कि 'तद्धित में सब उत्सर्गापवाद विभाषा होते हैं तथा तद्धित मे प्रकृति प्रकृत्यर्थ मे रहती है और अन्यशब्द से प्रत्ययार्थ का अभिधान होता है।' कृत् का यह वैशिष्ट्य नही है, यह ज्ञातव्य है (भाष्य ३।१।९४)। कृत् प्रत्यय के अनन्तर तद्धितप्रत्यय का स्थापन किया गया है (तद्धित के बाद कृत् नही, जैसा कि

१—अथ तद्धिताधिकार स्त्रीप्रत्ययानामादित एव कस्मान् न क्रियते? किमेव सति भवति? ङ्यावन्तमपि तद्धितान्तत्वात् प्रातिपदिकमिति ङ्याप् प्रातिपदिकाद् इत्यत्र ङ्याब्ग्रहण न कर्तव्य भवति। प्राचा स्फस्तद्धिते इत्यत्र च तद्धितग्रहणम्। यस्येति चेतीकारग्रहण च। तद्धित इत्येवं सिद्धत्वात्। अशक्यमेवं कर्तुम्। एव हि क्रियमाणे तत्र ङ्याब्ग्रहणस्य यत् पूर्वं प्रयोजनमुक्त तन्न स्यात्। डोब्-डीप्-डीना च इकारस्येत्संज्ञास्तद्धित इति (३।१।८) प्रतिषेधात्। इह च पट्वीत्योर्गुण इति गुण स्यात्। तस्माद् यथान्यासमेवास्तु। (न्यास ४।१।७६)।

किसी किसी अर्वाचीन व्याकरण में देखा जाता है) क्योंकि 'कृत्तद्धितसमासेभ्यः कृत्तिर्बलीयसी' न्याय है (शिशुपालवधसर्वंकषा १।१७)। तद्धित की इस बलवत्ता के द्योतन के लिये भी पाणिनि ने कृत् के बाद तद्धित का अनुशासन किया है।

पञ्चम अध्याय की समाप्ति पर्यन्त यह तद्धितप्रकरण है। जिस पद्धति के अनुसार तद्धित के प्रकरणक्रम रखे गए हैं, वह निम्नप्रकार है —

तद्धितप्रकरण में दो मुख्य विभाग हैं—अस्वार्थिक प्रत्यय (अर्थात् प्रत्यय निष्पन्न शब्द का अर्थ मूल प्रकृति से कुछ अधिक होता है) तथा स्वार्थिक प्रत्यय (अर्थात् प्रत्यय जोड़ने पर भी प्रकृति के अर्थ में परिवर्तन नहीं होता)। मुख्य होने के कारण पहले अस्वार्थिक प्रत्ययों का उपन्यास किया गया है। कृत्प्रत्ययों में जिस प्रकार कालानुसार प्रत्यय विभाजन किया गया है तद्धित प्रत्ययों में उस प्रकार विभाग नहीं किया गया क्योंकि काल-विभाग के साथ तद्धितप्रत्ययों का कुछ भी सम्बन्ध उपलब्ध नहीं होता। तद्धितप्रत्यय और उनके अर्थक्रम में कोई समव्यवस्था नहीं है अतएव अर्थानुसारी प्रत्यय-व्यवस्था भी पृथ तद्धितप्रकरण में नहीं है। इसलिये आचार्य पाणिनि ने अस्वार्थिक प्रत्ययों में प्रत्ययावधि को लेकर अर्थों का उपदेश किया है। अपरिमित तद्धितार्थ की जटिलता के ह्रास के लिये सूत्रकार की यह प्रणाली उनकी लोकोत्तर प्रतिभा का एक निदर्शन है। अर्थोपदेश के क्रम में कोई वैज्ञानिक रहस्य नहीं है तद्धितप्रत्ययों से जिन अर्थों का भान होता है, वे अर्थ उन प्रत्ययों के अधिकार में स्वेच्छा से रखे गए हैं। तद्धित प्रकरण में प्रत्ययावधि नियत है उसके अन्तर्गत अर्थक्रम ऐच्छिक है। इस प्रसंग में यह जान लेना चाहिए कि यद्यपि अर्थनिर्देश का क्रम ऐच्छिक है तथापि प्रकरण-क्रम में कदाचित् बलाबल-चिन्ता का निदर्शन मिलता है। ४।२।९२ सूत्र का श्लोकवार्तिक (तस्येदमित्यय परेऽपि) इस विषय में प्रमाण है। पर-विप्रतिषेध की तरह क्वचित् पूर्वविप्रतिषेध भी तद्धितप्रकरण में दृष्ट होता है (४।१।८५ सूत्रवार्तिक द्रष्टव्य)।[1]

चतुर्थ अध्याय में तीन प्रत्ययों का महाधिकार है। (महाधिकार = अनेक क्षुद्र अधिकारों के ऊपर जिसका अधिकार है अतएव जिसकी अवधि बहु विस्तृत है)। ये तीन यथाक्रम अण् (४।१।८३ सूत्र से तृतीय पादान्त) ठक् (४।४।१ से ४।४।७४ तक) तथा यत् (४।४।७५ से पादसमाप्तिपर्यन्त) हैं। सबसे

१—४।१।८५ सूत्र का सिद्धान्तवार्तिक है—ण्यादयोऽर्थविशेषलक्षणाद् अणपवादात् पूर्वविप्रतिषिद्धम्। भाष्यकार ने परशब्द को इष्टवाची मान कर पूर्वविप्रतिषेध का प्रत्याख्यान किया है।

अधिक व्यापित्व के कारण पहले अण् प्रत्यय का उपन्यास है, और उससे अल्पव्यापी होने के कारण ठक् का, उसमे भी अल्पव्यापित्व के कारण यत् का उल्लेख अन्त मे है। अण् के अधिकार मे जो प्रत्यय अपवादरूप से होते है, उनका उल्लेख भी यथास्थान किया गया है। अतिव्यापक होने के कारण सबसे पहले अपत्याधिकार है। अपत्याधिकार मे भी अवान्तर विभाग है, जैसे गोत्रार्थकप्रत्यय, अपत्यार्थक प्रत्यय आदि। ये सब विप्रतिषेध नियम (१।४।१) के अनुसार रखे गये है—ऐसा कही-कही प्रतीत होता है।

अपत्यार्थक प्रकरण के बाद दूसरे पाद का आरम्भ होता है। यहाँ रक्तार्थक, चातुरर्थिक आदि कई अवान्तर प्रकरण हैं। इन प्रकरणों की अवधि का ज्ञान अपरिहार्य है, क्योकि कुछ स्थलो पर प्रत्यय का प्रयोगक्षेत्र इन अवान्तर अवधियो के अनुसार है, जैसा कि 'सर्वत्राग्निकलिभ्या ढक्' (४।२।७ सूत्र का वार्त्तिक) की व्याख्या मे कैयट ने कहा है: 'सर्वत्रेति। सर्वेषु प्राग्दीव्यतीयेषु इत्यर्थः'। अब यदि प्राग्दीव्यतीय आदि अवान्तर अधिकार नही होते, तो 'सर्वत्र' शब्द से विहित ढक् प्रत्यय का प्रयोग-क्षेत्र निश्चय ही पूरे तद्धितप्रकरण तक हो जाता, जो अनिष्ट है। इससे पता चलता है कि सूत्रकार पाणिनि ने अत्यन्त सावधानी के साथ इन प्रकरणो की अवधि का निरूपण किया था जिससे प्रत्यय और अर्थ का साकर्य न हो जाए।

अण् के अधिकार मे शैषिकरूप एक विशिष्ट अवान्तर अधिकार है (शेषे ४।२।९२ सूत्र, यह लक्षण भी है)। इस प्रकरण के अन्य प्रत्ययो से शैषिक प्रत्ययो की विशिष्टता है, जैसा कि वार्त्तिककार ने कहा है—'शैषिकान्मतुबर्थी-याच्छैषिको मतुबर्थिक., सरूप. प्रत्ययो नेष्टः सन्नन्तान् न सनिष्यते' (३।१।७ सूत्र का वार्त्तिक)। तद्धित प्रकरण मे अर्थों की अपेक्षा अवधि का ज्ञान अधिक आवश्यक है। शैषिक प्रकरण दूसरे पाद से आरब्ध होकर तृतीय पाद तक व्याप्त है। दोनो पादो मे एक प्रकरण के सूत्रो को रखने का कारण यह है कि द्वितीय पाद मे देशाधिकार है, तृतीय पाद मे देशाधिकार नही है। यद्यपि इतने सामान्य भेद के लिये पृथक्पाद की रचना की गई है, ऐसा कहना संगत नही होता, पर अन्य युक्ततर उत्तर प्रतीत नही होता। अधिकारी विद्वान् इसका युक्ततर उत्तर दे सकते हैं।

इस प्रकरण मे पहले प्रत्ययो का अनुशासन और उसके बाद 'तत्र जात.' (४।३।२५) सूत्र से शैषिक-सम्बन्धी अर्थानुशासन का आरम्भ किया गया है। पहले प्रत्यय-निर्देश और उसके बाद अर्थ-निर्देश किया गया है। इस पद्धति के

लिये लाघव ही मुख्य प्रयोजक है, ऐसा प्रतीत होता है क्योंकि जब एक ही प्रत्यय अनेक अर्थों में होता है तब प्रत्येक अर्थ में उस एक प्रत्यय का बार-बार कथन से शाब्दिक गौरव अवश्य होगा इसलिये सामान्य प्रत्ययानुशासन के बाद अर्थ-निर्देश तथा प्रत्येक अर्थ में होने वाले विशेष प्रत्ययों का विधान किए गए हैं। परन्तु जहाँ कोई प्रत्यय एक अर्थ में ही होता है वहाँ अर्थ-कथन के बाद ही उस प्रत्यय का अनुशासन किया गया है। तद्धितप्रकरण में अर्थ और प्रत्यय के विभाग का यही सामान्य नियम है। सर्वादिम अण् प्रत्यय का अधिकार तृतीय पाद के साथ समाप्त होता है।

चतुर्थ पाद में पहले ठक् का अधिकार है। जिन अर्थों में ठक् प्रत्यय उत्सर्ग रूपेण होता है, वे अर्थ इस अधिकार में संगृहीत हुए हैं। उसके बाद ४।४।७५ सूत्र से यत्प्रत्यय का अधिकार प्रवर्तित है। इस अध्याय की समाप्ति के साथ यह अधिकार भी समाप्त होता है।

पञ्चमाध्याय का संगति-विचार—पञ्चम अध्याय के तद्धित प्रत्ययों की प्रकरण-क्रम-संगति आलोचित हो रही है। क्या तद्धितप्रकरण दो अध्यायों में विभक्त हुआ है यह विचारणीय है ज्ञातव्य है कि विसदृशता के बिना एक विषय दो अध्यायों में उपविष्ट नहीं हो सकता। मालूम पड़ता है कि पाणिनि ने अस्वार्थिक प्रत्ययों को छः भागों में बाँटा है—अण् ठक् यत्, छ, ठञ् और ठञ्। अण्, ठक् यत् के लिये एक अध्याय तथा बाकी तीन प्रत्ययों के लिये अन्य अध्याय की रचना की गई है। इस विभाजन के अन्य युक्तर हेतु के लिये हम विद्वद्वर्ग से अनुरोध करते हैं, जिससे इस अध्याय-विभाजन का यथार्थ रहस्य बोधगम्य हो जाए।

प्रथम पाद—आरम्भ में प्रत्यय का अधिकार है और उसके बाद ५।१।१३ सूत्र से ठञ् का अधिकार किया गया है। ठञधिकार में जो प्रत्यय इस अधिकार के अन्तर्गत सब अर्थों में होते हैं (अपवादों को छोड़कर) वे ठक् यत् आदि प्रत्ययार्थनिर्देश से पहले ही उपदिष्ट हुए हैं। यही क्रम वैदिक प्रकरण में भी रखा गया है। इस प्रकार ठञ् के अधिकार के साथ प्रथम पाद की समाप्ति होती है।

द्वितीय पाद—इसे वस्तुतः अस्वार्थिक प्रत्ययों का परिशिष्ट कहा जा सकता है। प्रत्ययावधि के आश्रय से अर्थ-प्रत्यय-विभाग की जो व्यवस्था उपर्युक्त पादों में व्यवहृत हुई है वह इस पाद में नहीं है। इस पाद में वस्तुतः पूर्व पादों की तरह प्रत्ययाधिकार नहीं है (और इसीलिये इन प्रत्ययों के लिये सूत्रकार

को पृथक् पाद की रचना करनी पड़ी), क्योंकि अधिकार के लिये एक लक्ष्य के अभिमुख अनेक योग (=सूत्र) चाहिए, जो यहाँ नही है। चूँकि यह अस्वार्थिक प्रत्ययो का परिशिष्ट है, इसलिये अस्वार्थिक प्रत्ययों के बाद यह प्रकरण रखा गया है।

तृतीय-चतुर्थ पाद—स्वार्थिक प्रकरण का आरम्भ इस पाद से होता है। यहाँ यह भी जानना चाहिए कि तद्धित प्रकरण मे, 'समर्थाना-प्रथमाद् वा' (४।१।८२) का अधिकार है, पर इन स्वार्थिक तद्धितप्रत्ययो मे 'समर्थ' तथा 'प्रथमा का अधिकार' नही है, केवल 'वा' पद की अनुवृत्ति चलती है, इसलिये वैकल्पिक रूप से स्वार्थिक तसिल् आदि प्रत्यय होते है (काशिका ५।३।१)।[1]

स्वार्थिक प्रकरण मे भी अवान्तर भेद दृष्ट होते हैं। पहले ५।३।२६ सूत्र तक विभक्तिसञ्ज्ञक स्वार्थिक तद्धित प्रत्ययो का विवरण है और उसके बाद ५।३।२७ सूत्र से केवल स्वार्थिक का आरम्भ होता है। व्याकरणशास्त्रीय प्रक्रिया के निर्वाह के लिये विभक्तिसञ्ज्ञक स्वार्थिको का पृथक्करण किया गया है, अर्थबोधन मे कोई विलक्षणता इन दोनो मे नही है। स्वार्थिक प्रत्ययो मे भी 'अत्यन्त स्वार्थिक' तथा 'केवल स्वार्थिक' रूप दो भेद दिखाई पडते हैं (चतुर्थ पाद मे) पर दोनो की अवधि का निर्णय करना कठिन है। इन दोनो का उपन्यास मिश्रित रूप से किया गया है—ऐसा प्रतीत होता है। अत्यन्त स्वार्थिक के विषय में नागेशभट्ट ने कहा है 'अत्यन्तस्वार्थिकाना सुबुत्पत्तेः पूर्वमेव प्रवृत्तिरिति भाव.' (उद्द्योत ४।१।४८)। हरिदीक्षित भी कहते हैं—'कुत्साद्यर्थकस्वार्थिकाना कुत्सिते इति सूत्रस्थभाष्योक्तरीत्या ङ्यावन्ताद् उत्पत्तेः सिद्धत्वात् अत्यन्तस्वार्थिके फलमाह तथाहीत्यादिना (शब्दरत्न का अजन्तपुंलिङ्ग प्रकरण)।

स्वार्थिक प्रत्ययो की समाप्ति के बाद ५।४।६८ सूत्र से 'समासान्त' सञ्ज्ञक प्रत्ययो का आरम्भ किया गया है। तद्धित प्रत्ययो के साथ समासान्तो का पाठ उनके तद्धितप्रत्ययत्व के द्योतन लिये किया गया है। यदि समासान्त-प्रत्यय तद्धित नही होता, तो 'उपराजम्' प्रयोग मे 'नस्तद्धिते' (६।४।१४४) सूत्र से 'टि' भाग का लोप नही होता। किञ्च प्रक्रिया-निर्वाह के लिये समासान्त को प्रत्ययसञ्ज्ञक होना चाहिए और इसीलिये समासप्रकरण के साथ समासान्त का उपदेश नही किया गया है। चूँकि समासान्त स्वार्थिक तद्धित है (द्र०

१—स्वार्थिक तद्धितप्रत्ययो की प्रवृत्ति प्रातिपदिक से होती है, जबकि अन्य तद्धितप्रत्यय सुबन्त से होते हैं। वासुदेव दीक्षित कहते हैं—अतएव स्वार्थिक-तद्धिताना प्रातिपदिकादेव प्रवृत्तिविज्ञानाद् (बालमनोरमा ५।४।३१)।

लिये लाघव ही मुख्य प्रयोजक है, ऐसा प्रतीत होता है क्योंकि जब एक ही प्रत्यय अनेक अर्थों में होता है तब प्रत्येक अर्थ में उस एक प्रत्यय के बार-बार कथन से शाब्दिक गौरव अवश्य होगा इसलिये सामान्य प्रत्ययानुशासन के बाद अर्थ-निर्देश तथा प्रत्येक अर्थ में होने वाले विशेष प्रत्ययों का विधान किए गए हैं। परन्तु जहाँ कोई प्रत्यय एक अर्थ में ही होता है वहाँ अर्थ-कथन के बाद ही उस प्रत्यय का अनुशासन किया गया है। तद्धितप्रकरण में अर्थ और प्रत्यय के विभाग का यही सामान्य नियम है। सर्वविध अण् प्रत्यय का अधिकार तृतीय पाद के साथ समाप्त होता है।

चतुर्थ पाद में पहले ठक् का अधिकार है। जिन अर्थों में ठक् प्रत्यय उत्सर्गरूपेण होता है, वे अर्थ इस अधिकार में संगृहीत हुए हैं। उसके बाद ४।४।७५ सूत्र से यत्प्रत्यय का अधिकार प्रवर्तित है। इस अध्याय की समाप्ति के साथ यह अधिकार भी समाप्त होता है।

पञ्चमाध्याय का संगति-विचार—पञ्चम अध्याय के तद्धित प्रत्ययों की प्रकरण-क्रम-संगति आलोचित हो रही है। क्यों। तद्धितप्रकरण दो अध्यायों में विभक्त हुआ है यह विचारणीय है वास्तव है कि विस्तारवत्ता के बिना एक विषय दो अध्यायों में उपदिष्ट नहीं हो सकता। मालूम पड़ता है कि पाणिनि ने अस्वार्थिक प्रत्ययों को छः भागों में बाँटा है—अण् ढक् यत्, छ, ठञ् और ठ्‌ञ्। अण्, ढक् यत् के लिये एक अध्याय तथा बाकी तीन प्रत्ययों के लिये अन्य अध्याय की रचना की गई है। इस विभाजन के अन्य युक्ततर हेतु के लिये हम विद्वद्वर्ग से अनुरोध करते हैं, जिससे इस अध्याय-विभाजन का यथार्थ रहस्य बोधगम्य हो जाए।

प्रथम पाद—आरम्भ में प्रत्यय का अधिकार है और उसके बाद ५।१।१८ सूत्र से ठञ् का अधिकार किया गया है। ठञधिकार में जो प्रत्यय इस अधिकार के अन्तर्गत सब अर्थों में होते हैं (अपवादों को छोड़कर) वे ठक् यत् आदि प्रत्ययार्थनिर्देश से पहले ही उपदिष्ट हुए हैं। यही क्रम शैषिक प्रकरण में भी रखा गया है। इस प्रकार ठञ् के अधिकार के साथ प्रथम पाद की समाप्ति होती है।

द्वितीय पाद—इसे वस्तुत: अस्वार्थिक प्रत्ययों का परिशिष्ट कहा जा सकता है। प्रत्ययावधि के आश्रय से अर्थ-प्रत्यय-विभाग की जो व्यवस्था उपर्युक्त पादों में व्यवहृत हुई है वह इस पाद में नहीं है। इस पाद में वस्तुतः पूर्व पादों की तरह प्रत्ययाधिकार नहीं है (और इसीलिये इन प्रत्ययों के लिये सूत्रकार

को पृथक् पाद की रचना करनी पडी), क्योकि अधिकार के लिये एक लक्ष्य के अभिमुख अनेक योग (=सूत्र) चाहिए, जो यहाँ नही है। चूँकि यह अस्वार्थिक प्रत्ययो का परिशिष्ट है, इसलिये अस्वार्थिक प्रत्ययो के वाद यह प्रकरण रखा गया है।

तृतीय-चतुर्थ पाद—स्वार्थिक प्रकरण का आरम्भ इस पाद से होता है। यहाँ यह भी जानना चाहिए कि तद्धित प्रकरण मे 'समर्थाना प्रथमाद् वा' (४।१।८२) का अधिकार है, पर इन स्वार्थिक तद्धितप्रत्ययो मे 'समर्थ' तथा 'प्रथमा का अधिकार' नही है, केवल 'वा' पद की अनुवृत्ति चलती है, इसलिये वैकल्पिक रूप से स्वार्थिक तसिल् आदि प्रत्यय होते हैं (काशिका ५।३।१)।[1]

स्वार्थिक प्रकरण मे भी अवान्तर भेद दृष्ट होते है। पहले ५।३।२६ सूत्र तक विभक्तिसंज्ञक स्वार्थिक तद्धित प्रत्ययो का विवरण है और उसके वाद ५।३।२७ सूत्र से केवल स्वार्थिक का आरम्भ होता है। व्याकरणशास्त्रीय प्रक्रिया के निर्वाह के लिये विभक्तिसंज्ञक स्वार्थिको का पृथक्करण किया गया है, अर्थबोधन में कोई विलक्षणता इन दोनो मे नही है। स्वार्थिक प्रत्ययो मे भी 'अत्यन्त स्वार्थिक' तथा 'केवल स्वार्थिक' रूप दो भेद दिखाई पडते हैं (चतुर्थ पाद मे) पर दोनो की अवधि का निर्णय करना कठिन है। इन दोनो का उपन्यास मिश्रित रूप से किया गया है—ऐसा प्रतीत होता है। अत्यन्त स्वार्थिक के विषय में नागेशभट्ट ने कहा है 'अत्यन्तस्वार्थिकाना सुबुत्पत्तेः पूर्वमेव प्रवृत्तिरिति भाव.' (उद्द्योत ४।१।४९)। हरिदीक्षित भी कहते हैं—'कुत्साद्यर्थकस्वार्थिकानां कुत्सिते इति सूत्रस्थभाष्योक्तरीत्या ङ्यावन्ताद् उत्पत्तेः सिद्धत्वात् अत्यन्तस्वार्थिके फलमाह तथाहीत्यादिना (शब्दरत्न का अजन्तपुंलिङ्ग प्रकरण)।

स्वार्थिक प्रत्ययो की समाप्ति के वाद ५।४।६८ सूत्र से 'समासान्त' संज्ञक प्रत्ययो का आरम्भ किया गया है। तद्धित प्रत्ययो के साथ समासान्तो का पाठ उनके तद्धितप्रत्ययत्व के द्योतन लिये किया गया है। यदि समासान्त-प्रत्यय तद्धित नही होता, तो 'उपराजम्' प्रयोग मे 'नस्तद्धिते' (६।४।१४४) सूत्र से 'टि' भाग का लोप नही होता। किञ्च प्रक्रिया-निर्वाह के लिये समासान्त को प्रत्ययसंज्ञक होना चाहिए और इसीलिये समासप्रकरण के साथ समासान्त का उपदेश नही किया गया है। चूँकि समासान्त स्वार्थिक तद्धित है (द्र०

१—स्वार्थिक तद्धितप्रत्ययो की प्रवृत्ति प्रातिपदिक से होती है, जबकि अन्य तद्धितप्रत्यय सुबन्त से होते हैं। वासुदेव दीक्षित कहते हैं—अतएव स्वार्थिक-तद्धिताना प्रातिपदिकादेव प्रवृत्तिविज्ञानाद् (बालमनोरमा ५।४।३१)।

भाष्य ५।१।१) इसलिये स्वार्थिक के साथ समासान्त पठित है। शङ्का हो सकती है कि स्वार्थिक तद्धित प्रत्ययों से पहले ही समासान्त क्यों नहीं पढ़ा गया? उत्तर—विप्रतिषेध (१।४।२) नियम की प्रवर्तना के लिये ऐसा नहीं किया गया है जैसा कि भाष्यकार ने कहा है 'समासान्ता यदि स्वार्थिकाः, उभयोः स्वार्थिकयोः परत्वात्-समासान्ता भविष्यन्ति' (५।१।१)।

इस प्रकार अष्टाध्यायी का यह दूसरा विभाग समासान्त के बाद समाप्त होता है।

षष्ठाध्याय का प्रकृतिविचार—षष्ठ अध्याय से अष्टाध्यायी के तृतीय भाग का आरम्भ हो रहा है। पूर्व अध्यायों में पदों का अनुशासन तथा विश्लेषण हो चुका है, अब उन विश्लिष्ट उपादान (अर्थात् प्रकृति आदि) के योग से किस प्रकार शब्द बन सकते हैं—यह इस भाग में दिखाया जाएगा।

इस भाग में विश्लिष्ट प्रकृति आदि के स्थान पर आगम तथा आदेशादि का विधान यथान्याय (विप्रतिषेधन्याय उत्सर्गापवादन्याय) किया जाएगा। शङ्का हो सकती है कि पदों के विभाजन के बाद भाषा पूर्ण हो ही जाती है अतः पुनः पदसिद्धि की आवश्यकता ही क्या है (क्योंकि सिद्ध पदों का ही विश्लेषण किया गया)? उत्तर—अतः विश्लिष्ट प्रकृति-प्रत्यय काल्पनिक होते हैं, अतः इनसे सम्बद्ध कुछ कार्यों के बिना पूर्वतः पदसिद्धि नहीं हो सकती। यदि प्रकृति-प्रत्यय-विभाग वास्तविक होता, तो इस पूर्व विभाग की विशेष आवश्यकता नहीं होती।

इस विभाग में पहले प्रकृति-सम्बन्धी (आदेशादि) कार्यों का उल्लेख है और उसके बाद प्रत्यय-सम्बन्धी कार्यों का। इसका कारण यह है कि प्रकृत्याश्रित

१—आगम-आदेश के स्वरूप के विषय में निम्नोक्त वचन प्रसिद्ध है—आगमोऽनुपघातेन विकारश्चोपमर्दनात्। स्थाने सत्त्वबादेशो भाषे पुरुषवदागमाः। आगम को प्राचीन ग्रन्थों में उपजन भी कहा गया है। पतंजलि भी 'उपजन आगमः' विकार आदेश' कहते हैं। कभी कभी विकार और आदेश में भेद भी किया गया है। केवल वर्णात्मक आदेश विकार है, ऐसा भट्टोजि ने कहा है—विकारो नाम वर्णात्मक आदेशः। यह दृष्टि प्रातिपदसंप्रदाय में प्रसिद्ध थी—एकवर्णकार्य विकारः अनेकवर्णकार्यमादेश इत्यापिशलीयं मतम् (Technical Terms, p 273)

कार्य अन्तरङ्ग होता है, और प्रत्ययाश्रित कार्य बहिरङ्ग[1]। पुनः प्रक्रिया-निर्वाहक विभाग मे दो मौलिक अन्तर्विभाग हैं—निरपेक्ष तथा सापेक्ष। अङ्गाधिकार (अ० ६ पा० ४ से सप्तम अध्याय पर्यन्त) सापेक्ष विभाग है, क्योंकि अङ्गसञ्ज्ञा (१।४।१३) नित्य प्रत्ययसापेक्ष है, और अन्य प्रकरण निरपेक्ष हैं। पहले निरपेक्ष विभाग का उपन्यास किया गया है और उसके बाद सापेक्ष विभाग का।

प्रथम पाद—निरपेक्ष विभाग के अवान्तर प्रकरण-क्रमो की सगति निम्नप्रकार की है :—

पहले धातु-सम्बन्धी द्वित्वविधि ६।१।१ से ६।१।१२ सूत्र तक निर्दिष्ट है। यहाँ यह जान लेना चाहिए कि यद्यपि षष्ठ तथा सप्तम अध्याय मे वस्तुतः आदेशो का विवरण है, तथापि यह द्वित्वविधि आदेश नही है (भाष्यकार के मत मे), क्योंकि यहाँ 'द्विः प्रयोगो द्विर्वचनम्' यह पक्ष ही पतञ्जलि ने माना है (भाष्य ६।१।१)। इस विषय पर 'आदेशप्रत्यययोः' (८।३।५९) सूत्र का भाष्य भी आलोचनीय है। यदि भाष्यसम्मत इस पक्ष को माना जाए, तो यह कहना होगा कि षष्ठाध्यायीय आदेशो के आरम्भ से पहले आदेश सदृश द्विर्वचन विधि का उपन्यास अध्यायादि मे किया गया है। यह भी हो सकता है कि यह द्विर्वचन विधि आदेश ही है (जैसा कि भाष्य मे पक्षान्तर रूप मे कहा गया है, और भाष्यकार ने अपनी दृष्टि से इस पक्ष का खण्डन भी किया है), और तब आदेश-कथनाध्याय मे द्वित्व का कथन न्याय-सङ्गत ही होता है। द्विर्वचन-सम्बन्धी अभ्यास-विधि सप्तम अध्याय मे है। इस भेदपूर्वक कथन का कारण उस स्थल मे कहा जाएगा।

द्वित्वविधि के बाद ६।१।१३ सूत्र से सम्प्रसारण रूप आदेश-प्रकरण का आरम्भ होता है और उसके बाद ६।१।४५ सूत्र से आत्वविधि का विवरण है। ये सब विधियाँ मूलतः धातु-सम्बन्धी हैं, यद्यपि प्रासङ्गिक रूप से कदाचित् नाम सम्बन्धी सूत्र भी है। आदेश-सम्बन्धी प्रकरण-क्रम के विषय मे निम्नोक्त न्याय द्रष्टव्य है।—

१—बहिरङ्गविधिभ्यः स्यादन्तरङ्गविधिर्बली।
प्रत्ययाश्रितकार्यं तु बहिरङ्गमुदाहृतम्॥
प्रकृत्याश्रितकार्यं स्यादन्तरङ्गमिति ध्रुवम्।
प्रकृते पूर्वपूर्वं स्यादन्तरङ्गतरं तथा॥
(मुग्धबोध, अच्सन्धि २१ सूत्र की दुर्गादासीय टीका मे उद्धृत)

आदेशों का क्रम मूलतः विप्रतिषेधनियम के अनुसार है कदाचित् पूर्वविप्रतिषेध भी स्वीकृत हुआ है। किन्तु आदेशों के साथ आगमों का भी पाठ है। शङ्का हो सकती है कि आदेश और आगमों का इस प्रकार मिश्रित पाठ क्यों किया गया है जब कि आदेश अर्थवान् होता है, और आगम अर्थशून्य (द्र० १।१।१ सूत्र का भाष्योद्द्योत)। इस प्रश्न का उत्तर भी संज्ञा-परिभाषा-सम्बन्धी पूर्वोक्त उत्तर के समान है, अर्थात् जिस आदेश के साथ जिस आगम का अपरिहार्य सम्बन्ध है उसको उस आदेश के साथ पढ़ा गया है। विधेयत्वांश में समान होने पर भी आदेशशक्ति से आगमशक्ति बलीयसी है—'आगमादेशयोर्मध्ये बलीयानागमोविधिः' अतएव आदेशों के साथ अविशेष रूप से आगमों का पाठ नहीं किया गया है।

किञ्च यह भी द्रष्टव्य है कि आगम आदेश से कोई सम्पूर्ण विजातीय पदार्थ नहीं है वह भी एक प्रकार का आदेश ही है। यदि पाणिनि चाहते तो प्रक्रिया विशेष से संकेत कर आदेशों को आगमविशिष्ट कर पढ़ सकते थे पर सूक्ष्मभेददर्शी आचार्य ने ऐसा नहीं किया क्योंकि आगम अर्थरहित है, और आदेश अर्थवान् है—यह मत उनको दिखाना था। लाघव के लिये तथा विधीयमानत्व में समता के लिये दोनों का मिश्रित पाठ तो उन्होंने किया पर आदेश से आगमों का पृथक्करण उनको करना पड़ा क्योंकि व्याकरणप्रक्रिया के अनुसार आदेश किसी के स्थान में होता है पर आगम एक अपूर्व उपजन है—इसीलिये प्रक्रिया में दोनों में पूर्ण एकरूपता लाना सम्भव भी नहीं है[1]। आदेशों के साथ आचार्य ने 'निपातन' सूत्रों का भी पाठ किया है। पर इसमें कोई विलक्षणता नहीं है क्योंकि आदेशभूत सूत्रों का ही एक विशिष्ट रूप निपातन सूत्र है। प्रक्रिया निर्वाह में लाघव के लिये स्थान्यादेशागमादिकों का उल्लेख न कर सिद्ध पदों का निपातन किया जाता है। निपातित शब्दों के रूढ्यर्थ दिखाने के लिये भी निपातनरीति का आश्रय लिया जाता है ('रूढ्यर्थे च निपातनम्')।

उपर्युक्त आदेशों में किसी की अपेक्षा नहीं है। पर ६।१।७२ सूत्र से जिन आदेशों का विवरण है वे संहिता ('परः संनिकर्षः संहिता' १।४।१०९) होने पर ही होते हैं अतः 'संहिता' के अधिकार के बाद उन आदेशों का प्रसंग किया गया है। संहितासापेक्ष आदेशक्रम की जो संगति है वह निम्नप्रकार की है —

१—आगम और आदेश में यह भी भेद है कि आगम में 'यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते' न्याय प्रवर्तित होता है आदेश में यह दृष्टि नहीं चलती। आगमानुशासन अनित्य भी होता है। आदेश को अनित्य नहीं माना जाता।

आदेश के दो मौलिक विभाग है, प्रथम—वर्ण सम्बन्धी तथा द्वितीय—पद-सम्बन्धी। वर्ण-सम्बन्धी आदेश भी दो प्रकार के हैं—एकवर्णात्मक तथा अनेक-वर्णात्मक। प्रथम का नाम 'विकार' तथा दूसरे का 'आदेश'—यह प्राक्-पाणिनीय वैयाकरण आपिशलि का मत था। परवर्ती काल मे इस भेद का निश्चित व्यवहार नहीं रहा, पाणिनि ने भी आदेशप्रकरण मे इस भेद को मानकर प्रकरण-व्यवस्था नहीं की है। आचार्य पाणिनि ने वर्णविकार को अपनी दृष्टि से दो भागो में विभाजित किया है—पदद्वय-सम्बन्धी वर्णद्वयादेश तथा 'एकादेश' (६।१।८४)। इस एकादेश का अधिकार ६।१।११२ सूत्र पर्यन्त है।

एकादेश प्रकरण के वाद ६।१।११५ सूत्र से 'प्रकृतिभाव' प्रकरण का आरम्भ किया गया है। जिस प्रकार संहिता मे वर्णों का विकार (यह विकार शास्त्रीय प्रक्रिया की दृष्टि से कहा जा रहा है, वास्तव नहीं) होता है, उसी प्रकार विकार के कारण उपस्थित होने पर भी कदाचित् विकार नहीं भी होता है। इस विकाराभाव (सन्ध्यभाव) का नाम 'प्रकृतिभाव' (प्रकृत्या स्वरूपेण अवस्थानम्) है। सन्धिप्रकरण के वाद ही इस सन्ध्यभाव प्रकरण को कहा गया है क्योकि वर्णों की स्वत सिद्धता तथा नित्यता होने के कारण जब तक वर्णविकार-सम्बन्धी उपदेश नहीं किया जाएगा, तबतक वर्णों के प्रकृतिभाव-सम्बन्धी आदेश के प्रसङ्ग करने से वह बुद्धिग्राह्य नहीं होगा। जिसे सिद्धान्तत. नित्य माना गया है, यदि प्रक्रियादशा में उसकी विकृति का उल्लेख पहले न किया जाए, तो उसके प्रकृतिभाव का उपन्यास करने से वह अवोध्य होगा—इसलिये पाणिनि ने सन्धिप्रकरण के वाद असन्धिप्रकरण को रखा है[1]।

१—सन्धि के विषय मे कुछ ज्ञातव्य विषय हैं। सन्धि मे प्रकृति-प्रत्यय-सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं होती, वर्ण की अपेक्षा होती है। (कदाचित् उपसर्ग आदि की अपेक्षा से भी सन्धि की जाती है, पर ऐसी सन्धियाँ अत्यल्प हैं)। मूलत. सन्धि वर्णानुवन्धी है और कदाचित् ही सन्धि विषयापेक्षी होती है। इस विषय में प्रयोगरत्नमाला का निम्नलिखित वाक्य (१।१६५) द्रष्टव्य है —

प्रकृते. प्रत्ययस्यापि सम्बन्धनियम विना।
वर्णसंज्ञानुवन्धी य. स कार्यः सन्धिरुच्यते॥

सन्धिस्वरूप के विषय मे हरिनामामृत व्याकरण में कहा गया है :—

'सर्वप्रकरणव्यापी वर्णमात्रनिमित्तक'
वार्णो विकार सन्धि स्याद् विषयापेक्षक' क्वचित्॥ (१।४५)

प्रकृतिभाव प्रकरण के बाद ६।१।१२५ सूत्र से सुडागम का प्रकरण है। चूँकि संहिता में ही सुडागम होता है, इसलिये यहाँ पर इसका विधान किया गया है।

सुड्विधि के बाद ६।१।१५८ सूत्र से स्वरप्रकरण का आरम्भ किया गया है। स्वरप्रकरण ग्रन्थ के अन्त में पृथक पाद या अध्याय में न कर, क्यों एक पाद के मध्य से किया गया है—ऐसा प्रश्न किया जा सकता है। इसके उत्तर में वक्तव्य यह है कि स्वर लौकिक तथा वैदिक—इन दोनों प्रकार के शब्दों में समान रूप से प्रवर्तित होता है। लौकिक प्रयोग में, स्वर नहीं होता ऐसा कहना भ्रम है जैसा कि नागेश भट्ट ने कहा है—'एतेन भाष्यस्थाः स्वरो नास्त्येवेति भ्राम्यन्तः परास्ताः' (शब्देन्दुशेखर १।२।३६)। अतएव लौकिक शब्दों के अनुशासन के बाद पृथक अध्याय में स्वर का अनुशासन करना ही न्याय्य है यह मत युक्तिसंगत नहीं होता क्योंकि स्वर से लौकिक प्रयोगों का भी अर्थ-नियमन होता है। किञ्च स्वर-विधि आदेश विधि की तरह है (अर्थात् न तो यह किसी प्रकार का पद-संकलन है, और न यह प्रकृति-प्रत्यय-विभाजन में अन्तर्भूत हो सकती है), अतएव आदेश-सम्बन्धी षष्ठ अध्याय में इसका अनुशासन करना असंगत नहीं है। अपि च स्वर-विधि में चूँकि संहिताधिकार नहीं है इसलिये संहिताधिकार के बाद ही स्वर का उपन्यास किया गया है। तृतीयपाद में इसका विधान नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें उत्तरपदसापेक्ष विधियों का विवरण है, तथा चतुर्थ पाद में भी नहीं हो सकता क्योंकि उसमें प्रत्ययसापेक्ष विधियों का विवरण है। सम्पूर्ण सप्तम अध्याय में भी इसका उपन्यास नहीं किया जा सकता क्योंकि वहाँ प्रत्ययसापेक्ष विधि है अतः पारिशेष्य न्याय से षष्ठ अध्याय के प्रथम पाद में ही स्वर का उपन्यास किया गया है।

शङ्का हो सकती है कि अष्टम अध्याय (प्रथम पाद) में जो स्वरप्रकरण है, वहीं यह प्रकरण क्यों नहीं पठित हुआ? उत्तर—पाणिनि की पारिभाषिक

चूँकि सन्धि निरपेक्ष है इसलिये सापेक्ष अङ्गाधिकार से पहले ही उसका अनुशासन किया गया है। अन्य व्याकरणों में प्रारम्भिक अंश में सन्धि का अनुशासन किया गया है पर पाणिनि ने वैसा नहीं किया है क्योंकि सन्धि वर्ण विकार है और संहितावच्छिन्न वर्णों का संश्लेष तबतक नहीं हो सकता जबतक पदों को प्रकृति-प्रत्यय में विभक्त न किया जाए; अतः अष्टाध्यायी में प्रकृति-प्रत्यय विश्लेषण के बाद ही सन्धि का प्रसंग किया गया है।

प्रक्रिया के अनुसार प्रयोगनिर्वाह के लिये स्वर विधि को पृथक् रूप से दोनो स्थलो पर पढना आवश्यक था, जैसा कि पतञ्जलि ने उदाहरण देकर समझाया है (भाष्य ३।१।३)। पुनः शङ्का होगी कि स्वर विधि षष्ठ अध्याय के प्रथम पाद के अन्तिम अंश से आरब्ध होकर पूर्ण द्वितीय पाद पर्यन्त व्याप्त है, पर प्रथम पाद के अन्तिमांश की स्वर-विधि द्वितीय पाद के साथ ही क्यो नही पठित हुई, जिससे एक अविभक्त विषय के लिये अविभक्त रूप से एक पूर्ण पाद का व्यवहार होता। उत्तर—स्वरविधि दो प्रकार की है—सामान्यपद-सम्बन्धी तथा समासरूप विशेषपद-सम्बन्धी। प्रथम पाद मे केवल पदसामान्य-सम्बन्धी स्वर-विधि है और सम्पूर्ण द्वितीय पाद मे समास-सम्बन्धी स्वर विधि प्रोक्त है। प्रथम पाद मे प्रत्ययादिको का जो स्वर दिखाया गया है, वह भी अन्ततोगत्वा ('अनुदात्त पदमेकवर्जम्'—इस न्याय से) पद-सम्बन्धी स्वर मे पर्यवसित होता है, अतएव नामसबद्ध सामान्य स्वर-विधि के साथ प्रत्ययस्वरो का कथन असगत नही है। प्रथम पाद के स्वरों मे आद्युदात्त तथा अन्तोदात्त के रूप मे दो विभाग दिखाई पडते हैं। द्वितीय पाद मे भी पहले पूर्वपद के स्वर और १११ सूत्र से उत्तरपद के स्वर—ऐसी पदक्रमानुसारिणी व्यवस्था है।

तृतीय पाद—इसमे भी प्रकृतिकार्य का उपदेश है, पर यहाँ के प्रकृति-कार्य में विशिष्टता यह है कि उत्तरपद यदि पर में हो तभी ये कार्य होंगे, अन्यथा नही, जैसा कि 'अलुगुत्तरपदे' (६।३।१) सूत्र से ज्ञात होता है। उत्तरपदसापेक्ष कई कार्य हैं, उनमे सबमे पहले अलुक् का उपन्यास किया गया है। उत्तर-पदपरत्वाश्रित कार्य सामासिक पद मे ही हो सकते हैं, और समास मे प्रक्रिया-दृष्टि से अलुक् को ही सर्वाधिक प्रधानता है (क्योकि समास में एक पद होने पर भी मध्यस्थ विभक्ति का लोप न होना एक विचित्र तथ्य है) अतएव सबसे पहले उसका उपन्यास करना न्याय्य होता है। अलुक् के बाद ६।३।२५ सूत्र से समासाश्रय अन्य कार्यों का विवरण है, जो वस्तुत. प्रकीर्णक हैं। इस पाद मे किसी-किसी कार्य के साथ मुम् तथा नुट् आदि आगमो का भी उल्लेख है, क्योकि तत्तत् कार्यो के साथ उन आगमो का निकटतम सम्बन्ध है, अतएव आगमो का उपन्यास दोषावह नही है। यह बात इस अध्याय के आरम्भ मे भी कही गई है। पाणिनि ने उत्तरपदसापेक्ष सब कार्यों का एक पाद मे संकलन इसलिये किया कि इन सभी मे समान रूप से 'तस्य च तदन्तस्य च' रूप परिभाषा प्रवर्त्तित हो जाए अन्यथा भिन्न स्थलो पर पढने से (अर्थात् जिस कृदन्त पद की सिद्धि के लिये मुम् का उल्लेख यहाँ किया गया है, उसको कृत्प्रत्यय-सूत्र के साथ पढने से)

प्रकृतिभाव प्रकरण के बाद ६।१।११५ सूत्र से सुडागम का प्रकरण है। चूंकि संहिता में ही सुडागम होता है, इसलिये यहां पर इसका विधान किया गया है।

सुड्विधि के बाद ६।१।१२८ सूत्र से स्वरप्रकरण का प्रारम्भ किया गया है। स्वरप्रकरण ग्रन्थ के अन्त में पृथक पाद या अध्याय में न कर, क्यों एक पाद के मध्य से किया गया है—ऐसा प्रश्न किया जा सकता है। इसके उत्तर में वक्तव्य यह है कि स्वर लौकिक तथा वैदिक—इन दोनों प्रकार के शब्दों में समान रूप से प्रवर्तित होता है। लौकिक प्रयोग में स्वर नहीं होता ऐसा कहना भ्रम है जैसा कि नागेश भट्ट ने कहा है— एतेन भाषायां स्वरो नास्त्येवेति ग्राम्यस्ता परास्ता' (शब्देन्दुशेखर १।२।३६)। अतएव लौकिक शब्दों के अनुशासन के बाद पृथक अध्याय में स्वर का अनुशासन करना ही न्याय्य है यह मत युक्तिसंगत नहीं होता क्योंकि स्वर से लौकिक प्रयोगों का भी अर्थ-नियमन होता है। किञ्च स्वर-विधि आदेश विधि की तरह है (अर्थात् न तो यह किसी प्रकार का पद-संकलन है, और न यह प्रकृति-प्रत्यय-विभाजन में अन्तर्भूत हो सकती है), अतएव आदेश-सम्बन्धी षष्ठ अध्याय में इसका अनुशासन करना उपयुक्त नहीं है। यदि च स्वर-विधि में चूंकि संहिताधिकार नहीं है इसलिये संहिताधिकार के बाद ही स्वर का उपन्यास किया गया है। तृतीयपाद में इसका विधान नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें उत्तरपदसापेक्ष विधियों का विवरण है, तथा चतुर्थ पाद में भी नहीं हो सकता क्योंकि उसमें प्रत्ययसापेक्ष विधियों का विवरण है। सम्पूर्ण सप्तम अध्याय में भी इसका उपन्यास नहीं किया जा सकता क्योंकि वहां प्रत्ययसापेक्ष विधि है, अतः पारिशेष्य न्याय से षष्ठ अध्याय के प्रथम पाद में ही स्वर का उपन्यास किया गया है।

शङ्का हो सकती है कि प्रथम अध्याय (प्रथम पाद) में जो स्वरप्रकरण है वहीं यह प्रकरण क्यों नहीं पठित हुआ? उत्तर—पाणिनि की पारिभाषिक

चूंकि सन्धि निरपेक्ष है, इसलिये सापेक्ष संज्ञाधिकार से पहले ही उसका अनुशासन किया गया है। अन्य व्याकरणों में प्रारम्भिक भाग में सन्धि का अनुशासन किया गया है पर पाणिनि ने वैसा नहीं किया है क्योंकि सन्धि वर्ण विकार है और संहिताबच्छिन्न वर्णों का संश्लेष तबतक नहीं हो सकता जबतक पदों को प्रकृति-प्रत्यय में विभक्त न किया जाए; अतः अष्टाध्यायी में प्रकृति-प्रत्यय विश्लेषण के बाद ही सन्धि का प्रसंग किया गया है।

प्रक्रिया के अनुसार प्रयोगनिर्वाह के लिये स्वर विधि को पृथक् रूप से दोनो स्थलो पर पढना आवश्यक था, जैसा कि पतञ्जलि ने उदाहरण देकर समझाया है (भाष्य ३।१।३)। पुनः शङ्का होगी कि स्वर विधि षष्ठ अध्याय के प्रथम पाद के अन्तिम अंश से आरब्ध होकर पूर्ण द्वितीय पाद पर्यन्त व्याप्त है, पर प्रथम पाद के अन्तिमांश की स्वर-विधि द्वितीय पाद के साथ ही क्यो नही पठित हुई, जिससे एक अविभक्त विषय के लिये अविभक्त रूप से एक पूर्ण पाद का व्यवहार होता। उत्तर—स्वरविधि दो प्रकार की है—सामान्यपद-सम्बन्धी तथा समासरूप विशेषपद-सम्बन्धी। प्रथम पाद मे केवल पदसामान्य-सम्बन्धी स्वर-विधि है और सम्पूर्ण द्वितीय पाद मे समास-सम्बन्धी स्वर विधि प्रोक्त है। प्रथम पाद मे प्रत्ययादिको का जो स्वर दिखाया गया है, वह भी अन्ततोगत्वा ('अनुदात्त पदमेकवर्जम्'—इस न्याय से) पद-सम्बन्धी स्वर मे पर्यवसित होता है, अतएव नामसंबद्ध सामान्य स्वर-विधि के साथ प्रत्ययस्वरों का कथन असंगत नही है। प्रथम पाद के स्वरों मे आद्युदात्त तथा अन्तोदात्त के रूप मे दो विभाग दिखाई पडते हैं। द्वितीय पाद मे भी पहले पूर्वपद के स्वर और १११ सूत्र से उत्तरपद के स्वर—ऐसी पदक्रमानुसारिणी व्यवस्था है।

तृतीय पाद—इसमे भी प्रकृतिकार्य का उपदेश है, पर यहाँ के प्रकृति-कार्य में विशिष्टता यह है कि उत्तरपद यदि पर में हो तभी ये कार्य होंगे, अन्यथा नही, जैसा कि 'अलुगुत्तरपदे' (६।३।१) सूत्र से ज्ञात होता है। उत्तरपदसापेक्ष कई कार्य हैं, उनमे सबसे पहले अलुक् का उपन्यास किया गया है। उत्तर-पदपरत्वाश्रित कार्य सामासिक पद मे ही हो सकते हैं, और समास मे प्रक्रिया-दृष्टि से अलुक् की ही सर्वाधिक प्रधानता है (क्योकि समास मे एक पद होने पर भी मध्यस्थ विभक्ति का लोप न होना एक विचित्र तथ्य है) अतएव सबसे पहले उसका उपन्यास करना न्याय्य होता है। अलुक् के बाद ६।३।२५ सूत्र से समासाश्रय अन्य कार्यों का विवरण है, जो वस्तुतः प्रकीर्णक हैं। इस पाद मे किसी-किसी कार्य के साथ मुम् तथा नुट् आदि आगमो का भी उल्लेख है, क्योकि तत्तत् कार्यो के साथ उन आगमो का निकटतम सम्बन्ध है, अतएव आगमो का उपन्यास दोषावह नही है। यह बात इस अध्याय के आरम्भ मे भी कही गई है। पाणिनि ने उत्तरपदसापेक्ष सब कार्यों का एक पाद में सकलन इसलिये किया कि इन सभी में समान रूप से 'तस्य च तदन्तस्य च' रूप परिभाषा प्रवर्तित हो जाए अन्यथा भिन्न स्थलो पर पढने से (अर्थात् जिस कृदन्त पद की सिद्धि के लिये मुम् का उल्लेख यहाँ किया गया है, उसको कृत्प्रत्यय-सूत्र के साथ पढने से)

उक्त परिभाषा के साथ सूत्र का सम्बन्ध दिखाना कठिन हो जाता अतएव सब उत्तरपदसापेक्ष कार्यों का एक पाद में प्रतिपादन किया गया है।

चतुर्थपाद—'अङ्गस्य' (६।४।१) सूत्र का अधिकार आरम्भ में किया गया है, जो सप्तम अध्याय पर्यन्त व्याप्त है। प्रत्यय परे रहते प्रकृति की अङ्ग संज्ञा होती है (सूत्र १।४।१३), अतएव विद्यमान-प्रत्यय-सापेक्ष कार्यों का विवरण यहाँ से किया जाएगा, ऐसा जानना चाहिए। शङ्का हो सकती है कि इस स्वतन्त्र विषय के लिये एक स्वतन्त्र अध्याय ही क्यों नहीं व्यवहृत हुआ? षष्ठ अध्याय के चतुर्थ पाद से इसका आरम्भ क्यों किया गया? इस पाद के सूत्रों को सप्तम अध्याय में पढ़ने से कौन-सा दोष होता? उत्तर— हम पहले ही कह चुके हैं कि षष्ठ अध्याय में प्रकृति-सम्बन्धी विशेष कार्य दिखाए गए हैं अतः विद्यमान प्रत्यय सापेक्षताश्रित कार्यों का भी उल्लेख (अर्थात् आङ्ग कार्य) इस अध्याय में किया गया है। यदि आङ्ग कार्य प्रकृतिकार्य नहीं होता तो पाणिनि अवश्यमेव सप्तम अध्याय में अङ्गाधिकार का आरम्भ करते।

इस अङ्गकार्य (अर्थात् प्रकृतिकार्य) के संकलन में निम्नलिखित क्रम रखा गया है। प्रथम—सिद्ध कार्य तथा द्वितीय—असिद्ध-कार्य जिसका आरम्भ ६।४।२२ सूत्र से होता है। चूँकि 'असिद्ध' शब्द अभाव से सम्बद्ध है और अभाव का ज्ञान भावज्ञानसापेक्ष है अतः सिद्ध कार्यों के उपन्यास करने के बाद ही असिद्ध कार्यों का उपन्यास करना उचित है। असिद्ध कार्यों के भी दो भाग हैं, पहला—साधारण तथा दूसरा भसंज्ञा-सम्बन्धी जिसका आरम्भ ६।४।१२९ सूत्र से पादान्तपर्यन्त है। पूर्वाचार्यों की यह शैली है कि वे सामान्य विषयों के उल्लेख के बाद ही विशेष विषयों का उल्लेख करते हैं, अतएव पाणिनि ने पहले साधारण असिद्ध कार्यों का उल्लेख किया है और उसके बाद भसंज्ञिविशिष्ट विशेष असिद्ध कार्यों का।

यहाँ शङ्का हो सकती है कि अष्टम अध्याय के द्वितीय पाद में भी एक असिद्ध प्रकरण है (पूर्वत्रासिद्धम् ८।२।१), वहाँ पर इस प्रकरण (जो असिद्ध है) का उपन्यास क्यों नहीं किया गया? उत्तर—पाणिनि की प्रक्रिया के अनुसार इस दोनों असिद्ध प्रकरणों में मौलिक भेद है—यथा (१) आष्टमिक असिद्ध प्रकरण में प्रत्ययपरत्व की अपेक्षा नहीं है, जो इस स्थान की विशिष्टता है (२) तथा आष्टमिक असिद्ध प्रकरण में 'पूर्वं प्रति परं शास्त्रमसिद्धम्' रूप एक

प्रकरणों का एक साथ उपदेश करना असम्भव है ।[1]

प्रकीर्ण कार्यों मे प्रकरण क्रमो मे तात्त्विक दृष्टि का कोई अपरिहार्य सम्बन्ध नही है, न हो ही सकता है। निमित्त, कार्यी तथा कार्य की सदृशता के अनुसार यहाँ प्रकरण क्रम रखे गए है। (निमित्त = जिस परिस्थिति मे या जिसके परे रहते कोई कार्य होता है, कार्यी = जिसका कार्य निर्दिष्ट होता है, कार्य = सूत्रो से जो आगमादेश आदिको का विधान किया जाता है)। दुर्गादास ने मुग्धबोध की टीका (२१ सूत्र) मे इन तीनो के स्वरूप के विषय मे कुछ प्राचीन श्लोक उद्धृत किए है। प्रासगिक होने के कारण उनका उल्लेख यहाँ पर किया जा रहा है—

"कार्यी कार्यं निमित्त च त्रिभि सूत्रमुदाहृतम्।
कदाचित् कार्यिकार्याभ्या क्वचित् कार्यनिमित्ततः॥
यस्य निर्दिश्यते कार्यं स कार्यी गदितो बुधै।
क्रियते यत्तु तत् कार्यम् आदेश-प्रत्ययागमम्॥
यस्मात् पर परे यस्मिन् तन्निमित्त द्विधा मतम्।
आकाङ्क्षाया तु सर्वेषा अनुवृत्ति पदे पदे॥"

अष्टाध्यायी के शास्त्रीय कार्य-सम्बन्धी सूत्रो के रचना-क्रम के रहस्य इन कारिकाओ की सहायता से विज्ञात हो सकते हैं। सूत्रो मे कार्यी इत्यादिको का प्रयोग कैसे होना चाहिए, इस विषय मे हरिनामामृतव्याकरण (२।१५६) की वृत्ति में कहा गया है—

"प्राङ्निमित्त तथा कार्यी कार्य परनिमित्तकम्।
अत्र क्रमेण वक्तव्यं प्राय. सूत्रेषु सर्वतः॥"

इन शैलियो के अपवादस्थल हैं, पर मौलिक शैली यही है।

१—शास्त्रीयप्रक्रियागत ऐसी विलक्षणता के कारण ही पाणिनि को बहुधा एक विषय को विभिन्न स्थलो पर पढना पडा। प्रत्ययसम्बन्धी स्वर तृतीय अध्याय में है (३।१।३) जिसे स्वरविवरणात्मक षष्ठाध्याय (१–२ पाद) मे पढा जा सकता था, पर अष्टाध्यायीरचना-रीति की विशिष्टता के कारण ऐसा नही किया जा सकता जैसा कि स्वरसिद्धान्त चन्द्रिककार ने दिखाया है—स्वरप्रकरण एव अनित्यादिर्नित्यम् इत्यनन्तर प्रत्ययस्य च इति सूत्रयितव्ये किमर्थं प्रकरणभेदेनात्रेदमाद्युदात्तत्वमुच्यते तेनैव सिद्धत्वात् (पृ० २१–२२)। ऐसा ही विचार ३।१।४ सूत्र के विषय मे भी किया गया है (पृ० ७७)।

सप्तमाध्याय का संगतिविचार—षष्ठ अध्याय में प्रकृति-कार्यों का विवरण किया गया है अतः सप्तम अध्याय के प्रथम पाद में प्रत्यय-कार्यों का विवरण किया जाएगा। चूंकि प्रत्यय काल्पनिक होते हैं, अतएव प्रत्यय के स्थान में आन्ध आदि के बिना पद की सिद्धि नहीं हो सकती यही कारण है कि प्रत्यय कार्य के लिये भी पाणिनि को पृथक् अध्याय का आरम्भ करना पड़ा। यही दोनों अध्यायों की संगति है।

प्रथमपाद—प्रारंभ में ७।१।४५ सूत्र तक प्रत्ययादेश का विवरण है। चूंकि विभक्ति प्रत्यय के अन्तर्गत ही है (एक विशिष्ट प्रकार के प्रत्यय का नाम विभक्ति है जगदीश तर्कालङ्कार के शब्दों में विभक्ति का लक्षण है 'संख्यात्वव्याप्यसामान्ये शक्तिमान् प्रत्ययस्तु यः, सा विभक्तिः'-शब्दशक्तिप्रकाशिका ६१) अतः प्रत्यय-कार्य के उल्लेख के बाद ही विभक्ति-कार्य का उल्लेख किया गया है। प्रत्यय-कार्य के साथ-साथ सम्बद्ध आगमों का भी विवरण है। *प्राग्वर्णित आगमों से इस पाद के आगमों में भेद है प्राग्वर्णित आगम* प्रकृति से सम्बद्ध होकर अपने टित् या कित् स्वभाव के अनुसार यथास्थान प्रयुक्त होते हैं (जैसा कि 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः' ६।४।७१ सूत्र में दिखाई पड़ता है) और इस पाद के आगम प्रत्यय से सम्बद्ध होकर अपनी विशिष्टता के अनुसार स्थान लाभ करते हैं जैसा कि 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' (७।१।५४) सूत्र में देखा जाता है। मुख्यतया इस भेद के द्योतन के लिये ही अडागम षष्ठ अध्याय में तथा नुडागम सप्तम अध्याय में उक्त हुआ है।

द्वितीय-तृतीय पाद—पहले अंश में (७।२।१ से ७।२।७ पर्यन्त) सिच्-विकरणपरत्वाश्रित कार्यों का विवरण है। प्रत्यय-कार्य के बाद प्रत्यय-व्याप्यजातिभूत विकरणपरत्वाश्रित कार्य ही प्रसक्त होता है इसलिये पाणिनि ने द्वितीय पाद में इडागमसम्बद्ध कार्यों का उल्लेख किया है। यद्यपि यह कार्य सिच् में नहीं होता है, प्रत्युत प्रकृति में होता है तथापि षष्ठ अध्याय में इसका प्रसङ्ग नहीं किया गया, क्योंकि षष्ठ अध्याय के तृतीय पाद पर्यन्त प्रत्ययनिरपेक्ष (अथवा प्रकृति सम्बन्धी) प्रकृति-कार्य का विवरण है अतः उस स्थल पर प्रत्ययजाति के अन्तर्गत विकरण (अर्थात् सिच्) सम्बन्धी कार्यों का उल्लेख नहीं किया गया है अतएव पाणिनि ने मौलिक प्रत्यय कार्य के बाद (अर्थात् सप्तम अध्याय के प्रथम पाद के बाद) प्रत्ययान्तर्गत सिच्-कार्य का उल्लेख किया है जो न्यायसंगत ही है।

सिच् प्रकरण के बाद ७।२।८ सूत्र से इडागम का प्रकरण है। 'सिच्-वृद्धि' का कार्य कदाचित् इडागम से भी सम्बद्ध होता है (नेटि ७।२।४ सूत्र द्रष्टव्य)। अतएव सिच् प्रकरण के बाद प्रासङ्गिक रूप से इडागम का प्रकरण रखा गया है। इडागम मे दो मुख्य विभाग हैं, पहला इट्निषेधप्रकरण (७।२।३४ सूत्र तक) और दूसरा इड्विधि प्रकरण (७।२।३५ सूत्र से ७।२।७८ सूत्र तक)। सभी शास्त्रों मे यह नियम है कि विधि के बाद ही निषेध का उल्लेख करना चाहिए और पाणिनि ने भी सभी स्थलो पर इस नियम को माना है, पर उन्होने इडागमप्रकरण मे इस नियम का अतिक्रमण किया है। यह अतिक्रमण दोषावह नही है, क्योकि इस नियमोल्लङ्घन से पाणिनि ने एक गूढ अर्थ का ज्ञापन किया है। वह यह है कि इडागमप्रकरण मे पहले प्रतिषेधकाण्ड के आरम्भ के कारण प्रतिषेधकाण्ड की अधिक बलवत्ता द्योतित होती है, यद्यपि १।४।२ सूत्रीय नियम से उसमे यह शक्ति नही होनी चाहिए थी, क्योंकि प्रतिषेध का अनुशासन पहले है, और उसके बाद विधिकाण्ड है। भट्टोजिदीक्षित तथा आचार्य सायण ने इस वैचित्र्य को दिखाया है[1], यथा—स्वरतिसूतिसूयति ' (७।२।४४) सूत्र विधिसूत्र है, पर बाद मे है, तथा 'श्र्युकः किति' (७।२।११) सूत्र निषेधसूत्र है, पर पहले है, परन्तु उक्त नियम के अनुसार 'श्र्युकः किति' सूत्र 'स्वरति—' सूत्र का बाध करेगा, यद्यपि साधारण नियम से ऐसा होने की सम्भावना नही है। यह प्रकरण ७।२।७८ सूत्र मे समाप्त होता है।

इसके बाद कुछ प्रकीर्णकप्रत्ययाश्रित कार्यों का विवरण है। पुनः ७।२।८४ सूत्र से ७।२।११३ सूत्र तक विभक्तिपरत्वाश्रित कार्यो का विवरण किया गया है। इसके बाद ७।२।११४ सूत्र से 'वृद्धि' कार्य का उल्लेख है, और यह वृद्धिकार्य तृतीयपाद के ३५ सूत्र पर्यन्त व्याप्त है। उसके बाद वृद्धिकार्य से मुख्य या गौण रूप से सम्बद्ध आगमो का उल्लेख है, जो इदादेश (७।३।४३) से पहले समाप्त होता है।

इस वृद्धि-प्रकरण मे निम्नलिखित विषय चिन्तनीय है. इस प्रकरण मे तद्धितीय वृद्धिकार्य का ही मुख्यत उपदेश है, पर उसका आरम्भ द्वितीय

१—स्वृ धातु के सस्वरिव प्रयोगगत इडागम के प्रसग मे कहा गया है—परमपि स्वरत्यादि विकल्प बाधित्वा पुरस्तात् प्रतिषेधकाण्डारम्भसामर्थ्याद अनेन निषेधे प्राप्ते (सि० कौ० ७।२।११)। षिधू धातु के विवरण मे 'पुरस्तात् प्रतिषेधकाण्डारम्भसामर्थ्य' का निदेश मिलता है (माधवीय धातुवृत्ति १।४०)।

पाद के ११७ सूत्र में होता है तथा तृतीय पाद में भी तद्धितीय वृद्धिकार्य का विवरण किया गया है। यहाँ यह शङ्का होती है कि तद्धितीय वृद्धिकार्य के सम्पूर्ण सूत्र तृतीय पाद में ही क्यों नहीं पढ़े गए ? एक ही कार्य के कुछ सूत्रों का पाठ एक पाद में और कुछ सूत्रों का पाठ अन्य पाद में करने की कौन सी आवश्यकता थी ? शायद इसका यह उत्तर हो सकता है—तृतीयपाद में यद्यपि तद्धितीय कार्य है पर यह कार्य पूर्णतः वृद्धिकार्य नहीं है प्रत्युत वृद्धि के प्रसंग में होनेवाला अन्य कार्य है, अतः पृथक पाद में उसका उपन्यास किया गया है। यह उत्तर पूर्ण सन्तोषजनक नहीं है। इस प्रकार का दूसरा उदाहरण तद्धित में भी है। तद्धितीय वैदिक प्रकरण के सूत्र चतुर्थ अध्याय के दोनों पादों (द्वितीय तथा तृतीय) में विभक्त हैं। एक पाद में ही सभी सूत्रों का पाठ क्यों नहीं किया गया, यह चिन्त्य है। शायद द्वितीय पाद में देशाधिकार है और तृतीय पाद में वह नहीं है इस भेद के लिये ऐसा किया गया हो।

वृद्धिकार्य के बाद लोपागम-वर्णविकार के कुछ प्रकीर्णक कार्यों का विवरण है, जो प्रत्ययाश्रित है। इन कार्यों के प्रकरण-क्रम निमित्त-आदेशों की सहायता के अनुसार रखे गए हैं, जैसा कि पहले कहा गया है। ।

चतुर्थ पाद—पहले विकरण से सम्बद्ध ह्रस्वादि कार्यों का विधान है, और उसके बाद तिङन्त-प्रयोग-सम्बन्धी प्रकीर्ण कार्यों का विवरण किया गया है। यहाँ काम या निमित्त की सहायता से सूत्रों का क्रम रखा गया है तथा *विप्रतिषेध नियम भी सूत्र-क्रम में अनुस्यूत है ऐसा जानना चाहिए।*

७।४।५८ सूत्र से पादसमाप्तिपर्यन्त अभ्यास-विकार-सम्बन्धी कुछ कार्यों का विवरण है यहाँ यह शङ्का होती है कि अभ्यास-संज्ञा-विधान तथा अभ्यास कार्य छठे अध्याय के प्रथम पाद (६।१।१ सूत्र से ६।१।१२ सूत्र पर्यन्त) में है, वहीं इस अभ्यासविकार-प्रकरण का पाठ क्यों नहीं किया है ? उत्तर—यद्यपि ये दो प्रकरण सम्बद्ध हैं, तथापि इस प्रकरण से षष्ठाध्यायीय प्रकरण का मौलिक वैशिष्ट्य है जिसके लिये इस अभ्यास-विकार प्रकरण का पाठ अभ्यास कार्य के साथ नहीं किया जा सका। अभ्यासविकारीय सूत्रों में परस्पर बाध्यबाधकभाव प्रवर्तित नहीं होता [1] पर अन्यान्य सभी प्रकरणों के सूत्रों में बाध्यबाधकभाव

१—अभ्यासविकारेषु बाध्यबाधकभावो नास्ति (परिभाषेन्दुशेखर ९० परिभाषावृत्ति ९९) अभ्यासविकारेषु अपवादा नोत्सर्गान् बिबीन् बाधन्ते (पुरुषोत्तमकृत परिभाषावृत्ति ११)

समान रूप से प्रवर्त्तित होता है। इस विचित्रता के लिये ही पाणिनि को पृथक् पाद मे इस प्रकरण का पाठ करना पडा।

अष्टमाध्याय का संगतिविचार—प्रकृति-प्रत्यय सम्बन्धी कार्यों का विवरण पूर्ण हो गया है, अत. 'पद-निर्माण' भी समाप्त होगया है, ऐसा समझना चाहिए। अब द्वित्वरूप एक विशिष्ट कार्य (जो अपनी विशिष्टता के लिये किसी भी पूर्व अध्याय मे नहीं कहा जा सकता) तथा पद-सम्बन्धी कार्यों का विवरण दिया जाएगा। यहाँ के पद-सम्बन्धी कार्यों से द्वितीय अध्याय के 'समर्थः पदविधि.' (२।१।१) सूत्रज्ञापित पदविधि मे स्पष्ट भेद है, द्वितीय अध्याय मे विवृत कार्य वस्तुत प्रातिपादिक से सम्बद्ध है, पर उसकी पूर्णता पद मे परिणत होने पर ही होती है, परन्तु इस स्थल मे उक्त द्वित्व सिद्ध पदो का कार्य है, यहाँ पदो का निर्माण करना नही है। इस अध्याय मे कुछ ऐसे कार्यों का भी उल्लेख किया जाएगा (अर्थात् असिद्ध कार्य), जो अन्यत्र भी कहे जा सकते थे, पर पाणिनि की शब्द-निर्माण-सम्बन्धी पद्धति की निजी विशिष्टता के कारण उन कार्यों का उल्लेख उनके सदृश (षाष्ठिक या साप्तमिक) कार्यों के साथ नही किया गया। देखा जाता है कि अर्वाचीन व्याकरण ग्रन्थो मे सूत्रानुशासन को असिद्ध मानकर (अष्टाध्यायी की तरह) पदो की निष्पत्ति नही की गई है। सम्भव है कि यह पाणिनि की निजी सूझ हो।

प्रथम पाद—आरम्भ मे 'सर्वस्य द्वे' (८।१।१) सूत्र से द्वित्वविधि का अनुशासन है। यद्यपि सूत्रकार ने स्पष्टत. नही कहा है कि यह द्वित्व पद का होता है या प्रातिपदिक का, तथापि व्याख्याकारो ने यह स्पष्ट शब्दो मे कहा है—'पदस्येति अधिकरिष्यमाणमिहापकृष्यते' (बालमनोरमा)। वस्तुत. यह न्याय-सिद्ध भी है, क्योंकि सप्तम अध्याय पर्यन्त पद-निर्माण समाप्त हो गया है, अत. पदकार्य ही अवशिष्ट रह जाता है। वस्तुत. पदो का विश्लेषण कर प्रकृति-प्रत्यय का विचार करना तथा वाक्यो का विश्लेषण कर पदो का विचार करना—ये दो ही व्याकरण-प्रक्रिया के सार हैं।

चूंकि द्वित्व-विधि प्रकृति-प्रत्यय के अन्तर्गत नही है या प्रकृति-प्रत्यय से सम्बद्ध कोई कार्य-विशेष भी नही है, इसलिये तृतीय अध्याय से सप्तम अध्याय पर्यन्त स्थल मे इसका विचार नही किया जा सकता। किञ्च यह सामान्य पद नही है, अत. प्रथम अध्याय मे इसका उल्लेख करना अनुचित होगा, तथा द्वितीय अध्याय मे भी इसका उल्लेख नही हो सकता, क्योंकि 'समर्थता' रूप वैशिष्ट्य (समर्थ = संगतार्थ, सम्बद्धार्थ इत्यादि) द्वित्व-विधि मे दृष्ट नहीं होता।

सर्वस्य द्वे सूत्र का अर्थ है—'कृत्स्नावयवविशिष्टस्य पदस्य सर्वस्य सम्बन्धात् अन्तरमे द्वे पदे भवतः' अतः यह समर्थताख्य वैशिष्ट्य इस द्वित्व में नहीं है यह सिद्ध हुआ। यह भी ज्ञातव्य है कि यद्यपि द्वित्व होने पर नित्यता तथा वीप्सा (=व्याप्ति) का बोध होता है ('नित्यवीप्सयोः' ८।१।४ सूत्र-बल से) तथापि वस्तुतः ये अर्थ प्रकृतिगम्य हैं ('सत्यपि प्रकृतेर्द्वित्वे द्विरुक्त्योः प्रकृत्यमतिरेकात्' [बालमनोरमा]—इस हेतु से) अतः द्वितीयाध्यायस्थ समासप्रकरण के साथ इस द्वित्व का पाठ नहीं हो सकता। शङ्का हो सकती है कि कथंचित् सदृशता को देखकर षष्ठ अध्याय में ही (जहाँ धातु-द्वित्व का प्रकरण है) इसका पाठ क्यों नहीं किया गया? उत्तर—षष्ठ अध्याय की द्वित्व-विधि से इस स्थल की द्वित्व-विधि में मौलिक भेद है। वहाँ का द्वित्व अर्थविशेषद्योतनार्थ नहीं होता है पर यहाँ का द्वित्व पौनःपुन्य तथा पूर्णता के द्योतन के लिये किया जाता है किञ्च षष्ठ अध्याय की द्वित्व-विधि में 'द्विप्रयोगो द्विर्वचनम्' पक्ष प्रवर्तित होता है पर आष्टमिक द्विर्वचन में 'स्थाने द्विर्वचनम्' पक्ष ही सिद्धान्तभूत है अतः प्रक्रियागत भेद के कारण भी इन दोनों का एकत्र उपन्यास नहीं किया गया।

द्वित्व-विधि के बाद ८।१।१६ सूत्र से 'पद' का अधिकार किया गया है। पर द्वित्व के बाद 'पद' का अधिकार क्यों किया गया (जबकि द्वित्व के साथ पद का अविनाभावी सम्बन्ध है) यह चिन्तनीय है। मालूम पड़ता है कि पाणिनीय प्रक्रिया की विशिष्टता ही इस असमञ्जसता का कारण है क्योंकि 'पदस्य' सूत्र का अधिकार असिद्ध-काण्ड के अंश-विशेष को अपने में क्रोडीकृत करता है और द्वित्व-विधि असिद्ध नहीं हो सकती अतएव प्रक्रिया-निर्वाह में लघुता के लिये आचार्य ने पदाधिकार से पहले ही द्वित्व का अनुशासन किया है अन्यथा अष्टम अध्याय का प्रथम सूत्र अवश्यमेव 'पदस्य' होता क्योंकि उससे पहले पदनिर्माण-कार्य समाप्त हो गया है।

पदस्य के अधिकार के अन्तर्गत एक अवान्तर प्रकरण का आरम्भ 'पदात्' (८।१।१७) सूत्र के अधिकार से किया गया है, जिसमें स्वरप्रक्रिया का विवरण है। यह स्वर-विधि सिद्ध है अतः असिद्धकाण्ड (अर्थात् द्वितीय पाद से चतुर्थ पाद पर्यन्त) से पहले ही इसका उपन्यास किया गया है। शङ्का हो सकती है कि षष्ठ अध्याय की स्वर-विधि के साथ ही अष्टम स्वर-विधि का उल्लेख क्यों नहीं किया गया? उत्तर—षाष्ठिक स्वर के साथ आष्टमिक स्वर का पाठ नहीं हो सकता क्योंकि आष्टमिक स्वर-विधि 'पदस्य' तथा 'पदात्' सूत्राधिकार से प्रापित धर्म से अन्वित है परन्तु षाष्ठिक स्वर में यह विशिष्टता नहीं है तथा

दोनो स्वरो की सिद्धि की प्रक्रिया भी समान नही है, ऐसा नागेशभट्ट ने कहा है ('अष्टमे तु नास्या सिद्धान्तेऽप्युपस्थिति'—उद्द्योत ६।१।१५७), अत इन दोनो प्रकरणो का एकत्र पाठ नही हो सकता। स्वर-विधि मे जो अवान्तर प्रकरण हैं, वे विप्रतिषेधनियमानुसार स्थापित हैं।

द्वितीय-चतुर्थ पाद —अष्टम अध्याय के द्वितीय पाद से 'असिद्ध काण्ड' का आरम्भ होता है (ग्रन्थान्तपर्यन्त)। इसमे तीन पाद हैं, अतएव यह अश 'त्रिपादी' नाम से भी प्रसिद्ध है। इस काण्ड मे पहले पदाधिकार से सम्बद्ध कार्यों का विवरण है, जो तृतीय पाद के ५४ सूत्र तक समाप्त होता है, उसके बाद पदाधिकार की निवृत्ति होती है और 'अपदान्तस्य मूर्धन्यः' (८।३।५५) सूत्र से पाद-समाप्ति पर्यन्त 'अपदान्त' तथा 'मूर्धन्य' का अधिकार किया गया है। अपदान्ताधिकृत कार्यों का उल्लेख पदाधिकार के बाद किया गया है, जो स्वाभाविक ही है।

चतुर्थ पाद मे पहले णत्व का उल्लेख है। यहाँ भी अपदान्त का अधिकार है—ऐसा भाष्यकार ने कहा है, अत अपदान्ताधिकृत षत्व के बाद णत्व का आरम्भ किया गया है। यह सकारण है, क्योकि णत्व की उपपत्ति के लिये षवर्ण एक कारण होता है, अत णत्व से पहले ही ८।३।५५ सूत्र से षत्व-सम्बन्धी विवरण दिया गया है। पहले कहा जा चुका है कि 'पूर्वं प्रति पर शास्त्रमसिद्धम्' रूप नियम यहाँ के प्रकरणो के क्रमिक स्थापन मे हेतु है—अत. इस स्थल के अवान्तर प्रकरणो की सङ्गति की आलोचना करना अनावश्यक है।

णत्व के बाद ८।४।४० सूत्र से व्यञ्जन-सम्बन्धी विकारो का विवरण है। पाणिनीय प्रक्रिया की विशिष्टता के कारण ही इन सबो का उपन्यास अच्सन्धि के साथ (षष्ठ अध्याय मे) नही किया गया। यह प्रकरण ६५ सूत्र पर समाप्त होता है।

उसके बाद अन्तिम तीन सूत्रो में स्वर-सम्बन्धी विवरण है। इस स्थल पर इन विधियो के स्थापन की पूर्ण सार्थकता है। स्वर-सिद्धि के लिये इन विधियो को असिद्ध करना आवश्यक है, जो यहाँ पर पढने से ही हो सकता था, अन्यथा नही, इनको चूंकि यहाँ पर पढा गया है, इसलिये स्वर-सम्बन्धी एक विशिष्ट परिभाषा (अनुदात्त पदमेकवर्जम् ६।१।१५८) की प्रवर्तना इन सूत्रो मे नही होती (काशिका ८।४।६६)—यह जानना चाहिए।

अष्टाध्यायी का अन्तिम सूत्र 'अ अ' है। सम्पूर्ण शास्त्र के अन्त में इसके कहने की सार्थकता भट्टोजिदीक्षित ने निम्नलिखित शब्दों में दिखाई है—'विवृतमनूद्य संवृतोऽनेन विधीयते' अस्य चाष्टाध्यायीं सम्पूर्णां प्रति असिद्धत्वात् शास्त्रदृष्ट्या विवृतत्वमस्त्येव' (सिद्धान्तकौमुदी ८।४।६८)। ग्रन्थरचना की दृष्टि से भी अन्त में इस सूत्र को रखा गया है इस सूत्र में एक ही पद दो बार उच्चरित हुआ है और यह रीति (ग्रन्थान्त में द्विरुक्ति) ग्रन्थ समाप्ति-द्योतन करने के लिये प्राचीन आर्ष ग्रन्थों में सुप्रसिद्ध है अतः 'भाभाभ्र सिक्ता' पितरश्च प्रीणिता' न्याय से भी यह सूत्र ग्रन्थान्त में पढ़ा गया है जिससे स्वर-सिद्धि के साथ ग्रन्थान्त का ज्ञापन भी हो जाए।[1]

१—भाष्यव्याख्याप्रपञ्च (परिभाषावृत्ति के अन्त में मुद्रित वरेन्द्र रिसर्च म्युजियम प्रकाशित) में 'अथानुक्रमणिका' कहकर अष्टाध्यायीगत मुख्य विषयों के क्रमिक स्थापन सम्बन्धी कुछ श्लोक उद्धृत किए गए हैं, यथा—प्रत्याहारः सवर्णश्च परिभाषा च नाम च। एकशेषः कारकं च समासः पूर्वपाठनम्॥ अनुक्ते द्वितायादीनां नियमो लिङ्गशेषणम्। सनादीनां विधिः कृत्या भावादि भावबाधिनाम्॥ विधानं खलु जस्त्वर्थकादीनां च क्रिया विधिः। तद्धितार्थं विधिः सम्यक् समासान्तविधिः परम्॥ द्विरुक्तौ पदविन्यासो विशेषे बौशर्त परम्। भ्वादौ साधनसाध्यानां पत्व-नत्व-समाश्रियुक्॥ यह अनुसन्धानयोग्य है कि अष्टाध्यायी की कोई विस्तृत अनुक्रमणी कभी बनी थी या नहीं। यदि पूर्वाचार्यकृत कोई विशद अनुक्रमणी मिल जाए तो प्रकरण सम्बन्धी विचार करना सरल हो जाएगा।

द्वितीय परिच्छेद

अष्टाध्यायी की प्राचीन वृत्तियों का स्वरूप

वृत्ति का स्वरूप—पाणिनि के सूत्रो पर वृत्तिनिर्माण की शैली प्राचीन काल से चली आ रही है। सूत्रो का अर्थ स्पष्ट करने के लिये वृत्तियाँ बनाई जाती हैं, जैसा कि हरदत्त ने कहा है—'सूत्रार्थप्रधानो ग्रन्थो वृत्तिः' (पदमञ्जरी) काव्यमीमासा के वृत्तिलक्षण मे भी 'सूत्राणा सकलसारविवरणम्' कहा गया है। यह प्रसिद्ध वात है कि भाष्य, वार्त्तिक आदि तर्कपूर्ण व्याख्यान-ग्रन्थो से पहले वृत्ति लिखी जाती थी। वृत्ति की सहायता से सूत्रो का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। वृत्ति मे न सूत्रो पर आलोचना की जाती है (जो कि वार्त्तिक का विषय है) और न विरुद्ध वादियो द्वारा उद्भावित शङ्काओ का खण्डन किया जाता है (जो भाष्य का मुख्य कार्य है)[1] यह ज्ञातव्य है।

वृत्ति की आवश्यकता—वृत्तियो मे अपेक्षित शब्दो की पूर्ति के साथ सूत्रार्थ किया जाता है। सूत्र सोपस्कार होता है।[2] वाक्यपदीय मे भी 'सोपस्कारेपु सूत्रेपु' कहा गया है (३।१४।४६७)।

पतञ्जलि इस तथ्य से परिचित थे और उन्होने कहा भी है कि सूत्र के अर्थ के अधिगम के लिये व्याख्यान की आवश्यकता है। उन्होने यह भी कहा है कि व्याख्यान केवल चर्चापद (अर्थात् पदच्छेद) ही नही है, वल्कि उसमे

१—द्र० मेरा लेख 'Kinds of Expositions in Sanskrit Literature, Annals of B O R I VOL XXVI (I-II)

२—सूत्राणा सोपस्कारत्वात् (प्रदीप ६।१।१)। नागेश प्रदीप के 'सोपस्कारत्वात् सूत्राणाम्' वाक्य की व्याख्या में 'पूरणापेक्षत्वात्' कहते हैं (उद्द्योत १।४।१३)। सूत्ररचना सम्बन्धी विशेष विवरण के लिये मेरा Characteristics of the Sutras लेख द्रष्टव्य है, Calcutta Review, March 1956

उदाहरण, प्रत्युदाहरण एवं वाक्याध्याहार भी रहते हैं।[1] अतएव यह सिद्ध होता है कि यहाँ व्याख्यान शब्द से पतञ्जलि का अभिप्राय वृत्ति ही है।[2]

हम जानते हैं कि सूत्रों पर वृत्ति की रचना अन्यान्य शास्त्रों में भी की गई थी। उदाहरणार्थ हम कह सकते हैं कि बोधायन ने वेदान्तसूत्र पर (शाङ्करभाष्य से पहले) वृत्ति लिखी थी[3]। पूर्वमीमांसा सूत्र में भी यही बात है उसमें जैमिनि के सूत्रों पर उपवर्ष ने वृत्ति लिखी थी (शबर से पहले)—ऐसी प्रसिद्धि है।[4]

वृत्ति के विचार्य विषय—पाणिनि सूत्रों पर जो प्राचीन वृत्तियाँ थीं उनमें जो विषय विचारित होते थे इस निबन्ध में इस विषय पर कुछ सामग्री का संकलन किया जा रहा है —

(क) अधिकार की आलोचना वृत्ति में की जाती है। पतञ्जलि ने कहा है 'नैतदन्वाख्येयम् अधिकारा अनुवर्तन्ते' (७।४।२४) कैयट ने यहाँ वृत्ति का एक निश्चित कार्य दिखाया है यथा—'वार्त्तिककारेण नैतदन्वाख्येयम् सर्वाधिकाराणामन्वाख्यानप्रसङ्गात्। वृत्तिकारास्तु अधिकाराणां प्रवृत्ति-निवृत्ती

१—न केवलानि चर्चापदानि व्याख्यानं वृद्धि आत् ऐजिति किन्तर्हि उदाहरणं प्रत्युदाहरणं वाक्याध्याहार—एतत् समुदितं व्याख्यानं भवति। चर्चापद की व्याख्या में कैयट कहते हैं— 'चर्चा अभ्यास'। यथा वेदे अभ्यासार्थं विभक्तानि पदान्युच्यन्ते तद्वत् उक्तानीत्यर्थः" (उद्योत)। वाक्याध्याहार का अर्थ है वाक्यशेष का अध्याहार— 'आदैच् वृद्धिसंज्ञो भवतीति वाक्यशेषाध्याहार इत्यर्थ (उद्योत)।

२—पाणिनिसूत्रों पर चुल्लि भट्टि-नल्लूर आदि अनेक आचार्यों की वृत्तियाँ थीं ऐसा काशिका के प्रथम श्लोक की व्याख्या में न्यासकार ने कहा है। इन वृत्तियों के विषय में सं० व्या० शा० इ० (भा० १४) द्रष्टव्य है।

३—रामानुज ने श्रीभाष्य के प्रारम्भ में यह सूचना दी है। उपवर्ष आदि ने भी ऐसी वृत्तियाँ (विभिन्न सम्प्रदायों में स्वीकृत) लिखी थीं ऐसा सांप्रदायिक विद्वान् कहते हैं। ऐसे उल्लेखों की प्रामाणिकता पर संशय करने का पर्याप्त अवकाश है।

४—उपवर्ष के वृत्तिकारत्व के लिये 'भारतीय संस्कृति और साधना' (पृ० ८३-८४) द्रष्टव्य है।

व्याचक्षते (प्रदीप)। इससे जान पडता है कि सूत्रीय अधिकारो की प्रवृत्ति और निवृत्ति पर विचार वृत्तियो मे किया जाता था। माथुरीवृत्ति (महाभाष्य ४।३।१०३ मे स्मृत) मे 'तदशिष्य ' सूत्रीय अशिष्य पद की अनुवृत्ति कहाँ तक है—इस पर निर्देश किया गया था। पुरुषोत्तमदेव कहते हैं—"माथुर्यां तु वृत्तौ अशिष्यग्रहणमापादमनुवर्तते" (१।२।५७)।

(ख) सूत्रो के पदच्छेद पर विचार करना भी वृत्ति का मुख्य कार्य है। यदि पदच्छेद नही किया जाता, तो सूत्रार्थ का विचार करना सम्भव नही होता। सूत्रो का अर्थ एव कार्य स्पष्ट करने के लिये पदच्छेद करना अनिवार्य हो जाता है। प्राचीन वृत्तियो के पदच्छेद सम्बन्धी उदाहरणो को कैयट ने दिखाया है। यथा—'एकादिश्चैकस्य चादुक् (६।३।७६) सूत्र पर उन्होंने कहा है कि प्राचीन वृत्ति में 'आदुक्' आदेश स्वीकार किया गया था यद्यपि पतञ्जलि ने इसे अदुक् माना है।[1]

(ग) वृत्ति का सर्वमुख्य कार्य है सूत्रो का उपयुक्त उदाहरण देना। पतञ्जलि ने कहा है—'यत् तदस्य योगस्य मूर्धाभिषिक्तमुदाहरण तदपि सगृहीतं भवति, कि पुनस्तत् ? पट्व्या मृद्व्या (भाष्य १।१।५०)। ये मूर्धाभिषिक्त उदाहरण समस्त वृत्तियो मे उदाहृत हैं (मूर्धाभिषिक्तमिति सर्ववृत्तिषु उदाहृतत्वात्—प्रदीप)। समस्त वृत्तियो मे इन उदाहरणो का उपयोग इन उदाहरणो की महत्ता को प्रमाणित करता है। इन उदाहरणो से सूत्रो का स्वरूप, उनके कार्य तथा सूत्र सम्बन्धी विभिन्न विषय भलीभाँति प्रकाशित हो जाते हैं तथा इन उदाहरणो से सूत्रार्थसम्बन्धी विवाद का समाधान भी किया जाता है।

(घ) वृत्ति मे सूत्र के उदाहरणो के साथ प्रत्युदाहरणो पर भी विचार किया जाता है। उदाहरणो की तरह प्रत्युदाहरणो का भी मूल्य है अन्यथा पतञ्जलि प्रत्युदाहरणो पर कभी भी विचार नही करते। एक उदाहरण लीजिए—'अच. परस्मिन् पूर्वविधौ (१।१।५६) सूत्र के भाष्य मे पतञ्जलि ने कहा है 'अच इति किमर्थम् ? प्रश्नो विश्न'। यहाँ कैयट कहते हैं—'वार्तानि (=वृत्त्युदाहरणानि) प्रत्युदाहरणानि कानिचित् शक्यप्रतिविधानानि" (प्रदीप)। इससे यह ज्ञात होता है कि कुछ वृत्त्युक्त प्रत्युदाहरणो को खण्डित करने के लिये पतञ्जलि सचेष्ट थे। नागेश ने यहाँ वृत्तिकार का एक निश्चित

१—तुल्यायामपि संहितायां प्रतिपत्तिलाघवाय वृत्तिकारैरादुगाश्रितः, भाष्यकारेण तु न्यायाद् अदुगेव स्थापितः।

वार्तिकत्व दिखाकर कहा है—"प्रत्युदाहरणादि-चिन्ता वृत्तिकाराणामुचिता न तु भाष्यकृतः (उद्योत)।

(ङ) हम यह पहले ही कह चुके हैं कि वृत्ति का मुख्य कर्म है सूत्रों की व्याख्या करना। इसमें कुछ सन्देह नहीं है कि वृत्ति सूत्रों के पूर्ण अर्थ का बोध देती है। अनेक स्थलों पर सुझावों को दिखा कर पतञ्जलि ने वृत्तिकारों के दृष्टिकोण पर विचार किया है। न बहुव्रीहौ (१।१।२८) सूत्र के आधार पर पतञ्जलि ने कहा है—न खलु प्रत्ययं सर्वादिग्न्तस्यैव प्रतिषेधेन भवितव्यम् किं तर्हि? अन्यर्वाचितस्यापि भवितव्यम्। यहाँ दो पृथक् पृथक् दृष्टिकोण हैं। प्रथम मत (अर्थात् न खलु भवस्यम् इत्यादि) एक प्राचीन वृत्तिकार का है जिसे स्पष्ट करते हुए नागेश ने अपना मत इस प्रकार दिखाया है—भाष्ये वृत्तिकारोक्तं सूत्रार्थमाह न खल्वपि इति (उद्योत)।[1]

(च) इन प्राचीन वृत्तियों में गणपाठ की सामग्री भी विद्यमान थी। भर्तृहरि ने दीपिका में कहा है—'अतो गणपाठ एवं व्यायान् अस्यापि वृत्तिकारस्य इत्येतदनेन प्रतिपादयति (१।१।३८)।

(छ) भर्तृहरि ने महाभाष्यदीपिका में कहा है—विग्रहभेदं प्रतिपन्ना वृत्तिकाराः (सं॰ व्या॰ शा॰ इ॰ पृ॰ ३११)। सामासिक पदों के पृथक्करण में वृत्तिकारों में मतभेद था यह इससे ज्ञात होता है।

(ज) सूत्रपदसार्थक्य का प्रदर्शन करना भी वृत्तिकार का कार्य है। दीपिका का यह वाक्य इसमें प्रमाण है—अयमेवार्थो वृत्तिकारेण दर्शितः एवं च केचिद् वृत्तिकाराः धातुलोप इति किमर्थमिति पठन्ति (सं॰ व्या॰ शा॰ इ॰ भाग १ पृ॰ ३४९)।

(झ) कुछ स्थलों में वृत्तिकारों ने प्रयोगसाधुता-सम्बन्धी अपना मत भी दिखाया है। धातुपरिशिष्ट १।३३ की व्याख्या में श्रीपति ने कहा है—'मन् स्तृतो बोत्कम् मायायामपि यतो मुगस्तीति' जिससे उपर्युक्त बात प्रमाणित होती है।

१—२।१।१८ में भारात् संधादिभ्यः शब्द है। इस अंश की एक अन्य व्याख्या काशिका में 'अपरा वृत्तिः' कहकर उद्धृत हुई है। व्याख्याभेदजनित अर्थभेद का उदाहरण २।१।९४ में भी मिलता है। यहाँ 'मासं ब्रह्मचर्यमस्य मासिकः' (ब्रह्मचारी) एवं 'मासोऽस्य ब्रह्मचर्यस्य मासिकं' (ब्रह्मचर्यम्) ये दो उदाहरण हैं जिनमें द्वितीय किसी प्राचीन वृत्तिकार का है (काशिका)।

महाभाष्य एवं प्राचीन वृत्तियाँ—अब हम महाभाष्य के साथ विभिन्न टीकाओ मे उद्धृत प्राचीन वृत्तियो की सामग्री की तुलना करने जा रहे हैं। 'प्राचीन' शब्द से उन पुरानी वृत्तियो का ग्रहण किया जाएगा, जिनके उद्धरण भाष्य, काशिका, प्रदीप, न्यास आदि मे मिलते हैं। हम इनमें विभिन्न वृत्तियो के नाम उद्धृत पाते हैं—जैसे चुल्लि, नलूर आदि (न्यास आदि मे निर्दिष्ट) किन्तु सर्वत्र यह निर्णय नही किया सकता कि ये सब वृत्तियां भाष्य से पहले ही बनी हो, किन्तु हम नि.सन्देह होकर कह सकते हैं कि जो वृत्ति पतञ्जलि के बाद बनी है उसम भी पतञ्जलि से प्राचीन सामग्री अवश्यमेव विद्यमान है।

प्राचीन वृत्तियाँ एव महाभाष्य के सम्बन्ध मे हम सर्वप्रथम यह पार्थक्य देखते हैं कि पतञ्जलि ने कुछ स्थलो पर प्राचीनवृत्तियो के उदाहरणो को हटाकर ऐसे उदाहरणो को रख दिया है जिन उदाहरणो से सूत्रो के अर्थ स्पष्टतर हो जाते हैं। यथा— यमरमनमाता मक् च (७।२।७३) सूत्र के भाष्य मे पतञ्जलि ने कहा है—किमुदाहरणम् ? अयसीत् अनसीत्'। सूत्रो के उदाहरणो को लेकर पतञ्जलि ने क्यो इस प्रकार आलोचना की है, इस पर कैयट ने कहा है—'वृत्तिकारैरेकवचनान्तानि उदाहरणाति उपन्यस्तानि, तत्र विशेष सगिटोरबुद्ध्वा पृच्छति' (प्रदीप)। कहने का तात्पर्य यह है कि वृत्तिकारो के उदाहरण सर्वत्र सार्थक नही होते और इसलिये ही पतञ्जलि ने कही कही प्राचीन उदाहरणो को हटाकर कुछ ऐसे शब्दो को रखा है जिनसे सूत्र-कार्य पर पर्याप्त प्रकाश पडता है।

अन्य टीकाकारो ने भी इन प्राचीन वृत्तियो के उदाहरणो की कुछ त्रुटियो को दिखाया है। इस प्रकार के त्रुटियो का एक सुन्दर उदाहरण 'कर्मवत् कर्मणा तुल्यक्रिय. (३।१।८७) सूत्र के 'पदलोपश्च' वार्त्तिक पर प्रदीप मे देखा जा सकता है। प्रदीप का वाक्य इस प्रकार है-"यत्तु लूयते केदार. स्वयमेव इति वृत्तिकारैरुदाह्रियते, तत्र कर्त्तन्तराभावप्रतिपादनेन केदारस्यैव कर्तृत्वप्रतिपादनाय स्वय शब्द' प्रयुज्यते। नत्वेतत् कर्मवद्भावस्योदाहरणम्, स्वय शब्दस्य आत्मनेति तृतीयान्तार्थे वर्तनात् आत्मन कर्तृत्वे केदारस्य प्राक्तकर्मत्वसद्भावात्।" प्रदीप १।३।६७ भी द्र०)

साधारणत यह देखा जाता है कि पतञ्जलि, सूत्रो की व्याख्या मे विभिन्न प्रकार के न्याय विचारो को पदे पदे ले आते हैं। न्यायशास्त्र के नियमो के बलपर सूत्र-व्याख्या करना अथवा प्राचीन उदाहरणो को खण्डित करना पतञ्जलि

की एक प्रिय शैली है। प्राचीनवृत्तिकार सूत्रार्थ में सर्वत्र इतना सूक्ष्म विचार नहीं करते थे। सूत्रों को सहज सरस पद्धति से समझाना उन लोगों का प्रधान उद्देश्य था। न्यायशास्त्र की पद्धति से सूत्र की व्याख्या करना वृत्तियों में क्वाचित् ही दृष्ट होता है। एक उदाहरण लीजिए—

एचादिक्वैकस्य पादुक (६।३।७६) सूत्र के भाष्य एवं वृत्ति में इस प्रवृत्ति का उदाहरण मिलता है। यहां प्राचीन वृत्तियों के अपेक्षा 'पादुक' आदेश मानते हैं क्योंकि इससे सूत्र का कार्य सरल हो जाता है, किन्तु पतञ्जलि ने यहां (अकारोच्चारणसामर्थ्यात् परस्य भवति) न्याय-विचार-पूर्वक 'पदुक' स्वीकार किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि पतञ्जलि न्यायशास्त्रीय शाब्द-विचार को बहुमान करते थे जबकि प्राचीन वृत्तिकार सूत्रप्रक्रिया को सरलतम बनाना चाहते थे।

कभी कभी देखा जाता है कि पतञ्जलि ने प्राचीन वृत्तियों का वही अंश ग्रहण किया है जिसमें उन्होंने तार्किक विचार पद्धति की छाया पाई है।[1] इन सब स्थलों में उन्होंने कालिक पौर्वापर्य विचार न कर केवल उसके न्यायबीजों पर विचार किया है। 'एक प्राचां देशे' (१।१।७४) सूत्र भाष्य इसका उत्तम उदाहरण है। इस सूत्र के 'प्राचाम्' शब्द के तात्पर्य पर दो प्राचीन वृत्तिकारों के दो पृथक् पृथक् मत हैं, जैसा कि कैयट ने स्पष्ट रूप से दिखाया है। (एक का नाम कुणि और दूसरे का नाम अज्ञात है)। पतञ्जलि ने केवल कुणि के मत को ग्रहण किया है क्योंकि यहाँ दूसरे मत की अपेक्षा कुणि का मत न्याय के अनुसार अधिक संमत है।

६।४।१६१ सूत्र की व्याख्या में नागेश ने कहा है 'अत्र केचित्—इदं भाष्यं न सूत्रप्रत्याख्यानपरं, किन्तु वृत्त्याद्युक्तोदाहरणेषु अन्यथासिद्धिप्रतिपादनपरम् (उद्द्योत)। इससे यह स्पष्ट होता है कि यदि हम पतञ्जलि के सिद्धान्तों पर पूर्ण विचार करें तो इन प्राचीन वृत्तियों में प्रदत्त उदाहरणों की प्रामाणिकता कहाँ तक है इसका परिज्ञान भी हो जाए।

यह भी जानना चाहिए कि आधुनिक व्याख्यानग्रन्थों में इन प्राचीन वृत्तियों के सूत्रार्थ और उदाहरणों की तीव्र आलोचना तथा खण्डन करने का प्रयास

---

१ महाभाष्य में प्राचीन वृत्तियों का खण्डन प्रचुर मात्रा में है। न बहुव्रीहौ' सूत्र भाष्य में 'भकच्स्वरौ तु मुखसंज्ञयौ' कहा गया है। नागेश कहते हैं—एतेन वृत्तिकारोक्तं दूषयति अकच्स्वरौ त्विति।

किया गया है। आधुनिक वैयाकरण यह समझते हैं कि भाष्य के विरोध करने मात्र से वृत्तिव्याख्यान अशुद्ध होजाता है, पर यह दृष्टि न्याय्य नही है।[1]

कुछ सूत्रो में वार्त्तिक का मत वृत्तिमतो से पृथक् है। भाष्य की तरह वार्त्तिक भी न्यायशास्त्रीय विचार पद्धति से पूर्ण है। हम जानते हैं कि न्याय की विचारसरणि की सहायता से सूत्रार्थ पर विचार करना वार्त्तिक का कार्य है, जब कि सूत्र-व्याख्या के लिये वृत्ति कदाचित् ही किसी तार्किक विचार पद्धति को ग्रहण करती है। 'संज्ञाया जन्या.' (४।४।८२) सूत्र में प्रदीपकार कैयट ने कहा है कि प्राचीन वृत्तिकारो ने ४।४।८२ सूत्र को 'निपातन-सूत्र' के रूप मे स्वीकार किया है। किन्तु वार्त्तिककार ने कहा—'जन्या इति निपातनानर्थक्य पञ्चमीनिर्देशात्'। यहाँ यदि हम वार्त्तिक का मत (यह विधिसूत्र है) स्वीकार करे ता 'प्रतिपत्तिगौरव' दोष होगा, अतएव प्राचीन वृत्तियो के अनुसार निपातन-सूत्र मानना ही अधिक युक्तियुक्त है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्राचीन वृत्तियो की व्याख्या वार्त्तिको की तुलना मे कही कही अनुमोदनयोग्य तथा न्याय्य है यद्यपि भाष्यवार्त्तिकसदृश तर्कपरायणता प्रतिपद उनमे नही मिलती।[2]

अनेक स्थलो मे पतञ्जलि ने प्रश्न किया है—'किमिहोदाहरणम् ?' अर्थात् इस सूत्र का उदाहरण क्या है ? इस प्रश्न से यही समझा जाता है कि यहाँ पतञ्जलि उस उदाहरण को उदाहृत करना चाहते हैं जो पतञ्जलि-पूर्व ग्रन्थो मे विद्यमान है। साधारणतया हम सोचते हैं कि 'किमिहोदाहरणम्' के कहने के बाद वही उदाहरण दिया जाएगा जो प्राचीन वृत्तियो मे वर्तमान था। 'क्षेपे' (२।१।४७) सूत्रभाष्य को लीजिए। यहाँ भाष्य कहता है—'किमुदाहरणम् ? अवतप्तेनकुलस्थित त एतत्'। यहाँ प्रकृत उदाहरण 'अवतप्ते

१—महाभाष्यकार पतञ्जलि का यादृश प्रामाण्य कैयट, भट्टोजि, नागेश आदि मानते हैं, तादृश प्रामाण्य काशिककार, नारायणभट्ट आदि नही मानते, यह उनके व्याख्यानो को देखने से ज्ञात होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि एक ऐसा पाणिनीय सप्रदाय था, जो 'यथोत्तर मुनीना प्रामाण्यम्' दृष्टि को नही मानता था। यह विषय स्वतन्त्रनिबन्धसाध्य है। प्रसगत' हम विद्वानो का ध्यान पुण्यराज के वाक्यप० २।२८१ व्याख्यागत वाक्य की ओर आकृष्ट करना चाहते हैं, जहां वार्त्तिककार और भाष्यकार के मतो की समीक्षा के प्रसग मे कहा गया है—भाष्यकारस्तु अभिप्रायानभिज्ञ एव।

२—यद्यपि विध्यर्थत्वेऽपि सख्याकालयोरविवक्षयैतत् सिध्यति तथापि न्यायानुसरणे प्रतिपत्तिगौरव स्यादिति निपातनाश्रयणम् (प्रदीप ४।४।८२)।

मकुलस्थितं' है। यहाँ 'त एसत्' शान्त्रय प्रकृत उदाहरण नहीं है यद्यपि उदाहरण की पूर्णता और सार्थकता के सिये इसकी आवश्यकता है। इस प्रकार के अनेक उदाहरण प्राचीन वृत्तियों में थे पतञ्जलि ने उन उदाहरणों की प्रसिद्धि के कारण उनका ही उपन्यास भाष्य में किया है। इस विषय में हम 'उपमानानि सामान्य वचनै' (२।१।५४) सूत्रोदाहरण पर भी विचार कर सकते हैं। यहाँ भाष्यकार कहते हैं– कि पुनरिहोदाहरणम् ? शस्त्रीश्यामा'। पूर्वनिर्णय के अनुसार 'शस्त्रीश्यामा' उदाहरण पतञ्जलि-पूर्व ग्रन्था में होना चाहिए। यहाँ हम देखते हैं कि इस सूत्र के वार्तिक में 'स वा श्यामत्वस्य' इत्यादि वाक्य है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि पतञ्जलि के मन में जो शस्त्री श्यामा' उदाहरण था वह वार्तिक (पतञ्जलि पूर्व-ग्रन्थ) म पहले ही दिखाया जा चुका था और इसीलिये उन्होंने 'किमुदाहरण पूछने के पश्चात् उस उदाहरण की व्याख्या की है। अतएव 'किमुदाहरणम् प्रश्न के बाद उपन्यस्त उदाहरणों का मूल्य अधिक है क्योंकि ये उदाहरण भाष्य से पूर्व की वृत्तियों में विद्यमान थे।

हमने देखा है कि कभी कभी इन प्राचीन वृत्तियों के व्याकरण-प्रक्रिया सम्बन्धी मत सर्वथा समान नहीं होते। अब हम देखेंगे कि किसी किसी स्थल विभिन्न वृत्तिकारों के द्वारा स्वीकृत सूत्रों के पाठ भी समान नहीं हैं —

एतदोऽन् (५।३।५) सूत्र इसका एक उदाहरण है। यहाँ कैयट ने कहा है- इह केचिदशं पठन्ति केचिदनम्'। 'केचित् की व्याख्या वृत्तिकृत' के रूप किया गया है (उद्योत)। यदि पहला मत किसी वृत्तिकार का है तो दूसरा मत भी किसी वृत्ति का होगा ऐसा सहजतः कहा जा सकता है। 'वानौ' (५।३।१८) सूत्र में भी ऐसा ही मतभेद दिखाई पड़ता है।

पृथक् पृथक् वृत्तिकारों के द्वारा विभिन्न पाठों को क्यों स्वीकार किया गया इस समय इसका निश्चित निर्णय नहीं किया जा सकता। इस प्रकार पृथक्मतों के लिये 'स्यपि लघुपूर्वात् (६।४।५६) सूत्र पर कैयट का एक वाक्य देखिए— केचिदाचार्येण स्यपि लघुपूर्वस्येति षष्ठ्यन्तमध्यापिता' अन्ये लघुपूर्वादिति पञ्चम्यन्तम् (प्रदीप)। आकडारादेका संज्ञा' (१।४।१) सूत्र पर पतञ्जलि ने इस प्रकार की एक व्याख्या प्रस्तुत की है। उन्होंने कहा है—'उभयथा ह्याचार्येण शिष्याः सूत्रं प्रतिपादिताः केचिदाकडारादेका संज्ञेति केचित् प्राक्कडारात् परं कार्यमिति'। इस प्रकार का मतभेद दूसरे स्थलों में भी देखा जाता है। वस्तुतः विभिन्न सूत्रपाठभेद विभिन्न वृत्तिकारों के अनुसार है पदच्छेद करना वृत्तिकार का कार्य है, यह पहले ही कहा गया है।

तृतीय परिच्छेद

पाणिनि के ग्रन्थों से प्राक्पाणिनीय अंशोद्धार के उपाय

प्राक्पाणिनीय सामग्री की सत्ता—पाणिनि के ग्रन्थो मे प्राक्पाणिनीय आचार्यों की कृतियो का अश अविकल रूप से विद्यमान है, ऐसा प्राचीन व्याख्याकार तथा आधुनिक समालोचक समान रूप से मानते हैं। पाणिनि की कृति के यथार्थ मूल्याकन के लिये यह आवश्यक है कि उस प्राक्पाणिनीय अशो का ज्ञान प्राप्त किया जाए, जिसे स्वेच्छा से पाणिनि ने अपने ग्रन्थो मे लिया है। चूंकि प्राक्पाणिनीय आचार्यों के ग्रन्थ लुप्त हो गए हैं, अत प्रत्यक्ष प्रमाण से इसका पूर्णत निरूपण करना असभव है, पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर प्राक्पाणिनीय अशो की सत्ता प्रतिभासित होने लगती है। इस विषय की आलोचना के प्रसङ्ग मे ह्विटनी ने कहा था कि "कितना अश पाणिनि का अपना है, और कितना प्राक्पाणिनीय आचार्यों का है, इसके स्पष्टीकरण के लिये, यदि कभी सभव हो सका तो, दीर्घ काल की अपेक्षा होगी"[1]। इस निबन्ध मे प्राक्पाणिनीय अंशो के ज्ञान के लिये कुछ उपायो का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

इस विषय मे यह जानना चाहिए कि व्याकरण मे विषय और प्रमाण ये दो शब्द ही हैं, अतः परवर्ती वैयाकरणो के लिये पूर्वभावी आचार्यो की उक्तियो का सम्पूर्ण त्याग कभी भी सभव नही हो सकता। यह भी ज्ञातव्य है कि पूर्वाचार्य प्राचीन आचार्यों द्वारा व्यवहृत शब्दो का सहसा परित्याग नही करते हैं। पतञ्जलि ने इसका एक स्पष्ट उदाहरण दिया है। 'सिद्धे शब्दार्थसबन्धे' (पस्पशाह्निक) की व्याख्या मे वे कहते हैं कि यहां सिद्ध का अर्थ है 'नित्य', अत वार्तिककार ने 'नित्य' शब्द का ही व्यवहार क्यो नही किया है, इस प्रश्न के उत्तर मे उन्होने कहा

१—It will be long before we understand, if indeed we ever come to do so, what and how much of it is Panini's own, in addition to the work of his grammatical predecessors (The Veda in Panini p I.)

है कि प्राचीनतर संग्रह-ग्रन्थ में 'सिद्ध' शब्द का ही व्यवहार था अतः वार्तिककार ने सिद्ध शब्द को ही ले लिया है। प्राचीन आचार्यों द्वारा व्यवहृत शब्दानुपूर्वी का परित्याग नवीन आचार्य सहसा नहीं करते हैं—यह उदाहरण इस सिद्धान्त का पोषक है। केवल शब्दानुपूर्वी में ही नहीं उदाहरण में भी यही बात चरितार्थ होती है अपितु परभविक व्याकरण पूर्वभविक व्याकरणों के उदाहरणों का सहसा त्याग नहीं करते। हरदत्त ने कई बार इस सिद्धान्त को घोर संकेत किया है। व्याकरणशास्त्र में अप्रसिद्ध उदाहरण क्यों दिया जाता है इसके उत्तर में हरदत्त ने कहा है – अप्रसिद्धोदाहरणं चिरन्तनप्रयोगात् (पदमञ्जरी २।१।६) अर्थात् चूंकि कोई उदाहरण परम्परागत है इसलिये अप्रसिद्ध होने पर भी उसका त्याग नहीं किया जाता। व्याकरण अपनी इच्छा से सहसा प्राक्तन आचार्यों द्वारा स्वीकृत शब्दानुपूर्वी का परित्याग नहीं कर सकते। जब तक लोक में प्राचीन आचार्यों की शब्दानुपूर्वी प्रचलित रहेगी तब तक उसका त्यागकर नूतन शब्दानुपूर्वी की रचना करने से उसके प्रचार में बाधा होगी, जैसा कि हम हरिनामामृत आदि नवीनतम व्याकरणों के विषय में देखते हैं, अत्यधिक नवीनता के कारण ये व्याकरण लोक में सुप्रचलित न हो सके।

पाणिनि द्वारा प्राचीन आचार्यों का अनुकरण—यह एक प्रमाणित तथ्य है कि पाणिनि ने एकाधिक स्थलों पर प्राक्पाणिनीय ग्रन्थों का शाब्दिक अनुकरण किया है[१]। प्रत्यक्षतः हम देखते हैं कि पूर्वपाणिनीय आचार्यों के कुछ सूत्र अविकल रूप से पाणिनीय सूत्रों से मिल रहे हैं, जैसे—'धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ्' सूत्र। यह सूत्र अष्टाध्यायी (५।२।१) और महाभाष्य (४।७।१) दोनों में है। 'कास्तीराजस्तुन्दे नगरे' (अष्टा ६।१।१५५) सूत्र भी महाभाष्य (४।७।४) में मिलता है। इसके अतिरिक्त पाणिनि के कुछ सूत्र अविकल रूप से निरुक्त ऋक्प्रातिशाख्य आदि प्राक्पाणिनीय ग्रन्थों में मिलते हैं। पाणिनि का 'परः सन्निकर्षः संहिता (१।४।१०९) सूत्र निरुक्त (१।१७) में भी मिलता है। वाजसनेयिप्रातिशाख्य आदि प्रातिशाख्यों के अनेक वचन पाणिनि

---

१ टिप् शप्, तिङ्, श्नु श्लिप् प्रति कारक उपपद आदि अनेक पारिभाषिक शब्द प्राक्पाणिनीय हैं—यह पूर्वाचार्यों को भी ज्ञात था (Structure of the Astadhyayi p 116)। पूर्वाचार्यों के सूत्रों के अनुकरण को लक्ष्यकर भाष्यकार ने 'पूर्वसूत्रनिर्देश' शब्द का प्रयोग कई स्थलों पर किया है (१।२।६८, ७।१।१४, ६।१।१६३ ७।१।१८)।

वत् हैं। यह मानना होगा कि या तो पाणिनि ने निरुक्तादि ग्रन्थों से इन सूत्रों को अविकल रूप से ले लिया है या पाणिनि आदि आचार्यों ने किन्ही प्राचीनतर ग्रन्थो मे इन सूत्रो को ले लिया हैं।

केवल भाष्य सप्रदाय ही नही, भाष्यपृथक् सप्रदाय के आचार्य भी मानते हैं कि पाणिनि की कृतियो म प्राक्पाणिनीय अशो की सत्ता है[1]। काशिकाकार ने 'लुब्युक्तवद्व्यक्तिवचने' (१।२।५१) सूत्र के विषय मे कहा है--'व्यक्ति-वचने इति लिङ्गसङ्ख्ययो' पूर्वाचार्यनिर्देश, तदीयमेवेद सूत्रम्', अर्थात् १।२।५१ सूत्र प्राक्पाणिनीय है, और पाणिनि ने अविकल रूप म अपने ग्रन्थ मे उस सूत्र का समावेश किया है। केवल एक-आध सूत्र ही नही अष्टाध्यायी के कुछ प्रकरण भी पूर्वाचार्यों के ग्रन्थो मे लिए गए हैं। जैसा कि नागेशभट्ट ने कहा है— एव च लिङ्गप्रकरणम्, जात्याख्यायामित्यादि सङ्ख्या-प्रकरण च पूर्वाचार्यानुरोधेन कृतमिति ध्वनित सूत्रकृता' (उद्द्योत १।२।५३)। इन उद्धरणो से यह प्रमाणित होता है कि पाणिनि के ग्रन्थो मे प्राक्पाणिनीय अश (पूर्वाचार्यों के सूत्रादि के अविकल अनुकरण) हैं।

अनुकरणहेतु—आचार्यों के प्रति श्रद्धातिशय ही इस प्रकार की अनुकरणात्मक प्रवृत्ति का कारण है, ऐसा आपातत प्रतीत होता है। पाणिनि ने 'अनुशासन' किया है, और अनुशासन का अर्थ ही होता है, 'प्राक्सिद्ध वस्तु का विवरण' (शिष्टस्य शासनम् अनुशासनम्), अत पाणिनीय ग्रन्थो मे प्राक्पाणिनीय अशो का होना असंभव या दोषावह नही है। इसके साथ यह भी जान लेना चाहिए कि कही-कही इस प्रकार के शाब्दिक अनुकरण कुछ विशेष प्रयोजन के लिये किए गए हैं, अर्थात् यदि सूत्रो मे प्राक्पाणिनीय शब्दव्यवहार का अनुकरण नही किया गया होता, तो पाणिनि को कुछ अधिक यत्न करना पडता, या अन्य कोई दोष होता। कभी-कभी पणिनि यह भी चाहते हैं कि पूर्वाचार्य से निर्दिष्ट उपाधि भी मेरे शास्त्र में सार्थक रूप से प्रवर्तित हो, और इसीलिये उनको पूर्वा-

---

१. आधुनिक विद्वान् पवतेमहोदय गणपाठ और तत्सबद्ध सूत्रो को प्राक्-पाणिनीय समझते हैं–It seems that the whole of the Ganapatha and consequently, the sutras for which various Ganas were written, are pre-Paninian (The Structure of the Astadhyayi p 86) यह मत कहा तक उपादेय है, इस विषय में डा० कपिलदेवकृत पाणिनीय गणपाठ सबधी ग्रन्थ द्रष्टव्य है।

चार्यव्यवहृत शब्दों का अविकल रूप से व्यवहार करना पड़ता है, वहाँ वे उपयुक्त निर्देश देकर उन-उन शब्दों का त्याग कर सकते थे। कैयट ने इस तत्त्व को स्पष्टतः कहा है— पूर्वाचार्यविहितगुरुसंज्ञाश्रयणाद् मतुपाद्यीनां पूर्वाचार्याः संज्ञा व्यधिषत तदुपाधीनामेव एता भवन्ति (प्रदीप २।१।१९)। हरदत्त भी कहते हैं—महत्या पूर्वाचार्यसंज्ञाया आश्रयणं तदीयापामिपरिग्रहार्थमेवेति भाव (पदमञ्जरी १।२।१)। (उपाधि = अर्थ)। पाणिनि के ग्रन्थ 'प्रोक्त' हैं इस नहीं प्रवचनरीति से प्रणीत ग्रन्थों में पूर्वाचार्यों के वाक्यों का रहना अनिवार्य हो जाता है—यह सर्वविध प्रोक्त ग्रन्थों को देखने से ज्ञात होता है।

अनुकरण प्रकार—अनुकरण दो प्रकार का होता है—शाब्दिक तथा आर्थिक। यहाँ शाब्दिक अनुकरणों के विषय में आलोचना की जा रही है अर्थात् प्राक्पाणिनीय शब्दव्यवहार का कितना अंश पाणिनीय ग्रन्थों में है यह यह विवृत होगा। इस प्रसङ्ग में यह भी ज्ञातव्य है कि प्राक्पाणिनीय ग्रन्थ लुप्त हो चुके हैं अतः अनुमान से गम्यमान फलों को हम प्रत्यक्ष नहीं दिखा सकते हैं, पर जहाँ तक संभव है हमने आनुमानिक फल को प्राचीन आचार्यों की धारणा से मिलाने का यत्न किया है। इस निबन्ध में कुछ अंशों की ही प्राक्पाणिनीयता प्रमाणित की जाएगी तत्सदृश स्थल भी प्राक्पाणिनीय हैं, यह ज्ञातव्य है (यदि कोई बाधक तत्त्व न हो)।

प्राक्पाणिनीय अंशोद्धार के उपाय—जब यह निश्चय हो गया कि पाणिनीय ग्रन्थों में प्राक्पाणिनीय अंश है, तब तर्कसिद्ध उपायों से उन स्थलों की पहचान करना भी असंभव नहीं है। प्राचीन व्याख्याग्रन्थों के सूक्ष्म मनन करने के बाद जिन उपायों का आविष्कार किया गया है उनसे कुछ दूर तक प्राक्पाणिनीय अंशों की पहचान की जा सकती है। ये उपाय निरपवाद हैं, ऐसा नहीं वे बहुत दूर तक ठीक हैं, केवल इतना कहा जा सकता है। आशा है अन्य विद्वज्जन भी इस विषय की आलोचना करेंगे जिससे इस विषय का पूर्णाङ्ग ज्ञान हो जाए।

प्रथम कौशल—जो पारिभाषिक शब्द पाणिनि द्वारा अव्याख्यात होता हुआ भी अष्टाध्यायी में व्यवहृत हुआ है वह प्राक्पाणिनीय है। (पारिभाषिक = शास्त्रकारीय-संकेतविषयप्रतिपादक)।

प्रत्येक शास्त्र के अपने पारिभाषिक शब्द होते हैं, तथा उस शास्त्र का प्रत्येक ग्रन्थकार भी (यदि चाहे तो) कुछ स्वशास्त्रमात्र व्यवहार्य नूतन

शब्दो का व्यवहार भी कर सकता है। धातु, नाम आदि व्याकरणशास्त्र के पारिभाषिक शब्द हैं, जो व्याकरण के विभिन्न सम्प्रदायो मे व्यवहृत हुए हैं, पर कुछ ऐसे भी पारिभाषिक शब्द है, जिनका व्यवहार शास्त्र के एक या एकाधिक सम्प्रदाय मे ही नियत रहता है। प्रत्येक ग्रन्थकार अपने ग्रन्थ मे स्वनिर्मित पारिभाषिक शब्दो का अर्थ प्रायेण विवृत कर देते है, जिससे ग्रन्थ के अर्थावधारण मे बाधा या सशय न हो (अप्रसिद्धि आदि के कारण)। कोई पारिभाषिक शब्द यदि अवान्तर सम्प्रदायो मे भिन्न अर्थों मे व्यवहृत हुआ है, तो उस अर्थ के साथ अपने अभीष्ट साङ्केतिक अर्थ का उल्लेख करना आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार के कई कारणो से प्रत्येक आचार्य पारिभापिक शब्दो का अर्थ प्राय ग्रन्थ मे ही कह देते है, यद्यपि ऐसा हो ही सकता है कि किसी शब्द के एकाधिक अर्थो मे व्यवहार होने पर भी अर्थबोध मे सन्देह होने की सम्भावना न हो। कभी-कभी यह भी दिखाई पडता है कि जिस आचार्य ने जिस पारिभापिक शब्द का व्यवहार नही किया है, उसका व्यवहार भी उस सम्प्रदाय मे चल पडता है। पाणिनि ने 'पुरुष' रूप पारिभाषिक शब्द का व्यवहार नही किया है, परन्तु उनके सम्प्रदाय मे 'प्रथम पुरुप' 'मध्यम पुरुष' आदि शब्दो का व्यवहार चलता ही है।[1]

इस दृष्टि से विचार करने पर यह भी कहा जा सकता है कि यदि पाणिनि के ग्रन्थो मे ही कही ऐसा पारिभाषिक शब्द हो, अन्वर्थ न होने के कारण जिसकी व्याख्या आवश्यक थी, पर पाणिनि ने नही की है तो यह निश्चित है कि वह शब्द प्राक्पाणिनीय है, और अतिप्रसिद्धि या अन्य किसी विशेप कारण से पाणिनि ने उसे अविकल रूप से ले लिया है। पाणिनि यह भी समझते थे कि यह पद वैयाकरण-कुल मे तो प्रसिद्ध है ही, अत परम्परागत व्याख्या से इसका अर्थावधारण हो ही जाएगा, सुतरा इसके अर्थ-निर्देश की आवश्यकता नही है।

एक उदाहरण लीजिए—पाणिनि का सूत्र है 'औड आप' (७।१।१८)। पाणिनीय सम्प्रदाय मे 'औङ्' एक अज्ञातार्थक शब्द है। यह पारिभापिक शब्द है, और पाणिनि के द्वारा व्याख्यात भी नही हुआ है। अब पूर्वोक्त युक्ति के अनुसार

१—अष्टा० १।४।१०१ मे केवल प्रथम-मध्यम-उत्तम शब्द हैं, काशिकाकार कहते भी हैं—'प्रथममध्यमोत्तमसज्ञा भवन्ति'। पर १।४। ०५ सूत्र की व्याख्या मे वे 'पुरुपनियम क्रियते' कहते हैं।

हम कह सकते हैं कि 'औङ' पद प्राक्पाणिनीय है[1] और पाणिनि ने आवश्यकतावश उस शब्द को ले लिया है। वस्तुतः यह अनुमान सत्य है, क्योंकि इसी सूत्र पर पतञ्जलि ने कहा है—'पूर्वसूत्रनिर्देशोऽयम्' अर्थात् प्राक्पाणिनीय व्याकरण के अनुसार यह निर्देश है। आङो नास्त्रियाम् (७।३।१२०) आङि चापः (७।३।१०५) में आङ्=टा विभक्ति (पाणिनीय) है। यहाँ पूर्व पाणिनीय आङ् का अनुस्मरण है ऐसा सभी व्याख्याकार कहते हैं, जो सर्वथा समीचीन है।

पाणिनि ने औङ के स्थान पर नया शब्द बनाकर क्यों नहीं उसका व्यवहार किया (जैसा कि अन्यत्र उन्होंने किया है) जिससे इस शब्द के अर्थबोध में सन्देह ही न होता—इस प्रश्न के उत्तर में यह वक्तव्य है कि पाणिनि का यह व्यवहार अहेतुक नहीं है। पाणिनि यहाँ 'औ' तथा 'औट्' दोनों सुप् विभक्तियों का एक साथ ग्रहण करना चाहते हैं। पर इन दोनों का ग्रहण एक साथ तभी हो सकता है, जब वे इन दोनों का पृथक्-पृथक् उल्लेख करें, अर्थात् 'औऔटो आपः' ऐसा कहें। इससे सूत्र में अधिक शब्द आ जाते हैं, और सन्धि होने पर सूत्र क्लिष्टार्थक भी हो जाता है। प्राक्पाणिनीय व्याकरण में औ तथा औट् विभक्ति का एक नाम था 'औङ' (जैसा कि कैयट ने कहा है)[2]। यह शब्द पाणिनिकालिक वैयाकरणों में अतिप्रचलित था अतः पाणिनि ने सोचा कि यदि 'औङ' शब्द का व्यवहार किया जाए, तो सूत्र में लाघव भी होगा तथा अर्थ में सन्देह भी नहीं होगा अन्यथा सूत्रों में निरर्थक शब्दबाहुल्य करना होगा, अतः उन्होंने प्राक्पाणिनीय शब्द को अविकल रूप से अपने ग्रन्थ में ले लिया। आङ घटित सूत्रों में भी कोई एतादृश हेतु है या नहीं, यह गवेषणीय है।

प्रथमा (सु–औ–जस्) द्वितीया (अम्–औट्–शस्) आदि सात शब्दों का अर्थ सूत्रकार द्वारा अनुक्त है। ये ऐसे शब्द हैं, जिनका अर्थ न कहने पर भ्रम नहीं हो सकता अतः अनुक्तार्थक होने के कारण ये प्राक्पाणिनीय शब्द हैं यह

१—प्राक्पाणिनीय पद से युक्त सूत्र भी पूर्णतः प्राक-पाणिनीय है या नहीं यह एक आलोचनार्ह विषय है।

२—पूर्वाचार्यैर्द्वे अपि द्विवचने ङितौ पठिते। न चेह क्वचिदपि औङ्प्रत्ययोऽस्ति सामान्यग्रहणाय च पूर्वसूत्रनिर्देशः तेन च पूर्वसूत्रे औङ् तस्य ग्रहणं भवतीति प्रथमाद्वितीया-द्विवचनयोर्ग्रहणसिद्धिः (प्रदीप)। एवं च सामर्थ्यात् पूर्वसूत्रनिर्देशः तत्कर्म च सामान्यग्रहणमिति भावः (उद्द्योत)।

अनुमित होता है। यह अनुमान पूर्वाचार्यों द्वारा समर्थित है। काशिका मे कहा गया है—द्वितीयादय. शब्दा' सुपा त्रिकेपु स्मर्यन्ते तैरेवात्र व्यवहारः। धातुपाठ मे व्यवहृत परस्मैभाषा और आत्मनेभाषा शब्द भी प्राक्पाणिनीय है (इसी युक्ति से)। धातुप्रदीप मे मैत्रेय कहते भी है—परस्मैभाषा इति परस्मैपदिन पूर्वाचार्यसज्ञा (पृ० ९)।

इस नियम की पुष्टि 'लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने' (१। २। ५१) सूत्र से भी हो जाती है। यहा व्यक्ति और वचन पारिभाषिक शब्द है, जिनकी व्याख्या पाणिनि ने नही की है। पूर्वोक्त युक्ति के अनुसार ये प्राक्पाणिनीय शब्द हैं, सुतरा इस सूत्र को भी प्राक्पाणिनीय होना चाहिए (यदि अन्य बाधक न हो)। वस्तुत. यह अनुमान सत्य है, और काशिका मे इस सूत्र को प्राक्पाणिनीय कहा गया है।

५। १। १३० गणसूत्र मे समास के अर्थ मे 'स' है, जो पाणिनिद्वारा अव्याख्यात है। इससे इस गणसूत्र की प्राक्पाणिनीयता ज्ञात होती है। समास की आख्या 'स' थी, यह शाकटायनीय लिङ्गानुशासन टीकाकार कहते हैं (४६ श्लोक)। सख्यावाची वचन शब्द भी प्राक्पाणिनीय है (६७ श्लोकटीका द्र०)। पाणिनि व्याख्याकार भी ऐसा कहते हैं। जे प्रोष्ठपदानाम् (७। ३। १८) सूत्रगत 'ज' का अर्थ 'जात' (जातार्थप्रत्यय) है जो सूत्रकार द्वारा अकथित है, अत. यह भी प्राक्पाणिनीय सूत्र होगा। नामैकदेश की यह शैली प्राचीन ऋक्तन्त्र मे दिखाई पडती है (यथा स्वर के लिये र, लघु के लिये घु, समास के लिये मास) अतः 'ज' शब्द का व्यवहार प्राक्पाणिनीय ग्रथ मे था, ऐसा कहना असमीचीन नही होगा।

पाणिनि ने चूकि अनेक प्राक्पाणिनीय आचार्यों द्वारा व्यवहृत शब्दो का तत्समत अर्थानुसार ही ग्रहण किया है, इसीलिये कई स्थलो पर पाणिनि द्वारा व्यवहृत शब्दो के अर्थों मे सन्देह हो जाता है। इस प्रकार 'सन्देह' का होना पाणिनीय तन्त्र मे स्वाभाविक माना जाता है, जिसके लिये 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम्' यह परिभाषा पढी गई है। पाणिनि-व्यवहृत शब्दो के अर्थ-निर्धारण मे यादृश सशय होता है, तादृश सशय मुग्धबोधादि नवनिर्मित व्याकरणो के सूत्रो मे उत्पन्न नही होता। चूकि पाणिनि ने विभिन्न पूर्वाचार्यों द्वारा व्यवहृत शब्दो को अपनी कृति में अविशेष रूप से ले लिया है, अत सन्देह उत्पन्न होता है।

द्वितीय कौशल—पाणिनि द्वारा निर्धारित पारिभाषिक शब्द (विशेष कर कृत्रिम पारिभाषिक शब्द) आदि यदि पाणिनीय निर्देश से पृथक रूप से व्यवहृत हुए हों तो वे पृथक शब्द प्राक्पाणिनीय हैं।

शब्दसिद्धि की प्रक्रिया प्रत्येक आचार्य के ग्रन्थ में कुछ न कुछ भिन्न होती है। प्रक्रिया में केवल सामान्य जो कार्य होते हैं उन कार्यों के लिये जिन काल्पनिक प्रकृति-प्रत्यय आदि की कल्पना प्रत्येक शास्त्रकार करते हैं उन काल्पनिक पदार्थों का स्वरूप भिन्न-भिन्न व्याकरणों में प्रायः कुछ न कुछ भिन्न होता है। जैसे—जिस धातु को कोई भस् कहता है उसी को कोई 'स' कहता है जिस प्रत्यय को कोई वतुप् कहता है अन्य उसी को 'डावतु' कहता है इत्यादि।

उपर्युक्त सिद्धान्त से एक और बात निकलती है। सभी शास्त्रकार स्वरचित ग्रन्थ में अपने अनुसार ही प्रत्यय-विभक्ति आदि का निर्देश अवश्यमेव करते हैं। अन्य आचार्यों के निर्देशों के साथ अपने निर्देश का मिश्रण कोई भी नहीं करते क्योंकि ऐसा करने से अध्येता के लिये अर्थबोध करना असम्भव हो जाएगा। यदि पाणिनि धातुपाठ में धातुस्वरूप दिखाने के समय 'भस्' धातु का पाठ करते हैं और सूत्र मे स् शब्द से उसका निर्देश करते हैं तो पाणिनि का तात्पर्य किसी को हृदयङ्गम नहीं हो सकता। अतः मानना होगा कि पाणिनि ने अपनी दृष्टि से प्रत्यय' विभक्ति' आदि का जो स्वरूप निश्चित किया है (जो प्राक्पाणिनीय आचार्यों से अनेक अंशों में भिन्न है) यदि उन विभक्ति आदियों के अन्यत्र निर्देश स्थल में पहले से निश्चित शब्द की अपेक्षा ईषत् पृथक शब्द से उल्लेख दिखाई पड़ता है तो मानना होगा कि वह पृथक् शब्द प्राक्पाणिनीय है। यथा—

पाणिनि ने प्रथमाविभक्ति के बहुवचन को 'जस्' विभक्ति से सङ्केतित किया है अतः सर्वत्र प्रथमाबहुवचन के लिये 'जस्' शब्द का ही प्रयोग होना चाहिए। परन्तु आज्जसेरसुक् (७।१।५०) सूत्र में 'जस्' के स्थान पर 'जसि' शब्द का प्रयोग है। इस प्रकार के अन्यथा निर्देश से कोई लाभ या लाघव नहीं हुआ है अतः मानना होगा कि 'जसि' शब्द प्राक्पाणिनीय आचार्यों का है और पाणिनि ने उसको अविकल रूप से अपने शास्त्र में ले लिया है। यह हमारी कपोलकल्पना नहीं है सुबोधिनीकार जयकृष्ण ने भी ऐसा ही कहा है—'जसे-रिति पूर्वाचार्यानुरोधेन निर्देशः'। अन्य टीकाकारों का भी यही मत है। यदि यह नियम प्रमाणान्तर से सिद्ध हो जाए, तो अष्टाध्यायी में व्यवहृत अनेक प्राक्पाणिनीय शब्दों का परिचय हमें प्राप्त हो जाएगा।

प्रश्न हो सकता है कि पाणिनि ने अपनी पद्धति के अनुसार ही निर्देश (अर्थात् जसि के स्थान मे जस्) क्यो नही किया ? उत्तर—यह सूत्र वैदिक है, और अधिकाश वैदिक सूत्रो को पाणिनि ने प्राचीन प्रातिशाख्यादि से अविकल रूप से ले लिया है। वैदिक शब्द के अध्येताओ मे 'जसि' शब्दार्थ का ज्ञान प्रचलित था, अत, पाणिनि को वैसा निर्देश करने मे सङ्कोच नही हुआ, ऐसा अनुमान करना असङ्गत नही होगा। अन्यान्य लौकिक सूत्रो मे भी जहाँ इस प्रकार का अपाणिनीय निर्देश है, वहाँ भी कुछ न कुछ कारण अवश्य है जिसके अन्वेषण के लिये विद्वानो को सचेष्ट होना चाहिए। रात्रेश्चाजसौ (३।१।३१) सूत्र मे भी 'जसि' है। यह भी वैदिक सूत्र है। साधारणतया टीकाकार 'जसि' के इकार को उच्चारणार्थ कह कर व्याख्या करते है (द्र० तत्त्वबोधिनी), पर यह आपातरमणीय समाधान है, वस्तुत पूर्वाचार्यानुकृति ही यहाँ की गई है।[1]

तृतीय कौशल—पारिभाषिक एव अपारिभापिक अर्थं मे एक ही शब्द का व्यवहार भी प्रायेण प्राक्पाणिनीय कृतियो के समावेश का फल है।

कितने ही ऐसे शब्द हैं, जिनका पाणिनि ने पारिभाषिक तथा अपारिभाषिक इन दोनो अर्थों मे ही व्यवहार किया है, जबकि वे अर्थभेदानुसार विभिन्न शब्दो का व्यवहार सहज रूप से ही कर सकते थे। गुण, अभ्यास, स्वाङ्ग, सर्वुद्धि, नदी, युवा, उपपद, आम्रेडित आदि कितने ही शब्द है, जिनका प्रयोग पारिभाषिक तथा अपारिभाषिक इन दोनो अर्थों मे किया गया है। इस प्रकार के अर्थसशयोत्पादक व्यवहार का पूर्वोक्त कारण के अतिरिक्त अन्य कारण नही हो सकता। ये सब स्थल ऐसे है, जहाँ पृथक् शब्द का व्यवहार किया जा सकता था। उससे कोई शाब्दिक गौरव भी नही होता, प्रत्युत अर्थों मे लाघव होता (वस्तुतः

१—इस प्रकार का विलक्षण निर्देश अर्वाक्पाणिनीय व्याकरणो मे भी है, जहाँ पाणिनीय शास्त्र के अनुकरण का गमक चिह्न भी दृष्ट हो जाता है। सक्षिप्तसार व्याकरण मे सुट् प्रत्याहार है (सुप्विभक्ति सम्बद्ध)। टीकाकार गोयीचन्द्र कहते है—सुडिति प्रथमैकवचनाद्यौट्पर्यन्तस्य ग्रहणमिति शास्त्रान्तरीयः प्रत्याहार, तस्यैवात्र ग्रहणम्। एतदेव सूचयितुम् औटष्टकारानुबन्ध शास्त्रान्तर इवेहापि कृत (६।५८)। सुपद्मव्याकरण की मकरन्दटीका का मत भी इस प्रसग मे उदाहार्य है। इस व्याकरण मे सार्वधातुक—सज्ञा का व्यवहार है (३।२।१७), जिस पर टीकाकार कहते है—सार्वधातुकमिति गुरुसज्ञा पूर्वाचार्यप्रसेद्धयेह निबद्धा, अत स्वभावतो नपुंसकलिङ्गमपि।

अर्थसाधव ही लाघव है ऐसा पाणिनीय सम्प्रदाय का मत है) तथापि पाणिनि ने इस ऋजुमार्ग का परित्याग किया जिसके लिये उपर्युक्त कारण ही संगत प्रतीत होता है। पाणिनि ने एक ही शब्द का दो पारिभाषिक अर्थों में प्रयोग किया है—'वृद्ध' शब्द इसका प्रमुख उदाहरण है (अपत्यमन्तर्हितम् वृद्धम् तथा *वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद्वृद्धम् प्रथमोक्त वृद्ध पारिभाषिक योग है* ॥ काशिका १।२।६५)। यहाँ भी प्राक्पाणिनीय शास्त्रों का मिश्रण का फल है।

यदि प्रश्न हो कि पाणिनि ने पृथक् पृथक् शब्दों का व्यवहार ही क्यों नहीं किया जिससे अर्थ में व्यामोह उत्पन्न न होता तो उत्तर यह है कि पाणिनि के काल में ये सभी शब्द स्व-स्व-संप्रदायानुसार विभिन्न अर्थों में समान रूप से प्रचलित थे और व्याकरणशास्त्र की परम्परा के (उस समय तक) बहुत कुछ अक्षुण्ण रहने के कारण अर्थ-व्यामोह होने का अवसर नहीं था यही कारण है कि पृथक्-पृथक् शब्दों का व्यवहार करना पाणिनि ने निष्प्रयोजन समझा क्योंकि ऐसा करने से अनेक अप्रचलित शब्दों का ज्ञान अष्टाध्यायी के पाठकों को करना पड़ता और शायद तब उनका शास्त्र अध्येताओं के लिये भारस्वरूप हो जाता। यही कारण है कि पाणिनीय संप्रदाय में बार-बार कहा जाता है कि 'व्याख्यान से अर्थ में सन्देह का निराकरण करना चाहिए, संशय होने मात्र से शास्त्र अप्रतिष्ठ नहीं हो जाता। यदि पाणिनि के ग्रन्थों में इस प्रकार का अविकल अनुकरणात्मक शब्दप्रयोग नहीं होता तो संशयोत्पादक शब्द सूत्रों में नहीं रहते। '*अर्थसंशय होने से शास्त्र अप्रतिष्ठ नहीं होता*' यह मत ही प्रमाणित करता है कि अर्थसंशय होना अनिवार्य है और यह दोषावह भी नहीं है यह तो स्पष्ट ही है कि एक स्वतन्त्र कृति में ऐसा होना अवश्यम्भावी नहीं है। अतः मानना होगा कि परानुकरणात्मक प्रथा के मिश्रण के कारण ही ऐसा हुआ है।

सभी आचार्यों की कृतियों को अपने में मिश्रित करने के कारण ही पाणिनीय तन्त्र सभी पक्षों और मतों में अंशतः चरितार्थ होता है। प्राचीन व्याकरणों में जितने स्वकीय पक्ष थे (जो एक दूसरे से कुछ न कुछ भिन्न थे) वे यथासम्भव पाणिनीय शास्त्र में सार्वरूप्य से प्रवर्तित होते हैं। पद का अर्थ जाति है ऐसा मानकर भी कुछ सूत्र प्रणीत हुए हैं, तथा व्यक्तिपक्षाश्रित कुछ सूत्र भी हैं। 'सर्ववेदपारिषदं हीदं शास्त्रं तत्र नैकः पन्थाः शक्य आस्थातुम्' —यह भाष्यवचन (६।३।१४) पाणिनीय शास्त्र की इस प्रकृति का ज्ञापक है।

इस नियम का एक उदाहरण है—'अनुपसर्जनात्' सूत्र (४।१।१४)। भाष्यकार ने कहा है कि यह सूत्र प्राक्पाणिनीय आचार्यों के अनुसार है (पूर्वसूत्र-

निर्देशो वा, तथा प्रदीप–पूर्वसूत्रशब्देन पूर्वाचार्यकृत व्याकरणमुच्यते)। यह द्रष्टव्य है कि 'उपसर्जन' पद को पाणिनि ने पारिभाषिक रूप मे भी व्यवहृत किया है, (द्रष्टव्य १।२।४३ सू०) और ४।१।१४ सूत्र मे अपारिभाषिक प्राक्पाणिनीय अर्थ (=अप्रधान) ही ग्राह्य है। इस सूत्र मे पारिभाषिक अर्थ का प्रयोग उपपन्न नही हो सकता, यही कारण है कि यद्यपि 'कृत्रिमाकृत्रिमयो' कृत्रिमस्यैव ग्रहणम्' न्याय से पारिभाषिक शब्द का ही ग्रहण होना चाहिए तथापि युक्तता के कारण पूर्वाचार्य-प्रसिद्ध प्रचलित अर्थ (अप्रधान) का ही ग्रहण पाणिनि को इष्ट है।

चतुर्थ कौशल—पाणिनि की अभीष्ट शैली से विरुद्ध शैली मे रचित कोई अश यदि पाणिनीय ग्रथो मे हो, तो वह अंश प्राक्पाणिनीय है।

ग्रन्थ-रचना मे ग्रन्थकार एक निश्चित पद्धति लेकर चलता है और स्वसंस्कार के अनुसार उसकी रचनाशैली मे कुछ निजी उपज्ञा भी रहती है।[1] ग्रन्थ-प्रणयन में एक सुविचारित शैली[2] को अपनाने के बाद उससे विरुद्ध शैली का व्यवहार प्राज्ञ आचार्य कभी नही करता। अब यदि हम यह निरूपण कर सके कि ग्रन्थ-रचना मे पाणिनि की निजी शैली क्या थी, और यदि उस

१—एक ही विषय के प्रतिपादन मे कही-कही भिन्न-भिन्न आचार्य भिन्न-भिन्न शैलियो का आश्रय लेते हैं, इसका एक स्पष्ट उदाहरण वाजसनेयि-प्रातिशाख्य मे है। शाकल्य आदि आचार्यों के पदपाठीयग्रन्थ-रचना की शैली के विषय में यह श्लोक प्रातिशाख्य में हैं—'पुनरुक्तानि लुप्यन्ते पदानीत्याह शाकलः। अलोप इति गार्ग्यस्य काण्वस्यार्थवशादिति (४।१७७)। आचार्य भेदो से शैली-भेद होने का यह एक स्पष्ट उदाहरण है। प्राचीन आचार्यों के विषय मे इस प्रकार की निश्चित शैलीप्रियता के कुछ उदाहरण यत्र तत्र मिलते हैं।

२—शीले भवा शैली समवधानपूर्विका प्रवृत्तिः (हयवरट् सूत्रीय प्रदीप)। शैली स्वभावे भवा वृत्ति शैली (प्रदीप २।१।२)। शैली का स्वरूप सावधानता-पूर्वक विचारणीय होता है, अन्यथा तथ्यनिर्धारण मे भ्रम होने की सम्भावना रहती है। जिनेन्द्र बुद्धि धातु-विशेष से सम्बन्धित पाणिनिशैली का उदाहरण देते हैं—शैलीह्येषमाचार्यस्य यत्र यत्र धातोर्ग्रहणमिच्छति तत्र तत्र श्तिपा निर्देश करोति (न्यास १।२।१२)। पर ध्यान से देखने से ज्ञात होता है कि पाणिनि ने नाशयिक स्थलो पर ही इस शैली को अपनाया है, सर्वत्र नही (द्र० सीरदेवीय परिभाषावृत्ति १४ परिभाषा)।

शैली से विरुद्ध शैली से लिखित कोई अंश उनके ग्रन्थ में मिल जाए तो हम कह सकते हैं कि यह अंश पाणिनि का स्वोपज्ञभूत नहीं है। हम ऐसे स्थलों को 'बाद में प्रक्षिप्त' भी नहीं कह सकते क्योंकि बहुत पहले से ही पाणिनिकृत ग्रन्थों का परिमाण निश्चित हो गया था किंच व्याकरण ग्रन्थ में प्रक्षेप होने की सम्भावना अल्प है, क्योंकि यह कोई सर्वजन-ग्रहण-योग्यव्यवहार में आने वाले पुराणादि ग्रन्थों की तरह प्रचारप्रधान शास्त्र नहीं है। पाणिनिसूत्रों में न्यूनतम सूत्रों का प्रक्षेप अवश्य हुआ है जिसका विवरण अन्यत्र दिया गया है उनके गणपाठों में जिन शब्दों का प्रक्षेप हुआ है, उनकी तत्कालीन अनिवार्यता या सुप्रचलन ही उनके प्रक्षेप होने का कारण है, यह ज्ञातव्य है।

व्याख्याकारों ने कई स्थलों पर आचार्य की रचना-शैली के विषय में निर्देश किया है जैसा कि शब्दरत्नकार ने कहा है—'आचार्यशैली वा (७।२।२२ प्रौढमनोरमा पर)। यदि हम प्राचीन ग्रन्थों से ऐसे स्थलों का संग्रह कर पाणिनि शैली' का निश्चय कर लिया जाए तो उस शैली से विरुद्ध शैली से रचित अंशों का परिज्ञान हो सकता है। हम एक ही उदाहरण देकर इस विषय को प्रमाणित कर रहे हैं—

भाष्यकार ने कहा है—'एषा हि आचार्यस्य शैली लक्ष्यते यत् तुल्यजातीयान् तुल्यजातीयेषु उपदिशति अचः अक्षु हलो हल्षु' (हयवरट् सूत्र-भाष्य), अर्थात् पाणिनि की यह शैली है कि वे तुल्यजातीय पदार्थों का एक साथ उपदेश करते हैं। भाष्यकार ने इसका उदाहरण भी दिया है। अष्टाध्यायी में वर्णित पदार्थों के उपदेशक्रम में भी हम देखते हैं कि वहां तुल्यजातीय पदार्थों का एकत्र उपदेश है। अब यदि कहीं पर ऐसा देखा जाए कि अतुल्यजातीय पदार्थों का एकत्र उपदेश है (और इस प्रकार स्वशैली से विरुद्ध उपदेश के लिये कोई विशेष प्रयोजन भी नहीं) तो यह अनुमान करना असङ्गत नहीं होगा कि यह अंश प्राक्पाणिनीय है।[२]

१—भाष्यकार कहते हैं—एषा ह्याचार्यस्य शैली लक्ष्यते—येनैव अवयव कार्यं भवति तेनैव समुदायकार्यमपि भवति (२।१।३)। ऐसी शैलियों के अध्ययन से अष्टाध्यायीगत अनेक गुत्थियों का ज्ञान भी हो सकता है।

२—विलक्षण शैलियों के मिश्रण से शास्त्रान्तरवाक्यसंग्रह-कर्म का अनुमान करना पूर्वाचार्यानुमोदित पन्था है। गौतमधर्मसूत्र में भैक्ष्याहार की गणना इस प्रकार की गई है—अयोव्रतता शाकभक्षता कणभक्षता प्रसृतयावको हिरण्य

उदाहरण के लिये हम पाणिनीय धातुपाठ को ले सकते हैं। इसमे कही-कही अतुल्यजातीय पदार्थों का सन्निवेश दिखाई पडता है, अर्थात् उदात्त धातुओ के बीच अनुदात्त धातुओ का पाठ तथा अनुदात्त धातुओ मे उदात्त धातुओ का पाठ देखा जाता है। पूर्वोक्त भाष्यवचन के अनुसार ऐसी रचना पाणिनि की शैली के विरुद्ध है, किंच व्याकरण की प्रक्रिया-सिद्धि के लिये इस प्रकार के विपर्यस्त पाठ की कुछ भी सार्थकता नही है। अतः सङ्गतरूप से ही अनुमान हो सकता है कि इस प्रकार का पाठ प्राक्पाणिनीय है, अर्थात् प्राक्पाणिनीय धातुपाठ मे इस प्रकार के विसदृश स्वर वाले धातुओ का एकत्र पाठ था और पाणिनि ने उस अश को अविकल अपने ग्रन्थ मे ले लिया है। यह निर्णय कपोल-कल्पित नही है। पाणिनीय धातुपाठ के प्राचीन वृत्तिकार क्षीरस्वामी ने स्पष्टत कहा है—'पाठमध्येऽनुदात्तानामुदात्त. कथित. क्वचित्। अनुदात्तोऽप्युदात्ताना पूर्वेषामनुरोधत. (भ्वादि० १४९ सूत्र) अर्थात् पूर्वगामी आचार्यों के अनुसरण के कारण पाणिनि ने कही कही उदात्त धातु और अनुदात्त धातुओ का मिश्रित पाठ किया है। प्राक्पाणिनीय काशकृत्स्न आचार्य के धातुपाठ मे यही स्थिति है (द्र० अस्मत्सम्पादित क्षीरतङ्गिणी की भूमिका पृ० २२)। धातुपाठ मे या अन्यत्र जहाँ भी कही प्रकरणासङ्गति है, उसका कारण यह पूर्वाचार्यानुकरणपरायणता है, ऐसा सामान्यत. कहा जा सकता है।

जब हमारा अनुमान इस प्राचीनतम वृत्तिकार से भी समर्थित हो गया, तब उपर्युक्त नियम के अनुसार अन्य स्थलो का भी निरूपण होना चाहिए। यहाँ शङ्का हो सकती है कि पाणिनि ने पूर्वतन मिश्रित पाठ का सस्कार कर ही क्यो नही अपना धातुपाठ बनाया, जब कि उन्होने अनेक स्थलो मे प्राचीन आचार्यों से भिन्न प्रक्रिया तथा सिद्धान्त का अवलम्बन किया है। उत्तर यह है कि पाणिनि ने पूर्वाचार्यों के धातुपाठो का यथासम्भव अपनी मान्यता के अनुसार

प्राशन घृतप्राशन सोमप्राशनमिति मेध्यानि (१९।१४)। यहाँ ता-प्रत्ययान्त पयोव्रतता आदि के साथ 'प्रसृतयावक' रूप द्रव्यवाचक शब्द को पढा गया है, जो एक प्रकार का दोष ही है। भाष्यकार मस्करी कहते हैं—प्रसृतयावकाशनमिति वक्तव्ये एवमभिधान स्मृत्यन्तरोक्तविध्युपसग्रहणार्थम्। यह कहकर मस्करी ने उशना का वाक्य भी उद्धृत किया है, जिसमे 'प्रसृतयावकम्' पद है।

परिवर्तन कर ही अपना धातुपाठ बनाया और अष्टाध्यायी के सूत्रों के अनुसार जहाँ जहाँ स्वग्रन्थ धातुपाठ में परिवर्तन करना चाहिए था, उन सब स्थलों में परिवर्तन भी उन्होंने किया[१]। पूर्वाचार्य स्वदोषों के अनुसार उदात्तानुदात्त धातुओं का पाठ पृथक् पृथक् स्थलों पर नहीं करते थे और पाणिनि ने भी उनका अनुकरण करने का कारण पूर्वपाठ का सर्वथा परिवर्तन कर विजातीय धातुओं को पृथक्-पृथक् प्रकरणों में सर्वत्र नहीं पढ़ा। प्राचीन पाठ को लेने पर भी कोई न्यायदोष या प्रयोग में बाधा या अष्टाध्यायी के अनुसार कुछ विप्रतिपत्ति नहीं होती अतः उन्होंने संस्कारवश पूर्वपाठ का संग्रह स्वग्रन्थ में किया, जो प्रवचनरीति से रचित ग्रन्थ के लिए एक स्वाभाविक बात है।

पञ्चम कौशल—जो सूत्र पाणिनीय पद्धति (प्रक्रिया) के अनुसार रचित नहीं है वह सूत्र प्राक्पाणिनीय है।

प्रत्येक शास्त्रकार किसी पदार्थ का निर्देश स्वभावतः अपनी उस प्रक्रिया के अनुसार ही करता है जिसे वे अपनी रचना की विशिष्टता के अनुसार अपनाते हैं। व्याकरण में कितने ही ऐसे स्थल हैं, जहाँ पाणिनि की निर्देश-प्रक्रिया प्राक्पाणिनीय निर्देश-प्रक्रिया से भिन्न है। पर यदि पाणिनि के ग्रन्थ में ही अपने से स्वीकृत प्रक्रिया से भिन्न प्रक्रिया उपलब्ध हो और उस भिन्नता के लिये कोई सार्थक हेतु प्रतीत न हो तो यह अनुमान करना असङ्गत नहीं होगा कि वह अंश प्राक्पाणिनीय ग्रन्थ का अनुकरणमात्र है। पाणिनि ने स्वेच्छा से अपनी प्रक्रिया की अवहेलना की और इस अवहेलना का कुछ कारण भी नहीं है यह कहने की अपेक्षा पूर्वोक्त अनुमान ही अधिक सङ्गत है। निम्नाङ्कित उदाहरणों से यह बात प्रमाणित होती है—

जिसके स्थान में कोई आदेश होता है पाणिनि षष्ठी विभक्ति से उसका निर्देश करते हैं[२] जैसे—'ब्रुवो वचि' (२।४।५३) 'अतो भिस ऐस्' (७।१।९) आदि। 'निर्दिश्यमानस्य आदेशा भवन्ति'—इस परिभाषा की व्याख्या में व्याख्याकारों ने यह प्रमाणित किया है कि षष्ठी विभक्ति से स्थानी का निर्देश करना पाणिनि की प्रक्रिया है पर अष्टाध्यायी में कुछ ऐसे सूत्र हैं, जिनमें

१—द्र०—Structure of the Astadhyayi ग्रन्थ का दूसरा अध्याय।

२—षष्ठीनिर्दिष्टस्यादेशा उच्यन्ते (भाष्य १।१।१) षष्ठीनिर्दिष्टं विकारागमयुक्तं भवति।

स्थानी मे प्रथमा विभक्ति का व्यवहार किया गया है, जैसे—'चितः' (६।१।१६३) आदि। पूर्वोक्त युक्ति के अनुसार हम अनुमान करते हैं कि यह प्राक्पाणिनीय सूत्र का अनुकरणभूत स्थल है।

हम लोगो का 'यह निर्णय अमूलक नही है, क्योकि पतञ्जलि ने पूर्वोक्त प्रथमाविभक्तिघटित निर्देशस्थ अंश को प्राक्पाणिनीय ही कहा है—पूर्वसूत्र-निर्देशश्च चित्वान् चित इति (६।१।१६३)। प्राक्पाणिनीय आचार्यों की यह शैली थी कि वे स्थानी मे प्रथमा विभक्ति का प्रयोग करते थे—पूर्वव्याकरणे प्रथमया कार्यी निर्दिश्यते (प्रदीप, अत्रैव)।

यदि अन्यान्य विषयो मे भी पाणिनीय प्रक्रिया का निश्चय कर लिया जाए, तो उससे 'अष्टाध्यायी मे कितना प्राचीनतर सूत्रांश' है, इसका निर्णय हो सकता है।

एक अन्य उदाहरण ले—पाणिनि का निर्देश है कि धातु के बाद प्रत्ययनिर्देश करते समय धातु मे पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग किया जाएगा[1], बहुत सूत्रो मे ऐसा ही व्यवहार दिखाई पडता है। पर कुछ सूत्र ऐसे भी हैं, जिनमे षष्ठी का व्यवहार किया गया है, जैसे—'यजजपदशां यङ' (३।१।१६६) स्वपितृषोर्नजिङ् (३।२।१७३) आदि। यहा व्याख्याकार एक स्वर से कहते हैं कि 'पञ्चम्यर्थे षष्ठी'। जब पाणिनि ने यह नियम किया है कि प्रत्ययविधि के लिये पञ्चमीनिर्देश किया जाएगा, और बहुत स्थलो मे उन्होने ऐसा ही किया है, तब कुछ प्रत्ययविधायक सूत्रो मे षष्ठी का प्रयोग उन्होंने क्यो किया, यह एक विचारणीय प्रश्न है। प्राचीन व्याख्याकार ऐसे स्थलो के लिये उत्तर देते हैं कि 'यहा आनन्तर्य मे षष्ठी है और चूंकि अन्ततोगत्वा आनन्तर्य पञ्चम्यर्थ में ही पर्यवसन्न होता है, अत. षष्ठीनिर्देश करना अयुक्त नही है।' पर षष्ठी का अर्थ आनन्तर्य, और अन्त मे जाकर उसकी पञ्चम्यर्थ मे समाप्ति—इस दीर्घ पन्था की अपेक्षा स्पष्ट रूप से पञ्चमी का साक्षात् प्रयोग करना क्या अधिक समीचीन कार्य नही होता ? यदि षष्ठीनिर्देश करना पाणिनि को इष्ट होता तो 'विकार और आगम के निर्देश के लिये षष्ठी-निर्देश,

---

१—पञ्चमीनिर्दिष्टाच्च प्रत्ययो विधीयते (भाष्य ३।१।१), यस्मात् प्रत्यय-विधिस्तदादिप्रत्ययेऽङ्गम् (१।४।१३) सूत्र से भी यह तथ्य ज्ञापित होता है। पञ्चम्याश्रयेण प्रत्ययपक्षाश्रयणम् (प्रदीप ५।३।१०)।

तथा प्रत्ययके लिये पञ्चमी-निर्देश' इस प्रकार का अनुशासन पाणिनीय संप्रदाय में क्यों प्रचलित होता है ? पाणिनि ने बुद्धिपूर्वक जिस निर्देशरीति अर्थात् 'प्रत्यय के लिये पञ्चमी' माना कहीं-कहीं किसी लाभ के बिना ही उस रीति का त्याग किया ऐसी निर्मूल कल्पना करना न्यायसङ्गत नहीं है। अतः यही सङ्गत है कि किसी प्राक्पाणिनीय आचार्य ने प्रत्यय के लिए षष्ठी का प्रयोग किया था और पाणिनि ने उन प्राक्पाणिनीय सूत्रों को अविकलरूप से अपने ग्रंथ में ले लिया है।

इस विषय में निम्नोक्त तथ्य द्रष्टव्य है—वस्तुतः एक वैयाकरण संप्रदाय था जो प्रत्ययविधि में पञ्चमी के स्थल पर षष्ठी का प्रयोग करता था। क्षीरस्वामी ने धातुवृत्ति में कुछ ऐसे सूत्र उद्धृत किए हैं, जिनमें प्रत्ययविधि में षष्ठी का व्यवहार किया गया है[१]। ये सूत्र पाणिनि-सूत्र से अत्यन्त सादृश्य रखते हैं (विभक्ति अंश को छोड़ कर)। सम्भव है कि ये सूत्र उस व्याकरण के हैं, जिसमें प्रत्ययविधि के लिये षष्ठी का प्रयोग किया जाता है षष्ठीविभक्तिवासना वासित किसी अवान्तर संप्रदाय में पाणिनिसूत्र का ही ऐसा पाठान्तर उत्पन्न हो गया है—यह कहना युक्ततर है।

हमारा अनुमान है कि पाणिनि ने जिस संप्रदाय को लक्ष्य कर 'प्राचाम्' पद का व्यवहार किया है, वह संप्रदाय संभवतः प्रत्ययनिर्देश में षष्ठी का व्यवहार करता था। क्योंकि अष्टाध्यायी में प्राचाम् पदघटित सूत्रों में पञ्चमी के स्थल पर षष्ठी विभक्ति का व्यवहार किया गया है जैसे कि 'कुत्सिरजो' प्राचां ष्यङ्' (३।१।९) आदि सूत्रों में देखा जाता है। हम यह भी समझते हैं कि पाणिनि ने प्राक्पाणिनीय आचार्यनामघटित सूत्रों में प्राक्पाणिनीय शब्दों को भी प्रायशः ले लिया है। सुतरां प्राचाम् पदघटित सूत्रों की षष्ठी विभक्ति प्रमाणित करती है कि प्राचां पदलक्षित सम्प्रदाय प्रत्ययविधि में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग करता था और पाणिनि ने अविकलरूप में उनके कुछ सूत्र ले लिए हैं। 'प्राचाम्' पद में एकाधिक आचार्यों का ग्रहण हो सकता है। इस प्रकार के विभक्ति-व्यत्यययुक्त अन्यान्य सूत्रों के सम्प्रदायों का परिज्ञान करना आज दुरूह ही है।

१—सुप्यदीपदीक्षां च (३।१।१४३)—भ्वादिपूदधातु में उद्धृत (१।२५)। सनाशंसभिक्षाम् उः (३।२।१६८)—भ्वादि शसिधातु में उद्धृत (१।४१७)।

पाणिनि के सूत्रो मे अन्य प्रकार की विलक्षणता भी दिखाई पडती है, जहा प्राक्पाणिनीय अश की सत्ता ज्ञात होती है। सूत्र है—नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यच (३।१।१३४)। पर नन्द्यादि आदि गणपाठो मे धातुओ का पाठ न होकर प्रातिपदिको का पाठ है। सूत्र और तत्सबद्ध गण का यह वैषम्य तभी उपपन्न हो सकता है जब हम मान ले कि इसमे दो शैलियो का समिश्रण है, जिसके लिये प्राक्पाणिनीय व्याकरण के शैलीविशेष की सत्ता मानना अपरिहार्य है।

नित्य सपत्न्यादिषु (४।१।३५) सूत्र का गणपाठ भी सूत्रप्रक्रियानुसारी नही है। गणपाठ मे समान, एक, वीर आदि प्रातिपादिक हैं, अत सूत्र का रूप 'नित्य समानादिषु' होना चाहिए था। इस सूत्र की प्राक्पाणिनीयता का एक प्रमाण सूत्रीय 'नित्य' शब्द की अनर्थकता भी है। जिस व्याकरण मे यह सूत्र लिया गया है, उसमे 'नित्य' ग्रहण सार्थक था। इसी प्रकार कुम्भपदीषु च (५।४।१३९) सूत्र भी प्राक्पाणिनीय है, अन्य निपातन सूत्रो की तरह यह भी 'कुम्भपद्यादय' की तरह पढा जा सकता था और इस पाठ मे भी काशिकोक्त विषयनियम ज्ञापित हो सकता था। अत॰ निपातनसूत्र-पद्धति का परित्याग कर सप्तम्यन्तपद-घटित निपातनसूत्र की आवश्यकता नही थी, क्योकि इससे अनुवृत्त पदो का परस्परान्वय भी व्याहत होता है। यह सूत्र प्राक्पाणिनीय है इसका एक प्रमाण यह भी है कि इस सूत्र मे 'च' का कोई सार्थक्य नही है। जिस व्याकरण का यह सूत्र है, उसमे 'च' का सार्थक्य था।

प्रथमयो पूर्वसवर्ण. (६।१।१०२) सूत्र भी इस प्रकार विलक्षणशैलीयुक्त है। 'प्रथमयो' का अर्थ 'प्रथमा-द्वितीययो.' है जो पाणिनीयप्रक्रियानुसारी नही है, अत यह कोई प्राक्पाणिनीय सूत्र है। सूत्रस्थ 'प्रथमा' शब्द प्राक्पाणिनीय आचार्य कृत सज्ञा है, अतः इस सूत्र की प्राक्पाणिनीयता ज्ञात होती है। इस प्राक्पाणिनीय सप्रदाय मे ऐसा कुछ सकेत था, जिससे इस प्रकार का एकशेष हो सकता था।

निष्ठायामण्यदर्थे (६।४।६०) सूत्र की रचना भी पाणिनीयानुसारी नही है। ण्यत् एक कृत्यप्रत्यय है, कृत्य भावकर्म मे होता है, अत अण्यदर्थ शब्द का प्रयोग 'अ-भावकर्म' रूप अर्थ के लिये किया गया है। पाणिनि 'अकृत्यार्थे' या 'अभावकर्मणो' शब्द का प्रयोग अपनी प्रक्रिया के अनुसार कर हो सकते थे, वैसा न करने से अनुमित होता है कि यह किसी प्राक्पाणिनीय सप्रदाय का सूत्र है जिसमे ण्यत् आदि का भाव-कर्मरूप अर्थ प्रत्यक्षत कहा गया था—'ण्यदादयो

साधकर्मणो या इस प्रकार का कोई सूत्र उस व्याकरण में था तथा संभवतः ण्यत् प्रथम कृत्यप्रत्यय था।

महती संज्ञा की अन्वर्थता का न घटना भी पाणिनीयरीति से विरुद्ध है, और हम समझते हैं कि ऐसी महासंज्ञाएं प्राक्पाणिनीय व्याकरणों की ही हैं। महासंज्ञा का अर्थ कुछ अंशों में पाणिनीय प्रक्रिया में घटना ही चाहिए। यदि अन्वर्थता नहीं घटती तो उसकी प्राक्पाणिनीयता संभावित होती है।

सर्वनामस्थान रूप एक पारिभाषिक संज्ञा अष्टाध्यायी में है (१।१।४२)। यह 'महती संज्ञा' है पर अन्यान्य महती संज्ञाओं की तरह इसकी अन्वर्थता की साधकता अष्टाध्यायी में नहीं है अतः जान पड़ता है कि पाणिनि ने प्राक्पाणिनीय स्रोत से इस शब्द को लिया है। हम लोगों का यह अनुमान व्यासकार आदि द्वारा समर्थित है।

पाणिनि सूत्रों में व्यवहृत जो शब्द लौन प्रयोग के रूप में सिद्ध माने जाते हैं (पर अस्मदादिद्वारा प्रयोगार्ह नहीं माने जाते) वे भी प्राक्पाणिनीय स्रोत से आए हैं, ऐसा अनुमित होता है। अन्वचि (३।४।६४) तिर्यचि (३।४।६) [यथाक्रम अनुचि-तिरश्चि होगा—पाणिनीयमतानुसार] आदि शब्द इसके उदाहरण हैं। अतिशायन (५।३।५५), पुराण (४।३।१ ५) आदि सूत्रकार-व्यवहार-सिद्ध शब्द सर्वव्यवहार्य माने जाते हैं पर उपर्युक्त शब्द अव्यवहार्य माने जाते हैं। यह अव्यवहार्यता ही प्रमाणित करती है कि ऐसे शब्द प्राक्पाणिनीय वैयाकरणों द्वारा प्रयुक्त हुए हैं, और चूंकि उन व्याकरणों का अधिकार अब नहीं है अतः वे प्रयोग अनुकरणीय नहीं हैं। यदि वे शब्द पाणिनीय होते तो पाणिनीय सम्प्रदाय में उनका व्यवहार अवश्य रहता। व्याकरण का अधिकार कालावच्छिन्न होता है अतः किसी उच्छिन्नसम्प्रदाय शब्द को साधु मानने पर भी उसका प्रयोग करना निषिद्ध माना जाता है[1]। काशकृत्स्न और आपिशलि के कुछ ऐसे विधान मिलते हैं, जिनका अनुस्मरण पाणिनि ने नहीं किया। हम तत्तत् विधानानुसारी प्रयोगों को साधु मानते हैं पर प्रयोग नहीं करते—ऐसी ही परम्परा है (उच्छिन्न व्याकरणों के अनुसार प्रयोग करने पर

१—आपिशल-काशकृत्स्नयोस्तु ग्रन्थे इति वचनात् अन्यत्र प्रतिषेधाभावः। नियतकालाश्च स्मृत्यो व्यवस्थाहेतव इति मुनित्रयमतेन अद्यत्वे साध्वसाधु प्रविभागः (प्रदीप ५।१।२१)।

शब्दार्थ बोद्धव्य नही होगा, अत ऐसा शिष्टाचार रहना आवश्यक है)। इस तत्त्व पर वहुत कुछ ज्ञातव्य है, जो अन्यत्र विवृत होगा।

सूत्रगत अन्यथाविभक्तिक पदो के विषय मे भी यही वात चरितार्थ होती है। इस विषय मे हमारी युक्ति यह है—हम जिसको अन्यथा विभक्तिक कहते है, वह वस्तुत अन्यथा विभक्तिक नही है, प्राचीन काल मे उस अर्थ मे उस विभक्ति का व्यवहार स्वरसत होता था, तथा पूर्वाचार्यों का तादृश अनुशासन भी था। इसका प्रमाण यह है कि पाणिनि के विभक्तिविधान से प्राक्पाणिनीय आचार्यो के विभक्तिविधान मे कही कही ईषद् भेद मिलता है, तथा प्राक्पाणिनीय महाभारतादि ग्रन्थो मे कितने ही स्थलो मे ऐसी विभक्ति दिखाई पडती हैं, जो पाणिनीय नियम के अनुसार घटती नही है। ऐसी स्थिति मे यह मानना होगा कि अन्यथा-विभक्तिक (पाणिनीयानुसार) प्रयोग भी साधु हैं, और प्राक्पाणिनीय व्याकरणो मे वैसे विभक्ति-प्रयोग के लिये अवश्य ही अनुशासन था। परवर्ती काल मे काल के परिवर्तन के साथ साथ शब्दप्रयोग में अवश्यमेव कुछ न कुछ परिवर्तन या ह्रास हुआ होगा, और तत्तत् काल मे पृथक् पृथक् व्याकरणो मे तात्कालिक विभक्ति प्रयोग को देख-कर ही विभक्ति-विधान अनुशिष्ट हुआ होगा। यह वात कल्पित नही है, क्योंकि 'युगे युगे व्याकरणम्' आदि प्रवाद इस 'परिवर्तन-सिद्धान्त' को ज्ञापित करते हैं। व्याकरण का अनुशासन स्मृतिशास्त्र की तरह निश्चित काल तक के लिये होता है, अत किसी साधु पद को अन्यथाविभक्तिक कहने का अर्थ है 'एक समय के व्याकरण के अनुसार जो विभक्ति सगत होनी चाहिए, उस विभक्ति का प्रयोग न करना'—यद्यपि वह अन्य प्राचीनतर काल के व्याकरण की दृष्टि से साधु है।

उपर्युक्त सिद्धान्त से यह भी निर्गलित होता है कि अष्टाध्यायी में जितने अन्यथाविभक्तिक पद है (अर्थात् जिन पदो को हम पाणिनीय सूत्र के अनुसार अन्यथाविभक्तिक मानते हैं), वे सभी प्राक्पाणिनीय व्याकरण की दृष्टि से यथार्थ-विभक्तिक हैं, और पाणिनि ने उन ग्रन्थो से उन पदो को अविकलरूप से ले लिया है।

षष्ठ कौशल—अविभक्तिक पदप्रयोग प्राक्पाणिनीय है।

उपर्युक्त विषय मे हेतु यही है कि साधुशब्दानुशासनकारी आचार्य पाणिनि अविभक्तिक पदो के प्रयोग शास्त्रमर्यादा को तोडकर कदापि नही कर सकते हैं। उदाहरण के साथ इसका विवरण दिया जा रहा है—

पाणिनि का सूत्र है—'द्विस्त्रिभ्यां ष मूर्ध्न' (५।४।११५)। 'ष' शब्द में कोई विभक्ति नहीं है जो पाणिनीय नियम के अनुसार सर्वथा असाधु है, क्योंकि व्यवहार में केवल प्रकृति या प्रत्यय का प्रयोग करना पाणिनीय शास्त्र में निषिद्ध है (न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या न केवलः प्रत्ययः)। सम्भव है कि किसी प्राक्पाणिनीय व्याकरण में ऐसी रीति थी कि किसी परिस्थितिविशेष में विभक्ति के बिना भी प्रयोग किया जा सकता है और पाणिनि ने ऐसे व्याकरणों से कुछ सूत्र अपने ग्रन्थ में ले लिए हैं। पाणिनीय सम्प्रदाय लौकिक प्रयोगों में निर्विभक्तिक पदों को कदापि साधु नहीं मान सकता है और यही कारण है कि कभी कभी निर्विभक्तिक पदों का सविभक्तिक पाठान्तर किया गया है (द्र० ४।१।१७ सूत्रीय न्यास की टिप्पणी)। प्रत्यय को निर्विभक्तिक पढ़ने वाला कोई व्याकरण सम्प्रदाय था उसका यह सूत्र है ऐसा कहना न्याय्य है।

दूसरा उदाहरण लें—पाणिनि का सूत्र है—'एक तद्धिते च' (६।३।६२)। यहाँ एक शब्द में किसी विभक्ति का प्रयोग नहीं किया गया है। यह लिपिकार प्रमाद भी नहीं है क्योंकि सभी व्याख्याकारों ने इसे अविभक्तिक प्रयोग ही माना है। पर सोचना चाहिए कि इस प्रकार विभक्तिशून्य प्रयोग सूत्रकार ने क्यों किया जब पाणिनीय तन्त्र में यह न्याय है—'अपदं न प्रयुञ्जीत'। पाणिनीय सम्प्रदाय में यह भी न्याय है कि असाधु का प्रयोग नहीं करना चाहिए (उदाहरण के रूप में भी) अतः पाणिनि ने स्वेच्छा से इस प्रकार के असाधु शब्दों का व्यवहार किया है ऐसा कहना न्यायसङ्गत नहीं हो सकता। यद्यपि प्राचीन व्याख्याकार एक हेतु देते हैं—'स्वतन्त्रेच्छस्य महर्षेरिमन्तु मशक्यत्वात्' पर यह कोई मौलिक कारण सम्बन्धी उपपत्ति नहीं है। हम समझते हैं कि अतिप्राचीन काल के किन्हीं व्याकरणों में इस प्रकार के अविभक्तिक शब्दों का व्यवहार विशेषरूप से होता था और पाणिनि ने उन प्राचीनतम ग्रन्थों से ऐसे शब्दों को अविकल रूप से ले लिया है। यह बात असम्भव नहीं क्योंकि वैदिक वाङ्मय में बहुतेरे अविभक्तिक पदों के प्रयोग हैं, (और क्रमशः परवर्ती संस्कृत में एतादृश अविभक्तिक प्रयोग अल्प होने लगे हैं) सुतरां उस प्राचीन काल के सम्प्रदायकार ने भी तात्कालिक रीति के अनुसार लुप्तविभक्तिक शब्दों को लिया है। इस विषय में हम प्रश्न पुरस्सर उत्तर के लिये विद्वद्वर्ग से अनुरोध करते हैं। हमने 'एक' आदि पूर्वोक्त शब्दों में जो विभक्तिशून्यता दिखाई है उसे पाणिनि की स्वकीय प्रक्रिया के अनुसार ही जानना चाहिए। सम्भव है कि किसी प्राक्पाणिनीय व्याकरण में इस प्रकार

का प्रयोग साधु रूप मे ही अनुशिष्ट हुआ हो, पाणिनि के अनुसार अविभक्तिक पद व्याकरणान्तर के अनुसार लुप्त-विभक्तिक पद भी हो सकता है ('दधि', 'मधु' की तरह) जो अब अप्रचलित है। वर्तमान सामग्री के आधार पर इस विषय मे अधिक ज्ञान नही हो सकता।

सप्तम कौशल—यदि किसी सूत्र का कोई पद पूर्वसूत्रीय अनुवृत्ति से अनायास सिद्ध हो जाए या सूत्रोक्त पद की सार्थकता परवर्ती सूत्र मे ही हो तो वह सूत्र प्राक्पाणिनीय है (यदि उन शब्दो से अन्य कोई गूढ अभिप्राय सिद्ध न होता हो)।

यह प्रमाणित हो चुका है कि पाणिनि से पहले आपिशलि आदि के कतिपय व्याकरण अष्टाध्यायी की तरह सूत्रवद्ध थे, तथा सूत्ररचनापद्धति भी वहुत अश तक उभयत्र समान थी। विषयवस्तु तथा प्रतिपादन शैली के समान होने पर भी प्रकरणविन्यास आदि मे यदि भेद हो (जैसा कि होना पूर्णतः स्वाभाविक है) और इस पर यदि परवर्ती ग्रन्थकार पूर्ववर्ती ग्रन्थ मे सूत्रो को अपनी रचना के अनुसार परिवर्तित न कर अविकल रूप से ग्रहण करता है (किसी भी कारण से) तव उस ग्रन्थकार के सूत्रो मे कही न कही कोई पद निष्प्रयोजन हो ही जाएगा, इसमे सन्देह नही है। निम्नमुद्रित उदाहरण से यह बात प्रमाणित होगी—

पाणिनि का सूत्र है 'भुवो भावे' (३।१।१०७)। यहा शङ्का की गई है कि इस सूत्र मे 'भाव' पद अनर्थक है, क्योकि भू धातु अकर्मक है। उत्तर दिया गया है कि कभी-कभी उपसर्ग योग से अकर्मक धातु भी सकर्मक होते हैं। इसकी व्यावृत्ति के लिये 'भाव' शब्द का ग्रहण किया गया है। भाष्यकार ने ठीक ही कहा है कि यह कोई प्रयोजन नही है, क्योकि पूर्वसूत्र (३।१।१००) से अनुपसर्ग पद की अनुवृत्ति आती है, अत उपसर्ग मे भू धातु के योग होने की सम्भावना नही है। इस दृष्टि से प्रोक्त सूत्र में भाव पद का ग्रहण व्यर्थ है। पतञ्जलि ने यह भी कहा है कि परवर्ती सूत्रो मे 'भाव' पद की आवश्यकता है और इसीलिये पाणिनि ने इसी सूत्र मे 'भाव' पद को पढा है, यद्यपि इस सूत्र मे इसकी कोई आवश्यकता प्रतीत नही होती।

हम भाष्यकार के इस समाधान को 'चिन्त्य' समझते हैं। परवर्ती सूत्र मे आवश्यकता है—इसलिये उपयुक्त स्थान मे एक पद को न पढ कर अस्थान मे उस पद को पढा गया है, यह समाधान कदापि बुद्धिग्राह्य नही हो सकता। क्या पाणिनि यह नही जानते थे कि 'भू' धातु अकर्मक है, और यहाँ यह धातु

सोपसर्ग नहीं हो सकता क्योंकि पूर्वसूत्र से 'अनुपसर्ग' पद की अनुवृत्ति आ रही है जिससे इस सूत्र में भाव पद का ग्रहण व्यर्थ होगा ? सत्य यह है कि जिस प्राक्पाणिनीय ग्रन्थ से यह सूत्र अविकल रूप से लिया गया है उसमें 'भुवो भावे' सूत्र में किसी भी पूर्वसूत्र से 'अनुपसर्ग' की अनुवृत्ति नहीं आती थी, अतः उपसर्गव्यावृत्ति के लिये 'भाव' पद की आवश्यकता थी। पाणिनि के ग्रन्थ में 'भाव' पद इसलिये व्यर्थ जान पड़ता है कि पूर्वसूत्र से अनुपसर्ग की अनुवृत्ति आती है और इसीलिये 'भाव' ग्रहण अनावश्यक मालूम पड़ता है पर यदि अनुवृत्ति नहीं आती या ३।१।१ सूत्र इस सूत्र के बाद पठित होता तो अष्टाध्यायी में भी 'भाव' पद सार्थक होता। पर चूंकि वह असार्थक हो रहा है अतः अनुमान करना पड़ता है कि पाणिनि ने प्राक्पाणिनीय ग्रन्थ से इस सूत्र को अविकल रूप से ले लिया, क्योंकि वे समझते थे कि उत्तरसूत्र में तो 'भाव' पद लेना ही पड़ेगा तब प्राचार्य के सूत्र को ही क्यों न लिया जाए क्योंकि ऐसा करने से अनुवृत्ति के लिये क्लेश भी नहीं करना पड़ेगा। वस्तुतः यदि यह सूत्र पूर्वाचार्य के किसी सूत्र का अविकल अनुकरण नहीं होता तो पाणिनि कभी भी 'भाव' पद का सन्निवेश इस सूत्र में नहीं करते। प्राक्पाणिनीय सूत्र में ऐसा दोष नहीं था, क्योंकि पाणिनि-प्राचीन सूत्र में इस सूत्र से पहले अनुपसर्गपदघटित कोई सूत्र नहीं था ऐसा जानना चाहिए।

इस शैली का दूसरा उदाहरण है मन्त्रेषु आङ्यादेरात्मनः (६।४।१४१) सूत्र। इस सूत्र में आदि' पद व्यर्थ है क्योंकि यहाँ आकार-प्रकरण चल रहा है (द्र० वार्तिक)। शङ्का हो सकती है कि पुनः सूत्रकार ने आदि' पद का ग्रहण क्यों किया ? क्या पाणिनि ने नहीं सोचा था कि इस स्थल पर आकार का प्रकरण चल रहा है ? वस्तुतः इस समस्या के लिये पूर्वोक्त समाधान ही युक्ततर है अर्थात् किसी प्राक्पाणिनीय व्याकरण में यह सूत्र था और पाणिनि ने अविकल रूप में उस सूत्र को ले लिया है। प्राक्पाणिनीय ग्रन्थ में सूत्रस्थ 'आदि' पद सार्थक था क्योंकि उस ग्रन्थ में इस सूत्र से पहले आकार का प्रकरण नहीं रहा होगा पर पाणिनि ने जब सूत्र को अविकल रूप से लेकर इस प्रकरण में पढ़ा तब अष्टाध्यायी में सूत्र से पहले आकार का प्रकरण रहने से सूत्रोपात्त 'आदि' पद व्यर्थ हो गया। यदि पाणिनि इस सूत्र के रचयिता होते तो कदापि वे आदि' पद का व्यवहार नहीं करते। यदि कहा जाए कि पाणिनि ने 'आदि' पद का परित्याग कर ही क्यों नहीं सूत्र को पढ़ा, तो उत्तर यह है कि प्राचीन आचार्यों की यह शैली है कि वे सिद्ध वस्तु को भी कभी-कभी पुनः कहते हैं

(स्पष्टार्थता आदि प्रयोजनों के लिये) जैसा कि भाष्यकार ने कहा है—'भवति वै किञ्चिद् आचार्याः क्रियमाणमपि चोदयन्ति' (६।१।६७) अर्थात् कभी-कभी आचार्य स्वेच्छा से सिद्ध का साधन भी करते हैं।

पूर्वोक्त अनुमान से यह सिद्ध होता है कि यह सूत्र (६।४।१४१) प्राक्पाणिनीय है। इस निर्णय के लिये अन्य प्रमाण भी है। इस सूत्र में 'आङ्' पद का व्यवहार किया गया है, जो प्राचीन आचार्यों का है। यदि यह सर्वथा पाणिनीय होता, तो पाणिनि 'आङ्' के लिये अपने पारिभाषिक शब्द का व्यवहार करते, पर 'आङ्' को अविकल रूप में लेने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यह सूत्र प्राक्पाणिनीय है।

'परवर्ती सूत्र में पूर्ववर्ती सूत्र के पद के सार्थक्य' का अन्य उदाहरण दिया जा रहा है सूत्र है—अयामन्ताल्वाय्येत्न्विष्णुषु (६।४।५५)। इस सूत्र में अयादेश का विधान सार्थक नहीं है, निषेधपरक सूत्र (नामन्ताल्वा) ही पर्याप्त रहता, पर चूँकि उत्तरवर्ती 'ल्यपि लघुपूर्वात्' (६।४।५६) सूत्र में अयादेश की आवश्यकता है इसलिये ५५ वें सूत्रमें अयादेश का विधान किया गया है। जिस व्याकरण की प्रक्रिया में अयादेश का विधान सार्थक होता, उस व्याकरण का यह सूत्र है, यदि यह पाणिनि का नवनिर्मित सूत्र होता तो ऐसी व्यर्थता नहीं होती। पूर्वाचार्यों ने भी इस सूत्र को व्याकरणान्तर का ही कहा है। नागेश कहते हैं—अयामन्ता इति सूत्र व्याकरणान्तररीत्यैव सर्वनामस्थानमिति महासंज्ञावत् (विसर्गसन्धिप्रकरण)।

अष्टम कौशल—विशिष्ट शब्दों के ईषत् पृथक् अर्थों में व्यवहार भी प्रमाणित करता है कि वे स्थल एक आचार्य (पाणिनि) के नहीं हैं, अपितु विभिन्न प्राक्पाणिनीय आचार्यों के हैं।

चूँकि व्याकरण शब्दों का विश्लेषण करता है और उसका प्रमाण और विषय शब्द ही हैं, इसलिये प्रत्येक सुहृद् आचार्य का कर्तव्य होता है कि वह विशिष्ट शब्दों का जहाँ तक सम्भव हो सके निश्चित अर्थों में ही व्यवहार करे जिससे अर्थ में संशय उत्पन्न न हो। यदि ऐसा न हो तो 'स्वेच्छया अर्थ-संशयोत्पादक शब्द व्यवहार का कारण' क्या है, यह प्रष्टव्य हो सकता है, क्योंकि पृथक् अर्थों में पृथक् शब्दों का व्यवहार करना ही अधिकतर शोभनीय होता है। इस समस्या का समाधान तभी हो सकता है, जब हम यह मान लें कि कोई एक विशिष्ट शब्द विभिन्न प्राक्पाणिनीय आचार्यों के ग्रन्थों में थोड़े विभिन्न अर्थों में व्यवहृत होता था (और यह दोषावह नहीं है, क्योंकि आचार्यभेद से-

सोपसर्ग नहीं हो सकता क्योंकि पूर्वसूत्र से 'अनुपसर्ग' पद की अनुवृत्ति आ रही है जिससे इस सूत्र में 'भाव' पद का ग्रहण व्यर्थ होगा ? सत्य यह है कि जिस प्राक्पाणिनीय ग्रन्थ से यह सूत्र अविकल रूप से लिया गया है उसमें 'भुवो भावे' सूत्र में किसी भी पूर्वसूत्र से 'अनुपसर्ग' की अनुवृत्ति नहीं आती थी, अतः उपसर्गव्यावृत्ति के लिये 'भाव' पद की आवश्यकता थी। पाणिनि के ग्रन्थ में 'भाव' पद इसलिये व्यर्थ जान पड़ता है कि पूर्वसूत्र से अनुपसर्ग की अनुवृत्ति आती है और इसीलिये 'भाव' ग्रहण अनावश्यक मालूम पड़ता है पर यदि अनुवृत्ति नहीं आती या ३।१।१ • सूत्र इस सूत्र के बाद पठित होता तो अष्टाध्यायी में भी 'भाव' पद सार्थक होता। पर चूँकि यह असार्थक हो रहा है अतः अनुमान करना पड़ता है कि पाणिनि ने प्राक्पाणिनीय ग्रन्थ से इस सूत्र को अविकल रूप से ले लिया, क्योंकि वे समझते थे कि उत्तरसूत्र में तो 'भाव' पद लेना ही पड़ेगा तब आचार्य के सूत्र को ही क्यों न लिया जाए क्योंकि ऐसा करने से अनुवृत्ति के लिये क्लेश भी नहीं करना पड़ेगा। वस्तुतः यदि यह सूत्र पूर्वाचार्य के किसी सूत्र का अविकल अनुकरण नहीं होता तो पाणिनि कभी भी 'भाव' पद का सन्निवेश इस सूत्र में नहीं करते। प्राक्पाणिनीय सूत्र में ऐसा दोष नहीं था क्योंकि पाणिनि-प्राचीन सूत्र में इस सूत्र से पहले अनुपसर्गपदघटित कोई सूत्र नहीं था ऐसा जानना चाहिए।

इस शैली का दूसरा उदाहरण है 'मन्त्रेषु आङ्यादेरात्मनः' (६।४।१४१) सूत्र। इस सूत्र में 'आदि' पद व्यर्थ है क्योंकि यहाँ आकार-प्रकरण चल रहा है (द्र० वार्तिक)। शङ्का हो सकती है कि पुनः सूत्रकार ने 'आदि' पद का ग्रहण क्यों किया ? क्या पाणिनि ने नहीं सोचा था कि इस स्थल पर आकार का प्रकरण चल रहा है ? वस्तुतः इस समस्या के लिये पूर्वोक्त समाधान ही युक्ततर है अर्थात् किसी प्राक्पाणिनीय व्याकरण में यह सूत्र था और पाणिनि ने अविकल रूप में उस सूत्र को ले लिया है। प्राक्पाणिनीय ग्रन्थ में सूत्रस्थ 'आदि' पद सार्थक था क्योंकि उस ग्रन्थ में इस सूत्र से पहले आकार का प्रकरण नहीं रहा होगा पर पाणिनि ने जब सूत्र को अविकल रूप से लेकर इस प्रकरण में पढ़ा तब अष्टाध्यायी में सूत्र से पहले आकार का प्रकरण रहने से सूत्रोपात्त 'आदि' पद व्यर्थ हो गया। यदि पाणिनि इस सूत्र के रचयिता होते तो कदापि वे 'आदि' पद का व्यवहार नहीं करते। यदि कहा जाए कि पाणिनि ने 'आदि' पद का परित्याग कर ही क्यों नहीं सूत्र को पढ़ा तो उत्तर यह है कि प्राचीन आचार्यों की यह शैली है कि वे सिद्ध वस्तु को भी कभी-कभी पुनः कहते हैं

(स्पष्टार्थता-आदि प्रयोजनो के लिये) जैसा कि भाष्यकार ने कहा है—'भवति वै किञ्चिद् आचार्याः क्रियमाणमपि चोदयन्ति' (६।१।६७) अर्थात् कभी-कभी आचार्य स्वेच्छा से सिद्ध का साधन भी करते हैं।

पूर्वोक्त अनुमान मे यह सिद्ध होता है कि यह सूत्र (६।४।१४१) प्राक्पाणिनीय है। इस निर्णय के लिये अन्य प्रमाण भी है। इस सूत्र मे 'आङ्' पद का व्यवहार किया गया है, जो प्राचीन आचार्यों का है। यदि यह सर्वथा पाणिनीय होता, तो पाणिनि 'आङ्' के लिये अपने पारिभाषिक शब्द का व्यवहार करते, पर 'आङ्' को अविकल रूप मे लेने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यह सूत्र प्राक्पाणिनीय है।

'परवर्ती सूत्र मे पूर्ववर्ती सूत्र के पद के सार्थक्य' का अन्य उदाहरण दिया जा रहा है सूत्र है—अयामन्ताल्वाय्येत्न्विषु (६।४।५५)। इस सूत्र मे अयादेश का विधान सार्थक नही है, निषेधपरक सूत्र (नामन्ताल्वा) ही पर्याप्त रहता, पर चूँकि उत्तरवर्ती 'ल्यपि लघुपूर्वात्' (६।४।५६) सूत्र मे अयादेश की आवश्यकता है इसलिये ५५ वे सूत्रमे अयादेश का विधान किया गया है। जिस व्याकरण की प्रक्रिया मे अयादेश का विधान सार्थक होता, उस व्याकरण का यह सूत्र है, यदि यह पाणिनि का नवनिर्मित सूत्र होता तो ऐसी व्यर्थता नही होती। पूर्वाचार्यों ने भी इस सूत्र को व्याकरणान्तर का ही कहा है। नागेश कहते हैं—अयामन्ता इति सूत्र व्याकरणान्तररीत्यैव सर्वनामस्थानमिति महासंज्ञावत् (विसर्गसन्धिप्रकरण)।

अष्टम कौशल—विशिष्ट शब्दो के ईषत् पृथक् अर्थों मे व्यवहार भी प्रमाणित करता है कि वे स्थल एक आचार्य (पाणिनि) के नही हैं, अपितु विभिन्न प्राक्पाणिनीय आचार्यों के हैं।

चूँकि व्याकरण शब्दो का विश्लेषण करता है और उसका प्रमाण और विषय शब्द ही हैं, इसलिये प्रत्येक सुहृद् आचार्य का कर्तव्य होता है कि वह विशिष्ट शब्दो का जहाँ तक सम्भव हो सके निश्चित अर्थों मे ही व्यवहार करे जिससे अर्थ म सशय उत्पन्न न हो। यदि ऐसा न हो तो 'स्वेच्छया अर्थ-सशयोत्पादक शब्द व्यवहार का कारण' क्या है, यह प्रष्टव्य हो सकता है, क्योकि पृथक् अर्थों मे पृथक् शब्दो का व्यवहार करना ही अधिकतर शोभनीय होता है। इस समस्या का समाधान तभी हो सकता है, जब हम यह मान ले कि कोई एक विशिष्ट शब्द विभिन्न प्राक्पाणिनीय आचार्यों के ग्रन्थो मे थोडे विभिन्न अर्थों मे व्यवहृत होता था (और यह दोषावह नही है, क्योकि आचार्यभेद से

अर्थभेद होने पर प्रत्येक सम्प्रदाय अपने आचार्य द्वारा वर्णित अर्थ का ही ग्रहण करेगा सुतरां अर्थ-साङ्कर्य नहीं होगा) और पाणिनि ने उन सभी स्थलों को अविकल रूप से अर्थ का यथायथ निर्देश किए बिना ग्रहण किया है। निम्नलिखित उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाएगी—

अष्टाध्यायी में 'छन्दस्' शब्द का व्यवहार भिन्न-भिन्न अर्थों में किया गया है—कभी संहिता के लिये कभी मन्त्र-ब्राह्मण-समुदाय के लिये और कभी वृत्त के लिये भी। इस प्रकार का अर्थसांकर्यात्मक शब्दव्यवहार क्या निष्कारण हो सकता है ? क्या इससे बुद्धिव्यामोह नहीं होगा ? क्या माङ्गलिक आचार्य पाणिनि के लिये यह उचित नहीं था कि वे इस प्रकार के स्वरूप अर्थभेदों के लिये भिन्न भिन्न शब्दों का ही प्रयोग करें जिससे अर्थावधारण में संशय या क्लेश न हो। भाष्यकारीय युक्ति के अनुसार हम कह सकते हैं कि चूँकि यह शास्त्र 'सर्ववेदपारिषद' है इस लिये अनेक पूर्वाचार्यों की कृतियाँ इसमें यथासम्भव सन्निविष्ट हो गई हैं। हम यह भी जानते हैं कि एक विशिष्ट शब्द को भिन्न भिन्न आचार्य गण विभिन्न अर्थों में भी ग्रहण करते हैं। व्याकरण में इसका प्रसिद्ध उदाहरण है 'आख्यात' शब्द। किसी व्याकरण में आख्यात का अर्थ है 'केवल धातु' किसी में तिङन्त पद और किसी में तिङ् प्रत्यय'। ऐसा कहना उचित जँचता है कि मूल में आचार्यों के ग्रन्थों में इस शब्द का एक ही अर्थ में नियत व्यवहार था पर पाणिनीय सम्प्रदाय में तीनों अर्थों में ही इस शब्द का व्यवहार है। उपर्युक्त कारण के अतिरिक्त इसका और कोई अन्य बुद्धिग्राह्य समाधान नहीं हो सकता अर्थात् प्राचीन आचार्य के शब्दों को उनके ईप्सित अर्थों में ही पाणिनि ने लिया है पर उनके अनुसार अर्थों का नियमतः निर्देश नहीं किया क्योंकि तात्कालिक समाज में अर्थसाङ्कर्य होने की आशङ्का नहीं थी। अतः पाणिनि ने अर्थ-प्रवर्तन किये बिना ही उन सभी शब्दों का व्यवहार किया अतः पाणिनीय तन्त्र में इस प्रकार का अर्थमिश्रण हो गया है।

नवम कौशल—एक अर्थ के लिये अनेक शब्दों का व्यवहार भी प्रमाणित करता है कि कई स्थलों में वे शब्द एक आचार्य (पाणिनि) के नहीं हैं सुतरां प्राक्पाणिनीय हैं।

पाणिनि ने एक ही अर्थ के लिए अनेक शब्दों का व्यवहार किया है जैसे एक 'द्रव्य' के लिये अधिकरण (५।३।३४) वस्तु (५।४।१९) सत्त्व (१।४।५७) आदि। काव्य में चमत्कारोत्पादनार्थ यदि इस प्रकार का शब्दव्यवहार किया गया होता तो कुछ दोषावह नहीं होता पर व्याकरण में इस प्रकार के

शब्दवैचित्र्य की कोई आवश्यकता है, ऐसा समझ मे नही आता। यद्यपि व्याकरण शास्त्र मे एक परिभाषा है—'पर्यायशब्दाना गुरुलाघवचर्चा नाद्रियते' तथापि निष्प्रयोजन इतने पर्यायो का प्रयोग क्यो किया गया, इस प्रश्न का उत्तर नही मिलता। हो सकता है कि प्रत्येक अवान्तर व्याकरण सम्प्रदाय मे एक एक शब्द का ही प्रचलन था, और चूंकि पाणिनि ने सभी सम्प्रदायो के सूत्रो को अपने शास्त्र मे यथासम्भव ले लिया, अतः अनेक पर्यायो का प्रयोग उनके शास्त्र मे दिखाई पडता हैं।

यदि यह तर्क किया जाए कि वैचित्र्यमात्र के लिये ही पाणिनि ने एक अर्थ में अनेक शब्दो का व्यवहार किया है, क्योकि पाणिनि विचित्र शैली-प्रिय थे। पतञ्जलि कहते है—'एवमर्थ खल्वपि आचार्यश्चित्रयति, क्वचिदर्था-नादिशति, क्वचिन्नेति'। इसकी व्याख्या मे कैयट ने कहा है—'अनेकमार्ग-माश्रयतीत्यर्थ' (द्र० भाष्य ३।१।१९)। अत' अनेक शब्दो का प्रयोग प्राक्पाणिनीयत्व का ज्ञापक नही है तो उत्तर यह है कि यद्यपि सामान्य शब्दो के लिये यह तर्क कथञ्चित् सङ्गत हो भी जाए, पर एक अर्थ के लिये अनेक पारिभाषिक शब्दो का व्यवहार अवश्य ही प्रमाणित करता है कि वे शब्द पाणिनि के नहीं हो सकते। यथा—वैकल्पिकत्व के लिये पाणिनि ने वा, विभाषा, विभाषित तथा अन्यतरस्याम् इन चार पारिभाषिक शब्दो का व्यवहार किया है यदि इन चार शब्दो के अर्थो मे कुछ भी विलक्षणता नही है तो यह मानना अधिकतर युक्त होगा कि ये चार शब्द विभिन्न प्राक्पाणिनीय सम्प्रदायो में प्रचलित थे और पाणिनि ने उन सम्प्रदायो के मतो को लेने के समय उन सब पारिभाषिक शब्दो का भी ले लिया है। भाष्य (२।१।५७) से भी यही बात ध्वनित होती है।

इस प्रसङ्ग मे एक बात अवधानयोग्य है। हम देखते हैं कि व्याकरण शास्त्र मे जितने साप्रदायिक मत हैं, वे किसी न किसी स्थल मे पाणिनीय शास्त्र मे चरितार्थ होते हैं, पाणिनि का अपना नियम ही अपने शास्त्र मे सर्वत्र चरितार्थ होता है, ऐसी बात नही है। यदि पाणिनि का ग्रन्थ सम्पूर्ण नवीन रूप से विरचित होता, तो उनके ग्रन्थ मे जितने शब्दार्थ-प्रयोगसङ्कीर्णात्मक स्थल हैं, वे कदापि न होते। सूत्र-शब्दार्थज्ञान मे जहां जहां सन्देह होता है, उन स्थलो को यदि पाणिनि कुछ विशद रूप से लिखते, तो कुछ भी सन्देह नही होता, जैसा कि कातन्त्रादि नवीन व्याकरणो मे देखा जाता है। पर पाणिनि ने प्राचीन आचार्यों के सूत्रो को (जिनमे वैसा शब्द-प्रयोग था, पर स्वशास्त्र मे

अर्थभेद होने पर प्रत्येक सम्प्रदाय अपने आचार्य द्वारा वर्णित अर्थ का ही ग्रहण करेगा सुतरां अर्थ-साङ्कर्य नहीं होगा) और पाणिनि ने उन सभी स्थलों को अविकल रूप से अर्थ का यथायथ निर्देश किए बिना ग्रहण किया है। निम्नलिखित उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाएगी—

अष्टाध्यायी में 'छन्दस्' शब्द का व्यवहार भिन्न-भिन्न अर्थों में किया गया है—कभी संहिता के लिये कभी मन्त्र-ब्राह्मण-समुदाय के लिये और कभी वृत्त के लिये भी। इस प्रकार का अर्थसाकर्यात्मक शब्दव्यवहार क्या निष्कारण हो सकता है ? क्या इससे बुद्धिव्यामोह नहीं होगा ? क्या माङ्गलिक आचार्य पाणिनि के लिये यह उचित नहीं था कि वे इस प्रकार के स्वल्प अर्थभेदों के लिये भिन्न भिन्न शब्दों का ही प्रयोग करें जिससे अर्थावधारण में संशय या क्लेश न हो। भाष्यकारीय युक्ति के अनुसार हम कह सकते हैं कि चूंकि यह शास्त्र 'सर्ववेदपारिषद' है इस लिये अनेक पूर्वाचार्यों की कृतियां इसमें यथासम्भव सन्निविष्ट हो गई हैं। हम यह भी जानते हैं कि एक विशिष्ट शब्द को भिन्न भिन्न आचार्य थोड़े विभिन्न अर्थों में भी ग्रहण करते हैं। व्याकरण में इसका प्रसिद्ध उदाहरण है 'आख्यात' शब्द। किसी व्याकरण में आख्यात का अर्थ है 'केवल धातु' किसी में 'तिङन्त पद' और किसी में 'तिङ् प्रत्यय'। ऐसा कहना उचित जंचता है कि मूल में आचार्यों के ग्रन्थों में इस शब्द का एक ही अर्थ में नियत व्यवहार था पर पाणिनीय सम्प्रदाय में तीनों अर्थों में ही इस शब्द का व्यवहार है। उपर्युक्त कारण के अतिरिक्त इसका और कोई अन्य बुद्धिग्राह्य समाधान नहीं हो सकता अर्थात् प्राचीन आचार्यों के शब्दों को उनके ईप्सित अर्थों में ही पाणिनि ने लिया है पर उनके अनुसार अर्थों का नियमतः निर्देश नहीं किया क्योंकि तात्कालिक समाज में अर्थसाङ्कर्य होने की आशङ्का नहीं थी। अतः पाणिनि ने अर्थ-प्रदर्शन किये बिना ही उन सभी शब्दों का व्यवहार किया अतः पाणिनीय तन्त्र में इस प्रकार का अर्थमिश्रण हो गया है।

नवम कौशल—एक अर्थ के लिये अनेक शब्दों का व्यवहार भी प्रमाणित करता है कि कई स्थलों में वे शब्द एक आचार्य (पाणिनि) के नहीं हैं सुतरां प्राक्पाणिनीय हैं।

पाणिनि ने एक ही अर्थ के लिये अनेक शब्दों का व्यवहार किया है जैसे एक 'द्रव्य' के लिये अधिकरण (५।३।१४) अणु (१।४।९), सत्त्व (१।४।५७) आदि। काव्य में चमत्कारोत्पादनार्थ यदि इस प्रकार का शब्दव्यवहार किया जाए तो वह दोषावह नहीं होगा। पर व्याकरण में इस प्रकार के

पाणिनि के दो सूत्र है—'दिवो द्यावा, दिवसश्च पृथिव्याम्' (६।३।२९-३०) जो संहिता पाठ मे एक वैदिक छन्द (त्रिष्टुप्) बनता है। यहाँ लक्ष्य करने की बात यह है कि ६।३।३० सूत्रीय 'दिवस' शब्द का अन्तिम अवर्ण निरर्थक है (अकारोच्चारण सकारस्य विकाराभावप्रतिपत्त्यर्थम्—काशिका) और लाघव के लिये पाणिनि को 'दिवम्' कहना चाहिए था पर पाणिनि ने वैसा नही किया। अवर्णघटित पाठ करने मे एक छन्द बनता है, और ऐसा कहना निष्प्रयोजन भी है. पुन जब पाणिनि उस शब्द-योजना को मानते है, तब हमको अनुमान करना पडता है कि उपर्युक्त वचन किसी प्राक्पाणिनीय श्लोकबद्ध व्याकरण मे था, और पाणिनि ने अविकल रूप से उस वचन को अपने ग्रन्थ मे ले लिया है।

यदि सूक्ष्म विचार किया जाए तो पहला उदाहरण (हरतेर्दृतिनाथयोः पशौ) भी प्राक्पाणिनीय व्याकरण मे अनुकृत ही सिद्ध होता है। अनेक सूत्रो में (यथा ३।२।१३ आदि) उपपद के बाद धातु का उल्लेख मिलता है, पर इस सूत्र मे धातु के बाद उपपद है और इसीलिये यह सूत्र छन्दोमय बन गया है। प्रयोग मे चूँकि उपपद के बाद धातु आता है, अत सूत्र मे भी वैसी ही पदस्थापनरीति होनी चाहिए, और अष्टाध्यायी मे यह रीति है भी, पर यदि कोई सूत्र श्लोकबद्ध हो, तो सर्वत्र एक प्रकार की ही पद-स्थापन-प्रणाली नहीं अपनाई जा सकती।

इस विषय का अन्य उदाहरण भी है। पाणिनि का सूत्र है—'पक्षिमत्स्य-मृगान् हन्ति, परिपन्थ च तिष्ठति' (८।४।३५–३६)। ये दो सूत्र अनुष्टुप् छन्द का पूर्ण अर्धांश है, और सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन किया जाए तो यह प्रमाणित होगा कि यह अश वस्तुत अनुष्टुप् छन्द मे ही बुद्धिपूर्वक लिखा गया था, स्वतः छन्दोरूप नही बन गया है। इसका कारण यह है कि 'परिपन्थ च तिष्ठति' (४।४।३६) सूत्र मे 'हन्ति' अर्थ का समुच्चय है, अत 'तिष्ठति च' ऐसा प्रयोग करना ही युक्ततर होगा। कोई कारण नही है कि किसी सूत्रग्रन्थ मे इस प्रकार पदो का निरर्थक व्यत्यास किया जाए, जिससे विवक्षित अर्थ का बोध दुर्घट हो जाए। हम यह भी देखते हैं कि 'च' को 'तिष्ठति' के बाद पढने से छन्दः-पतन होता है, और 'तिष्ठति' से पहले पढने से छन्द की रक्षा होती है, (यद्यपि उससे क्रमभङ्ग दोष होता है) अत यह मानना होगा कि छन्द मिलाने के लिये ही 'च' को अपने न्याय्य स्थान से हटाकर रखा गया है। चूँकि ऐसा करना सूत्रशैली के विरुद्ध है, और पाणिनि स्वतः ऐसा नही कर सकते (क्योंकि

यथोपयुक्त सङ्केत रहने के कारण संशयोत्पत्ति नहीं होती थी) अविकल रूप से अनेक स्थलों में से लिया है इस दृष्टि से ही एक शब्द के अनेक अर्थों में प्रयोग तथा अनेक विशिष्ट शब्दों का एक अर्थ में प्रयोग उपपन्न होते हैं।

रचना कौशल—पद्यगन्धि सूत्र प्राक्पाणिनीय है।

संस्कृत साहित्य में अनेक शास्त्रों के मूल ग्रन्थ पद्यबद्ध दिखाई पड़ते हैं तथा प्राचीनतम गद्यग्रन्थों के बहुत अंश पद्यबद्ध हैं। व्याकरण शास्त्र में भी यही बात परिलक्षित होती है। पाणिनि-प्राचीन ऋक्प्रातिशाख्य पद्यबद्ध है तथा अन्य प्रातिशाख्यों में भी पद्यबद्ध अंश मिलते हैं। आचार्य भागुरि का व्याकरण (जो प्राक्पाणिनीय है) पद्यबद्ध है—ऐसा अनुमान होता है। जगदीश तर्कालङ्कार ने शब्दशक्तिप्रकाशिका में 'इति भागुरिस्मृते' कहकर कुछ पद्यबद्ध वचनों का उल्लेख किया है (जो व्याकरणविषयक है) जिससे पूर्वोक्त अनुमान होता है। (अर्वाक्पाणिनीय व्याकरणों में भी श्लोकबद्ध सूत्रों की कमी नहीं है और प्रयोगरत्नमाला व्याकरण तो श्लोक में रचित ही है)। पद्य में रचित होने के कारण अवश्य ही कुछ शब्द गौरवग्रस्त होते हैं[1]। पक्षान्तर में सूत्र रचना की यह विशिष्टता है कि उसमें शब्दबाहुल्य नहीं होता सुतरां यदि कोई सूत्र पद्यगन्धि (पद्य की तरह श्रूयमाण) हो तो मानना पड़ेगा कि वह प्राक्पाणिनीय ग्रन्थ से अविकल रूप में ही लिया गया है। यह अनुमान उन स्थलों पर और बलिष्ठ हो जाता है, जहाँ पद्यगन्धि सूत्रों में कुछ रचना-दोष दृष्ट होते हैं स्व-निर्मित सूत्रों में इस प्रकार के दोषों का होना सम्भव नहीं है। कभी-कभी कुछ सूत्र अनजाने में भी श्लोक की तरह हो जाते हैं पर ऐसे स्थल नगण्य हैं।

उपर्युक्त मत की पुष्टि के लिये कुछ उदाहरण दिए जा रहे हैं यथा—पाणिनि का सूत्र है 'हरतेर्दृतिनाथयोः पशौ' (३.२.२५) यह एक छन्द है जिसका नाम 'वक्त्राभीय' है। शायद यह सूत्र किसी श्लोकबद्ध व्याकरण से अविकल रूप में ले लिया गया हो। पर यदि यह तर्क किया जाए कि यह सूत्र ही है और सहसा वह श्लोक रूप में ही बन गया है तो एक अन्य उदाहरण दिया जा रहा है जो स्पष्टतः श्लोकबद्ध ही था (और इसीलिये उसमें कुछ दोष भी था)। और पाणिनि ने पूर्वाचार्यों के प्रति श्रद्धातिरेक के कारण उसको ले लिया है।

---

[1] —कारिका का श्लोकबद्ध वचन है—'त्यक्ते विभाद् वर्णनिर्देशमात्रम्'। इस पर हरदत्त कहते हैं—'वर्णमात्रनिर्देश इति वक्तव्ये...इति विपरिणितम्। वृत्तभङ्गभयात्तु तस्याने मात्राग्रहणं प्रयुक्तम्' (पदमञ्जरी ७।१।१८)।

पाणिनि के दो सूत्र हैं—'दिवो द्यावा, दिवसश्च पृथिव्याम्' (६।३।२९-३०) जो सहिता पाठ मे एक वैदिक छन्द (त्रिष्टुप्) वनता है। यहाँ लक्ष्य करने की वात यह है कि ६।३।३० सूत्रीय 'दिवस' शब्द का अन्तिम अवर्ण निरर्थक है (अकारोच्चारण सकारस्य विकाराभावप्रतिपत्यर्थम्—काशिका) और लाघव के लिये पाणिनि को 'दिवस्' कहना चाहिए था. पर पाणिनि ने वैसा नही किया। अवर्णघटित पाठ करने से एक छन्द वनता है, और ऐसा कहना निष्प्रयोजन भी है पुन जव पाणिनि उस शब्द-योजना को मानते हैं, तव हमको अनुमान करना पडता है कि उपर्युक्त वचन किसी प्राक्पाणिनीय श्लोकवद्ध व्याकरण मे था, और पाणिनि ने अविकल रूप से उस वचन को अपने ग्रन्थ मे ले लिया है।

यदि सूक्ष्म विचार किया जाए तो पहला उदाहरण (हरतेर्दृतिनाथयोः पशौ) भी प्राक्पाणिनीय व्याकरण से अनुकृत ही सिद्ध होता है। अनेक सूत्रो में (यथा ३।२।१३ आदि) उपपद के बाद धातु का उल्लेख मिलता है, पर इस सूत्र मे धातु के वाद उपपद है और इसीलिये यह सूत्र छन्दोमय वन गया है। प्रयोग मे चूंकि उपपद के वाद धातु आता है, अत सूत्र मे भी वैसी ही पदस्थापनरीति होनी चाहिए, और अष्टाध्यायी मे यह रीति है भी, पर यदि कोई सूत्र श्लोकवद्ध हो, तो सर्वत्र एक प्रकार की ही पद-स्थापन-प्रणाली नहीं अपनाई जा सकती।

इस विषय का अन्य उदाहरण भी है। पाणिनि का सूत्र है—'पक्षिमत्स्य-मृगान् हन्ति, परिपन्थ च तिष्ठति' (४।४।३५–३६)। ये दो सूत्र अनुष्टुप् छन्द का पूर्ण अर्धांश है, और सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन किया जाए तो यह प्रमाणित होगा कि यह अश वस्तुत अनुष्टुप् छन्द मे ही वुद्धिपूर्वक लिखा गया था, स्वत. छन्दोरूप नही वन गया है। इसका कारण यह है कि 'परिपन्थ च तिष्ठति' (४।४।३६) सूत्र मे 'हन्ति' अर्थ का समुच्चय है, अत. 'तिष्ठति च' ऐसा प्रयोग करना ही युक्ततर होगा। कोई कारण नही है कि किसी सूत्रग्रन्थ मे इस प्रकार पदो का निरर्थक व्यत्यास किया जाए, जिससे विवक्षित अर्थ का वोध दुर्घट हो जाए। हम यह भी देखते हैं कि 'च' को 'तिष्ठति' के वाद पढने से छन्द.-पतन होता है, और 'तिष्ठति' से पहले पढने से छन्द की रक्षा होती है, (यद्यपि उसमे क्रमभङ्ग दोष होता है) अत यह मानना होगा कि छन्द मिलाने के लिये ही 'च' को अपने न्याय्य स्थान से हटाकर रखा गया है। चूंकि ऐसा करना सूत्रशैली के विरुद्ध है, और पाणिनि स्वत ऐसा नहीं कर सकते (क्योकि

उससे कोई लाभ नहीं है) अतः मानना होगा कि यह किसी प्राक्पाणिनीय श्लोकबद्ध व्याकरण का वचन है जिसको पाणिनि ने अविकलरूप से अपने शास्त्र में ले लिया है।

जो सूत्र स्वतः पद्यगन्धि हो गया है, वह इस नियम का अपवाद हो सकता है। पर जो बुद्धिपूर्वक श्लोक में ही रचित है वह श्लोकबद्ध प्राक्पाणिनीय व्याकरण का ही वचन है—ऐसा मानने से ही पूर्वोक्त दोष (अर्थात् पदों की भिन्न-क्रमता) का उद्धार हो सकता है।

धातुपाठ में भी पद्यगन्धि स्थल हैं। धातु और उसके अर्थनिर्देशपरक सूत्रों में छन्दोमय स्थल स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। यहाँ तक देखा जाता है कि छन्द के अनुरोध से 'च' अव्यय का प्रयोग भिन्नक्रम हो गया है। यह भिन्नक्रमता यही सिद्ध करती है कि ऐसे वचन किसी प्राचीन पद्यमय धातुग्रन्थ के अविकल अनुकरणभूत हैं (द्र० अस्मदीय क्षीरतरङ्गिणी की भूमिका पृ २०-२१)।

प्राक्पाणिनीय सामग्री के अनुसन्धान सम्बन्धी यह विचार अभी प्राथमिक अवस्था में है। प्राचीन व्याख्याग्रन्थों के मिलने पर यह विचार दृढ़तर होगा, यह निश्चित है।

चतुर्थ परिच्छेद

क्या पाणिनीय व्याकरण 'अष्टधा व्याकरण' में अन्यतम है ?

'अष्टधा व्याकरण' मे पाणिनीय व्याकरण अन्यतम है, ऐसी प्रसिद्धि है। आधुनिक विद्वान् 'अष्टधा' का अर्थ आठ व्याकरण (=आठ व्याकरण-ग्रन्थ, आठ व्याकरण-सम्प्रदाय, आठ व्याकरण-प्रवक्ता) करते है। यह अर्थ कहाँ तक युक्ति-युक्त है तथा 'अष्टधा व्याकरण' का प्रकृत तात्पर्य क्या है, यह इस परिच्छेद मे विवृत होगा।

अष्टधा व्याकरण का उल्लेख दुर्गकृत निरुक्त टीका मे (आनन्दाश्रम-सस्क० १।२० ख०) मिलता है[1]। इससे प्राचीन ग्रन्थ मे ऐसा उल्लेख अभी तक नही मिला है। यदि इसका अर्थ आठ व्याकरण-ग्रन्थ लिया जाए, तो प्रश्न होगा कि ये व्याकरण कौन-कौन हैं। दुर्ग ने जिस रूप से अष्टधा व्याकरण का उल्लेख बार-बार किया है (व्याकरणम् अष्टप्रभेदकम् १।१३ ख०, व्याकरणेऽपि अष्टधा भिन्ने, १।१४ ख०) इससे इस प्रसिद्धि की सार्वत्रिकता अनुमित होती है। दुर्गकाल मे यदि कोई निश्चित आठ व्याकरण प्रसिद्ध होते, तो अन्यत्र भी इन आठो के नामो का अनुस्मरण होता। पर, दुर्ग के बाद के व्याकरण-ग्रन्थो मे आठ व्याकरणो की कोई निश्चित परम्परा प्रलब्ध नही मिलती।

अष्टधा व्याकरण का पूर्वोक्त प्रचलित अर्थ लेने पर दुर्ग से प्राचीन शब्द-विद्या के ग्रन्थो मे भी कही आठ शब्दविदो की कोई परम्परा मिलनी चाहिए, पर निरुक्त-सम्बन्धी अन्यान्य ग्रन्थो मे तथा प्रातिशाख्यादि मे कही भी इस परम्परा का अणुमात्र उल्लेख नही मिलता। महाभारत (शान्तिपर्व २०१।८), रामायण (किष्किन्धा ३।२९, उत्तर ३६।४४), गोपथब्राह्मण (१।१।१४), मुण्डकोपनिषद् (१।१।५) आदि मे व्याकरण-शास्त्र बहुधा उल्लिखित है, पर व्याकरण-सम्बन्धी इस महत्त्वपूर्ण सूचना का सकेत कही भी नही मिलता है।

१—वेद तावदेक सन्त व्यासेन समाम्नातवन्त.। तद् यथा एकविंशतिधा बाह्वृच्यम् वेदाङ्गान्यपि। तद् यथा व्याकरणमष्टधा निरुक्त चतुर्दशधेत्येवमादि (दुर्गटीका १।२० ख०)।

उससे कोई लाभ नहीं है) अतः मानना होगा कि यह किसी प्राक्पाणिनीय श्लोकबद्ध व्याकरण का वचन है जिसको पाणिनि ने अविकलरूप से अपने शास्त्र में ले लिया है।

जो सूत्र स्वतः पद्यगन्धि हो गया है, वह इस नियम का अपवाद हो सकता है। पर जो बुद्धिपूर्वक श्लोक में ही रचित है वह श्लोकबद्ध प्राक्पाणिनीय व्याकरण का ही वचन है—ऐसा मानने से ही पूर्वोक्त दोष (अर्थात् पदों की भिन्न-क्रमता) का उद्धार हो सकता है।

धातुपाठ में भी पद्यगन्धि स्थल हैं। धातु और उसके अर्थनिर्देशपरक सूत्रों में छन्दोमय स्थल स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। यहाँ तक देखा जाता है कि छन्द के अनुरोध से 'च' अव्यय का प्रयोग भिन्नक्रम हो गया है। यह भिन्नक्रमता यही सिद्ध करती है कि ऐसे वचन किसी प्राचीन पद्यमय धातुग्रन्थ के अविकल अनुकरणभूत हैं (द्र० अस्मदीय क्षीरतरंगिणी की भूमिका पृ० २०-२१)।

प्राक्पाणिनीय सामग्री के अनुसन्धान सम्बन्धी यह विचार अभी प्राथमिक अवस्था में है। प्राचीन व्याख्याग्रन्थों के मिलने पर यह विचार दृढ़तर होगा, यह निश्चित है।

स्पष्ट है। क्या चन्द्र, अमर प्रभृति आदि-शाब्दिकों मे गिने जा सकते है ? यदि आदि का अर्थ मुख्य माना जाए, तो भी यह सदोष है, क्योंकि वोपदेव ने शर्ववर्मसदृश शाब्दिक की गणना नही की है। यदि काशकृत्स्न-आपिशलि की गणना हो सकती है, तो काश्यप, चाक्रवर्मण आदि वैयाकरणों की गणना क्यो नहीं हो सकती ? यदि चन्द्र की गणना की जा सकती है, तो भोजदेव की गणना क्यों नही की गई है ? यह स्पष्ट है कि भास्करादि के समय से आठ व्याकरण की प्रसिद्धि[1] प्रचलित हो जाने के कारण वोपदेव ने स्वकल्पना के आधार पर यथेच्छ आठ शाब्दिकों के नाम गिना दिए है[2]।

फिर भी, यह सोचना चाहिए कि 'अष्टौ' या 'अष्ट' का जो अर्थ है, 'अष्टधा' का वह अर्थ नही है। कहीं से भी परस्पर सम्यक्पृथक् आठ व्याकरणों को मिलाकर 'अष्ट व्याकरणानि' कहा जा सकता है। हम कहीं से छह दर्शनग्रन्थो को मिलाकर 'षड् दर्शनानि' कह सकते हैं (हरिभद्रसूरि के षड्दर्शन की गणना प्रचलित गणना से पृथक है, द्र० षड्दर्शनसमुच्चयग्रन्थ)। पर, 'दर्शन छह प्रकार के हैं', कहने पर उसका छह प्रकार निश्चित होने चाहिएं। 'अष्टधा ब्राह्मणम्' आदि मे किसी एक दृष्टि के अनुसार ब्राह्मणग्रन्थ-प्रकार की गणना निश्चित रूप से की जाती है, यह ज्ञातव्य है (तै० आ० ८ । २ का सायण भाष्य)।

'धा' प्रत्यय पर विचार करने से यह दृष्टि स्पष्ट होगी। पाणिनि के 'सख्याया विधार्थे धा' (५ । ३ । ४२) सूत्र से धा प्रत्यय विहित होता है। नागेश ने कहा है—विधाशब्दस्य अर्थश्च सामान्यस्य भेदकविशेषरूप प्रकार' (शब्देन्दुशेखर), बृहत्शब्देन्दु मे भी 'सामान्यस्य भेदको विशेष प्रकार' माना गया है (पृ० १४९३)। प्रदीप-उद्द्योत टीका मे उदाहरण देकर समझाया गया है कि 'पञ्चधा श्लोक'' का अर्थ होगा कि 'पञ्चप्रकार श्लोक' और छन्द आदि भेदो के अनुसार 'प्रकारो' की कल्पना की जाएगी। उसी प्रकार, व्याकरणमष्टधा' कहने पर व्याकरण-रूप एक सामान्य पदार्थ के आठ विशेष समझे जाएँगे। इन विशेषो

१—'अष्टव्याकरण' की प्रसिद्धि होने के कारण दिग्गज वैयाकरणो के लिये 'अष्टव्याकरणज्ञाता' रूप विशेषण देने की परिपाटी चल पड़ी थी। भट्टोजि के गुरु शेषकृष्ण के लिये 'अष्टव्याकरणीनिबन्धचतुर' विशेषण जाता था, ऐसी प्रसिद्धि है।

२—भास्कर-दृष्ट आठ व्याकरण, आपिशलि-काशकृत्स्न-इन्द्र के नही हो सकते। इनके ग्रन्थ भास्कर से बहुत पहले ही नष्ट हो चुके हैं।

स्पष्ट है। क्या चन्द्र, अमर प्रभृति आदि-शाब्दिको मे गिने जा सकते है ? यदि आदि का अर्थ मुख्य माना जाए, तो भी यह सदोष है, क्योकि वोपदेव ने शर्ववर्मसदृश शाब्दिक की गणना नही की है। यदि काशकृत्स्न-आपिशलि की गणना हो सकती है, तो काश्यप, चाक्रवर्मण आदि वैयाकरणो की गणना क्यो नही हो सकती ? यदि चन्द्र की गणना की जा सकती है, तो भोजदेव की गणना क्यो नही की गई है ? यह स्पष्ट है कि भास्करादि के समय से आठ व्याकरण की प्रसिद्धि[1] प्रचलित हो जाने के कारण वोपदेव ने स्वकल्पना के आधार पर यथेच्छ आठ शाब्दिको के नाम गिना दिए है[2]।

फिर भी, यह सोचना चाहिए कि 'अष्टौ' या 'अष्ट' का जो अर्थ है, 'अष्टधा' का वह अर्थ नही है। कही से भी परस्पर सम्यक्पृथक् आठ व्याकरणो को मिलाकर 'अष्ट व्याकरणानि' कहा जा सकता है। हम कही से छह दर्शनग्रन्थो को मिलाकर 'षड् दर्शनानि' कह सकते हैं (हरिभद्रसूरि के षड्दर्शन की गणना प्रचलित गणना से पृथक है, द्र० षड्दर्शनसमुच्चयग्रन्थ)। पर, 'दर्शन छह प्रकार के हैं', कहने पर उसका छह प्रकार निश्चित होने चाहिएँ। 'अष्टधा ब्राह्मणम्' आदि मे किसी एक दृष्टि के अनुसार ब्राह्मणग्रन्थ-प्रकार की गणना निश्चित रूप से की जाती है, यह ज्ञातव्य है (तै० आ० ८। २ का सायण भाष्य)।

'धा' प्रत्यय पर विचार करने से यह दृष्टि स्पष्ट होगी। पाणिनि के 'सख्याया विधार्थे धा' (५। ३। ४२) सूत्र से धा प्रत्यय विहित होता है। नागेश ने कहा है—विधाशब्दस्य अर्थश्च सामान्यस्य भेदकविशेषरूप' प्रकार (शब्देन्दुशेखर), बृहत्शब्देन्दु मे भी 'सामान्यस्य भेदको विशेष प्रकार' माना गया है (पृ० १४९३)। प्रदीप-उद्द्योत टीका मे उदाहरण देकर समझाया गया है कि 'पञ्चधा श्लोक' का अर्थ होगा कि 'पञ्चप्रकार श्लोक' और छन्द आदि भेदो के अनुसार 'प्रकारो' की कल्पना की जाएगी। इसी प्रकार, 'व्याकरणमष्टधा' कहने पर व्याकरण-रूप एक सामान्य पदार्थ के आठ विशेष समझे जाएँगे। इन विशेषो

१—'अष्टव्याकरण' की प्रसिद्धि होने के कारण दिग्गज वैयाकरणो के लिये 'अष्टव्याकरणज्ञाता' रूप विशेषण देने की परिपाटी चल पड़ी थी। भट्टोजि के गुरु शेषकृष्ण के लिये 'अष्टव्याकरणीनिबन्धचतुर' विशेषण जाता था, ऐसी प्रसिद्धि है।

२—भास्कर-दृष्ट आठ व्याकरण आपिशलि-काशकृत्स्न-इन्द्र के नही हो सकते। इनके ग्रन्थ भास्कर से बहुत पहले ही नष्ट हो चुके है।

को मिलाने से वस्तु पूर्ण हो जाएगी और ये विशेष या भेद परस्पर पृथक होते हुए भी एकजाति-समन्वित ही रहेंगे।

यदि हम अष्टधा का 'आठ' अर्थ कर विभिन्न आठ व्याकरणों को लें तो क्या उन आठों को किसी व्याकरण-सामान्य के आठ विशेष मान सकते हैं? सभी व्याकरणों के अनेक विषय परस्पर-समान हैं, अतः प्रत्येक व्याकरण को व्याकरण-सामान्य का विशेष नहीं कहा जा सकता है, फिर इन आठ व्याकरणों को मिलाने से व्याकरण-सामान्य पूर्ण भी नहीं हो जाता है। वस्तुतः व्याकरण-रूप एक सामान्य के आठ विशेषों को लक्ष्यकर 'अष्टधा व्याकरण' कहा गया है। प्रश्न होगा यह व्याकरण-सामान्य क्या है। व्याकरण विद्याविशेष का नाम है। मुण्डक १।१।४-५ में अपरा विद्या की गणना में व्याकरण का नाम आया है। चतुर्दश या अष्टादश विद्या-गणना के अन्तर्गत व्याकरण भी है। वस्तुतः, व्याकरण आदि शब्दों का मौलिक अर्थ विद्याविशेष ही है। पतञ्जलि के व्याकरणं नामेयमुत्तरा विद्या (महाभाष्य १।२।३२) वाक्य भी इस विषय में द्रष्टव्य है।

शब्दशास्त्र के अनुसार अष्टधा व्याकरण का अर्थ होगा—'व्याकरण-विद्या' के आठ प्रकार। विद्या किसी विषय से ही संबद्ध होगी अतः 'शब्द-विद्या के आठ विभाग अथवा प्रमेय', यह अष्टधा व्याकरण का अर्थ निर्गमित होगा। हम समझते हैं कि अर्वाचीन काल में यह अर्थ अप्रसिद्ध हो गया था और इसीलिये भ्रम से 'आठ व्याकरण' या 'आठ शाब्दिकों की सूची' कल्पित की गई थी।

अष्टधा व्याकरण का यह अर्थ कल्पित नहीं है। यदि हम 'अष्टधा आयुर्वेद' से इस वाक्य की तुलना करें तो इसकी सत्यता ज्ञात होगी। 'अष्टधा' का यह अर्थ नहीं है कि आयुर्वेद ग्रन्थ या आयुर्वेद के आठ सम्प्रदाय या आठ आयुर्वेद के आचार्य। इसका अर्थ है—आयुर्वेद के अन्तर्गत आठ विषय जिनको अङ्ग भी कहा जाता है। विष्णुपुराण ४।८।४ में 'अष्टधा आयुर्वेदं करिष्यसि' वाक्य है जिसका अर्थ है—अष्टप्रकारम् (टीका)। टीकाकार श्रीधर ने यहाँ इन आठ अङ्गों की गणना भी दी है। सुश्रुत सूत्रस्थान १।३ हरिवंश पुराण १।२९।२७ काश्यप संहिता विमानस्थान पृष्ठ ४२ चरक सूत्रस्थान ३०।२८ आदि में अष्टधा आयुर्वेद का निर्देश है। किसी विषय के प्रकारान्तर भेद अङ्गों के अङ्ग या किसी जाति के अन्तर्गत श्रेणी इत्यादि प्रकारों के प्रत्यक्षार्थ विधासम्य या धा प्रत्यय प्रयुक्त होता है। 'अष्टविध ब्राह्मण' का अर्थ है—(वैदिक) ब्राह्मण-वाक्य के विषयानुसार विभाग विविध मन्त्र का अर्थ है—रचना-दृष्टि से मन्त्र की पृथक् तीन शैलियाँ

आदि। धा या विध के स्थान पर अङ्ग शब्द का भी प्रयोग होता है—'अष्टाङ्ग आयुर्वेद' प्रयोग इस विषय मे प्रसिद्ध है। अष्टाङ्ग अर्घ्य का अर्थ है—अर्घ्य-रूप अवयवी के आठ अवयव। अष्टाङ्ग प्रणाम आदि भी इस विषय मे उदाहार्य हैं। चतुर्विध प्रजा कहने पर जन्म प्रकार की दृष्टि से प्राणियो के चार प्रकार का विभाग ज्ञात होता है (चरक, शारीरस्थान ३।२३)। इसी दृष्टि मे व्याकरण (=शब्दान्वाख्यानविद्या) के आठ अवान्तर विषयो को लक्ष्यकर 'अष्टधा व्याकरण' कहा गया है।

अब प्रश्न होगा कि व्याकरण-विद्या के आठ अङ्ग कौन-कौन हैं ? प्रचलित व्याकरण ग्रन्थो मे इस विषय मे कुछ चर्चा नही मिलती है। वाक्यपदीय मे 'अपोद्धारपदार्था   ये साध्वसाधुपु' पर्यन्त दो कारिकाएँ मिलती हैं (१।२४-२५)। इसके अनुसार अर्थ-शब्द-सम्बन्ध-प्रयोजन ये चार द्विविध होकर अष्टविध हो जाते हैं, और इस प्रकार 'अष्टपदार्थी' रूप 'व्याकरण-शरीर' निष्पन्न होता है। वृषभदेव इन श्लोको की टीका मे कहते हैं—तदेव शब्दार्थसम्बन्धफलाना प्रत्येक द्वैविध्याद् अष्टौ पदार्था भवन्ति, एतच्च शास्त्रशरीरम् (लवपुर-सस्करण, पृ० ३६)।

हमारी दृष्टि मे अष्टधा व्याकरण का यह तात्पर्य हो सकता है। इस अष्टधा विभाजन मे प्रत्येक विभाग परस्पर असकीर्ण होता है और इन आठो विभागो से व्याकरण पूर्ण हो जाता है।

अन्य दृष्टि से भी व्याकरण के आठ अङ्ग कल्पित किए जा सकते हैं। नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात—इन चारो को नित्य और कार्य-भेद से द्विविध मानकर आठ प्रकार के 'पद' माने जा सकते है। पर व्याकृति-दृष्टि से इस विभाग की उपादेयता कुछ प्रतीत नही होती। 'चत्वारि शृङ्गा ' मन्त्र की वैयाकरणपक्षीय व्याख्या के अनुसार ऐसी कल्पना की जा सकती है। यहाँ चार प्रकार के पद (शृङ्ग) तथा उनके भेद (शीर्ष) माने गए हैं[1] और इस प्रकार आठ प्रकार के पद माने जा सकते हैं। पर, इस विभाग की कोई भी व्यावहारिक उपयोगिता प्रतीत नही होती है।

व्यावहारिक दृष्टि से भी व्याकरण के आठ विभाग हो सकते हैं। व्याकरण का सम्बन्ध मुख्यत पद से है, वर्ण या वाक्य से नही, और इसीलिए व्याकरण को 'पदशास्त्र' कहा जाता है। 'पदवाक्यप्रमाण' मे पद का अर्थ व्याकरण है। हम

१—पस्पशाह्निक मे पतञ्जलि ने चत्वारि शृङ्गा. (ऋग्० ४।५८।३) मन्त्र की ऐसी व्याख्या की है—चत्वारि शृङ्गेति चत्वारि पदजातानि नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च   द्वे शीर्षे द्वौ शब्दात्मानौ नित्य कार्यश्च।

द्वितीयाध्याय के आरम्भ मे ही 'अथ निर्वचनम्' कहकर यास्क ने निर्वचन के आधारभूत नियम कहे है। ये नियम सख्या मे १४ हैं, यथा—

(१) प्रत्तमवत्तमिति धात्वादी एव शिष्येते, (२) अथाप्यस्तेः . आदिलोपो (३) अथाप्यन्तलोपो .. , (४) अथाप्युपधालोपः, (५) अथाप्युभाविकारो ...., (६) अथापि वर्णलोपो , (७) अथापि द्विवर्णलोप. , (८) अथाप्यादिविपर्ययो , (९) अथाप्याद्यन्त-विपर्ययो , (१०) अथाप्यन्तव्यापत्ति .. ., (११) अथापि वर्णोपजन, (१२) अथापि भापिकेभ्यो , (१३) अथापि नैगमेभ्यो भाषिकाः, (१४) अथापि प्रकृतय. ।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि इसके वाद ही यास्क एवमेकपदानि निर्ब्रूयात्' कहकर प्रकरण की समाप्ति करते हैं। यह भी द्रष्टव्य है कि प्रत्येक नियम के आगे 'अथापि' कहा गया है, जो पृथक्-पृथक् रीति के आरम्भ करने का ज्ञापक शव्द है। हम समझते हैं कि ये ही १४ प्रकार के निरुक्त (निर्वचन रीति) हैं।

शास्त्र के विषय मे इस प्रकार की उक्तियाँ वहुत मिलती हैं। 'त्रिधा ज्योतिपम्' 'कल्प त्रिधा' आदि वाक्य इस प्रसग मे उदाहार्य है। यहाँ जिस प्रकार ज्योतिप और कल्प के तीन भाग विवक्षित हैं, उसी प्रकार व्याकरण के क्षेत्र मे भी समझना चाहिए। मूल मे विद्या के एतादृश भेद होने के कारण वाद मे प्रत्येक भेद को लेकर पृथक् सप्रदाय प्रवर्तित हुए हो तथा पृथक् प्रस्थान (ग्रन्थ) निश्चित हुए हो तो यह कोई आश्चर्य की वात नही है।

अन्त मे हम स्पष्ट कह देना चाहते हैं कि अष्टधा और चतुर्दशधा सम्वन्धी यह विचार अभी भी परीक्षणीय है। प्राचीनतर सामग्री के मिलने से यह विचार और अधिक प्रतिष्ठित होगा।

पञ्चम परिच्छेद

'छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ति' का प्रकृत तात्पर्य

वैयाकरण सम्प्रदाय में 'छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ति' (सूत्रीय शब्द का रूप वैदिक शब्दवत् होता है) नामक एक वाक्य सुप्रसिद्ध है। वृद्धिरादैच् (१।१।१) सूत्रभाष्य के प्रारम्भ में पतञ्जलि ने कहा है—'छन्दसीत्युच्यते, न चेदं छन्दः छन्दोवत्सूत्राणि भवन्ति'। वृद्धिरादैच् सूत्र में ऐच् पद में 'चोः कुः' (८।२।३०) सूत्र द्वारा कुत्व होना चाहिए, पर 'प्रयस्त्यादीनि छन्दसि' वाक्य से 'च' सञ्ज्ञा मानकर कुत्व का निषेध किया गया है। जब प्रश्न हुआ कि पाणिनि का सूत्र छन्द (वेद) नहीं है तब उत्तर दिया गया कि सूत्र 'छन्दोवत्' होते हैं, अतः वैदिक प्रयोगों में जो कार्य (अर्थात् व्याकरणीय विधि का व्यत्यय) होते हैं, वे व्याकरण के सूत्रों पर भी लागू होंगे[1]।

हमारी दृष्टि में भाष्यकार का यह समाधान संशयास्पद है और 'छन्दवत् सूत्राणि भवन्ति' का प्रयोग यहाँ अस्थान में किया गया है। इस विषय में निम्नोक्त विचार द्रष्टव्य है—

उपर्युक्त भाष्यवाक्य की व्याख्या में कैयट कहते हैं कि 'छन्दोवत्सूत्राणि' का लक्ष्य व्याकरणसूत्र है क्योंकि व्याकरण वेदाङ्ग है वैशेषिक आदि सूत्रों पर यह नियम लागू नहीं होता।

विचारने पर कैयट का यह कथन असङ्गत जान पड़ता है क्योंकि वैशेषिक-सूत्र में भी छन्दोवत् प्रयोग मिलता है यथा—

'इत्यायुगपत् संयोगविशेषाः' (वैशेषिक सूत्र ५।१।१६) की व्याख्या में शङ्करमिश्र लिखते हैं—इत्याविति षष्ठ्यर्थे सप्तमी। यहाँ विभक्तिव्यत्यय है जो

१—अन्यथाविभक्तित्व या विभक्तिशून्यता आदि की सङ्गति भी 'छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ति' मानकर किया जाता है (द्र० प्रक्रियासर्वस्व संज्ञाखण्ड पृ० १२)।

छान्दस प्रयोगवत् है [१]।

किञ्च, व्याकरण जिस प्रकार वेद का अङ्ग है, वैशेषिक उसी प्रकार एक उपाङ्ग है (षट् दर्शन उपाङ्ग कहलाते हैं)[२]। अङ्ग होने के कारण व्याकरण मे 'छन्दोवत्' न्याय प्रवृत्त होगा और उपाङ्ग होने के कारण वैशेषिक मे वह न्याय प्रवृत्त नही होगा, इसका कोई विनिगमक नही मिलता। विशेषकर जब वैशेषिकसूत्र मे व्यत्ययग्रस्त प्रयोग मिलते हैं और उन प्रयोगो की साधुता के लिये 'छन्दोवत् सूत्राणि' न्याय को लगाना पडता है। यदि अन्य किसी न्याय से वैशेषिकगत वेदवत्प्रयोगो (अर्थात् विभक्ति-कारक-लिङ्-सुप् आदि का व्यत्यय) की उपपत्ति की जा सके, तो उस न्याय से ही व्याकरणसूत्रगत वेदवत्प्रयोगो की भी उपपत्ति की जा सकेगी। 'छन्दोवत्सूत्राणि' न्याय को व्याकरण सूत्र के लिये प्रयुक्त करना अनावश्यक ही है।

इसके साथ यह भी विचार्य है कि पाणिनि के कुछ सूत्रो मे उनके ही सूत्रो के अनुसार कार्यों का व्यत्यय देखा जाता है। ऐसे स्थलो मे व्याख्याकार 'छन्दोवत्सूत्राणि' न्याय का प्रयोग एकान्तत नही करते। ऐसे स्थलो पर इस न्याय का प्रयोग करना सरल होता, तथा लाघव भी होता, पर ऐसे व्यत्ययग्रस्त शब्दो को निपातन सिद्ध (पाणिनिव्यवहारसिद्ध कहकर व्याख्याकार उनकी साधुता स्वीकार करते हैं। यथा—

१—अन्यान्य दर्शनसूत्रो मे तथा शिक्षादि अङ्गो मे व्यत्ययग्रस्त प्रयोग हैं या नही, यह एक अनुसन्धेय विषय है। 'अन्यतमस्मिन्' प्रयोग आपिशलिशिक्षा (८।१) में है—अन्यतमस्मिन् स्थाने विधार्यते। पाणिनि के अनुसार अन्यतम सर्वनाम नही है, अत इस शिक्षासूत्रवचन की साधुता के लिये भी 'छन्दोवत्—' न्याय मानना होगा। निरुक्त मे 'धामानि त्रयाणि भवन्ति' वाक्य है (९।२८ ख०)। त्रयाणि पद अपाणिनीय है, अत इसकी सिद्धि भी इस न्याय से करनी होगी (यद्यपि यह कोई 'सूत्र' नही है)। दर्शनसूत्रीय प्रयोग की साधुता पर भी क्वचित् सशय दृष्ट होता है। योगसूत्र (४।५) मे उक्त 'अनेकेषाम्' पद की सर्वनामता एवं बहुवचनयुक्तता पर सशय का अवकाश है (द्र० माधवीय-धातुवृत्ति इण गतौ धातु, मेधातिथिभाष्य ५।१५९)।

२—प्रतिपदमनुपद छन्दोभाषा धर्मो मीमासा न्यायतर्का इत्युपाङ्गानि (चरणव्यूह, कण्डिका २)। प्रस्थानभेद मे दर्शनो का उपाङ्गत्व स्वीकृत हुआ है।

पञ्चम परिच्छेद

'छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ति' का प्रकृत तात्पर्य

वयाकरण सम्प्रदाय में छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ति' (सूत्रीय शब्द का रूप वैदिक शब्दवत् होता है) नामक एक वाक्य सुप्रसिद्ध है। वृद्धिरादैच् (१।१।१) सूत्रभाष्य के प्रारम्भ में पतञ्जलि ने कहा है—'छन्दसीत्युच्यते, न चेदं छन्दः छन्दोवत्सूत्राणि भवन्ति। वृद्धिरादैच् सूत्र में ऐच् पद में 'चो कु (८।२।३० सूत्र द्वारा कुत्व होना चाहिए, पर अयस्मयादीनि छन्दसि वाक्य से 'भ' सञ्ज्ञा मानकर कुत्व का निषेध किया गया है। अब प्रश्न हुआ कि पाणिनि का सूत्र छन्द (वेद) नहीं है तब उत्तर दिया गया कि सूत्र 'छन्दोवत् होते हैं अतः वैदिक प्रयोगों में जो कार्य (अर्थात् व्याकरणीय विधि का व्यत्यय) होते हैं, वे व्याकरण के सूत्रों पर भी लागू होंगे[1]।

हमारी दृष्टि में भाष्यकार का यह समाधान संशयास्पद है और 'छन्दवत् सूत्राणि भवन्ति' का प्रयोग यहाँ अस्थान में किया गया है। इस विषय में निम्नोक्त विचार द्रष्टव्य है—

उपर्युक्त भाष्यवाक्य की व्याख्या में कैयट कहते हैं कि 'छन्दोवत्सूत्राणि' का लक्ष्य व्याकरणसूत्र है क्योंकि व्याकरण वेदाङ्ग है वैशेषिक आदि सूत्रों पर यह नियम लागू नहीं होता।

विचारने पर कैयट का यह कथन असङ्गत जान पड़ता है क्योंकि वैशेषिक-सूत्र में भी छन्दोवत् प्रयोग मिलता है यथा—

'इच्छायुगपत् संयोगविशेषा' (वैशेषिक सूत्र ५।१।१६) की व्याख्या में शङ्करमिश्र लिखते हैं—इच्छाविति षष्ठ्यर्थे सप्तमी। यहाँ विभक्तिव्यत्यय है जो

१—अव्ययादिविभक्तित्व या विभक्तिशून्यता आदि की सङ्गति भी 'छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ति' मानकर किया जाता है (द्र० प्रक्रियासर्वस्व संज्ञाप्रकरण पृ० १२)।

करने के लिये एक आपातरमणीय समाधान दे दिया है। यह भी हो सकता है कि पतञ्जलि को छन्दोवत् वचन का परम्परागत अर्थ ज्ञात न हो और अस्थान मे इस वचन का प्रयोग उन्होने कर दिया हो (यद्यपि अभी ऐसा कहना समीचीन नही है)।

उपर्युक्त प्रकृत अर्थ कात्यायनीय प्रतिज्ञासूत्र परिशिष्ट से ज्ञात होता है। प्रतिज्ञासूत्र परिशिष्ट का सूत्र है—तानस्वराणि छन्दोवत् सूत्राणि (१।९)। अनन्तदेव भाष्य में इसकी इस प्रकार व्याख्या करते है—'सूत्राणि कल्पाख्यानि छन्दोवत् छन्दसा तुल्यानि स्वरसस्कारनियमेनेति शेष। छन्दसि नियमस्तथा सूत्रेष्वपि तन्नियमो भवति वेदाङ्गत्वात्। सूत्रोपादानात् शृङ्गग्राहिकन्यायेन इतरेषु वेदाङ्गेषु छन्दादिषु स्वरसस्कारो नियमेन भवतीति गम्यते। छन्दोवत् इत्यत्र तेन तुल्यमिति भवति नोदात्तादीमप्याक्षेपो भविष्यतीत्युक्त तानस्वराणीति'। इसमे स्पष्ट है कि कल्पसूत्र मे वेदवत् स्वर और सस्कार दृष्ट होते हैं। भेद यह है कि जहाँ वेद मे उदात्तादि स्वर प्रयुक्त होते हैं वहाँ कल्पसूत्र मे केवल तानस्वर है (तानस्वर = एकश्रुति = एकस्वर्य)। तानस्वर के विषय मे वैदिक स्वरमीमासा ग्रन्थ का द्वितीय अध्याय द्रष्टव्य है[1]।

इस प्रकार 'छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ति' का प्रकृत तात्पर्य स्पष्ट हो जाता है कि वेदसदृश शब्दसस्कार[2] कल्पसूत्र में है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि व्याकरणसूत्रगत व्यत्ययग्रस्त प्रयोगो के लिये 'निपातनात् सिद्धम्' (या 'आचार्यव्यवहारात् सिद्धम्') कहना ही सगत है, 'छन्दोवत्—' कहने की कोई आवश्यकता नही है। वस्तुत. इन दोनो वचनो के विषय पृथक् ही है।

छन्दोवत् नियम के यथावत् ज्ञान न रहने के कारण अस्थान मे भी इसका प्रयोग व्याख्याकारो ने किया है। आगमशास्त्रीय मृगेन्द्रवृत्ति की दीपिका टीका मे

१—तान और सस्कार के विषय मे अत्रत्य व्याख्यान द्रष्टव्य है—'तानस्वराणीति तान एकश्रुति. स्वरो येषा तानि तानस्वराणि। तथा च सस्कारा. अनुस्वारस्य गुम् इत्यादिरूपा छन्दसि यथा तथाऽत्रापि भवन्ति परन्तु उदात्तादिस्वर्यं न भवति किन्तु एकस्वर्यम्। किन्तत् तानस्वर्यं यथा चाहुराचार्यपादा. तानो वा नित्यत्वात्'।

२—स्वर और सस्कार के स्पष्ट ज्ञान के लिये 'स्वरसस्कारयो. छन्दसि नियम' (वाज० प्राति० १।१) का उवटभाष्य द्रष्टव्य है—स्वर उदात्तानुदात्तस्वरितप्रचितलक्षण। सस्कारो लोपागमवर्णविकारप्रकृतिभावलक्षण.।

प्रतिशायन (५।३।५५) शब्द पाणिनिलक्षणहीन है अतः 'निपातन' मानकर उसको साधु माना गया है। शोभाशब्द पाणिनि सूत्र से साक्षात् रूप से सिद्ध नहीं होता पर धातुपाठगत वचनविशेष (६।३४) के आधार पर इस शब्द को सिद्ध माना जाता है। उसी प्रकार 'सक्नाम' शब्द में णत्व का न होना भी आचार्यव्यवहार सिद्ध होने के कारण उपपन्न माना जाता है (भाष्य १।१।२७)। पाणिनिव्यवहारसिद्ध होने के कारण ही 'पतित' शब्द साधु माना जाता है अन्यथा यहाँ इट्प्रतिषेध प्राप्त होता है (द्र० काशिका ७।२।१५)। इस प्रकार के व्यत्ययग्रस्त अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं।

ऐसे शब्दों की सिद्धि के लिये पूर्वाचार्यों ने 'सौत्रोऽयं निर्देशः', 'आचार्यप्रयोगात्सिद्धम्' 'निपातनात् सिद्धम्' इत्यादि वाक्यों का प्रयोग किया है, जिनका अर्थ है—शब्दवित् प्रमाणभूत आचार्य द्वारा उक्त होने के कारण ये शब्द साधु हैं, यद्यपि साधुत्व-निष्पादकप्रक्रिया आचार्यकृत प्रचलित ग्रन्थों में दृष्ट नहीं होती।

अब प्रश्न उठता है कि तब वृद्धिरादैच् में कुत्वाभाव के लिये भी तो यह उत्तर दिया जा सकता था कि पाणिनिव्यवहार के कारण ही ऐच् शब्द साधु है सूत्र को छन्दोवत् मानकर प्रयोग की साधुता दिखाने की क्या आवश्यकता है? ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि इस प्रकार के प्रयोगों को पाणिनि ही कर सकते हैं, हम लोग नहीं कर सकते क्योंकि शोभादि प्रयोग तो सर्वत्र प्रयोक्तव्य हैं, पाणिनिपरम्परा में भी एतादृश प्रयोग साधु हुए हैं। कुछ प्रयोगों के विषय यद्यपि कहा जाता है कि उनका प्रयोग केवल विशिष्ट आचार्य ही कर सकते हैं, सब लोग नहीं कर सकते पर प्रकृत प्रयोग पर ऐसा कोई नियमन नहीं है।

वस्तुतः पाणिनिकृत लक्षणहीन प्रयोगों की साधुता के लिये छान्दसत्व युक्ति निरर्थक है। दूसरी बात यह है कि 'छन्दोवत्सूत्राणि' वाक्य का व्याकरणसूत्र के अर्थ में संकोच करना समाधान ज्ञात नहीं होता। सूत्र शब्द व्याकरण सूत्र के लिये ही प्रयुक्त होता है ऐसा नहीं कहा जा सकता।

पतञ्जलि ने जिस रूप से 'छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ति' कहा है उससे यह भी ज्ञात होता है कि यह एक पूर्वप्रचलित न्याय है और उद्धरण के रूप में पतञ्जलि ने इस वाक्य को कहा है। मूलतः यह वाक्य जिस शास्त्र से सम्बन्ध रखता है उसके अनुसार ही इसका अर्थ जानना चाहिए।

अनुसन्धान करने से ज्ञात होता है कि 'छन्दोवत्सूत्राणि' का प्रकृत तात्पर्य है— कल्पसूत्र छन्दोवत् है और भाष्यकार ने पूर्वपक्षी के मुख को बन्द

करने के लिये एक आपातरमणीय समाधान दे दिया है। यह भी हो सकता है कि पतञ्जलि को छन्दोवत् वचन का परम्परागत अर्थ ज्ञात न हो और अस्थान मे इस वचन का प्रयोग उन्होने कर दिया हो (यद्यपि अभी ऐसा कहना समीचीन नही है)।

उपर्युक्त प्रकृत अर्थ कात्यायनीय प्रतिज्ञासूत्र परिशिष्ट से ज्ञात होता है। प्रतिज्ञासूत्र परिशिष्ट का सूत्र है—तानस्वराणि छन्दोवत् सूत्राणि (११९)। अनन्तदेव भाष्य में इसकी इस प्रकार व्याख्या करते है—'सूत्राणि कल्पाख्यानि छन्दोवत् छन्दसा तुल्यानि स्वरसंस्कारनियमेनेति शेष। छन्दसि नियमस्तथा सूत्रेष्वपि तन्नियमो भवति वेदाङ्गत्वात्। सूत्रोपादानात् शृङ्गग्राहिकन्यायेन इतरेषु वेदाङ्गेषु छन्दादिषु स्वरसंस्कारो नियमेन भवतीति गम्यते। छन्दोवत् इत्यत्र तेन तुल्यमिति भवति नोदात्तादीमप्याक्षेपो भविष्यतीत्युक्तं तान-स्वराणीति'। इससे स्पष्ट है कि कल्पसूत्र मे वेदवत् स्वर और संस्कार दृष्ट होते हैं। भेद यह है कि जहाँ वेद मे उदात्तादि स्वर प्रयुक्त होते है वहाँ कल्प-सूत्र मे केवल तानस्वर है (तानस्वर = एकश्रुति = एकस्वर्य)। तानस्वर के विषय मे वैदिक स्वरमीमासा ग्रन्थ का द्वितीय अध्याय द्रष्टव्य है[1]।

इस प्रकार 'छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ति' का प्रकृत तात्पर्य स्पष्ट हो जाता है कि वेदसदृश शब्दसंस्कार[2] कल्पसूत्र मे है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि व्याकरणसूत्रगत व्यत्ययग्रस्त प्रयोगो के लिये 'निपातनात् सिद्धम्' (या 'आचार्यव्यवहारात् सिद्धम्') कहना ही सगत है, छन्दोवत्—' कहने का कोई आवश्यकता नही है। वस्तुत इन दोनो वचनो के विषय पृथक् ही है।

छन्दोवत् नियम के यथावत् ज्ञान न रहने के कारण अस्थान मे भी इसका प्रयोग व्याख्याकारो ने किया है। आगमशास्त्रीय मृगेन्द्रवृत्ति की दीपिका टीका मे

१—तान और संस्कार के विषय मे अत्रत्य व्याख्यान द्रष्टव्य है—'तान-स्वराणीति तान एकश्रुति स्वरो येषा तानि तानस्वराणि। तथा च संस्कारा: अनुस्वारस्य गुम इत्यादिरूपा. छन्दसि यथा तथाऽत्रापि भवन्ति परन्तु उदात्तादि-त्रैस्वर्यं न भवति किन्तु एकस्वर्यम्। किन्तत् तानस्वर्यं यथा चाहुराचार्यपादा. तानो वा नित्यत्वात्'।

२—स्वर और संस्कार के स्पष्ट ज्ञान के लिये 'स्वरसंस्कारयो. छन्दसि नियम' (वाज० प्राति० १।१) का उवटभाष्य द्रष्टव्य है—स्वर उदात्तानुदात्त-स्वरितप्रचितलक्षण। संस्कारो लोपागमवर्णविकारप्रकृतिभावलक्षण।

'एक सूत्र के अनुचित स्थल में पाठ' रूप दोष के समाधान के लिये भी इस नियम को लगाया गया है[१] जो टीकाकार की शोचनीय प्रज्ञता का ज्ञापक है। जहाँ भी सूत्र में कोई विलक्षणता दृष्ट होती है वहीं छन्दोवत् न्याय का आश्रय लेकर उसका समाधान करने की मनोवृत्ति (उस विलक्षणता का अन्य गूढ़ कारण हो सकता है या नहीं इस पर ध्यान न देकर)[२] की असमीचीनता इस न्याय के प्रकृत अर्थ ज्ञात होने पर विज्ञात होती है।

१—ननु एतत् सूत्रमथार्सबद्धम्। अतएव अनन्तरमिकस्य इत्यादिना पूर्वोक्तेन एकवाक्यतया व्याख्येयम्। कथं पुनस्तत्रैव न पठ्यते छन्दोवत् सूत्राणि इति न्यायात् (अन्यप्रकरण १७१ श्लोक)।

२—पाणिनि का सूत्र है—चित (६।१।१६३)। यह एक प्राकपाणिनीय सूत्र है अतः इसकी रचनारीति में कुछ विलक्षणता है। इस विलक्षणता के प्रकृत कारण का अन्वेषण न कर छन्दोवत् न्याय से इसका समाधान कर देना (द्र० न्यास) कोई उचित कार्य नहीं है। पाणिनि सूत्र में ऐसा शायद ही कोई स्थल हो जहाँ छन्दोवत् न्याय की आवश्यकता होती है निपातन आदि सामान्य नियम मानकर ही विलक्षण स्थलों की संगत उपपत्ति की जा सकती है। नागेश कहते हैं—तथा च भाष्यकारोमातिदेशात् सूत्रेषु छन्दःकार्यप्रवृत्तिरिति मावः। हमारी दृष्टि में इस प्रकार का कोई अतिदेश न परमाणित कर सकते हैं और न करने की कोई आवश्यकता ही है। लक्षणहीन प्रयोगों की उपपत्ति करना (छन्दोवत् न्याय के बल पर) अन्य संप्रदायों में भी दृष्ट होता है जैसा कि सुपद्मव्याकरण की मकरन्द टीका में कहा गया है—मुनीनां वचने यद् यद् दृश्यते तन्मन्यथा। तत्रैव वैदिकं प्रेर्य तत्र बहुलं च ईश्वरः (३।४ पाद टीका पृ ११९) पर यह इस वचन की भ्रान्त व्याख्या के आधार पर ही है, ऐसा जानना चाहिए।

षष्ठ परिच्छेद

अष्टाध्यायी के निपातन-सूत्र

अष्टाध्यायी मे कुछ ऐसे सूत्र है, जो 'निपातन-सूत्र' कहलाते हैं। इन निपातन-सूत्रो के विषय मे यह शका होती है कि कुछ सूत्रो मे प्रकृति प्रत्यय-निर्देश के स्थान पर सिद्ध शब्दो का 'निपातन' क्यो किया गया है? सभी सूत्रो मे निपातन-पद्धति का स्वरूप क्यो समान नही है? निपातन-प्रणाली मे कौन-सी सरलता है? अर्थ-निर्णय क्षेत्र मे निपातन की सहायता से कौन-सा वैशिष्ट्य दिखाया गया है? इस निबन्ध मे इन प्रश्नो का सप्रमाण उत्तर दिया जा रहा है।

निपातन-शैली पर शंका—निपातन-रीति की असार्थकता के विषय विषय मे आइ० एस० पवते महोदय ने कहा है—"८।३।९० सूत्र से शुरू कर ८।३।९५ सूत्र पर्यन्त जितने सूत्र है वे निपातन-सूत्र कहलाते हैं। इन स्थलो मे निपातनरीति से सूत्र-रचना की कौन-सी आवश्यकता थी? 'निष्णात' शब्द को बनाने के लिये पाणिनि ने 'नि-नदीभ्या स्नाते कौशले' (८।३।८९) कहा है (अर्थात् प्रकृति-प्रत्यय-विभाग पूर्वक कहा है) पर वे ही 'प्रतिष्णात' शब्द को बनाने के समय प्रकृति-प्रत्यय-निर्देश न कर 'सूत्र प्रतिष्णातम्' (८।३।९०) ऐसा कहकर 'प्रतिष्णात' शब्द को निपातित करते है। किञ्च निपातन-सूत्रो मे एकरूपता भी नही है। ८।३।९० सूत्र मे 'प्रतिष्णात' शब्द-वाच्य सूत्र शब्द प्रथमा-विभक्ति से लक्षित है, पर ८।३।९३ सूत्र मे (जो एक निपातन-सूत्र है) 'विष्टर' के वाच्य 'वृक्ष' और आसन' सप्तमी विभक्ति से निर्दिष्ट हुए हैं। इस प्रकार के विभिन्न व्यवहारो की सगति क्या है?" (दि स्ट्रक्चर ऑफ दि अष्टाध्यायी, पृ० ६३)[१] इस लेख मे इस आक्षेप के उत्तर के लिये हम यत्न करेंगे।

१—Sutras 90 to 95 (both inclusive) are निपातन s Why are these Sutras put in the form of निपातनs ? Could Panini not have written —प्रते. स्नातस्य सूत्रे, कपे. स्थलस्य गोत्रे, प्रात् स्थोऽग्रगामिनि, वे स्तरस्य वृक्षासनयोः। on the analogy of निनदीभ्या स्नाते कौशले ? Why should निपातनs intervene between rules expressed in the regular analytic form ? And even

निपातन का तात्पर्य—पाणिनीय सम्प्रदाय में 'निपातन' शब्द के अनेक अर्थ देखे जाते हैं। यह शब्द सूत्र को लक्ष्य करता है जैसा कि कहा गया है "किं निपातनम् ? द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-तुर्याण्यन्यतरस्याम् (भाष्य ६।१।२)। पाणिनि का २।२।३ सूत्र ही यहाँ का निपातन है। सजन्य शब्द के वाचक के रूप में निपातन का प्रयोग पतञ्जलि को मान्य है यथा—"इदं वै प्रत्येकेन निपातनेन व्यवच्छिन्नं न शक्यमनुवर्तयितुम्" (३।३।८३)। यहाँ नागेश ने निपातन शब्द का अर्थ दिखाया है– 'घनान्तर्घनप्रघणप्रघाणोद्घनापघनरूपेणेत्यर्थ' (उद्द्योत)। इससे सूत्र का निपातन-पदवाच्य होना सिद्ध होता है। कभी-कभी यह शब्द वार्तिक को लक्ष्य करता है जैसा कि भाष्यकार ने कहा है—'निपातनादेतत् सिद्धम्, किं निपातनम् ? वस्त्रायां वा प्रतिषेधः'' (६।१।१४)। यहाँ 'वस्त्रायां वा प्रतिषेधः' शब्द वार्तिक है (६।२।२ भाष्य देखिए)। केवल 'सौत्र' शब्द ही निपातन का वाच्य नहीं है बल्कि गणपाठीय शब्द भी निपातन है जैसा कि पतञ्जलि ने 'गविष्ठिर' शब्द के आधार पर कहा है— निपातनात् सिद्धम् किं निपातनम् ? गविष्ठिरशब्दो बिदादिषु पठ्यते (६।३।९)। इस प्रकार धात्वर्थ निर्देशक शब्द भी निपातन-पद वाच्य होता है जैसा कि काशिका में कहा गया है— 'कथमुद्यमोपरमौ ? यम उपरमे यम उपरम इति निपातनादनुगन्तव्यौ" (७।३।३४)।

इससे सामान्य रूप से यह सिद्ध होता है कि आचार्यों के विशिष्ट शब्द-प्रयोग निपातन-पद-वाच्य हैं जैसा कि नागेश ने कहा है — 'एवं च निपातनात् इत्यस्य सौत्रत्वादित्यर्थ इति भावः' (उद्द्योत ६।३।३४)। पाणिनि-सूत्रों में जिन पदों का व्यवहार किया गया है वे यदि पाणिनि-व्याकरण से सिद्ध न हों तो उनको 'निपातनसिद्ध' कहा जाता है। यथा १।३।२५ सूत्र में पाणिनि ने 'प्रतिष्ठापन' पद का व्यवहार किया है पर पाणिनि के ही व्याकरण से इसकी सिद्धि न होने के कारण पतञ्जलि ने कहा है— 'दृश्यन्ते सूत्र-निबन्धाः क्रियन्ते। इसकी व्याख्या में

---

among the निपातन Sutras there is no uniformity In Sutra 90 the word सूत्र which is the वाच्य of the word प्रतिस्नात is put in the nominative case But in Sutra 95 the words वृक्ष and आसन which are the वाच्य of the word विष्टर are put in the locative case How to account for all this irregularity ?

कहा गया है—"निपातनाद् दीर्घत्वम्" (प्रदीप)। तथैव ३।२।११५ सूत्र गत परोक्ष शब्द को निपातित मानकर साधु माना गया है।

चूंकि आचार्य-व्यवहार-सिद्ध होने से किसी शब्द को 'निपातनसिद्ध' कहा जाता है अतः ईदृश-सिद्ध शब्द के विषय में 'इद निपात्यते' 'अहं निपातयामि' (३।१।१२२ श्लोक वा०) इत्यादि प्रयोग भाष्यादि में मिलते हैं।

निपातन का स्वरूप—काशिका (३।१।१२३) में निपातन का स्वरूप स्पष्ट दिखाया गया है यथा—"यदिह लक्षणेन अनुपपन्नं तत् सर्वं निपातनात् सिद्धम्"[1]—अर्थात् सूत्रों के कार्य से जो सिद्ध नहीं होता, वह यदि आचार्य के व्यवहार में सिद्ध होता है तो वह निपातन-पद-वाच्य है। कहा भी गया है—'अन्यथा प्राप्तस्यान्यथोच्चारण निपातनम्'। अतएव निपातनरीति प्रक्रिया के अनुसार दो प्रकार की है—अप्राप्तिप्रापण तथा प्राप्तिवारण। कभी-कभी निपातन से विशिष्ट अर्थ भी निर्दिष्ट होता है। इसलिये तीन प्रकार के निपातन-कार्य होते हैं। कहा भी गया है—

अप्राप्तेः प्रापण चाऽपि प्राप्तेर्वारणमेव वा।
अधिकार्थविवक्षा च त्रयमेतन्निपातनात्॥

कभी-कभी विकल्पार्थ में भी निपातन दृष्ट होता है, जैसा कि काशिका में कहा गया है—"विकल्पार्थं निपातनम्" (७।२।२७)।

निपातन-लक्षण की व्याख्या—पहले ही जानना चाहिए कि निपातित शब्द न प्रकृति है और न प्रत्यय, जैसा कि कैयट ने कहा है—"अथ प्रकृतित्वमेषा कस्मान्न विज्ञायते ? पञ्चम्या प्रत्ययस्य चानुपादानात्, अनिष्पन्नस्य च प्रकृतित्वाभावात्। प्रत्ययत्व तर्हि कस्मादेषा न भवति ? लोके केवलाना प्रयोगदर्शनात्" (प्रदीप ५।१।५९)। इससे स्पष्ट होता है कि निपातित शब्द प्रकृतिप्रत्ययात्मक अवश्यमेव हैं। इस प्रकार के शब्दो मे प्रकृति का अंश कितना है, या प्रत्यय का अंश कितना है इसमे सदेह उपस्थित हो सकता है। अतएव निपातित 'विंशति' आदि शब्दो को लेकर भाष्यकार ने कहा है—"इमे विंशत्यादय सप्रकृतिकाः सप्रत्ययकाश्च निपात्यन्ते, तत्र न ज्ञायते का प्रकृतिः,

---

१—आप्टे के संस्कृतांग्लकोश मे इस वाक्य को भाष्यवचन कहा गया है, यह अनवेक्षण दोष है। मुग्धबोध व्याकरण की रामतर्कवागीश टीका मे भी इसे भाष्यवचन माना गया है (द्र० मनीषा, सूत्र ३४)। वस्तुत. भाष्य में यह वचन नही है।

क: प्रत्यय: क: प्रत्ययार्थ इति' (२।१।६९)।[1]

यह कहा जाता है कि विधि-सूत्र के साथ निपातन-सूत्रों का भेद यह है कि विधि-सूत्र में प्रकृत्यादि का पृथक् उल्लेख रहता है पर निपातन-सूत्रों में समुदाय का उच्चारण किया जाता है, इसलिये कैयट ने स्पष्ट ही कहा है—"विधिनिपातनयोश्चायं भेदः यत्रावयवा निर्दिश्यन्ते समुदायोऽनुमीयते स विधिः, यत्र तु समुदायः श्रूयतेऽवयवाश्चानुमीयन्ते तन्निपातनम् (प्रदीप ४ । १ । २९)।

निपातन-सूत्रों के भेद—निपातन-सूत्र अनेक प्रकार के होते हैं यथा—

किसी-किसी-सूत्र में निपातित शब्दों के साथ उनके अर्थ भी कहे जाते हैं। जैसे 'क्षुब्धस्वान्तध्वान्त' इत्यादि (७ । २ । १८) सूत्र में। जिस प्रकार कुछ सूत्रों में अर्थ न कहकर भी निपातन किया गया है उसी प्रकार यहाँ भी क्यों नहीं किया गया इस प्रश्न के उत्तर में कैयट ने कहा है— 'यदि वाक्यार्थोपाधिर्येन मन्थादय श्चार्थायेरन्—मन्थादि वाच्ये-वाक्यार्थे क्षुब्धादयो निपात्यन्त इति तद् क्षुभितं मन्थेनेत्यत्रापि भावे क्तस्येट् प्रतिषेध स्यादिति अनुपपत्तिरेव मन्थादयः करणाद्युपाधित्वेन मावेन मन्थादय इहोपात्ता इति प्रदर्श्यते (प्रदीप ७ । २ । १९)। अर्थनिर्देश निपातनविषय-प्रदर्शन के लिए है यह काशिकाकार को भी अनुमत है—पाकप्रहरण निपातन-विषय-प्रदर्शनार्थम् (६ । १ । २७)।

कभी सूत्रों में केवल पदों का ही निपातन किया गया है यथा—'दाधर्ति दर्धर्ति' इत्यादि (७ । ४ । ६५) सूत्र में। चूंकि यहाँ विषय प्रदर्शन का कुछ भी प्रयोजन नहीं है अतः पदमात्र ही निपातित किया गया है।

कदाचित् सानुबन्ध निपातन भी किया गया है। 'ऐकागारिकट् चौरे' (५ । १ । ११३) इसका एक उदाहरण है। यहाँ टकार-अनुबन्ध स प्रयोजन है। ५ । १ । ११४ सूत्र भी इसका अन्य उदाहरण है।

१—प्रकृत्यादि विभाजन की दृष्टि से निपातित शब्द 'निरूढ' (जिनके प्रकृत्यादि अवयव और उनके अर्थ पृथक् पृथक् रूप से ज्ञातव्य नहीं हैं) कहे जाते हैं। इस शब्द का बहुधा प्रयोग दशपादी उणादिवृत्ति में है—निपात्यन्ते निरूढोपाधिमवर्णविकाराः (१।२२)। इस विषय में निम्नोक्त स्थल भी द्रष्टव्य हैं—५।९१ २।५ २।११ २।२० आदि। कहीं कहीं निरूढ के स्थान पर 'निरूढ' पाठ भी मिलता है।

कभी-कभी सूत्रस्थ एक ही निपातित पद भिन्न स्वर से पठित होता है। इसका एक उदाहरण 'दाण्डिनायन' इत्यादि (६।४।१७४) सूत्र के 'ऐक्ष्वाक' पद मे देखा जाता है। यहा यद्यपि एक 'ऐक्ष्वाक' पद है, परन्तु स्वरभेद से इसे दो पद स्वीकार किया जाता है। जैसा कि वार्तिककार ने कहा है—'ऐक्ष्वाकस्य स्वरभेदान्निपातन पृथक्त्वेन।' कैयट ने इसकी व्याख्या की है—'तत्र भिन्नस्वरयोरेकस्मिन् निपात्यमानेऽपरस्यासग्रहादुभयमपि निपात्यम्' (प्रदीप)। अतएव स्वरभेद के आधार पर दो उदाहरण भाष्यकार ने दिए है। किन्तु किस लिये सूत्र मे एक ही बार इस पद का पाठ किया गया है, कैयट ने इसका उत्तर दिया है—'स्वरभेदप्रत्यस्तमयेन निपातन सर्वमेतरलौकिकप्रयोगसग्रहार्थमित्यर्थ' (प्रदीप)।

इम नियम का दूसरा उदाहरण 'अपस्पृधेथाम्' इत्यादि (६।१।३६) सूत्र मे देखा जाता है। यहाँ 'अस्पृधेथाम्' इम एक पद का पाठ भिन्न स्वर से होता है। यह निपातन की शक्ति से होता है, ऐसा व्याख्याकारों ने कहा है।

कितने ही ऐसे निपातित शब्द हैं जो केवल वेद मे ही प्रयुक्त होते हैं। "बहुप्रजाश्छन्दसि" (५।४।१२३) इसका एक उदाहरण है। निपातनसिद्ध पद लौकिक या वैदिक हैं, इसमे कभी-कभी सन्देह भी होता है। जैसे—'सनिससनिवासम्' पद लौकिक या वैदिक है, इस सशय के उत्तर मे काशिकाकार कहते हैं—"छन्दसीद निपातन विज्ञायते" (७।२।६९)। ध्यान देना चाहिए कि इस निर्देश मे पाणिनि मौन हैं।[1]

कपिष्ठलो गोत्रे' (८।३।९१) सूत्र मे भी अन्य प्रकार का निपातन देखा जाता है। साधारण दृष्टि से यह प्रतीत होता है कि "कपिष्ठल इति गोत्रे निपात्यते"—यही इसका अर्थ है। परन्तु यह ठीक नही है। भाष्य मे कहा गया है—"गोत्रे यः कपिष्ठलशब्द. तस्य षत्व निपात्यते, यत्र वा तत्र वेति।" अतएव यहाँ षत्व के विषय के रूप मे गोत्र निर्दिष्ट नही है, किन्तु दर्शन के विषय मे अर्थात् गोत्र मे जो 'कपिष्ठल' शब्द देखा जाता है वह साधु है।[2]

१—यह शब्द छान्दस ही हो सकता है, अत सूत्रकार ने 'छन्दसि' नही कहा, ऐसा न्यासकार ने दिखाया है—यत्रैषा आनुपूर्वी नियता तत्रैव यथा स्यात्। इय चानुपूर्वी छन्दस्येव नियतेति तद्विषयमेवैतन् निपातन विज्ञायते। अतएव वृत्तिकृता छान्दसप्रयोगो दर्शित।

२—प्रदीप में यह भाव दिखाया गया है—न गोत्र षत्वस्य विषयत्वेन निर्दिष्टं, कि तर्हि दर्शनस्य—गोत्रे यो दृष्ट कपिष्ठलशब्द स साधुर्भवति। तेन कपिस्थानवाचिन. षत्व न भवतीत्युक्त भवति।

कः प्रत्ययः कः प्रत्ययार्थ इति (५।१।८९)।[1]

यह कहा जाता है कि विधि-सूत्र के साथ निपातन-सूत्रों का भेद यह है कि विधि-सूत्र में प्रकृत्यादि का पृथक् उल्लेख रहता है पर निपातन-सूत्रों में समुदाय का उच्चारण किया जाता है, इसलिये कैयट ने स्पष्ट ही कहा है—"विधि-निपातनयोश्चायं भेदः अवयवा निर्दिश्यन्ते समुदायोऽनुमीयते स विधिः यत्र तु समुदायः श्रूयते ऽवयवास्त्वनुमीयन्ते तन्निपातनम् (प्रदीप ५।१।२९)।

निपातन-सूत्रों के भेद—निपातन-सूत्र अनेक प्रकार के होते हैं यथा—

किसी-किसी-सूत्र में निपातित शब्दों के साथ उनके अर्थ भी कहे जाते हैं। जैसे क्षुब्धस्वान्तध्वान्त इत्यादि (७।२।१८) सूत्र में। जिस प्रकार कुछ सूत्रों में अर्थ न कहकर भी निपातन किया गया है उसी प्रकार यहाँ भी क्यों नहीं किया गया इस प्रश्न के उत्तर में कैयट ने कहा है— 'यदि चार्थोपादानमन्तरेण मन्थादय आश्रीयेरन्—मन्थादिसाधने-अर्थे क्षुब्धादयो निपात्यन्त इति तदा क्षुभितं मन्थेनेत्यत्रापि भावे क्तस्येट् प्रतिषेधः स्यादिति समुदायानाम् अभिधेयमात्रेण मन्थादय इहोपात्ता इति भावः (प्रदीप ७।२।१९)। अर्थनिर्देश निपातनविषय-प्रदर्शन के लिये है यह काशिकाकार को भी अनुमत है—पाकग्रहणं निपातन-विषय प्रदर्शनार्थम् (६।१।२७)।

कभी सूत्रों में केवल पदों का ही निपातन किया गया है यथा—'दाधर्ति-दर्धर्ति इत्यादि (७।४।६५) सूत्र में। चूँ कि यहाँ विषय-प्रदर्शन का कुछ भी प्रयोजन नहीं है अतः पदमात्र ही निपातित किया गया है।

कदाचित् सानुबन्ध निपातन भी किया गया है। 'ऐकागारिकट् चौरे' (५।१।११३) इसका एक उदाहरण है। यहाँ टकार अनुबन्ध स-प्रयोजन है। ५।१।११४ सूत्र भी इसका अन्य उदाहरण है।

१—प्रकृत्यादि विभाजन की दृष्टि से निपातित शब्द 'निरूढ' (जिनके प्रकृत्यादि अवयव और उनके अर्थ पृथक् पृथक् रूप से ज्ञातव्य नहीं हैं) कहे जाते हैं। इस शब्द का बहुधा प्रयोग श्वेतवनवासी उणादिवृत्ति में है—*निपात्यन्ते* निरूढलोपागमवर्णविकाराः (१।२२)। इस विषय में निम्नोक्त स्थल भी द्रष्टव्य हैं—१।४३ २।३ २।११ २।१२ आदि। कहीं कहीं निरूढ के स्थान पर निरूढ़' पाठ भी मिलता है।

कभी-कभी सूत्रस्थ एक ही निपातित पद भिन्न स्वर से पठित होता है। इसका एक उदाहरण 'दाण्डिनायन' इत्यादि (६।४।१७४) सूत्र के 'ऐक्ष्वाक' पद मे देखा जाता है। यहा यद्यपि एक 'ऐक्ष्वाक' पद है, परन्तु स्वरभेद से इसे दो पद स्वीकार किया जाता है। जैसा कि वार्तिककार ने कहा है—'ऐक्ष्वाकस्य स्वरभेदान्निपातन पृथक्त्वेन।' कैयट ने इसकी व्याख्या की है—'तत्र भिन्नस्वरयोरेकस्मिन् निपात्यमानेऽपरस्यासग्रहादुभयमपि निपात्यम्' (प्रदीप)। अतएव स्वरभेद के आधार पर दो उदाहरण भाष्यकार ने दिए हैं। किन्तु किस लिये सूत्र मे एक ही बार इस पद का पाठ किया गया है, कैयट ने इसका उत्तर दिया है—'स्वरभेदप्रत्यस्तमयेन निपातन सर्वस्वरलौकिकप्रयोगसग्रहार्थमित्यर्थ' (प्रदीप)।

इस नियम का दूसरा उदाहरण 'अपस्पृधेथाम्' इत्यादि (६।१।३६) सूत्र मे देखा जाता है। यहाँ 'अस्पृधेयाम्' इस एक पद का पाठ भिन्न स्वर से होता है। यह निपातन की शक्ति से होता है, ऐसा व्याख्याकारो ने कहा है।

कितने ही ऐसे निपातित शब्द हैं जो केवल वेद मे ही प्रयुक्त होते हैं। "वहुप्रजाश्छन्दसि" (५।४।१२३) इसका एक उदाहरण है। निपातनसिद्ध पद लौकिक या वैदिक हैं, इसमे कभी-कभी सन्देह भी होता है। जैसे—'सनिससनिवासम्' पद लौकिक या वैदिक है, इस सशय के उत्तर मे काशिकाकार कहते हैं—"छन्दसीद निपातन विज्ञायते" (७।२।६९)। ध्यान देना चाहिए कि इस निर्देश मे पाणिनि मौन हैं।[1]

कपिष्ठलो गोत्रे' (८।३।९१) सूत्र मे भी अन्य प्रकार का निपातन देखा जाता है। साधारण दृष्टि से यह प्रतीत होता है कि "कपिष्ठल इति गोत्रे निपात्यते"—यही इसका अर्थ है। परन्तु यह ठीक नही है। भाष्य मे कहा गया है—"गोत्रे यः कपिष्ठलशब्द तस्य षत्व निपात्यते, यत्र वा तत्र वेति।" अतएव यहाँ षत्व के विषय के रूप मे गोत्र निर्दिष्ट नही है, किन्तु दर्शन के विषय मे अर्थात् गोत्र मे जो 'कपिष्ठल' शब्द देखा जाता है वह साधु है।[2]

१—यह शब्द छान्दस ही हो सकता है, अत सूत्रकार ने 'छन्दसि' नही कहा, ऐसा न्यासकार ने दिखाया है—यत्रैपा आनुपूर्वी नियता तत्रैव यथा स्यात्। इय चानुपूर्वी छन्दस्येव नियतेति तद्विषयमेवैतन् निपातन विज्ञायते। अतएव वृत्तिकृता छान्दसप्रयोगो दर्शित।

२—प्रदीप मे यह भाव दिखाया गया है—न गोत्र षत्वस्य विषयत्वेन निर्दिष्ट, किं तर्हि दर्शनस्य—गोत्रे यो दृष्ट कपिष्ठलशब्द स साधुर्भवति। तेन कपिस्थानवाचिन षत्व न भवतीत्युक्त भवति।

कभी-कभी निपातन सामान्यापेक्ष भी होता है न कि विभक्त्यादि-विशेषापेक्ष अतएव निपातन-बाधित पद भी प्रयुक्त होता है। 'क्त्वायां वा प्रतिषेधः' की भाष्यव्याख्या में कैयट ने कहा है— सामान्यापेक्षं च निपातनं न सामान्यपेक्षमिति कृत्वा क्त्वाया इत्यपि भवति' (प्रदीप ६।४।१४)।

हमने पहले ही कहा है कि निपातन आचार्य-व्यवहार को कहते हैं। व्याख्या से जाना जाता है कि कभी-कभी निपातन तन्त्र होता है और कभी-कभी अतन्त्र होता है। यह ६।४।२४ सूत्रभाष्य-सन्दर्भ में स्पष्ट है। जो पद निपातन-सिद्ध होता है उसके वचन आदि कभी-कभी 'तन्त्र' (विवक्षितार्थक) और कभी-कभी 'अतन्त्र' होते हैं। अतएव 'पत्रिका परिरावेण पण्यन्ते' (५।१।१९) सूत्रव्याख्या में कैयट ने कहा है—'बहुवचनम् अतन्त्रम् एकवचनान्तस्यापि पत्रिकाशब्दस्य लोके प्रयोगदर्शनात् (प्रदीप)।[1] 'उद्योत' में नागेश ने कहा है कि सब आचार्य इसमें सहमत नहीं हैं। उसी प्रकार ६।?।१२ सूत्र में दाश्वान् इत्यादि एकवचनान्त निपातित हैं। परन्तु यहाँ एकवचन अविवक्षित है यह ज्ञानेन्द्र ने कहा है (तत्त्वबोधिनी)।

निपातित शब्द— अब विचार यह है कि जहाँ निपातन होता है वहाँ कौन निपातित होता है। इस विचार से निपातन बल रहस्य का स्पष्ट ज्ञान हो जाएगा। यह ज्ञातव्य है कि जहाँ निपातन होता है जहाँ आगमादिकार्य सूत्र में साक्षात् रूप से निर्दिष्ट नहीं होते। कहीं कहीं 'विशेषाधिकार' से सूत्रानुक्त कार्य निपातनबल से होता है जैसा कि कहा गया है—'प्रकृत्यकार्यादि कार्यान्तर सिद्धयर्थ हि निपातनम् (प्रदीप ७।२।२)।

प्रायः निम्नोक्त विषयों का निपातन प्रसिद्ध है—

प्रत्यय-निपातन—'मस्करमस्करिणौ वेणुपरिव्राजकयोः' (६।१।१५४) सूत्र प्रत्ययनिपातन का उदाहरण है। यहाँ मस्करिन् शब्द के विषय में कैयट ने कहा है—'माङपूर्वात् करोतेरिनिरिति। यहाँ निपातनबल से ताच्छील्यार्थ में णिनि प्रत्यय के स्थान पर 'इनि' होता है यह कैयट का तात्पर्य है। यहाँ यह भी जानना चाहिए कि कहाँ प्रत्यय का निपातन होता है और कहाँ आदेश का निपातन होता है—इसमें कभी कभी संशय उपस्थित होता है। इसके निर्णय के विषय में तत्त्वबोधिनी ६।३।९९ द्रष्टव्य है।

१— ।१।१४२ सूत्र में बहुवचनान्त 'कुस्तुम्बुरूणि' शब्द निपातित किया गया है। न्यासकार कहते हैं– बहुवचनमपि अतन्त्रमत्र सूत्रे।

आदेश-निपातन—यह 'पाय्यसानाय्य' इत्यादि (३।१।१२९) सूत्र के उदाहरण मे देखा जाता है। यहाँ निपातनबल से ही आयादेश हुआ है, यह स्पष्ट प्रतीत होता है।

आगम-निपातन—'फलेग्रहिरात्मम्भरिश्च' (३।२।२६) सूत्र इसका उदाहरण हैं। यहाँ जो मुमागम है, वह निपातबल से ही है।

द्विर्वचन-निपातन—'ऋत्विग् दधृक्' इत्यादि (३।२।५९) सूत्र में 'दधृक्' शब्द इसका उदाहरण है। निपातन न होने से यहाँ द्विर्वचन नहीं होता।

प्रकृतिविपरिणाम-निपातन—'अपचितश्च' (७।२।३०) सूत्र इसका उदाहरण है। भाष्य मे कहा गया है—"किं निपात्यते ? चायेश्चिभावश्च"।

इस प्रकार कही ह्रस्व दीर्घ मे और कही किसी के लोप मे निपातन होता है। कभी-कभी प्रसक्तकार्याभावरूप कार्य भी निपातन मे होता है, यथा ३।२।५९ सूत्र मे जो 'क्रुञ्चाम्' पद है, उसके विषय मे नागेश ने कहा है—"क्रुञ्चामिति निपातनान्नलोपाभाव." (उद्द्योत)। भाष्य मे भी इनके अनुरूप बाते हैं, यथा 'इच्छा' (३।३ १०१) इस सूत्र-भाष्य में कहा गया है—"किं निपात्यते ? इषे शे यगभाव।" इस प्रकार प्रतिषेध अर्थ मे भी निपातन व्यवहृत होता है। णेरध्ययने वृत्तम्' (७।२।२६) सूत्र के वार्त्तिक मे कहा गया है—"निपातनं णिलोपेड्गुणप्रतिषेधार्थम्।"

निपातन के कार्य—पहले कहे गए उदाहरणो से यह प्रमाणित हो गया है कि निपातन से विभिन्न कार्य होते हैं। यह नही है कि एक ही कार्य के लिये निपातन-रीति का आश्रय किया जाता है, या एक ही कार्य निपातन से सिद्ध होता है। जैसा कि कहा गया है—"अनेकप्रयोजनसम्पत्ति निपातनाद् भवति" (प्रदीप ६ २.२)। यहाँ 'स्नात्वा-कालक' उदाहरण देकर भाष्यकार ने ठीक ही कहा है—"अवश्यमत्र समासार्थं ल्यबभावार्थं च निपातनं कर्त्तव्यम्, तेनैव यत्नेन स्वरो न भविष्यति।" यहाँ तीन कार्य एक ही निपातन से दिखाए गए हैं।

कही-कही एक ही निपातन से शब्द-नियमन के साथ अर्थ-नियमन भी होता है। ३।१।१०१ सूत्र का 'अवद्य' पद इसका प्रसिद्ध उदाहरण है, जैसा कि भट्टोजि दीक्षित ने कहा है—"वदेर्नञ्युपपदे वद सुपीति यत्क्यपौ प्राप्तयोर्यदेव सोऽपि गर्ह्यायामेवेत्युभयार्थं निपातनम्" (सि० कौ०)। कही कही निपातित शब्द के एकाधिक निर्वचन होते हैं जो ३।१।११४ सूत्र-निपातित 'राजसूय' शब्द मे दिखाई पडते हैं। इस शब्द के निपातित होने के कारण अर्थ मे सशय नही होता।

कभी-कभी निपातन सामान्यापेक्ष भी होता है न कि विभक्त्यादि-विशेषापेक्ष अतएव निपातन-बाधित पद भी प्रयुक्त होता है। "क्त्वायां वा प्रतिषेध" की भाष्यव्याख्या में कैयट ने कहा है— सामान्यापेक्षं च निपातनं न सप्तम्यपेक्षमिति कृत्वा कत्वायां इत्यपि भवति' (प्रदीप ६।४।१४)।

हमने पहले ही कहा है कि निपातन आचार्य-व्यवहार को कहते हैं। व्याख्या से जाना जाता है कि कभी-कभी निपातन 'तन्त्र' होता है और कभी-कभी अतन्त्र होता है। यह ६।४।२४ सूत्रभाष्य-सन्दर्भ में स्पष्ट है। जो पद निपातनसिद्ध होता है उसके वचन आदि कभी-कभी 'तन्त्र' (विवक्षितार्थक) और कभी-कभी 'अतन्त्र' होते हैं। अतएव 'पङ्क्ति' वष्टिरापेण पञ्चन्ते' (५।१।६) सूत्रव्याख्या में कैयट ने कहा है—"बहुवचनम् अतन्त्रम् एकवचनान्तस्यापि पङ्क्तिशब्दस्य लोके प्रयोगदर्शनात्' (प्रदीप)। 'उद्द्योत' में नागेश ने कहा है कि सब आचार्य इसमें सहमत नहीं हैं। उसी प्रकार ६।१।१२ सूत्र में दाश्वान् इत्यादि एकवचनान्त निपातित हैं। परन्तु यहाँ एकवचन अविवक्षित है यह ज्ञानेन्द्र ने कहा है (तत्त्वबोधिनी)।

निपातित शब्द—अब विचार्य यह है कि जहाँ निपातन होता है, वहाँ कौन निपातित होता है। इस विचार से निपातन तत्त्व-रहस्य का स्पष्ट ज्ञान हो जाएगा। यह ज्ञातव्य है कि वहीं निपातन होता है जहाँ आगमादिकार्य सूत्र में साक्षात् रूप से निर्दिष्ट नहीं होते। कहीं कहीं 'विशेषाधिकार' से सूत्रानुक्त कार्य निपातनबल से होता है जैसा कि कहा गया है— 'प्रकृतकार्यात् कार्यान्तरसिद्ध्यर्थं हि निपातनम्' (प्रदीप ७।२।२)।

प्रायः निम्नोक्त विषयों का निपातन प्रसिद्ध है—

प्रत्यय-निपातन— मस्करमस्करिणौ वेणुपरिव्राजकयोः' (६।१।१५४) सूत्र प्रत्ययनिपातन का उदाहरण है। यहाँ मस्करिन् शब्द के विषय में कैयट ने कहा है—"मा कृत कर्माणीति... इनिरिति। यहाँ निपातनबल से ताच्छील्यार्थ में 'णिनि' प्रत्यय के स्थान पर 'इनि' होता है यह कैयट का तात्पर्य है। यहाँ यह भी जानना चाहिए कि कहाँ प्रत्यय का निपातन होता है और कहाँ आदेश का निपातन होता है—इसमें कभी कभी संशय उपस्थित होता है। इसके निर्णय के विषय में तत्त्वबोधिनी ६।१।६६ द्रष्टव्य है।

१— ६।१।१४६ सूत्र में बहुवचनान्त 'कुस्तुम्बुरूणि' शब्द निपातित किया गया है। न्यासकार कहते हैं— बहुवचनमपि अतन्त्रमत्र सूत्रे।

आदेश-निपातन —यह 'पाय्यसानाय्य' इत्यादि (३।१।१२९) सूत्र के उदाहरण मे देखा जाता है। यहाँ निपातनबल से ही अयादेश हुआ है, यह स्पष्ट प्रतीत होता है।

आगम-निपातन--'फलेग्रहिरात्मम्भरिश्च' (३।२।२६) सूत्र इसका उदाहरण है। यहाँ जो मुमागम है, वह निपातबल से ही है।

द्विर्वचन-निपातन--'ऋत्विग् दधृक्' इत्यादि (३।२।५९) सूत्र मे 'दधृक्' शब्द इसका उदाहरण है। निपातन न होने से यहाँ द्विर्वचन नहीं होता।

प्रकृतिविपरिणाम-निपातन—'अपचितश्च' (७।२।३०) सूत्र इसका उदाहरण है। भाष्य मे कहा गया है--"किं निपात्यते ? चायेश्चिभावश्च"।

इस प्रकार कही ह्रस्व-दीर्घ मे और कही किसी के लोप मे निपातन होता है। कभी-कभी प्रसक्तकार्याभावरूप कार्य भी निपातन से होता है, यथा ३।२।५९ सूत्र मे जो 'क्रुञ्चाम्' पद है, उसके विषय मे नागेश ने कहा है-"क्रुञ्चामिति निपातनान्नलोपाभावः" (उद्द्योत)। भाष्य मे भी इनके अनुरूप बाते हैं, यथा 'इच्छा' (३।३।१०१) इस सूत्र-भाष्य मे कहा गया है—"किं निपात्यते ? इषेः शे यगभाव।" इस प्रकार प्रतिषेध अर्थ मे भी निपातन व्यवहृत होता है। णेरध्ययने वृत्तम्' (७।२।२६) सूत्र के वार्तिक मे कहा गया है—"निपातनं णिलोपेड्गुणप्रतिषेधार्थम्।"

निपातन के कार्य—पहले कहे गए उदाहरणो से यह प्रमाणित हो गया है कि निपातन से विभिन्न कार्य होते हैं। यह नही है कि एक ही कार्य के लिये निपातन-रीति का आश्रय किया जाता है, या एक ही कार्य निपातन से सिद्ध होता है। जैसा कि कहा गया है-"अनेकप्रयोजनसम्पत्तिः निपातनाद् भवति" (प्रदीप ६।२।२)। यहाँ 'स्नात्वा कालक' उदाहरण देकर भाष्यकार ने ठीक ही कहा है—"अवश्यमत्र समासार्थं ल्यबभावार्थं च निपातनं कर्त्तव्यम्, तेनैव यत्नेन स्वरो न भविष्यति।" यहाँ तीन कार्य एक ही निपातन से दिखाए गए हैं।

कही-कही एक ही निपातन से शब्द-नियमन के साथ अर्थ-नियमन भी होता है। ३।१।१०१ सूत्र का 'अवद्य' पद इसका प्रसिद्ध उदाहरण है, जैसा कि भट्टोजि दीक्षित ने कहा है—"वदेर्नञ्युपपदे वद सुपीति यत्क्यपोः प्राप्तयोर्यदेव सोऽपि गर्ह्यायामेवेत्युभयार्थं निपातनम्" (सि० कौ०)। कही कही निपातित शब्द के एकाधिक निर्वचन होते हैं जो ३।१।११४ सूत्र-निपातित 'राजसूय' शब्द में दिखाई पड़ते हैं। इस शब्द के निपातित होने के कारण अर्थ मे संशय नही होता।

ज्ञानेन्द्र सरस्वती ने यहाँ कहा है—"निपातनं च रूढ्यर्थमिति। तेनायमर्थोऽस्य मेधावी द्वितीयपक्षे ज्योतिष्टोमादौ च नातिप्रसङ्गः" (तत्त्वबोधिनी)।

निपातन और रूढि (निपातित शब्द का रूढार्थक होना) पर पूर्वाचार्यों का स्पष्ट कथन बहुत्र मिलता है। त्रिचरक आदि निपातित शब्दों के अर्थ पर सायण कहते हैं—'समुदायनिपातनस्य रूढ्यर्थत्वात् त्रिचरका इत्यत्र (इट्) न भवति (माधवीयधातुवृत्ति दिवादि चमुधातु)। न्यास में 'प्रयोज्यनियोज्यौ शक्यार्थे (७।३।६८) की व्याख्या में कहा गया है—'निपातनं रूढ्यर्थम्। अगुणभूता यत्र शक्यार्थता तत्र यथा स्यात् प्रयोज्यो भृत्यो नियोज्यो दास इति। स्वामिनि प्रयोज्यो नियोज्यो न भवति। नहि तत्र प्रयोज्यनियोज्यशब्दौ रूढौ, किं तर्हि ? गुणभूतार्थेन। इस रूढार्थ के लिये भी 'प्रयुजनियुजो' शक्यार्थे' एक सूत्र न रचकर (विधि सूत्र न रचकर) निपातन रीति का आश्रय लिया गया। इसी प्रकार 'भोज्यं भक्ष्ये' (७।३।६९) सूत्र भी विधिसूत्र की तरह (भुजो भक्ष्ये) न रचकर निपातनसूत्र के रूप में प्रणीत हुआ है जिससे कि भोज्य शब्द के रूढार्थ का ज्ञान हो। 'रूढि' पक्ष में भी कई बातें देखनी पड़ती हैं। रूढि नियत-विषय होती है (न्यास ३।१।१२७) इसलिये प्रसिद्धि के अनुसार ही निपातित शब्द के प्रयोग होंगे ३।१।१२९ सूत्र में निपातित 'धाय्या' शब्द सामिधेनी मन्त्रों का वाचक है। पर कुछ ही सामिधेनी ऋक् धाय्या शब्द से प्राप्त होते हैं तथा असामिधेनी मन्त्र भी यथाविधि धाय्यापदवाच्य होते हैं। जैसा कि काशिका में स्पष्टतया कहा गया है। इसी दृष्टि से ही न्यासकार ने 'रूढिविषय' शब्द का प्रयोग यहाँ किया है।

निपातनकृत लाघव—निपातन-रीति स्वीकार करने से शब्द निष्पत्ति में किस प्रकार लाघव होता है अब हम उसे दिखाएँगे। जहाँ निपातन से शब्द को सिद्ध किया गया है वहाँ यदि प्रकृति-प्रत्ययादि निर्देशक विधि सूत्र होता तो सूत्रीय शब्द में गौरवाधिक्य होता यह मान कर पाणिनि ने बहुत निपातनसूत्र बनाया है। वस्तुतः निपातनस्थल में प्रकृत्यादि नहीं रहते ऐसी बात नहीं। अतएव निपातनस्थल में प्रायः 'किं निपात्यते' ऐसा भाष्यकार ने पूछा है (५।२।७२)। अन्यत्र कहा गया है— 'का प्रकृतिः कः प्रत्ययः कः प्रत्ययार्थः' (५।१।५९)। प्रत्ययानुसार निपातित शब्द का अर्थ यदि नहीं घटता तो निपातनबल से उस अर्थ का अभ्युपगम किया जाता है, जैसा कि (निपातित 'अधिक' पद को लेकर कैयट ने कहा है— लौकिके प्रयोगेऽधिकशब्देन विषयभेदेन कर्तृकर्मणोरनभिधानदर्शनात्तन्नाङ्गीकृतसाधनभेदमध्यारूढस्यैव निपातनम्, स बोधयाय इति न कश्चिद् दोषावसरः (प्रदीप ५।२।७२)।

यदि निपातन न कर प्रकृत्यादि के उल्लेख से शब्द की निष्पत्ति होती तो 'सद्यः परुत्परार्यादि' (५।३।२२) शब्दों की सिद्धि के लिये सूत्र-प्रणयन में कितना अधिक गौरव होता, यह तो स्पष्ट ही है। इन स्थलों में केवल निपातन रीति से सूत्रीय शब्दव्यवहार में लाघव होता है, न कि अर्थवैशिष्ट्यज्ञापन में। किसी-किसी निपातनसूत्र से यह प्रतीत होता है कि निपातन न करने पर भी वह शब्द सिद्ध होता है, परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर देखा जाता है कि यहाँ निपातन-रीति से ही अधिक लाभ होता है, जैसा कि काशिका में कहा गया है— "किमर्थं तर्हि निपातनम्, यावता पूर्वेणैव स सिद्धः, सम्बुद्धौ दीर्घार्थमेते निपात्यन्ते" (८।२।६७)। शब्दनिष्पत्तिलाघव विषय में ८।२।१२ सूत्र की काशिका भी द्रष्टव्य है।

किसी-किसी निपातन-सूत्र में कोई पद उपलक्षण के रूप में रहता है, यह व्याख्याकार मानते हैं। प्रयाजानुयाजौ यज्ञाङ्गे (७।३।६२) सूत्र की व्याख्या में काशिका में कहा गया है—"प्रयाजानुयाजग्रहण प्रदर्शनार्थम्—अन्यत्राप्येव-प्रकारे कुत्व न भवति।"

निपातन-सामर्थ्य—निपातन से शब्द-निष्पत्ति-प्रक्रिया में ही लाघव नहीं होता, बल्कि शास्त्रीय कार्य की प्रवृत्ति भी निपातन सामर्थ्य से व्यवस्थित होती है। यदि ऐसे स्थलों में निपातन न किया जाए, तो शास्त्रीय कार्य-प्रवृत्ति में भी वचनान्तर की आवश्यकता होगी, जिससे निरर्थक गौरव-दोष होगा। इस दृष्टि से निपातन का सार्थक्य सिद्ध होता है। 'स्नात्वाकालक' उदाहरण का आश्रय लेकर कैयट ने जो कहा है उसे उद्धृत किया जा रहा है—"येषु चात्र स्नात्वा-कालकादिषूत्तरपदानुपात्तक्रियापेक्ष. क्त्वाप्रत्ययः तेषा सापेक्षत्वेऽपि निपातनात् समास." (प्रदीप ७।१।३७) नागेश ने स्पष्ट कहा है—'समुदायनिपातनसामर्थ्या दप्राकरणिकमपि किञ्चिन्निपातनान्निषिध्यते" (उद्द्योत ७।१।३७)। उसी प्रकार काशिकाकार ने भी "समुदायनिपातनाच्चार्थविशेषेऽवरुध्यन्ते" (५।४।१२८) कहा है।

वाक्यार्थ में भी निपातन देखा जाता है, यथा—"छन्दोऽधीते" इस वाक्य के अर्थ में 'श्रोत्रीय' शब्द का निपातन किया गया है (भाष्य ५।२।८४)। यहाँ वाक्यार्थ में किसलिये पद-रचना की गई है, कैयट ने उसका स्पष्ट वर्णन किया है।

निपातन सूत्र में अर्थनिर्देश कभी प्रथमान्त शब्द से और कभी सप्तम्यन्त शब्द में किया गया है, यथा—'भोज्य भक्ष्ये' और 'भित्त शकलम्'। विभक्ति के भेद होने

पर अर्थ में क्या भेद होता है यह गवेषणीय है। इसी प्रकार निपातन द्वारा जब रूढार्थ (=प्रसिद्धि के अनुसार प्रयोग) की प्रतीति होती है तब अर्थों का निर्देश भी सूत्र में क्यों किया गया है यह भी प्रष्टव्य हो सकता है। संभवतः स्पष्टार्थ के लिये अर्थ का निर्देश किया गया है, यद्यपि जो अर्थ सूत्र में दिया हुआ रहता है उसका एक निश्चित क्षेत्र ही निपातित शब्द द्वारा भाषित होता है यह अनुगवमायामे (५।४।८३) प्रमाज्यमिमोभ्यो सक्यार्थे (७।३।६८) आदि अर्थनिर्देशयुक्त सूत्रों को देखने से ज्ञात होता है। अर्थ-निर्देशहीन निपातन सूत्रों में वस्तुतः अर्थ नियमन पर कुछ विशेष वक्तव्य नहीं रहता, पर अनिष्ट रूप की संभावना की निवृत्ति के लिये मुख्यतया निपातन-रीति का आश्रय लिया जाता है जैसा कि अनुपसर्गात् फुल्लक्षीब —— (८।२।५५) आदि अर्थनिर्देशहीन सूत्रों के अध्ययन से ज्ञात होता है। अप्राकाशिक कामप्राप्ति भी एक निपातन-हेतु हो सकता है (न्यास ४।१।१५)।

निपातन-हेतुक अर्थवैशिष्ट्य—यद्यपि निपातन-स्थल में प्रायेण विधि-सूत्र से शब्द-निष्पत्ति सिद्ध हो सकती है तथापि अर्थविशेष में लाघवार्थ निपातन-रीति का अवलम्बन पाणिनि ने किया है। एक उदाहरण लीजिए—'आकालिकडाद्यन्तवचने' (५।१।११४) सूत्र निपातन का उदाहरण है। यहाँ शब्द निर्व्यक्तिकार्य विधि-सूत्र से करने में भी दोष नहीं है जैसा कि वार्त्तिककार ने कहा है—'आकालात्ठिपातनानर्थक्यम् ठञ्प्रकरणात्'। तथापि विधि-सूत्र करने पर अर्थ-वैशिष्ट्यज्ञापित नहीं होगा इसे कैयट ने स्पष्ट रूप से दिखाया है—'जन्मविनाशयोरव्यवहितत्वात्समानकालत्वम्। विधौ स्वयमर्थं वशेषेण प्रतीयत इति निपातनाश्रयणम्' (प्रदीप ५।१।११४)।

निपातन-बल से निपातित-शब्द के अर्थ के विषय में किस प्रकार का नियमन होता है 'शृतं पाके' (६।१।२७) सूत्र में इसका प्रकृष्ट उदाहरण विद्यमान है। पाक वाच्य होने पर 'शृत' निपातित होता है यह इस सूत्र का अर्थ है। परन्तु चूँकि शृत शब्द निपातित हुआ है, अतः विक्लित्तिलक्षण 'पाक' में ही शृत शब्द का तात्पर्य है—इस प्रकार समझना चाहिए—'द्विविधो हि पाकः—विक्लित्तिलक्षणः विक्लेदनालक्षणश्च। पाचयितुर्व्यापारे तु विधि क्रियते पाचनालक्षणोऽर्थः प्राधान्येनाभिधीयते न तु पाकलक्षण इति निपातनाभावः' (प्रदीप)।

कभी-कभी अर्थ-सामान्य में अर्थ-विशेष की प्रतिपत्ति निपातन से होती है इस नियम के अनेक उदाहरण हैं। एक उदाहरण लीजिए—'आश्चर्यमनित्ये'

(६ । १ । १४६) सूत्र मे 'आश्चर्य' पद निपातित है। क्या यहाँ 'अनित्य' कहने से घटादि मे भी आश्चर्य शब्द का प्रयोग होगा ? व्याख्याकार ऐसा नही मानते। वे कहते हैं—'निपातनाच्चानित्यविशेषो विस्मयहेतुर्गृह्यते' (प्रदीप)। अतएव अनित्य सामान्य मे इसका प्रयोग युक्त नही है। दूसरा उदाहरण—'निपातनसामर्थ्याद् विशिष्टे दाशते सघे वर्त्तमाना भाववचना भवन्ति' (प्रदीप ५ । १ । ९५)। तथैव ज्ञानेन्द्र ने कहा है—'यद्यपि पणितव्यशब्दोऽर्थद्वयसाधारणस्तथापि निपातनस्येह रुढ्यर्थत्वाद् व्यवहर्तव्य एवाय निपात्यते' (तत्त्वबोधिनी ३ । १ । १०१)। इन उदाहरणो स निपातन-महिमा स्पष्ट समझी जा सकती है।

निपातन हेतुक विशिष्टार्थज्ञापनविषय मे अन्य उदाहरण 'चरणे ब्रह्मचारिणी' (६ । ३ । ८६) सूत्र भी है। यहाँ कैयट ने कहा है—'अवयवनिपातनद्वारेण विशिष्टेऽर्थे समुदायस्यैव साधुत्वमन्वाख्येयमिति मत्वा समुदायमेव निपात्यत्वेनोपन्यस्यति'। यह मत नागेश ने भी स्वीकार किया है, वे कहते हैं—'चरणे समानत्वेन गम्य इत्यर्थ इति भाव। अयमेव चार्थो निपातनोक्तिद्वारा भगवतोक्त इति।' (उद्द्योत)। उग्रपश्येरम्मदपाणिन्धमाश्च (३ । २ । ३७) सूत्र मे भी निपातनजनित विशिष्टार्थकता का उदाहरण मिलता है। नारायणभट्ट कृत प्रक्रियासर्वस्व मे निम्नोक्त श्लोक इस विषय मे हैं—

उग्रपश्य क्रूरदृष्टिस्त्र पाप विदन्नपि।
इरया वारिणा माद्यन् वैद्युताग्निरिरम्मद. ॥
सर्पास्पृश्यादिरोधार्थं ध्मायन्ते यत्र पाणय।
सोध्वा पाणिन्धमोऽत्राधिकरणार्थो निपातनात्॥

'भित्त शकलम्' (८ । २ । ५९) सूत्र भी इस प्रसग मे आलोचनीय है। यहाँ निपातन-बल से 'यह रूढि शब्द है'—यह पाणिनि सूचित करते है। वासुदेव दीक्षित ने कहा है—'शकलत्वजातिविशिष्टेऽवयवार्थमनपेक्ष्य रूढोऽयम्, ततश्च भित्तशकलयो पर्यायत्वान्न सह प्रयोग.' (बालमनोरमा)। निपातन रीति के न ग्रहण करने पर क्या यह अर्थ सरलतया ज्ञापित हो सकता है ?

जैसे निपातनसिद्ध शब्द रूढ हैं, उसी प्रकार सज्ञावाची भी[1]। कैयट ने कहा

१—निपातित शब्द सज्ञावाची भी होते हैं—ब्राह्मणकोष्णिके सज्ञायाम् (५ । २ । ७१) सूत्र इसका उदाहरण है। सज्ञा = सज्ञा के विषय मे। यह सज्ञा किस प्रकार की है, यह व्याख्यान ग्रन्थो मे स्पष्ट है—यत्रायुधजीविनो ब्राह्मणाः सन्ति तत्र ब्राह्मणक इति सज्ञा (अल्पान्ना यवागूरुष्णिकेत्युच्यते (काशिका)।

पर अर्थ में क्या भेद होता है यह गवेषणीय है। इसी प्रकार निपातन द्वारा जब रूढ्यर्थ (=प्रसिद्धि के अनुसार प्रयोग) की प्रतीति होती है तब अर्थों का निर्देश भी सूत्र में क्यों किया गया है यह भी प्रष्टव्य हो सकता है। संभवतः स्पष्टार्थ के लिये अर्थ का निर्देश किया गया है, यद्यपि जो अर्थ सूत्र में दिया हुआ रहता है उसका एक निश्चित क्षेत्र ही निपातित शब्द द्वारा व्यक्त होता है यह अनुगमनायामेन (५।४।८३) प्रयाय्यनियोज्यौ शक्यार्थे (७।३।६८) आदि अर्थनिर्देशयुक्त सूत्रों को देखने से ज्ञात होता है। अर्थ-निर्देशहीन निपातन सूत्रों में वस्तुतः अर्थ नियमन पर कुछ विशेष वक्तव्य नहीं रहता, पर अनिष्ट रूप की संभावना की निवृत्ति के लिये मुख्यतया निपातन रीति का आश्रय लिया जाता है जैसा कि अनुपसर्गात् फुल्लक्षीब – — (८।२।५५) आदि अर्थनिर्देशहीन सूत्रों के अध्ययन से ज्ञात होता है। यथाकालिक कार्यप्राप्ति भी एक निपातन-हेतु हो सकता है (न्यास ४।१।३८)।

निपातन-हेतुक अर्थवैशिष्ट्य—यद्यपि निपातन-स्थल में प्रायः विधि-सूत्र से शब्द-निष्पत्ति सिद्ध हो सकती है तथापि अर्थविशेष में लाघवार्थ निपातन-रीति का अवलम्बन पाणिनि ने किया है। एक उदाहरण लीजिए—'आकालिकडाद्यन्तवचने' (५।१।११४) सूत्र निपातन का उदाहरण है। यहाँ शब्द निष्पत्तिकार्य विधि सूत्र से करने में भी दोष नहीं है जैसा कि वार्तिककार ने कहा है—'आकालाद्विपातमानर्थक्यम् ठञ्प्रकरणात्'। तथापि विधि-सूत्र करने पर अर्थ-वैशिष्ट्यव्याप्ति नहीं होगा इसे कैयट ने स्पष्ट रूप से दिखाया है—'जन्म-विनाशयोरेकाव्यवहितकालत्वादेककालत्वम्। विधौ स्वयमर्थ क्लेशेन प्रतीयेत इति निपातनाश्रयणम्' (प्रदीप ५।१।११४)।

निपातन-बल से निपातित-शब्द के अर्थ के विषय में किस प्रकार का नियमन होता है 'शृतं पाके' (६।१।२७) सूत्र में इसका प्रकृष्ट उदाहरण विद्यमान है। पाक वाच्य होने पर 'शृत' निपातित होता है यह इस सूत्र का अर्थ है। परन्तु चूंकि शृत शब्द निपातित हुआ है, अतः विक्लृत्तिलक्षण 'पाक' में ही शृत शब्द का तात्पर्य है—इस प्रकार समझना चाहिए—'द्विविधो हि पाक —विक्लित्तिलक्षण विक्लेदनालक्षणश्च। पाकमिपृव्यापारे तु विधि कृते पाचनामात्रेऽर्थे प्राधान्येनाभिधीयते न तु पाकमात्रम् इति निपातना-माव' (प्रदीप)।

कभी-कभी अर्थ-सामान्य से अर्थ-विशेष की प्रतिपत्ति निपातन से होती है, इस नियम के अनेक उदाहरण हैं। एक उदाहरण लीजिए— आश्चर्यमनित्ये

(६ । १ । १४६) सूत्र मे 'आश्चर्य' पद निपातित है। क्या यहाँ 'अनित्य' कहने से घटादि मे भी आश्चर्य शब्द का प्रयोग होगा ? व्याख्याकार ऐसा नही मानते। वे कहते है—'निपातनाच्चानित्यविशेषो विस्मयहेतुर्गृह्यते' (प्रदीप)। अतएव अनित्य सामान्य मे इसका प्रयोग युक्त नही है। दूसरा उदाहरण—'निपातनसामर्थ्याद् विशिष्टे दाशते सघे वर्त्तमाना भाववचना भवन्ति' (प्रदीप ५ । १ । ७५)। तथैव ज्ञानेन्द्र ने कहा है—'यद्यपि पणितव्यशब्दोऽर्थद्वयसाधारणस्तथापि निपातनस्येह रुढ्यर्थत्वाद् व्यवहर्तव्य एवाय निपात्यते' (तत्त्वबोधिनी ३ । १ । १०१)। इन उदाहरणो से निपातन-महिमा स्पष्ट समझी जा सकती है।

निपातन हेतुक विशिष्टार्थज्ञापनविषय मे अन्य उदाहरण 'चरणे ब्रह्मचारिणी' (६ । ३ । ८६) सूत्र भी है। यहाँ कैयट ने कहा है—'अवयवनिपातनद्वारेण विशिष्टेऽर्थे समुदायस्यैव साधुत्वमन्वाख्येयमिति मत्वा समुदायमेव निपात्यत्वेनोपन्यस्यति'। यह मत नागेश ने भी स्वीकार किया है, वे कहते है—'चरणे समानत्वेन गम्य इत्यर्थ इति भाव । अयमेव चार्थो निपातनोक्तिद्वारा भगवतोक्त इति।' (उद्द्योत)। उग्रपश्येरम्मदपाणिन्धमाश्च (३ । २ । ३७) सूत्र मे भी निपातनजनित विशिष्टार्थकता का उदाहरण मिलता है। नारायणभट्ट कृत प्रक्रियासर्वस्व मे निम्नोक्त श्लोक इस विषय मे हैं—

> उग्रपश्य क्रूरदृष्टिरुग्र पाप विदन्नपि।
> इरया वारिणा माद्यन् वैद्युताग्निरिरम्मद. ॥
> सर्पास्पृश्यादिरोधार्थं ध्मायन्ते यत्र पाणय ।
> सोध्वा पाणिन्धमोऽत्राधिकरणार्थो निपातनात्॥

'भित्त शकलम्' (८ । २ । ५९) सूत्र भी इस प्रसग मे आलोचनीय है। यहाँ निपातन-बल से 'यह रूढि शब्द है'—यह पाणिनि सूचित करते हैं। वासुदेव दीक्षित ने कहा है—'शकलत्वजातिविशिष्टेऽवयवार्थमनपेक्ष्य रूढोऽयम्, ततश्च भित्तशकलयो. पर्यायत्वान्न सह प्रयोग' (बालमनोरमा)। निपातन रीति के न ग्रहण करने पर क्या यह अर्थ सरलतया ज्ञापित हो सकता है ?

जैसे निपातनसिद्ध शब्द रूढ हैं, उसी प्रकार सज्ञावाची भी[1]। कैयट ने कहा

१—निपातित शब्द सज्ञावाची भी होते हैं—ब्राह्मणकोष्णिके सज्ञायाम् (५ । २ । ७१) सूत्र इसका उदाहरण है। सज्ञा = सज्ञा के विषय मे। यह सज्ञा किस प्रकार की है, यह व्याख्यान ग्रन्थो मे स्पष्ट है—यत्रायुधजीविनो ब्राह्मणाः सन्ति तत्र ब्राह्मणक इति सज्ञा (अल्पान्ना यवागूरुष्णिकेत्युच्यते (काशिका)।

है—'निपातनादेव संज्ञासामात्' (प्रदीप ८।२।१२) विधि-सूत्र से संज्ञार्थ प्रकटित नहीं होता अतः निपातन-सूत्र की रचना सार्थक है। यह मत भर्तृहरि ने भी ग्रहण किया है यथा— धातुसाधनकालानां प्राप्त्यर्थं नियमस्य च। अनुबन्धविकाराणां रूढ्यर्थं च निपातनम् (बहुत्र उद्धृत)। अतएव निपातनाद् रूढिरवसीयते' (प्रदीप १।१।१२७) यह कैयट ने कहा है।

निपातन-बल से ज्ञापित नियम—इस विषय में कार्मस्ताच्छील्ये (६।४।१७२) सूत्र प्रसिद्ध उदाहरण है। यहाँ महाभाष्यकार ने निपातन (आचार्य प्रयुक्त शब्द द्वारा ज्ञाप्यमान अर्थ को व्यक्त किया है यथा—'एवं तर्हि सिद्धे सति यन्निपातनं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यस्ताच्छीलिके णेऽणकृतानि भवन्तीति (६।४।१७२)।

पहले कहा गया था कि निपातन न शब्द-निष्पत्ति विषय में लाघव होता है एवं विशिष्टार्थ ज्ञापन सरल होता है। यह भी जानना चाहिए कि कभी-कभी अनिष्ट-रूप-निवृत्ति के लिये भी निपातन किया जाता है। 'अनुपसर्गात्फुल्ल इत्यादि सूत्र ८।२।५५) पर कयट ने कहा है— 'यद्यपि फुल्लादयः पचाद्यचीगुपधलक्षणे के च सिद्धयन्ति तथापि 'निष्ठा च द्व्यजनात्' (६।२।५२) इत्यादि कार्यासक्तये क्षीबितादिनिष्टरूपनिवृत्तये च निपातनम् प्रदीप)। इस नियम का दूसरा उदाहरण भी है। पाणिनि द्वारा ६।१।१२ सूत्र में साह्वान् पद निपातित हुआ है। परन्तु यहाँ णिच् पक्ष में वृद्धि प्रसिद्ध होने के कारण दीर्घत्व-निपातन व्यर्थ है ऐसी शङ्का नहीं होनी चाहिए। कारण यहाँ निपातित 'साह्वान्' पद 'सहान' के असाधुत्व का ज्ञापक है ऐसा व्याख्याकार कहते हैं। निपातन-सूत्रों में शब्द-गौरव से भी कहीं-कहीं सूक्ष्म अर्थ का ज्ञापन किया गया है। हम 'प्रतिष्कशश्च कशे' (६।१।१५२) सूत्र को इसके उदाहरण के रूप में देख सकते हैं। यदि यहाँ 'प्रतिष्कशः' ऐसा सूत्र होता तो शब्द-निष्पत्ति प्रक्रिया में कोई भी दोष नहीं होता। इस पर सायण ने कहा है—"प्रतिष्कशः इत्येतावतैव सूत्रयितव्ये कशेरिति वचनं प्रते' कशिसम्बन्धित्वे निपातनम् यथा स्यादिति तेन कशां प्रति गतः प्रतिकशोऽश्व इत्यत्र न भवति" (माधवीय धातुवृत्ति पृ २५४।

निपातन-सम्बन्धी परिभाषा—निपातन के विषय में एक परिभाषा है— 'बाधकान्यपि निपातनानि' (सीरदेवीयपरिभाषावृत्ति ७९)। यद्यपि पाणिनि द्वारा ४।३।१ ५ सूत्र में 'पुराण' शब्द प्रयुक्त हुआ है तथापि इस

निपातन के अवाधक होने के कारण 'साय चिरम्' इत्यादि (४।३।२३) सूत्र से सिद्ध 'पुरातन' शब्द भी साधु माना जाता है। दूसरे लोग इस वचन को परिभाषा के रूप मे नही मानते। भाष्यकार ने कहीं भी ईदृश वचन का पाठ नही किया है। वे १।१।२७ सूत्र-भाष्य मे "बाधकान्येव निपातनानि" का प्रतिपादन करते हैं। यह मत भागवृत्ति मे भी है (सीरदेव कृत 'परिभाषावृत्ति' पृ० १३६)। निपातित शब्द से जिस शब्द का बाध प्राप्त होता है यदि वह शब्द दूसरे प्रमाण से सिद्ध होता है तो उसको 'पृषोदरादि' सूत्र से सिद्ध मानना चाहिए—ऐसा अन्य मत वाले कहते हैं (परिभाषेन्दुशेखर, परिभाषा ११९ द्रष्टव्य)।

कभी-कभी निपातन-बल से किसी-किसी परिभाषा की प्रवृत्ति-अप्रवृत्ति का निर्णय भी होता है, जैसा कि तत्त्वबोधिनी में कहा गया है—"निपातन-सामर्थ्याल्लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषा नाश्रीयत इत्याहुः" (६।१२७)। कभी-कभी व्याख्याकार निपातन-बल को सामान्य रूप से मानते हैं, जैसा कि कहा गया है—"केचित् सामान्येन निपातनमिच्छन्ति, तेन खप्रत्ययाभावेऽपि प्रयोग उपपन्नो भवति पारोवर्यविदिति" (प्रदीप ५।२।१०)।

निपातन और स्वर—निपातन और स्वर का सम्बन्ध भी विचारणीय है। जिस प्रकार निपातन से अन्यान्य शास्त्रीय कार्य बाधित होते हैं उसी प्रकार निपातन-स्वर अन्यान्य स्वरो का बाधक होता है—यह सभी व्याख्याकारो का मत है। इस विषय मे भाष्यकार का मत पहले जानना चाहिए। उन्होने स्पष्ट ही कहा है—"यथैव निपातनस्वरः प्रकृतिस्वरस्य बाधक एव समासस्वरस्यापि" (६।१।१२३)। सभी व्याख्याकारो ने "निपातनस्य सर्वापवादत्वम्" पुनः पुनः कहा है। वस्तुतः सभी निपातन-स्थलो मे निपातन बल से स्वर-व्यवस्था होती है, अर्थात् निपातन से स्वर-निर्देश भी सरल एव सुदृढ होता है। अतएव 'ओरावश्यके' (३।१।१२५) मे वार्तिककार का जो आक्षेप है (द्योत्य इति चेत् स्वर-समासानुपपत्तिः) उसके समाधान के लिये भाष्यकार ने कहा है—"नैष दोषः मयूरव्यसकादित्वात् समासः, विस्पष्टादिवत् स्वरश्च।" इसकी व्याख्या मे कैयट ने कहा है "—एवमवश्यलाव्यमित्यादावपि मयूरव्यसकादिषु निपातनादुत्तरपदप्रकृतिस्वरो भविष्यतीत्यर्थ.'। इसकी व्याख्या मे नागेश ने निपातन का सर्वाधिक बल दिखाया है—"एव च मयूरव्यसकादिषु निपातनादेव सिद्धे विस्पष्टादीनीति सूत्रमपि न कार्यमिति भावः" (उद्द्योत)। सभी व्याख्याकारो का मत है कि निपातित शब्द की इष्ट स्वरसिद्धि निपातन-बल से होती है।

उपसंहार—उपर्युक्त उदाहरणों से यह सिद्ध होता है कि जहाँ-जहाँ निपातन किया गया है, वहाँ कुछ न कुछ हेतु अवश्य है। कहीं प्रक्रिया-लाघव के लिये कहीं अर्थ-वैशिष्ट्य दिखाने के लिये, कहीं अनुक्तार्थज्ञापन के लिये, कहीं स्वरादि-सिद्धि के लिये पाणिनि ने प्रकृति-प्रत्यय-निर्देश-परित्याग पूर्वक निपातन-सूत्रों की रचना की है। यद्यपि हम अभी प्रत्येक निपातन-सूत्र में निपातन का सार्थक्य दिखाने में असमर्थ हैं, तथापि इन उदाहरणों से यह सिद्ध होता है कि किसी इष्टार्थ सिद्धि के लिये पाणिनि ने निपातन-सूत्रों की रचना की है, इन सूत्रों में किसी प्रकार की अनर्थकता नहीं है।

सप्तम परिच्छेद

'संज्ञायाम्'-पद-घटित सूत्रों का तात्पर्य

पाणिनि ने कुछ सूत्रो मे 'सज्ञायाम्' (=सज्ञा यदि हो तो) पद का प्रयोग किया है। उनका अभिप्राय यह है कि तत्तत्सूत्रीय कार्य तभी होगा, यदि वह शव्द 'सज्ञा' मे होता हो। सूत्रकार के इस निर्देश के कारण 'सज्ञा' का महत्त्व बढ जाता है, अतः यहाँ 'सज्ञा' के स्वरूप पर विचार करने का प्रयास किया जा रहा है।

सूत्रगत संज्ञाशब्द—सम्पूर्वक ज्ञाधातु से अङ् प्रत्यय कर संज्ञा शब्द सिद्ध होता है, यह टीकाकारो ने कहा है। टीकाकारो ने यह भी दिखाया है कि यह अङ् प्रत्यय कही भाव मे, कही कर्म मे और कही करण मे होता है[1]। इन तीन अर्थों मे सज्ञा शव्द की प्रवृत्ति के कारण सज्ञा के तीन तात्पर्य भी होते हैं, जैसा कि यथास्थान दिखाया जाएगा[2]।

जिस प्रकार कुछ सूत्रो मे पाणिनि ने 'सज्ञायाम्' कहा है, उसी प्रकार कुछ सूत्रो मे उन्होने 'असज्ञायाम्' भी कहा है, जैसे 'भृञोऽसज्ञायाम्' (३।१।११२)

१—निरुक्त मे भी यह दृष्टि है। 'सज्ञाकरणम्' पद की व्याख्या मे स्कन्द कहते हैं—करणसाधनः सज्ञाशव्द, सक्षेपेण ज्ञायतेऽनयेति सज्ञा, अथवा कर्मसाधन सक्षिप्तो ज्ञायत इति वाक्यार्थ एव सज्ञाशव्देन उच्यते (पृ० १७)। यह दो मत अष्टाध्यायी मे भी लक्षित होते हैं।

२—संज्ञा के तात्पर्य के विषय मे व्याख्याकारो मे भी कही कही मतभेद लक्षित होता है, अतः वैयाकरणो को चाहिए कि सज्ञा का स्वरूप निश्चित कर प्रत्येक सूत्र के उदाहरण मे सज्ञात्व का समन्वय करने की चेष्टा करें। दीक्षित कहते हैं—यत्तु मुष स्तेये सज्ञायाश्चाजातित्वादित्याहुः तच्चिन्त्य व्याघ्रीत्यादिवत् सज्ञात्वेऽपि जातित्वानपायात्। हरिदीक्षित इस पर लिखते हैं—ववुनादिविधौ सज्ञात्वेन रूढिरेव गृह्यते न तु शव्दप्रवृत्तिनिमित्तरूप सज्ञात्व गृह्यते। अतएव घ्र. सज्ञायामित्यादिना व्याघ्रादिसिद्धिरिति दिक् (प्रौढमनो० स्त्रीप्रत्यय० पृ० ३९७)। सज्ञा के स्वरूप का निर्धारण कभी कभी विवादास्पद हो सकता है, यह स्थल इसका उदाहरण है।

सूत्र में (३।२।१८० ४।३।१४९ सूत्र भी द्रष्टव्य हैं)। पाणिनि के इस व्यवहार से यह सिद्ध होता है कि 'संज्ञा' और 'असंज्ञा' रूप दो प्रकार का वर्गीकरण शास्त्र-संमत है। संज्ञा और असंज्ञा का जो भेदक तत्त्व है, वह यथास्थान विवृत होगा।

यहाँ यह भी जानना चाहिए कि कुछ ऐसे भी सूत्र हैं जिनकी प्रवृत्ति संज्ञा और असंज्ञा में समानरूप से होती है। सूत्र है—"अनिरन्ता ——— असंज्ञायामपि" (८।४।५)। व्याख्याकार कहते हैं कि 'अपि' शब्द के बल से इस सूत्र की प्रवृत्ति संज्ञा और असंज्ञा दोनों में होगी (संज्ञायाम् असंज्ञायाम् अपि-काशिका)। यदि इस सूत्र में 'असंज्ञायामपि' यह नहीं कहा जाता तो ८।४।३ सूत्रगत 'संज्ञा' शब्द की अनुवृत्ति इस सूत्र में होती और इससे अनिष्ट ही होता इसलिये सूत्रकार ने 'असंज्ञायाम्' कहा है।

यह एक सामान्य नियम है कि जिन सूत्रों में 'संज्ञायाम्-असंज्ञायाम्' रूप निर्देश नहीं है वे सूत्र दोनों प्रकार के शब्दों में समान रूप से प्रवर्तित होते हैं जैसे—"इको यणचि" (६।१।७७) सूत्र दोनों प्रकार के शब्दों में समान रूप से प्रवर्तित होता है।

यदि उपर्युक्त निर्णय सत्य माना जाए तो 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' (३।३।१९) सूत्र में असंगति-सी प्रतीत होती है। सूत्र में जो 'च' है उसके बल पर यह सूत्र असंज्ञा में भी होगा (यद्यपि सूत्रकार ने 'संज्ञायाम्' कहा है)—ऐसा काशिकाकार आदि सभी आचार्य मानते हैं। यदि बात ऐसी ही है तो 'अकर्तरि च कारके' रूप सूत्र ही बनाना चाहिए था जिससे सूत्र में लाघव होता यत्नान्तर के बिना भी असंज्ञा में भी इस सूत्र की प्रवृत्ति होती। यदि 'च'कार से असंज्ञा का समुच्चय किया जाए, तो 'संज्ञायाम्' कहना व्यर्थ है। 'संज्ञायाम्' न कहने पर इस सूत्र की प्रवृत्ति संज्ञा-असंज्ञा दोनों में होती ही है। इस प्रश्न का समाधान जिनेन्द्रबुद्धि इस प्रकार देते हैं—"संज्ञायां चेति चार्थं द्योतयन्नसौ संज्ञाव्यभिचाराय भवति तेनासंज्ञायामपि भवति। यद्येवं संज्ञाग्रहणमकृत्वा सामान्येनैव प्रत्ययो विधेयः। तत्रायमप्यर्थः —संज्ञाव्यभिचारार्थश्चकारो न कर्तव्यो भवति। सत्यमेतत्। तथापि बाहुल्येन संज्ञायां भवति असंज्ञायां तु क्वचिदेवेत्यमुमर्थं सूचयितुं संज्ञाग्रहणं कृतम् (न्यास ३।३।१९)। इससे यह भी सिद्ध होता है कि जब कर्तृकारक से भिन्न दूसरे कारकों में 'घञ्' प्रत्यय होता है तब बाहुल्येन वह संज्ञा में ही होता है अतः यह समाधान समीचीन है। बहुल-प्रवृत्तिनिदर्शन-सापेक्ष अनेक सूत्र पाणिनि ने बनाए हैं (यथा ३।३।१२२

आदि), अतः पाणिनि ने 'सज्ञा मे बाहुल्येन घञ्प्रवृत्ति' के प्रदर्शन के लिये 'वहुल' न कहकर सज्ञाग्रहण किया है–यह कथन असगत नही है।[1]

यह ज्ञातव्य है कि सज्ञा-पद-घटित सूत्रो की प्रवृत्ति असज्ञा मे नही होती है। यथा 'दिक्सख्ये सज्ञायाम्' (२।१।५०) सूत्र की प्रवृत्ति असज्ञा मे नही होती। अतः "सज्ञायामिति किम् ? उत्तरा वृक्षा., पञ्च ब्राह्मणाः" आदि प्रत्युदाहरण प्राचीन आचार्यों ने दिए हैं (काशिका)। प्रत्युदाहरणभूत शब्द सज्ञा नही हैं, यह स्पष्ट है।

संज्ञायाम् शब्दगत सप्तमी विभक्ति का रहस्य :—जिन सूत्रो मे 'सज्ञायाम्' (सज्ञा मे) कहा गया है, उनमे सप्तमी विभक्ति का तात्पर्य आलोचनीय है। भाष्यकार ने इस विषय को स्पष्ट किया है कि सज्ञा गम्यमान होने पर ही सूत्रीय कार्य होगा, न कि सज्ञा बनाने की इच्छा से सूत्रीय कार्य करना चाहिए, यथा—य एते सज्ञाया विधीयन्ते, तेषु नैव विज्ञायते सज्ञायामभिधेयायामिति। किं तर्हि ? प्रत्ययान्तेन चेत्सज्ञा गम्यते इति (३।१।११२)।[2]

---

१ पाणिनि के प्रत्येक सज्ञापदघटित सूत्र से निष्पन्न शब्द मे सज्ञात्व क्या है, यह एक अवश्य लक्षणीय विषय है। प्राचीन व्याख्याकार इस विचार मे असाधारण सहायक हैं। कही कही टीकाकारो ने भी सशय व्यक्त किया है, यथा—६।३।१२५ सूत्र सिद्ध 'अष्टापद' रूप सज्ञा शब्द पर वासुदेव कहते हैं—सज्ञात्वमन्वेषणीयम् (बालमनोरमा)। अष्टापद स्वर्णवाची है (अमर० २।९।९५)। क्षीरस्वामी कहते हैं—अष्टसु लोहेषु पद प्रतिष्ठाऽस्य अष्टापदम् अष्टन संज्ञायां चेति दीर्घ.।

२ इसकी व्याख्या मे कैयट ने कहा है—"संज्ञायामिति सज्ञाशब्दः कर्मसाधनो न गृह्यते, किन्तु भावसाधनः तेन प्रत्ययान्तेन यदि रूढिर्गम्यते ततः प्रत्यय·" (प्रदीप ३।१।१८)। इसकी व्याख्या मे नागेश ने कहते हैं—"भावसाधनेन धातूनामनेकार्थत्वाद् रूढिरुच्यते। ······तद्विषयोऽर्थ.। तेन रूढ्यर्थो गम्यते इत्यर्थ। नामधेयवाची सज्ञाशब्दस्तु करणव्युत्पन्न इति बोध्यम्" (उद्द्योत)। इस प्रसग मे यह भी विचार किया जा सकता है कि यहां "धातूनामनेकार्थत्वात्" कथन की आवश्यकता नही है। रूढि=प्रसिद्धि है, प्रसिद्धि.=प्रकृष्ट सिद्धि.। सिद्धि का अर्थ ज्ञान है। अतएव ज्ञानार्थक ज्ञा धातु से भाव में अङ् प्रत्यय होकर रूढिवाचक 'सज्ञा' शब्द की सिद्धि हो जाती है, धातुओ का अनेकार्थत्व ग्रहण

[1] भाष्यकार के इस सिद्धान्त को 'रघुनाथ' शब्द का उदाहरण (रघुनाथ नाम है, अतः संज्ञा में होने वाला णत्व की प्राप्ति है) देकर वासुदेव ने स्पष्ट किया है यथा—"न च रघुनाथ इत्यादौ संज्ञायां णत्वं स्यादेवम् एतेन चेत्संज्ञा गम्यते इत्यर्थात्। न तु सूत्रे एतत्संज्ञाशब्दमनुपादाय एवम्। भूतोऽर्थोऽभावामिति सूत्रभाष्ये च एते संज्ञायामिति विधीयन्ते तेषु नैवं विज्ञायते संज्ञायामभिधेयायामिति। किं तर्हि प्रत्ययान्तेन चेत्संज्ञा गम्यते इत्युक्तम्" (बालमनोरमा ८।४।३)। इस पूरे विचार का तात्पर्य यह है कि सूत्रविहित कार्य को कर देने से ही कोई शब्द संज्ञावाची नहीं होता, प्रत्युत सूत्रोक्त कार्य के करने पर यदि लोक में संज्ञा का बोध होता है, तभी सूत्रविहित कार्य करना चाहिए, न चेत् नहीं।

[2] *संज्ञा का तात्पर्य*—रूढि, योगरूढि निश्चितगणना, नाम लौकिक व्यवहार आदि को प्रकटित करने के लिये 'संज्ञा' शब्द का प्रयोग सूत्रकार ने किया है जैसा कि अन्यत्र उदाहरणों से स्पष्ट होगा। संज्ञा को रूढ्यर्थपरक मानने वाली कुछ व्याख्याओं का उपन्यास पहले किया जा रहा है। वासुदेव दीक्षित ने 'धेनुष्या' शब्द की व्याख्या में संज्ञा रूढि ही है ऐसा कहा है (बालमनोरमा ४।४।८९)। कैयट ने भी 'भार्या' (भार्या नाम क्षत्रिया—भाष्य ३।१।११८) रूप संज्ञा शब्द को 'संज्ञायते इति संज्ञा' इस प्रकार कर्मसाधन संज्ञाशब्द मानकर संज्ञा को 'रूढि' कहा है। नागेश ने भी '*संज्ञा की व्याख्या के* अवसर में 'कथासहशी व्यक्तिविशेषे रूढिः संज्ञात्वम्' (उद्द्योत १।१।२ ४) यह स्वीकार किया है।

'अभिवादो संज्ञायाम् (३।२।१४) में संज्ञा = नाम है। इस नामधेयपरक व्याख्या का उदाहरणसूत्र 'शङ्कुरा' शब्द किसी परिव्राजिका का नाम है (शङ्कुरा नामक परिव्राजिका) यह भाष्य में कहा गया है तथैव ८।२।११ सूत्र से सिद्ध 'महीमती' संज्ञाशब्द किसी नदी का नाम है। दिक्संख्ये संज्ञायाम् (२।१।५०) सूत्रनिष्पन्न 'सप्तर्षि' वसिष्ठादि सात ऋषियों का सामूहिक नाम है।

संज्ञा शब्द का एक दूसरा अर्थ भी है जो— तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात्" (१।२।५३) सूत्र में देखा जाता है। इसकी व्याख्या में भाष्यकार ने 'संज्ञानं

करना अप्रयोजनीय है। नागेश ने जो 'रूढि' शब्द कहा है उसका अर्थ है—'प्रसिद्धि'। यहाँ भाष्य में जो 'संज्ञायामभिधेयायाम्' कहा गया है उसका तात्पर्य है— 'प्रत्ययस्याभिधेयं संज्ञा भवति।

सञ्ज्ञा" कहा है। 'सञ्ज्ञान' के अर्थ के विषय मे कैयट ने कहा है—"अवगमः, सम्प्रत्ययः"। कैयट ने युक्ति भी दी है—"तत्र यथा आपो दाराः सिकता वर्षा इत्युक्ते लिङ्गसंख्याविशेषावगतिरुत्पद्यमाना प्रमाणमेव पञ्चाला वरणा इत्यादावपि। न च पञ्चालादयो यौगिकाः, अपि तु जनपदादीनां सञ्ज्ञास्ततो योगानवगमात् तद्धितो नोत्पद्यत इति लुबपि न वक्तव्यः" (प्रदीप १।२।५३)। इस सूत्र मे जो 'सञ्ज्ञा' शब्द है, उसमे भाव मे अङ् प्रत्यय हुआ है जैसा कि नागेश ने कहा है—भावे अङन्तो यौगिकः सञ्ज्ञाशब्द इत्यर्थ. (उद्द्योत—१।२।५३)। [1]

संज्ञाशब्द का द्वैविध्य—अर्थ की दृष्टि से सञ्ज्ञाशब्द दो प्रकार के हैं। कुछ सञ्ज्ञाशब्द अवयवानुसारी हैं, और कुछ अवयवार्थानुसारी नही हैं। जिनेन्द्र ने उदाहरण देकर स्पष्ट किया है—संज्ञाशब्दा हि द्विविधा भवन्ति। केचिदवयवार्थानुगता यथा 'सप्तपर्ण' इति, केचित्तु विपरीता यथा 'तैल-पायिकेति। तदिह यत्रावयवार्थानुगमोऽस्ति 'विश्वम्भरः शत्रुन्तप" इत्यादिषु तत्र कर्मणीति सम्बध्यते विश्व बिभर्त्तीति विश्वम्भर. यत्र त्ववयवार्थानुगमो नास्ति यथा रथन्तर सामेति, तत्र व्युत्पत्त्यर्थं सुपीति सम्बध्यते, रथेन तरतीति वा" (न्यास ३।२।४६)। सञ्ज्ञा शब्दो को रूढिशब्द मानकर पारस्करादि संज्ञाशब्दो के विषय मे न्यासकार ने कहा है—"पारस्करप्रभृतयो रूढिशब्दा यथाकथञ्चिद् व्युत्पाद्याः। नात्रावयवार्थं प्रत्यभिनिवेष्टव्यम्" (६।१।१५७)। अतएव सञ्ज्ञा (नाम) मे जिस शब्द की व्युत्पत्ति होती है यदि वह यौगि-कार्थानुसार ही प्रयुक्त होता है तो सञ्ज्ञाविधिसिद्ध णत्वादि कार्य नही होते। "नखमुखात्सञ्ज्ञायाम्" (४।१।५८) से निष्पन्न 'शूर्पणखा' शब्द राक्षसीविशेष की सञ्ज्ञा (नाम) है। यदि पुनः 'शूर्पमिव नखो यस्या.' इस अर्थ को लेकर 'शूर्पाकारनखयोगवती काचित् स्त्री' यह अर्थ किया जाए तो णत्व नही होगा (तत्त्वबो० ४।१।५८)। यौगिकार्थव्यपदेश मे सञ्ज्ञासूत्रीय कार्य नही होता है, यह न्याय है। यौगिकार्थ रहने पर भी यौगिकार्थ व्यपदेश जब नही होता है, तब ही सञ्ज्ञाकार्य होता है।

१—शब्दो के सञ्ज्ञारूपत्व के विषय में कही कही व्याख्याकारो में मत-विरोध है, जैसा कि ४।३।२७ सूत्र काशिका मे कहा गया है—"सञ्ज्ञाधिकार केचित् 'कृतलब्धक्रीतकुशला.' (४।३।३८) इति यावदनुवर्तयन्ति।" यदि लौकिक प्रयोग से सञ्ज्ञार्थ-सिद्धि हो सकती है, तो विवादास्पद सूत्रो का निर्णय भी सम्भव हो सकेगा।

'संज्ञा' शब्द की व्युत्पत्ति—यह दिखाया गया है कि 'संज्ञा' शब्द की व्युत्पत्ति कर्म करण एवं भाव में की जाती है। 'संज्ञा' का तात्पर्य एकाधिक है, अतः ऐसी भेदपूर्वक व्युत्पत्ति की जाती है। इन भेदों पर कैयट का वचन द्रष्टव्य है— 'संज्ञायत इति संज्ञेत्यर्थः। एवं व्यपदिश्यमानोऽभिधीयते। अथवा संज्ञायते अनयेति संज्ञा। तदा शब्द एव संज्ञाशब्देन उच्यते। संज्ञायां विषये कार्यं भवतीत्यर्थः' (प्रदीप ५।२।९१)। नागेश कहते हैं—संज्ञायां विषये = एवं व्यवह्रियमाण इत्यर्थः (उद्योत ५।२।९१)। भावार्थक संज्ञाशब्द के विषय में (१।२।५३ सूत्र की व्याख्या में) पहले कहा गया है।

इससे यह सिद्ध होता है कि संज्ञा शब्द के तीन अर्थ हैं। जब करण[1] में यह होता है ('संज्ञायते अनेन' ऐसा जब माना जाता है) तब 'संज्ञा' पद से शब्द (नामविशेष) का ग्रहण होता है। जब कर्म[2] में अङ् प्रत्यय होता है (यः संज्ञायते सः) तब संज्ञा शब्द से 'अर्थ' का ग्रहण होता है। जब भाव[3] में

१—करणसाधन संज्ञा शब्द—"संज्ञायतेऽनयेति संज्ञा। तदा शब्द एव संज्ञाशब्देनोच्यते। संज्ञायां विषये कार्यं भवतीत्यर्थः" (प्रदीप ५।२।९१)। संज्ञाशब्दस्तु करणव्युत्पन्न इति बोध्यम् (उद्योत ३।१।११२)।

२—कर्मसाधन संज्ञाशब्द—'भार्या नाम क्षत्रिया'—यह भार्या शब्द इसका प्रसिद्ध उदाहरण है। यहाँ सम्+ज्ञा धातु में कर्म में अङ् प्रत्यय हुआ है। यह संज्ञा क्यों है इस विषय पर जिनेन्द्र का मत है— संज्ञाशब्दश्च भार्याशब्दः। यथा ह्यबिभ्रत्यपि देवदत्ते तस्य पत्नी भार्या इत्युच्यते" (न्यास ३।१।११२)। कैयट के अनुसार यहाँ संज्ञा = रूढ़ि है (३।१।११८)—"संज्ञाशब्देन कर्मसाधनेन संज्ञायमानमभिधीयते (उद्योत ३।१।११८) इस वाक्य से कर्मसाधक संज्ञा शब्द का तात्पर्य स्पष्ट हो जाता है। कर्मवाच्य में 'संज्ञायते यः' यह अर्थ होगा, अतः संज्ञाबोध्य-अर्थ-परक होगा यह निश्चित है—स्वं रूपं शब्दस्येति भाष्येऽपि संज्ञाशब्दः संज्ञायते य इति व्युत्पत्त्या बोध्यार्थपर इति न दोषः (बृहत् शब्देन्दु पृ ८८)।

३—भावसाधन संज्ञाशब्द—सम्यक् ज्ञान ही संज्ञा है— 'संज्ञानां लोकव्यवहाराणाम्' (१।२।५३ बालमनोरमा)। इससे संज्ञा का स्वरूप भी स्पष्ट हो जाता है। ४।४।८६ व्याख्या में भी 'संज्ञानं संज्ञा प्रतिपत्तिः प्रसिद्धिरिति यावत्' कहा गया है (बृहच्छब्देन्दु पृ ९८४)। संज्ञा का अर्थ प्रसिद्धि होता है। भाष्यगत 'सञ्ज्ञाभूतानि' की व्याख्या में 'प्रसिद्धानि' पद का प्रयोग नागेश ने किया है (उद्योत ३।१।२६)।

अङ् प्रत्यय होता है, तब सज्ञापद से सम्प्रत्यय या व्यवहार या प्रसिद्धि का ग्रहण किया जाता है। इसीलिये सज्ञा की व्याख्या मे सभी व्याख्याकार प्रयोग को देखकर 'सम्यग् ज्ञान सज्ञा', 'सम्यग् ज्ञायते सज्ञा, 'सज्ञाना व्यवहाराणा' 'सज्ञाभूतो भाव.'—ऐसा कहते हैं। इन अर्थों के विपय मे पूर्वाचार्यों के वचन पहले प्रस्तुत किए गए हैं।

संज्ञा के लक्षण :—अब सज्ञा-लक्षण के विपय मे प्राचीन आचार्यों के मतो पर विचार किया जा रहा है :—

(क) "समुदायोपाधिः सज्ञा"—यह लक्षण प्रसिद्ध है। चूंकि प्रकृति-प्रत्यय-समुदाय से ही सज्ञा का वोव होता है, उसके समार्थक अन्य शव्दो या विग्रह आदि से नही, अत ऐसा कहा गया है। अतएव 'सज्ञायाम्' (२।१।४४) सूत्र के उदाहरण भूत 'अरण्येतिलका.' पद की व्याख्या मे विट्ठल ने कहा है—"सज्ञा समुदायोपाधिस्तेन नित्यसमासोऽयम् नहि वाक्येन सज्ञा गम्यते" (प्रसाद टीका)। न्यासकार ने यहाँ कहा है—'यत्र खलु समुदायेन चेत् सज्ञा गम्यते इत्युच्यते तत्र सज्ञायामिति नेदं पूर्वपदस्योत्तरपदस्य वा विशेषणम्, किन्तर्हि समुदायस्येति विज्ञेयम्" (२।१।४४)। इस सिद्धान्त का अन्य एक उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है। पाणिनि ने 'उपसर्गे च सज्ञायाम् (३।२।९९) सूत्र से सज्ञा मे 'प्रजा' शव्द का निष्पादन किया है। यहाँ सज्ञा को समुदायोपाधि कहा जाता है। यह समुदायोपाधि क्या है, इस विपय मे जिनेन्द्र ने कहा है—धातूपसर्गप्रत्ययसमुदायेन यदि सज्ञा गम्यते। एव प्रत्ययार्थो भवति, नान्यथेति दर्शयति प्रजेति। प्राणिसमुदायस्यैषा सज्ञा (न्यास ३।२।९९)। एक दूसरे सूत्र पर भी जिनेन्द्रवुद्धि कहते हैं—प्रकृति-प्रत्ययसमुदायेन यदि सज्ञा गम्यते, एव प्रत्ययो भवति नान्यथा (न्यास ३।३।११८)। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि उपाधि अवाच्य होकर व्यावर्त्तक होता है, पर विशेपण वाच्य होकर व्यावर्त्तक होता है। 'प्र+जन्+ड' समुदाय से यद्यपि प्राणि-समुदाय-रूप अर्थ अवाच्य होता है, तथापि उस अर्थ की प्रतीति होती है। इसलिये सज्ञा को समुदायोपाधि कहा गया है। 'प्र+जन्+ड' समुदाय का वाच्यार्थ है—'प्रकृष्टजनिकर्तृत्व')।

सज्ञाशव्द मे 'समुदायेनैव सज्ञा गम्यते' ऐसा कहा जाता है, अत. अज्ञो के लिये पूर्वोत्तर-पदविभाग-प्रदर्शनार्थ पद विभाग किया जाता है जैसा कि न्यास-कार ने कहा है—"पूर्वेपुकामशमीत्यादिर्ग्रामाणा सज्ञा। पूर्वा चासाविपु कामशमी चेति पूर्वपुकामशमी। पदविभाग पूर्वोत्तरपदविभागप्रदर्शनार्थः

भावय इत्यम्। मद्रूप वाक्येन भवितव्यम्। नहि वाक्येन संज्ञा मन्यते (न्यास २।१।५)।

(ख) मावद्द्रव्यभाविनी संज्ञा—विट्ठल ने 'मुख' संज्ञान्तरयोः (१।२।१७९) सूत्र में इस मत का वर्णन किया है। उन्होंने मन्तर शब्द के उदाहरण स्वरूप 'प्रतिभू' शब्द की व्याख्या कर कहा है—ननु संज्ञायामित्येव वक्तव्यम्, किमन्तरग्रहणेन ? न यावद्द्रव्यभाविनी संज्ञा। प्रतिभूशब्दः पुरुषे कादाचित्कः (प्रसादटीका)। पुरुष में यह शब्द कादाचित्क क्या है इस पर वासुदेव ने कहा है कि इसकी निवृत्ति हो जाती है—प्रतिभूशब्दस्तु सत्येव पुरुषे कदाचिन्न भवति, ऋण प्रतिदत्ते सति प्रातिभाव्यस्य निवृत्ते (बालमनोरमा ३।२।१७९)। इस मत को न्यासकार ने स्पष्ट किया है—'ननु प्रतिभूरिति संज्ञेयम् तत् किमन्तरग्रहणेन। संज्ञायामित्येव वक्तव्यम्। नवक्तव्य। द्रव्यताविघाता हि संज्ञाशब्दा भवन्ति। न चैव प्रतिभूशब्दः। तथापि सत्यपि देवदत्ते कदाचिदसौ न प्रवर्तत एव (न्यास ३।२।१७९)[1]

(ग) एकद्रव्यनिवेशी संज्ञाशब्द—जब कोई शब्द किसी का नाम होता है तब वह 'संज्ञा' कहलाता है। देवदत्त-यज्ञदत्तादि संज्ञा शब्द एकद्रव्यनिवेशी हैं किसी एक पिण्ड में पिता आदि के द्वारा ये शब्द संकेतित होकर उस अर्थ के वाचक होते हैं। घट पट वृक्ष आदि शब्द जाति-रूप अर्थ में प्रवृत्त होते हैं। पर ये संज्ञाशब्द किसी के नाम को कहते हैं—यह स्पष्टः जानना चाहिए।

इस नियम को लेकर विट्ठल ने एक महत्त्वपूर्ण विचार किया है। पूर्व सन्दर्भ इस प्रकार है। 'संज्ञापूरण्योश्च' (६।३।३८) के उदाहरणस्वरूप 'दत्तामार्य' पद की व्याख्या कर विट्ठल ने कहा है—'ननु च संज्ञाशब्दस्यैकद्रव्यविनिवेशित्वादुक्तपुंस्कत्वाभावात् कथं पुंवत्त्वप्राप्तिः। नैवम्—नह्ययं नियमो-ऽस्त्येकद्रव्यविनिवेशिन संज्ञाशब्दा इति। तथा हि—देवदत्तादिशब्दः संज्ञाभूता (संज्ञात्वं प्राप्त इत्यर्थः) अनेकत्र प्रयुज्यमानो लोके दृश्यते शास्त्रे च दृस्वादि शब्दा। ये त्वेकद्रव्यविनिवेशिनस्तान्प्रति नैष निषेधः। मन्येकार्थवृत्तित्वेऽपि

१—यहाँ का 'द्रव्यताविघाता' पाठ भ्रष्ट प्रतीत होता है। द्रव्यसत्ताऽविघातम् (द्रव्यसत्ता + आविघातम्) पाठ ठीक लगता है। आविघातम् = विघातपर्यन्तम्। जबतक द्रव्यसत्ता विद्यमान रहती है, तब तक संज्ञाशब्द की प्रवृत्ति रहती है। न्यासकार ने जो 'संज्ञाशब्दा भवन्ति' कहा है वहाँ 'भवन्ति' का अर्थ प्रवर्तन्ते' है।

संज्ञाशब्दाना कथमुक्तपुस्कत्वमेकत्र प्रवृत्तिनिमित्ते ? नहि तेषा किञ्चित्प्रवृत्तिनिमित्तमस्ति यदृच्छाशब्दत्वात्। एषोऽप्यदोषः। यतस्तेषामपि किञ्चिन्निमित्तमस्त्येव सप्तपर्णादिवत्। यत्राप्यन्यन्निमित्त नास्ति, तत्रापि स्वरूपमेव निमित्तमादाय वाच्ये प्रवर्तन्ते (प्रसादटीका ६।३।३८)। सज्ञा (नाम) शब्द मे प्रायः शब्द ही प्रवृत्तिनिमित्त होता है (क्वचित् धर्मविशेष को लक्ष्यकर सज्ञा की जाती है) ऐसा माना जाता है (द्र० ५।१।११९ सूत्रीय शब्देन्दु एव भैरवीटोका)। यद्यपि कोई कोई स्पष्टतया मानते है कि सज्ञा शब्द का कोई प्रवृत्तिनिमित्त नही है।

विट्ठल और भैरवमिश्र की युक्ति से यह सिद्ध होता है कि सज्ञाशब्दो का भी कई निमित्त है, जैसे—सज्ञाभूत 'दत्ता' शब्द मे दानक्रियाकृति रूप निमित्त है। कभी-कभी शब्द का स्वरूप ही उसका प्रवृत्तिनिमित्त होता है। जैसा कि वही विट्ठल ने कहा है—'यत्र याऽसौ दानक्रियाकृतिस्तस्या दत्तशब्दो भाषितपुस्कः, अथवा स्वरूपे प्रवृत्तिनिमित्ते।' यहाँ जो 'स्वरूपे प्रवृत्तिनिमित्ते' कहा गया है, उसका तात्पर्य यह है कि कभी-कभी शब्दका अपना स्वरूप ही प्रवृत्तिनिमित्त होता है, अर्थात् शब्दगम्य अर्थ की अपेक्षा न कर भी कोई नाम रख दिया जाता है। अर्थपक्ष मे वासुदेव दीक्षित कहते हैं— 'दत्तशब्दोऽय डित्थादिशब्दवन्न, किन्तु दानक्रिया पुरस्कृत्यैव स्त्रिया पुसि च सज्ञाभूत. प्रवृत्त। अतस्तस्य भाषितपुस्कत्वात् पुवत्त्वे प्राप्ते निषेधोऽयम्' (बालमनोरमा ६।३।३८)। 'दत्त' शब्द के नाम होने पर भी दान क्रिया के साथ उसका सबध माना जाता है। वह डित्थादि की तरह अर्थहीन नही है।

(घ) अक्तपरिमाणा सज्ञा—इसे कैयट ने स्पष्टत. ही कहा है (१।२।१ प्रदीप)। जिसका शब्दपरिमाण नियत है एव किसी प्रकारका शास्त्रान्तरविहित कार्य जिसमे नही होता, है, वह 'अक्तपरिमाण' है। नामधेय शब्दो मे यह दृष्टि पूर्णत. घटती है।

अन्यान्य आचार्यो ने इस लक्षणको इस प्रकार कहा है—'नियतानुपूर्वीका सज्ञा[1]।' इसका अर्थ यह है कि जिस शब्द की आनुपूर्वी नियत है वह सज्ञा है। पूर्वोक्त लक्षणवाक्य का यह फलितार्थ कथन है। अतएव ३।३।९९ सूत्रसिद्ध

१—एतन्मूलकमेव पठ्यतेऽभियुक्तै.—सज्ञाशब्दा अनादिप्रयुक्ताः नियतानुपूर्वीका एव सिद्धा तत्रेदानी कस्तद् विपरीत प्रयोक्तुमर्हति इति (शब्देन्दु० बहुव्रीहि प्रकरण पृ० ११५)।

'समज्या' रूप संज्ञाशब्द के विषय में जिनेन्द्र कहते हैं—'समज्येति। प्रवेर्गत्यर्थ-पोरिति वीभावो न भवति। संज्ञायामिति वचनात्। नहि वीभावे इयं संज्ञा गम्यते। निमतवर्णानुपूर्वीका हि संज्ञा भवति' (न्यास ३।३।९९)। संज्ञा के ये सब लक्षण यथायथरूप से विविध संज्ञाशब्दों में प्रवर्तित होते हैं।

संज्ञासंबंधी प्रकीर्ण विचार—संज्ञावश से उपाधि का परिहार भी होता है। इस 'उपाधि' शब्द से धर्मविशेष लक्षित होता है।[1] अतएव यह मत समीचीन है कि जहाँ संज्ञा का ग्रहण किया जाता है वहाँ धर्मनिर्देश करना व्यर्थ है जैसा कि काशिकाकार ने कहा है—संज्ञाग्रहणादुपाधिपरिग्रहे सिद्धे मधोरखेवतग्रहणं प्रपञ्चार्थम् (६।१।१२७)। यह वाक्य गणसूत्र-विषयक है। वह गणसूत्र है—'पृष-वृहतो' करपत्योश्चोरदेवतयोः सुट् तलोपश्च' (६।१।१२०)।

संज्ञाशब्द में नियत पदार्थों का ही ग्रहण होता है। यथा—२।१।५ सूत्रस्थित 'सप्तर्षि' रूप संज्ञा शब्द में वसिष्ठादि सात ऋषियों का ग्रहण होता है न कि मन्वादि किसी भी अभिलषित सात व्यक्तियों का ग्रहण इस शब्द में किया जाता है, तथैव 'षड्दर्शनी' इस संज्ञाशब्द में न्यायादि छह नियतदर्शनों का ही ग्रहण होता है, न कि किन्हीं कल्पित छह दर्शनों का।

संज्ञानिष्पादक सूत्रों में अभिधेय-नियम व्यापक रूप से प्रवृत्त होता है। अभिधेय-नियम रूढ़िमात्र नहीं है। अतएव काशिका (४।४।४६) में कहा गया है—"अभिधेय-नियमार्थम्, न तु रूढ्यर्थम्।" अभिधेय-नियम का स्वरूप निम्नोक्त उदाहरणों से स्पष्ट विज्ञात होगा —

'संज्ञायां ललाटकुक्कुट्यौ पश्यति (४।४।४६) सूत्र से 'लालाटिक' और 'कौक्कुटिक' शब्दद्वय संज्ञा में सिद्ध होते हैं। यहाँ व्याख्याकारों के अनुसार संज्ञाग्रहण 'अभिधेय-नियमार्थ' है। 'लालाटिक' के विषय में यह जानना चाहिए कि यद्यपि ललाट का दर्शन किसी के द्वारा भी किया जा सकता है तथापि सब ललाटदर्शक 'लालाटिक' नहीं कहलाते हैं जो सेवक दूर में स्थित होकर प्रभु के ललाट को देखता है, न कि कार्य में प्रवृत्त होता है, उस भृत्य को लालाटिक कहा जाता है। यहाँ जिनेन्द्र ने कहा है—सम्यग् ज्ञानं संज्ञा प्रसिद्धि तस्याम् प्रसिद्धिविषयभूतेऽर्थे इत्यर्थः" (तत्त्व०)। लालाटिक शब्द का यौगिक

१— धर्मविशेष उपाधिस्तदन्तवाच्य समानयन्नो य।
अनुपाधिरतोऽन्यः स्यात् सुखावादिविशेषणं यदृतत् ॥

वृत्ति से जो अर्थ होता है, उसको एकदेशमात्र का ही ग्रहण सञ्ज्ञाबल से किया जाता है। यही 'अभिधेय-नियम' शब्द का तात्पर्य है। इस प्रकार रूढ़ि से इसका भेद स्पष्ट हो जाता है।

दूसरा उदाहरण लीजिए। 'साक्षी' शब्द 'साक्षाद् द्रष्टरि सञ्ज्ञायाम्'(५।२।९१) सूत्र से सञ्ज्ञा मे निष्पन्न होता है। यहाँ काशिकाकार ने कहा है—"सञ्ज्ञाग्रहणमभिधेयनियमार्थम्। सञ्ज्ञाग्रहणादुपद्रष्टैवोच्यते। न दाता ग्रहीता वा। यद्यपि यहाँ दातृ-ग्रहीतृ-दर्शको का दर्शनकर्तृत्व है, तथापि साक्षिपद से उपद्रष्टा ही गृहीत होता है। भाष्यकार ने कहा है—"सञ्ज्ञाग्रहणसामर्थ्याद् धनिकान्तेवासिनोर्न भवतीति।"

एक अन्य उदाहरण ले—"सञ्ज्ञाया धेनुष्या" (४।४।८९) सूत्र से 'धेनुष्या' शब्द सञ्ज्ञा मे निपातित होता है। यहा अभिधेयनियम स्पष्ट है, अर्थात् जो धेनु दोहन के लिये अधमर्ण के द्वारा उत्तमर्ण को दिया गया है, उसकी यह सञ्ज्ञा है। इसी दृष्टि से हम 'वयस्य' शब्द पर भी विचार कर सकते हैं। ४।४।९१ सूत्र से सञ्ज्ञा मे वयस्य शब्द निष्पन्न होता है। यहाँ भी सञ्ज्ञा होने के कारण ही इस शब्द का अर्थ मित्र होता है, न कि शत्रु, यद्यपि 'वयसा तुल्य इति वयस्य.' इस व्युत्पत्ति से शत्रु भी वयस्य पदवाच्य हो सकता है। सञ्ज्ञा के कारण ही वयस्य से कभी शत्रु का ग्रहण नही होता, ऐसा टीकाकारो का मत है। इस प्रकार ४।४।९१ सूत्र से सञ्ज्ञा मे 'तुल्य शब्द निष्पादित होता है। ज्ञानेन्द्र ने कहा है—'सञ्ज्ञात्वादेव तुल्यमिति सदृशमात्रे प्रयुज्यते न तु तुलायामाग्रह. क्रियते' (तत्त्व०)। इस प्रकार 'उरस्य' और 'औरस' शब्द ४।४।९४ सूत्र से सञ्ज्ञा में निष्पन्न होते हैं। सञ्ज्ञाधिकार से इन दोनो का अर्थ पुत्र ही होगा, यह टीकाकारो का मत है। ४।४।९२ सूत्र से 'पथ्य' शब्द सञ्ज्ञा मे निष्पन्न होता है। यहाँ सञ्ज्ञाधिकार से अभिधेय नियम होता है। अत ज्ञानेन्द्र कहते हैं कि शास्त्रीय पथ से च्युत न होने वाला ही 'पथ्य' है न कि रास्ते (मार्ग) से च्युत न होने वाला कोई चोर पथ्य कहलाता है—'शास्त्रीयात् पथोऽनपेतमिति पथ्यम्, न तु मार्गादनपेतश्चोरोऽपीति' (तत्त्व०)। इस प्रकार ४।४ ९३ सूत्र से सञ्ज्ञा मे 'छन्दस्य' शब्द सिद्ध होता है। यहाँ ज्ञानेन्द्र ने सञ्ज्ञा बल को दिखलाया है—'यद्यपि वेदे त्रिष्टुवादिषु च सान्तच्छन्द शब्दोऽस्ति, तथापीह न गृह्यते सञ्ज्ञाधिकारात्, किन्तु इच्छापर्याय एव स गृह्यते' (तत्त्व०)।४।४।९५ सूत्र से सञ्ज्ञा मे 'हृद्य' शब्द निष्पन्न होता है। यह 'वशीकरण मन्त्र' है, जिससे दूसरो

के हृदय को वशीभूत किया जाता है। यहां टीकाकार कहते हैं कि संज्ञाधिकार के कारण ही मणिशादि शृपि में इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती।

पाणिनि ने अनेक सूत्रों में संज्ञा का प्रयोग अभिधेय नियम के लिये किया है, यह स्पष्ट नहीं है। इस भेद के विषय में पहले सामान्य-निर्देश किया गया है। इस भेद को 'संज्ञायां ललाटकुक्कुट्यौ पश्यति (४।४।४६) सूत्र में जिनेन्द्र ने स्पष्टया दिखाया है। उन्होंने कहा है कि संज्ञापद अभिधेय नियमार्थ है न कि स्वार्थ। स्वार्थ होने पर 'लालाटिक' और 'कौक्कुटिक' में धर्मभि-" की सम्भावना नहीं रहती। दोनों अर्थों में अनुपक्षेप' समान है अतः स्वार्थता भी समान है। अतः एक ही अर्थ में दोनों का प्रयोग हो सकता है अतः इस सूत्र में संज्ञापद अभिधेयनियमार्थ है स्वार्थ नहीं, (न्यास ४।४।४६)।

यह ज्ञातव्य है कि कहीं-कहीं अभिधेयनियम में (जहाँ एकाधिक अभिधेयों की सम्भावना है) विवक्षित अभिधेय का कथन आवश्यक हो जाता है अन्यथा अविवक्षित अभिधेय में भी सूत्र की प्रवृत्ति हो सकती है, यह आचार्यों का मत है। इस तथ्य को 'संज्ञायां शरदो वुञ् (४।३।२७) सूत्र की व्याख्या में जिनेन्द्र ने स्पष्टतः प्रतिपादित किया है (संज्ञा का समुदायोपाधित्व स्वीकारपूर्वक)—'यद्येवं शारदका दर्भा इति दर्भविशेषस्य प्रयोगो न प्राप्नोति प्रत्ययमात्रेणानभिहितत्वात्। नैष दोषः। यथैव शारदकशब्दो दर्भविशेषस्य नामधेयं तथा मुद्गविशेषस्यापि। तथाऽपि दर्भशब्दप्रयोगेऽनेकार्थसाधारणत्वात् कस्य नामधेयमिति सन्देहः स्यात् कोऽयं शारदकशब्देन विवक्षित इति। तस्मात्सन्देहार्थो दर्भशब्द उपादीयते (न्यास ४।३।२७)। शारदक (संज्ञावाची) शब्द से दर्भ और मुद्ग दोनों लिए जाते हैं अतः जब जिसकी विवक्षा हो तब शारदक के साथ उसका उल्लेख करना न्याय्य ही है। पर चूंकि शारदक शब्द संज्ञा है इसलिये शरत्कालमत सर्वविध द्रव्यों में शारदक शब्द प्रयुक्त नहीं होगा, यह निश्चित है।

व्याकरण की प्रक्रिया एवं संज्ञाशब्द—अब व्याकरण-प्रक्रिया के साथ संज्ञाशब्दों का सम्बन्ध विचारित हो रहा है। यदि समासाधिकार में संज्ञाविधायक सूत्र है तो संज्ञा में विकल्प रूप से समास नहीं होता है अर्थात् विग्रह नहीं किया जाता है यहाँ नित्य समास ही होता है चाहे समासनित्यता का स्पष्ट उल्लेख सूत्र में हो या न हो। अतएव 'अन्यपदार्थे च संज्ञायाम्' (२।१।२१) सूत्रस्थ संज्ञापद की व्याख्या कर काशिकाकार ने कहा है—"विभाषाधिकारेऽपि नित्यसमास एवायम् नहि वाक्येन संज्ञा गम्यते। यह नियम

'सज्ञायाम्' (२ । १ । ४४) सूत्र मे भी लागू होता है। यथा—'सज्ञा समुदायोपाधिः। तेन नित्यसमास एवायम्। न हि वाक्येन सज्ञा गम्यते' (काशिका २।१।४४)।

सूत्रविहित आदेश सज्ञा मे प्रवर्तित नही होता, (लक्ष्य की प्रकृति के अनुसार) यह व्याख्याकारो का मत है। यथा—'सज्ञाया समज ' (३।३।९९) सूत्रनिष्पन्न 'समज्या' शब्द के विषय मे जिनेन्द्र ने कहा है—'सज्ञायामिति वचनाद् अजेर्वीभावो न भवति, नियतानुपूर्वीकत्वात् सज्ञाया. (न्यास ३।३।९९)। यहाँ आदेश के न होने के विषय मे युक्ति भी दी गई है। सज्ञाशब्द का नियतानुपूर्वीकत्व वैयाकरणसम्मत है—यद्यपि अनिदप्रथमासु सज्ञासु नियतैवानुपूर्वी " (शब्दकौ० ४।१।२९)।

सज्ञा के कारण ही यथायथरूपेण पूर्वसूत्रानुवृत्त कार्य होते है चाहे किसी कार्य के विषय मे शास्त्रकार का प्रत्यक्ष वचन हो या न हो। इसे उदाहरणो के साथ न्यासकार ने दिखाया है—"समजन्ति तस्या समज्या, निषीदन्ति तस्या निषद्या. विदन्त्यनया विद्येत्येवमादीना कारके करणादिके करणादसाधुत्वमिति न। कथ पुनर्भावेऽकर्त्तरि च कारके सर्वस्मिन्ननुवर्त्तमाने क्वचिद् भावः क्यवन्तस्याभिधेयतामुपयाति, क्वचिदकर्तृका रकमेवेत्येष नियमो लभ्यते ? सज्ञावशात्। यत्रोपपद्यमानेन प्रत्ययेन सज्ञा गम्यते तत्र भाव एवाभिधेयत्व प्रतिपद्यते इतरदुदास्ते। यत्र त्वकर्त्तरि कारके प्रत्ययेनोपपन्नेन सज्ञा गम्यते तदभिधेयतामुपयाति भावस्त्वौदासीन्यमवलम्बते (न्यास ३।३।९९)।

सज्ञा (नाम) होने के कारण वैदिक शब्दो का भी भाषा में प्रयोग होता है, सायण ने इसे दिखाया है। यथा—"गिरिश, गिरौ डश्छन्दसि' इति डे टिलोपः सज्ञावशाद् भाषायामप्यय प्रयुज्यते, तुरापाडिति चेत्यात्रेय." (धातुवृत्ति, पृ० ३४०)।

अनेक सूत्रो में प्रक्रियावैशद्यार्थ भी 'सज्ञायाम्' पद रखा गया है। सज्ञाबल से आचार्य जिस अर्थ का प्रतिपादन करना चाहते हैं, व्याख्याकारो के अनुसार वह दूसरे उपाय से भी सिद्ध हो सकता है। निम्नोक्त उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है—

५।२।९१ सूत्र से सज्ञा मे 'साक्षिन्' शब्द निष्पन्न होता है। परन्तु २।३।३९ सूत्र से वह निपातनसिद्ध मान लिया जा सकता है। इस पद के लौकिक होने के कारण अभिधेय–नियम का कार्य भी स्वतः हो जाएगा, अतः 'सज्ञायाम्'

कहना निरर्थक हो जाता है। जिनेन्द्र ने इसका समाधान इस प्रकार किया है—'नैतदस्ति न हि तस्मिन्निपातने शाक्तिशब्दस्य मकारान्तता शक्यते व्यवस्थातुम् प्रमाणाभावात्। लोकेन स्वामिधेये प्रतीयमाने प्रतिपत्तिगौरवं स्यात्। तस्मात् मकारान्ततप्रतिपत्तिगौरवपरिहाराय चेदमुच्यते' (न्यास ३।२।९१)।

उसी प्रकार ३।३।९९ सूत्र में 'संज्ञायाम्' कहने की कोई आवश्यकता नहीं है (३।३।१९ सूत्र से संज्ञानुवृत्ति के कारण), ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि भाव में भी संज्ञा में ही प्रत्यय हो जाए इसलिये संज्ञाग्रहण किया गया है ऐसा जिनेन्द्रबुद्धि कहते हैं (न्यास ३।३।९९)।

इसी प्रकार 'कन्थायाश्च संज्ञायाम्' (४।१।३) में प्रकारान्तर से इष्टसिद्धि कर 'संज्ञायाम्' का प्रत्याख्यान नहीं किया जा सकता है। इस विषय में न्यासकार ने विस्तृत रूप से विचार किया है (४।१।३) जो वहीं द्रष्टव्य है।

संज्ञाशब्दों का यह भी वैशिष्ट्य है कि उससे धात्वान्तरविहित प्रत्ययों का भी बोध होता है। 'गाण्ड्यजगात्संज्ञायाम्' (५।२।११) सूत्र से गाण्डीव शब्द में मत्वर्थ में वप्रत्यय संज्ञा में होता है। संज्ञा होने के कारण ही गाण्डीव और अजगव शब्द में मतुप् प्रत्यय का समुच्चय नहीं होता है ऐसा टीकाकारों का मत है।

कभी कभी संज्ञाबल से विषयनियमन होता है। 'उपाधिभ्यां त्यकन्नासन्नारूढयोः' (५।२।३४) से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है। काशिका में कहा गया है—संज्ञाधिकाराच्चानियतविषयमासन्नमारूढमुच्यते पर्वतस्यासन्नमुपत्यका। संज्ञा में व्युत्पादित होने के कारण सूत्रनिष्पन्न शब्दों से पर्वतासन्नता समझी जाती है। अतएव सूत्र में उस शब्द का उल्लेख कण्ठतः सूत्रकार ने नहीं किया है। (यहाँ 'उपत्यका—अधित्यका' शब्द उदाहरण हैं)।

कदाचित् 'संज्ञायाम्' पद प्रपञ्चार्थ या स्पष्टार्थ भी माना गया है। जैसे 'पाण्डयमनाससंज्ञायाम्' (५।२।११) में संज्ञाबल से जो अर्थ ज्ञापित होता है वह ५।२।९४ सूत्रस्थ 'इति' शब्द से भी ज्ञापित हो जा सकता है। जिनेन्द्र ने यहाँ स्पष्ट कहा है कि पाणिनि ने विशेष आवश्यकता के बिना ही 'संज्ञायाम्' कहा है (न्यास ५।२।११) यह मत विट्ठल ने स्वीकार किया है— 'यस्मिन् पौर्णमासीति संज्ञाशब्दस्य च तुल्यमेव फलं भवति तथापि किमर्थं पाणिनिनाथ द्वे पदे एकस्मिन्नेव सूत्रे गृहीते ?' इस प्रश्न का उत्तर देते हुए उन्होंने कहा है—"तत्र कयोरिह यत्रौ संज्ञाशब्देनेति प्रकरस्य तत्परतां ज्ञापयितुम्" (प्रसाद टीका

।२।२१) वस्तुतः यहाँ 'संज्ञायाम्' प्रक्षिप्त है। वृत्तिकार ने 'सञ्ज्ञायाम्' पद को सूत्र मे प्रक्षिप्त किया है—यह तत्त्वबोधिनीकार आदि ने कहा है। भट्टोजि कहते हैं—"इति शब्दाल्लौकिकी विवक्षामनुसारयति। तेन सञ्ज्ञायामेवाय प्रत्ययः।' सूत्रे सञ्ज्ञायामि' ति वृत्तिकृता प्रक्षिप्तम्। तत्तु भाष्यादिविरोधाद् इतिशब्देन गतार्थत्वाच्च उपेक्ष्यम्" (शब्दकौ०)। और यदि प्रक्षिप्त न हो तो इस 'सञ्ज्ञा' पद की सार्थकता पर विचार करना अपेक्षित है, जिससे सञ्ज्ञा का गूढ तात्पर्य ज्ञात हो जाए।

कभी कभी किसी हेतु के आश्रय से भी 'सञ्ज्ञा' पद प्रयुक्त होता है। यथा—'वशक', 'वेणुक' इत्यादि पद 'सञ्ज्ञाया कन्" (५।३।८७) सूत्र विहित कन् प्रत्यय से निष्पन्न होते है। टीकाकारो के अनुसार ये दो वेणुजातिविशेष के नाम हैं, जो ह्रस्वत्व-हेतुक है। इस प्रकार अनुकम्पा मे भी सञ्ज्ञा-शब्द प्रयुक्त होते हैं। "क्तिच्क्तौ च सञ्ज्ञायाम्" (३।४।१७४) सूत्र से आशीर्वाद मे 'क्तिच्' और 'क्त' प्रत्यय होते हैं। यहाँ प्रकृति-प्रत्यय-समुदाय से सञ्ज्ञा का बोध होता है। यथा—'देवदत्त' सञ्ज्ञाशब्द 'देवा एन देयासुः' का बोध कराता हैं। इस सूत्र से 'तन्तिः', 'साति', 'भूति' आदि शब्द सञ्ज्ञा मे सिद्ध होते हैं। इस प्रकार सादृश्य मे भी सञ्ज्ञाशब्द प्रयुक्त होता है। सूत्र है—"सञ्ज्ञाया च" (५।३।९७), इससे सादृश्य होनेपर कन् प्रत्यय होता है, समुदाय से यदि सञ्ज्ञा का बोध होता हो, यथा—'अश्वक' शब्द, यह अश्वसदृश की सञ्ज्ञा है।

नामधेयवाची संज्ञा का वाङ्मय द्वारा समर्थन—यह कहा गया है कि कुछ सञ्ज्ञाएं पदार्थों के नाम होती हैं। वाङ्मय में इस तथ्य का समर्थन मिलता है, यथा—

(१) 'नरे संज्ञायाम्" (६।३।११९) सूत्र का उदाहरणभूत विश्वानर-पद अग्निविशेष का नाम है, जैसा कि शतपथ ब्राह्मण १४।८।१०।१ मे कहा गया है। (२) "अष्टनः सञ्ज्ञायाम्" (६।३।१२५) सूत्र का उदाहरण 'अष्टावक्र' पद मनुष्य-नाम है। अष्टावक्रनाम वनपर्व मे मिलता है। (३) वन गिर्यो: कोटरकिंशुलुकादीनाम्" (६।३।११७) सूत्र का उदाहरणस्वरूप शब्द वन और गिरि के नाम हैं। यहाँ सञ्ज्ञा-विषय के लिये ८।४।४—५ सूत्र भी द्रष्टव्य हैं। इन सूत्रो के उदाहरण पुराणो मे भी देखे जाते हैं, यथा—'आम्रवणम्' (वायुपुराण ३८।१९), 'किंशुकवणम्' (वायु पु० ३८।२८), 'शरवणम्' (वामन पु० ५७।१५), 'मिश्रकवणम्' (वामन पु० ३६।५४) इत्यादि। (४) ६।३।११७ सूत्रसिद्ध रामगिरिशब्द पर्वतविशेष का नाम है,—रामगिर्याश्रमम् (गरुड०

१।८१।८)। (५) ६।२।९४ सूत्रसिद्ध 'मद्रनागिरि' संज्ञापद भी पुराण में मिलता है। (६) 'मतो' पूर्वमात्संज्ञायां स्त्रियाम्' (६।१।२१९) सूत्रसिद्ध पुष्करावती आदि पद भी पुराणों में मिलते है।

बन्धनविशेष का नाम भा संज्ञा है (३।४।४२)। तथैव क्रीडाविशेष का नाम भी (३।३।१९)। उद्दालकपुष्पभञ्जिका आदि नाम वाङ्मय से समर्थित होते हैं।

संज्ञा और निपातित शब्द—शंका होती है कि क्या निपातन के बल से संज्ञाकार्य नहीं हो सकता है? व्याख्याकारों ने इस प्रश्न पर जो कुछ कहा है उसे दिखाया जा रहा है—

'हैयङ्गवीनं संज्ञायाम्' (५।२।२३) सूत्रस्थ हैयङ्गवीन शब्द संज्ञा में निपातित होता है। यहाँ 'संज्ञायाम्' क्यों कहा गया है इसका उत्तर भाष्यकार ने दिया है—"संज्ञायामिति किमर्थम्? ह्योगोदोहस्य विकार उदश्वित् अत्र मा भूत्। भाष्यकार के कहने का तात्पर्य है कि यदि यहाँ संज्ञापद न दिया जाए तो उदश्वित् (तक्र) का भी ग्रहण हो सकता है अतएव उसके निवारण के लिये संज्ञा का ग्रहण करना आवश्यक है।

इस प्रकार संज्ञायां जन्या' (४।४।८२) सूत्र से संज्ञा में 'जन्या' पद निपातित किया गया है। *यहाँ निपातनबल से भी संज्ञार्थ का ग्रहण किया जा सकता है* जैसा कि कैयट ने कहा है—निपातनादेव संज्ञा लाभात् (प्रदीप ५।२।११ १२) परन्तु निपातन में प्रतिपत्ति गौरव होता है अतः पृथक् रूप से 'संज्ञायाम्' कहा गया है (द्रष्टव्य न्यास)।

कभी कभी पाणिनि ने स्वरसिद्धि के लिये भी निपातन न करकर प्रकृतिप्रत्ययनिर्देश के साथ 'संज्ञायाम्' कहा है। 'गोव्ययोर्वर्मे ——' (४।४।९१) सूत्र में जिनेन्द्र ने कहा है—' स्वरार्थं तु प्रत्ययविधानम् मतो नाव (६।१।२१३) इत्याद्युदात्त यथा स्यात्। नहि निपातने सति आद्युदात्तत्वं तुल्य शब्दस्य शक्यते विधातुमिति (न्यास ४।४।९१)। यहाँ तुल्य शब्द को निपातित न कर उसका प्रकृति प्रत्यय निर्देश करने का कारण स्पष्ट समझाया गया है।

उपसंहार में यह निवेदनीय है कि संज्ञासूत्रविषयक यह विचार प्राथमिक है अतएव इसमें भ्रम भी हो सकता है। विद्वानों से प्रार्थना है कि वे इस विषय का विशदीकरण करें।

अष्टम परिच्छेद

कारक-विमर्श

सस्कृत-व्याकरण के महत्त्वपूर्ण विपयो मे कारक-तत्त्व अन्यतम है। कारक केवल भापा का ही विषय नही है, वल्कि इसकी उपपत्ति दार्शनिक दृष्टि से भी की जा सकती है। इस निवन्ध मे हम कारक का स्वरूप, उसके भेद इत्यादि विपयो पर मुख्यत' पाणिनीय सामग्री के आधार पर सक्षेप मे कुछ विचार प्रस्तुत करना चाहते हैं।[1]

कारक का अर्थ—पतञ्जलि ने 'करोतीति कारकम्' (भाष्य १।४।२३) कहकर इसके स्वरूप का प्राथमिक निर्देश किया है। पर, 'जो करता है वह कारक है' ऐसा कहने पर उसका विशद ज्ञान नही होता, उसका लक्षण, उदाहरण और उपपत्ति भी आवश्यक है। यहाँ हम विभिन्न व्याकरण-प्रवक्ताओ के कारक-विचार का आश्रय कर इसका स्वरूप स्पष्ट कर रहे हैं।

पहले ही यह जानना चाहिए कि पाणिनि ने कारक का कोई लक्षण नही किया, केवल १।४।२३ सूत्र मे शव्दत निर्देश किया है। चूँकि, 'कारक' यह सज्ञा कोई अर्थहीन शव्दमात्र नही है, वल्कि 'अन्वर्थ सज्ञा' या 'महती सज्ञा' है (अन्वर्थ=अर्थानुसारी नाम), अत' उसका कोई विशिष्ट अर्थ होना चाहिए। भाष्यकार ने इस अर्थ को इस प्रकार दिखाया है—'कारक इति महती सञ्ज्ञा क्रियते, सञ्ज्ञा च नाम यतो न लघीय तत्र महत्या' सञ्ज्ञाया करणे एतत् प्रयोजनमन्वर्थसञ्ज्ञा यथा विज्ञायेत करोतीति कारकमिति' (१।४।२३)। 'करोति' को विशद कर उन्होंने यह भी कहा है—'साधक निर्वर्त्तक कारकसञ्ज्ञ भवतीति वक्तव्यम्' (तत्रैव)=जो साधन करनेवाला या निर्वर्त्तन करनेवाला है, वह कारक है।

१—यह निवन्व कारकसवन्धी पाणिनीय दृष्टि का एक सरल सक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करता है, जिसका उद्देश्य है—हिन्दी व्याकरण के लेखक सस्कृत व्याकरण के कारक तत्त्व से परिचित हो जाएँ। निवन्ध मे यत्र तत्र अपाणिनीय व्याकरणो के सारगर्भ सरल वचन भी उद्धृत किए गए हैं। व्याकरण शास्त्र की जटिल शास्त्रीय प्रक्रिया का प्रसग यहाँ नही किया गया है, यह ज्ञातव्य है।

यहाँ जो 'करोति' (कृ धातु) कहा गया है उसका तात्पर्य क्रिया के विचार में दिखाया जाएगा। हिन्दी में जिसे 'करना' कहा जाता है उतना ही करोति का अर्थ नहीं है जैसा कि आगे स्पष्ट होगा। चूंकि कारक का अर्थ व्याख्यागम्य है और उस पर मतभेद हो सकते हैं अतएव पाणिनि ने उनका लक्षण नहीं किया—पाणिनि ने पदार्थ के लक्षणादिविचारों से प्रायेण अपने को मुक्त रखा है—यह ज्ञातव्य है।

भाष्यकार ने 'कारक' के अर्थ में सामान्यरूप से जो कहा है, अन्यान्य आचार्यों ने उसको अधिक विशद किया है। भोज ने कहा है—'क्रियानिमित्तं कारकम्' (सरस्वतीकण्ठाभरण १।१।३२)[1]। यह मत आचार्य गोपीनाथ को भी मान्य है (द्र० कातन्त्र-परिशिष्ट के कारक-प्रकरण का आरम्भ)। क्रियानिमित्त को हेमचन्द्र ने क्रियाहेतु कहा है (हैमशब्दानुशासन २।२।१)। यहाँ जिसे क्रिया का निमित्त या हेतु कहा गया है वह प्रधान भी हो सकता है जैसा कि कलाप-व्याकरण की पञ्जी में कहा गया है—'यद् क्रियानिमित्तमार्गं प्रधानम् अप्रधानं वा तत् कारकम्' (कारक २२१ वृत्ति)।

यह 'निमित्त' किस प्रकार का है, इसका स्पष्टीकरण आवश्यक है। यह निमित्त निष्पत्ति से सम्बन्धित है, अर्थात् क्रिया का निष्पत्तिकारक कारक है जैसा कि गोयीचन्द्र ने कहा है—'क्रियानिष्पत्तिकारकं कर्मादिकारकसंज्ञं भवति' (संक्षिप्तसारटीका)। नागेश ने मंजूषा में यही कहा है—'क्रिया-निष्पादकत्वं कारकत्वम्'। ध्यान से विचार करने पर पता चलता है कि कारक में क्रियासम्बन्ध का वैशिष्ट्य विज्ञात होता है जैसा कि जीवगोस्वामी ने स्पष्ट कहा है—'क्रियासम्बन्धविशेषि कारकम्' (हरिनामामृतव्याकरण ४१)। वात्स्यायन का विचार इस विषय में अधिक स्पष्ट है, यथा—एवं च सति न

१—कारक के अधिकारसूत्र में पाणिनि ने केवल 'कारके' (१।४।२३) ही कहा है। भाष्यकार ने इसकी व्याख्या में कहा है—'यावद् ब्रूयात् क्रियायामिति तावत् कारक इति'। इसकी व्याख्या में कैयट कहते हैं—'विषयसप्तमी चायमधिकारः, क्रियायां विषये यद् ध्रुवमित्यादि वस्तु सम्पद्यते' (प्रदीप)। कारक शब्द से 'क्रियासिद्धि' अर्थ कैसे लिया जाता है इस पर कैयट की व्याख्या द्रष्टव्य है यथा—'करोतीति कारकमिति। साध्यत्वेन क्रियैव शब्दात् प्रतीयते इति क्रियाया निर्वर्तकस्य कारकसंज्ञाऽऽख्यानसंज्ञा न प्रवर्तते' (प्रदीप १।४।२३)।

द्रव्यमात्र कारक, न क्रियामात्रम्, किं तर्हि क्रियासाधनम्, क्रियाविशेषयुक्तं कारकम्। यत् क्रियासाधन स्वतन्त्र स कर्त्ता, न द्रव्यमात्र न क्रियामात्रम्। क्रियया व्याप्तुमिष्यमाणतम कर्म, न द्रव्यमात्र न क्रियामात्रम्। एव साधकतमादिष्वपि (न्यायभाष्य २।१।१६)।

क्रिया का स्वरूप—कारक के लक्षण मे क्रिया का सार्वत्रिक उल्लेख हुआ है। अतएव क्रिया का स्वरूप वैयाकरणो के अनुसार क्या है, इस पर विचार करना आवश्यक होता है। विभिन्न शाब्दिक आचार्यों ने इस विषय मे जो कहा है, उसका सक्षिप्त सार यहाँ दिया जा रहा है।

क्रिया को धातु का अर्थ माना जाता है—'धात्वर्थ. क्रिया'। पर तत्त्वत. क्रिया का प्रत्यक्ष ज्ञान नही होता, और क्रियावान् पदार्थों के विभिन्न परिणामो का ही ज्ञान होता है, यह लोकसिद्ध है। दुर्गाचार्य ने कहा है—अमूर्त्ता हि क्रिया निरुपाख्या' (निरुक्तटीका १।१)। शङ्का हो सकती है कि क्रिया जब अमूर्त्त ही है, तब उसके अस्तित्व का ज्ञान कैसे होता है? दुर्ग का उत्तर है—'सा हि कारकैरभिव्यज्यमाना कारकशरीरे वसन्ती शक्यते निर्देष्टुम्' (तत्रैव), अर्थात् कारको से क्रिया की अभिव्यक्ति होती है, और कारको को देखकर ही क्रिया का निर्देश किया जाता है।

धातु के अर्थ को जब क्रिया कहा जाता है तब वह क्रिया केवल स्पन्दनात्मिका नही होती, वल्कि अस्पन्दनात्मिका भी होती है। गोयीचन्द्रने कहा है—'धात्वर्थो द्विविधो भवति, कोऽपि परिस्पन्दनसाध्यो यथा गमनादि। कोऽपि अपरिस्पदनसाध्यो यथा अवस्थानादि (सक्षिप्तसार, कारकप्रकरण-टीका, १)। क्रिया केवल चलन-मात्र नही है, वल्कि सत्ता भी क्रिया है, यह वैयाकरणो ने माना है। श्री जीव ने कहा है—'क्रिया सत्त्वादिलक्षणो धात्वर्थ' (हरिनामामृत)।

क्रिया का अर्थ जब 'भाव' कहा जाता है (क्रियाभावो धातु'—कातन्त्र ३।१।२) तव उसका अर्थ क्या होता है, इस विषय मे क्षीरस्वामी का मत द्रष्टव्य है, यथा—'अपरिस्पन्दमानसाधनसाध्यो भाव', सपरिस्पन्दमानसाधनसाध्या क्रिया (क्षीरतरङ्गिणी, पृ० ७)। यदि क्रिया और भाव मे भेद भी मान लिया जाए, तो वे दो ही धातु के अर्थ माने जाएँगे (क्रियावचनो धातु, भाववचनो धातु—महाभाष्य १।३।१)। कोई कोई क्रिया और भाव को अदूरपर्याय के रूप मे मानते हैं (क्षीरतरङ्गिणी, वही)।

क्रिया के विषय मे सारवान् विचार भगवान् यास्क ने किया है। क्रिया = भाव है, क्योकि 'भाववचनो धातु.' कहा जाता है। इस भाव के स्वरूप और

उसके भेद के विषय में यास्क का विचार इस प्रकार है—'भावप्रधानम् आख्यातम्' अर्थात् आख्यात (धातु) का अर्थ भाव है। इसके बाद उन्होंने कहा है—'पूर्वापरीभूतं भावमाख्यातेनाचष्टे व्रजति पचतीत्युपक्रमप्रभृत्यपवर्गपर्यन्तम्' (निरुक्त १।१)। यह भाव छह प्रकार का होता है यह वार्ष्यायणि कहते हैं—'षड्भावविकारा भवन्तीति वार्ष्यायणिः—जायते अस्ति विपरिणमते वर्धते अपक्षीयते विनश्यतीति' (निरुक्त १।२)। इससे यह ज्ञात होता है कि क्रिया के छह भेद होते हैं—जन्मात्मक, सत्तात्मक, विपरिणामात्मक, वर्धनात्मक, अपक्षयात्मक तथा नाशात्मक[१]। कोई भी क्रिया इन छहों में से किसी-न-किसी को अवश्य ही कहेगा। जो इन छह प्रकार की क्रियाओं में किसी भी प्रकार की क्रिया की निष्पत्ति का सहायक होगा वह कारक है।

क्रिया के विषय में वैयाकरण सम्प्रदाय में कुछ विशेष वक्तव्य है। कारक तत्त्व से उसका कुछ सम्बन्ध है इसलिये यहाँ आवश्यक विवरण दिया जा रहा है। भर्तृहरि ने कहा है—'यावत् सिद्धमसिद्धं वा साध्यत्वेन प्रतीयते आश्रित-क्रमरूपत्वात् सा क्रियेति प्रतीयते' (वाक्यप० ३।८।१) इससे दो बातें जानी जाती हैं—(१) क्रिया साध्य रूप मानी है तथा (२) उसके अवान्तर क्रम होते हैं, जैसे एक पाक-क्रिया में लकड़ी जलाना, चूल्हे पर रखना इत्यादि कई अवान्तर क्रियाएँ हैं। क्रिया के अन्तर्गत इन अवान्तर क्रियाओं को व्यापार भी कहा जाता है। इस कारिका की हेलाराजीय टीका में दो बातें कही गई हैं—'प्रतिसकारकव्यापारामिधायी धातुः' और 'क्रियावचनो धातुरिति पूर्वाचार्य सनातोः'। इन दोनों बातों को मिलाने से यही अर्थ निर्गलित होता है कि प्रत्येक कारक जो कुछ करता है उसकी पूर्णता होने पर क्रियासिद्धि होती है।

१—आचार्य ने इन छह भेदों के जो लक्षण उदाहरण दिए हैं वे यहाँ दिखाए जा रहे हैं। यथा—'जायत इति पूर्वभावस्य आदिमाचष्टे नापरभावमाचष्टे न प्रतिषेधति। अस्तीत्युत्पन्नस्य सत्त्वस्यावधारणम्। विपरिणमत इत्यप्रच्यवमानस्य तत्त्वाद् विकारम्। वर्धत इति स्वाङ्गाभ्युच्चयं सांयौगिकानां वार्थानाम् वर्धते विजयेनेति वा वर्धते शरीरेणेति वा। अपक्षीयत इत्येतेनैव व्याख्यातः प्रतिलोमम्। विनश्यतीति अपरभावस्य आदिमाचष्टे न पूर्वभावमाचष्टे न प्रतिषेधति (निरुक्त १।२)। इसका निर्गलितार्थ यह है कि जन्म=सभी भावविकारों से पहले जो होता है; अस्तित्व=जात सत्त्व का अवधारण; वृद्धि=सबद्ध या आगन्तुक पदार्थों के योग से अभ्युदय; अपक्षय=वृद्धि का विपरीत भाव; नाश=कारण में लीन होना।

यह अवान्तर व्यापार क्रिया कहलाता है। इस क्रिया के साथ कुछ-न-कुछ फल अवश्य होता है और इन क्रियाफलो की पूर्णता मे पूर्ण क्रिया-निष्पत्ति मानी जाती है। यही कारण है कि पतञ्जलि ने कारको के प्रवृत्ति-विशेष को क्रिया कहा है ('कारकाणा प्रवृत्तिविशेष' क्रिया') और यह बात हेलाराज को भी मान्य है—फलजननेनैव साधारणात्मिका क्रिया प्रवृत्तिविशेषः' (टीका ३।८।१)। क्रिया मे अवान्तर क्रम रहता है और सिद्ध हो जाने पर क्रम की निवृत्ति मानी जाती है, जैसा कि भर्तृहरि ने कहा है—'कार्यकारण-भावेन ध्वनतीत्याश्रितक्रम, ध्वनिः क्रमनिवृत्तौ तु ध्वनिरित्येव कथ्यते' (३।८।१२)। अन्यत्र भी क्रिया के इस रूप को हेलाराज ने इस प्रकार समझाया है—'शब्देन साध्यतयाऽभिधीयमानः समाश्रितक्रमः पौर्वापर्यवान् अर्थः क्रिया' (टीका ३।८।३)। यहाँ टीकाकार ने स्पष्टत. कहा है कि क्रिया-समुदाय से ही पूर्ण फल मिलता है, अवयव-क्रिया से नही, जैसे—पाक के अन्तर्गत किसी एक क्रिया से पाक-क्रिया का पूर्ण फल नही मिलता, बल्कि सभी अवान्तर व्यापार हो जाने पर ही फल (=क्रियासिद्धि) मिलता है। यद्यपि क्रिया मे अवान्तर क्रम है, तथापि बुद्धि से एकत्वबोध उत्पन्न होता है और हम बहुव्यापारविशिष्ट क्रिया को 'एक क्रिया' कहते है (जैसे एक पद मे अनेक वर्णो के रहने पर भी एकत्वबुद्धि होती है)। जिस रूप से अलात-चक्र मे एकत्वबोध होता है, उसी रूप से क्रिया मे भी एकत्वबोध होता है (टीका ३।८।७-८)।

क्रिया का यह अवान्तर क्रम आपेक्षिक है, अर्थात् क्रिया के जितने अश को लक्ष्य कर हम 'एक अवयवक्रिया' कहते हैं, उसमे भी अवयव की कल्पना की जा सकती है। यहाँ तक कि एक क्षण मे जो व्यापार होता है, उसमे भी क्रम है और इसीलिये उसको क्रिया कहा जाता है (टीका ३।८।१३)। टीकाकार ने यह भी कहा है कि क्रिया से जब फल उत्पन्न होता है, तभी उसको क्रिया कहा जाता है और उस क्रिया की सिद्धि के लिये जो अन्य अवान्तर क्रियाएँ होती हैं, वे व्यापार कहलाती है (फलप्रत्यययोग्यो वा भाग. क्रिया, तदर्थास्त्वन्ये व्यापाराः, टीका ३।८।१३)।

क्रिया, व्यापार तथा फल का और भी विशदीकरण आवश्यक है, पर उससे निबन्ध का कलेवर बहुत बढ जाएगा, अत इन विषयो को हम यही छोड रहे हैं।

कारक-भेद—यद्यपि क्रियानिष्पादक ही कारक है, तथापि उसके कुछ अवान्तर भेद होते है। क्रिया की निष्पत्ति के लिये कारको को कुछ-न-कुछ

व्यापार करना पड़ता है और इन व्यापारों के प्रकृतिभेद के अनुसार कारक के कई अवान्तर भेद हो जाते हैं। इस विषय में विभिन्न आचार्यों के जो मत हैं, उनका संकलन किया जा रहा है—

वस्तुत सभी कारक किसी-न-किसी प्रकार से कर्त्ता ही हैं क्योंकि अपने व्यापार में सभी कुछ न कुछ स्वतन्त्र हैं और स्वातन्त्र्य ही कर्तृत्व का मौलिक वैशिष्ट्य है) यही कारण है कि कारकों का परस्पर विनिमय होता है) पर व्यापार भेद की अपेक्षा से करण अधिकरण आदि भेद हो जाते हैं। इस विषय में वाक्य पदीय में एक कारिका है—'व्यापारमात्रे कर्तृत्वं सर्वत्रैवास्ति कारके व्यापारभेदापेक्षायां करणत्वादिसम्भव । (साधन० १८) भर्तृहरि ने स्पष्ट कहा है कि कारकशक्ति (जिसे 'शक्तिः कारकम्' कहा जाता है) एक ही है पर निमित्त भेद से एक ही कर्तृत्व छह प्रकार के हो जाते हैं—'निमित्तभेदादेकैव भिन्ना शक्तिः प्रतीयते षोढा कर्तृत्वमेवाहुः तत् प्रवृत्तेर्निबन्धनम्' (वाक्यपदीय साधन ३७)। इसकी व्याख्या में हेलाराज ने स्पष्टतर रूप से कहा है—*कर्तृत्वमेव अवान्तरव्यापारविवक्षया करणादिव्यपदेशरूपतां भजते* । इससे सिद्ध है कि सभी कारक किसी-न-किसी प्रकार से कर्त्ता ही हैं।

भर्तृहरि ने एक दूसरी दृष्टि से भी इसपर विचार किया है। उन्होंने कहा है कि कारक-शक्ति अर्थाकारादिभेद से वस्तुत अपरिमित है। तत्वतः वे भेद छह मार्गों में विभक्त हो सकते हैं—'अर्थाकारादिभेदेन शक्त्यापरिमिता इव षट्स्वेवमार्गेषु पदशक्तिर्निविशते' (वाक्यप० साधन १६)।

ऊपर कहा गया है कि व्यापार भेद से कारक में अवान्तर भेद होते हैं। यह व्यापार भेद किस प्रकार का है इसके उत्तर में नागेश ने मञ्जूषा में इस प्रकार कहा है—

'कर्तुः कारकान्तरप्रवर्तनं व्यापारः, क्रियाफलेनोद्देश्यत्वरूपव्यापारश्च कर्मणः करणस्य क्रियाजनकाव्यवहितव्यापारः प्रेरणानुमत्यादिव्यापारः सम्प्रदानस्य अवधिभावोपगमव्यापारोऽपादानस्य कर्तृकर्मव्यवहितक्रियाधारव्यापारोऽधिकरणस्य (कारक प्रकरण) इन व्यापारों का स्वरूप प्रत्येक कारक के विचार में स्पष्ट होगा।

अन्यत्र भी छहों कारकों के व्यापारों को पृथक् पृथक् दिखाया गया है। यथा—'यत्र हि अन्येषां साधनानां व्यापारो न भवति स कर्त्ता। निर्वर्त्य विकार प्राप्तिभिः यस्य संस्कार क्रियते स कर्म्म। क्रियया ईप्सितं कर्म। क्रतुवा मनुभवन् कारकान्तरव्यापारे अव्यवहितं व्यापारं यस्य तत् करणम्। प्रेरणा

नुमननानिराकरणव्यापारकर्मणा सबध्यमान सम्प्रदानम् । अपायमवधिभावो-पगमेन साधयत् अपादानम् । कर्तृकर्मव्यवहितक्रियाधारः अधिकरणम्' ।[1]

अवान्तर व्यापार-भेद से एक ही कर्तृत्व-शक्ति करण, अपादान अधिकरण आदि मे विभक्त हो जाती है, यह मत नैयायिको को भी मान्य है। एक ही पाक-क्रिया मे कभी देवदत्त कर्त्ता माना जाता है और कभी तण्डुल कर्त्ता माना जाता है। इसका कारण अवान्तर व्यापार भेद ही है, यह महानैयायिक वाचस्पतिमिश्र ने कहा है। पाठको के बोधार्थ हम यहाँ उनके पूरे वाक्य को उद्धृत कर रहे हैं— यस्य हि व्यापार प्राधान्येन धातु' आख्यातप्रत्ययो वा अभिधत्ते स स्वतन्त्र कर्त्ता। तथाहि—विक्लिन्दतीत्यत्र तण्डुलादय' कर्त्तार पचतीत्यत्र देवदत्तादय.। तत् कस्य हेतो ? एकत्र तण्डुलादे' व्यापार उपात्त अपरत्र देवदत्तादे प्राधान्येन च अशेषकारकनिर्वर्त्यत्व प्रधानक्रियाया इति। अवान्तरे व्यापारभेदेऽपि प्रधानक्रियो-द्देशेन समस्तकारकप्रवृत्ते.' न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका, पृ० ३१)।

कारको का यह अन्योन्य-परिवर्त्तन एक आवश्यक ज्ञातव्य विषय है। हम प्रत्येक कारक की व्याख्या मे इस पर सोदाहरण विचार करेगे, अतः यहाँ विचार करने की आवश्यकता नही है।

कारक की विवक्षाधीनता—जिन व्यापारभेदो मे कारक के भेद हो जाते हैं, वे भेद विवक्षाधीन हैं, तात्त्विक नही हैं, अर्थात् जिसके व्यापार की जैसी विवक्षा की जाती है, वह तदनुरूप कारक माना जाता है, इसलिये व्याकरण-सम्प्रदाय मे 'विवक्षात. कारकाणि भवन्ति' यह न्याय प्रचलित है। उदाहरणार्थ हम कह सकते है कि जब जिसके व्यापार की विवक्षा सर्वथा स्वतन्त्र रूप मे की जाएगी, तब वह 'कर्त्ता' कारक होगा, वस्तुस्थिति के अनुसार वह कर्म, करण या अधिकरण हो सकता है। इसी दृष्टि से हम तत्त्वत 'स्थाल्या पचति', (स्थाली मे पाक करता है) कहकर स्थाली के अधिकरण-रूप को दिखाते हैं, पर पाक-क्रिया को स्थाली के साथ जोडकर 'स्थाली पचति' भी कह सकते हैं। इस

१ वात्स्यायन ने न्यायभाष्य मे कारको के लक्षणो का उल्लेख किया है। यथा—'तथा च कारकशब्दा' निमित्तवशात् समावेशेन वर्त्तन्त इति। वृक्षस्तिष्ठतीति स्वस्थितौ वृक्ष स्वातन्त्र्यात् कर्त्ता। वृक्ष पश्यतीति दर्शनेन आप्तुमिष्यमाणत्वात् कर्म। वृक्षेण चन्द्रमस ज्ञापयतीति ज्ञापकस्य साधकतमत्वात् करणम्। वृक्षाय उदकमासिञ्चतीति आसिच्यमानेनोदकेन वृक्षमभिप्रैति इति सम्प्रदानम्। वृक्षात् पर्ण पततीति ध्रुवमपायेऽपादानमित्यपादानम्। वृक्षे वयासि सन्तीति आधारोऽधिकरणमित्यधिकरणम्' (भाष्य २।१।१६)।

विवक्षा-भेद से अन्यान्य कारको मे जो भेद हो जाते है, उनके उदाहरण यथा-स्थान दिए गए हैं।

अब हम यथाक्रम कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, और अधिकरण, इन छह कारको पर पृथक्-पृथक् विचार करना चाहते हैं। चूंकि, पूर्वविचार से कारक-स्वरूप बहुत स्पष्ट हो गया है, अतएव यहाँ मतो का उल्लेख ही किया जाएगा, शङ्कासमाधानयुक्त विशदीकरण की आवश्यकता नही है। जहाँ विशेष बात होगी वहाँ व्याख्या भी की जाएगी।

कर्त्ता—पाणिनि ने 'स्वतत्रः कर्त्ता' (१।४।५४) कहा है। कारक के अधिकार मे पठित होने के कारण इसका अर्थ होगा—क्रियासिद्धि मे जो स्वतन्त्र है, वह कर्त्ता है (क्रियाया स्वातन्त्र्येण विवक्षितोऽर्थ· कर्त्ता)। भाष्यकार ने स्वतन्त्रता का अर्थ प्राधान्य कहा है।[१] प्राधान्य का अर्थ भी स्पष्टत· जानना चाहिए। इसका अर्थ व्याख्याकार 'धात्वर्थव्यापाराश्रय' कहते हैं, अर्थात् धातुवाच्य जो व्यापार, उसका आश्रय 'कर्त्ता' है, जैसे 'देवदत्तः गच्छति', देवदत्त जाता है, मे गमन-व्यापार का आश्रय देवदत्त है। धातु से मुख्यत. जिस कारक की क्रिया उक्त होती है, वह कर्त्ता है, यह पूर्वाचार्यों ने कहा है—'धातुनोक्तक्रिये नित्य कारके कर्त्तृतेष्यते, व्यापारे च प्रधानत्वात् स्वतन्त्र इति चोच्यते।

अन्यान्य वैयाकरणो का भी यही मत है। सरस्वतीकण्ठाभरण (१।१।३३) तथा हैमव्याकरण (२।२।२) मे पाणिनि के लक्षण को ही कहा गया है। कातन्त्र मे 'य· करोति स कर्त्ता' (२।४।१४) कहकर सामान्य रूप से कर्त्ता को लक्षित किया गया है। कर्त्ता को सुपद्म मे 'स्वतन्त्रताप्रयोजक' (२।१।१) कहा

१—'अय तन्त्रशब्द अस्त्येव विताने वर्त्तते। तद्यथा—आस्तीर्णं तन्त्रम्। प्रोत तन्त्रमिति। वितानमिति गम्यते। अस्ति प्राधान्ये वर्तते। तद्यथा—स्वतन्त्रोऽसौ ब्राह्मण इत्युच्यते। स्वप्रधान इति गम्यते। तद् य प्राधान्ये वर्तते तन्त्रशब्दः तस्येद ग्रहणम्' (भाष्य, १।४।५४)। क्रिया यद्यपि अनेक कारणो से ही साध्य होती है, तथापि किसी एक की ही स्वतन्त्रता होती है, यह भाष्यकार ने १।४।२३ सूत्र मे स्पष्ट दिखाया है, अर्थात् सकल कारक के प्रवर्त्तक होने के कारण ही कर्त्ता स्वतन्त्र है—'कथ पुनर्ज्ञायते कर्त्ता प्रधानमिति यत् सर्वेषु साधनेषु सन्निहितेषु कर्त्ता प्रवर्त्तयिता भवति'। सूत्रकार का स्वतन्त्र शब्द ही स्वत स्वातन्त्र्य का ज्ञापक है, ऐसा कैयट ने कहा है—'स्वतन्त्र कर्त्तेत्यत्र कारकत्वादेव स्वातन्त्र्ये लब्धे पुन स्वतन्त्रश्रुति नियमार्था तेन स्वत स्वातन्त्र्यमेव यस्य कर्तृसज्ञा तस्य न तु पारतन्त्र्यसहितस्वातन्त्र्ययुक्तस्य' (प्रदीप १।४।२३)।

गया है तथा संक्षिप्तसार में 'क्रियामुख्यप्रयोजक' (५।१) माना गया है, जो सर्वथा पाणिनि-मत का अनुसारी है। प्रयोगरत्नमाला में और भी स्पष्ट रूप से कहा गया है— *क्रियासिद्धौ य स्वतन्त्र स कर्ता* (१।६६२)। कातन्त्रव्याख्या में धातुवाच्य व्यापार का साक्षात् निर्देश कर 'प्राधान्येन धातुवाच्यव्यापारवत्त्वं कर्तृत्वम्' (गुरुमत) कहा गया है। धातुवाच्य न कहकर 'प्राधान्येन धातूपात्तव्यापाराश्रय' कर्ता' लक्षण का मूढ तात्पर्य है क्योंकि यदि ऐसा न कहा जाए तो क्रिया के साथ काल का भी धात्वर्थ से सम्बन्ध होने के कारण 'घटो भवति' इस प्रयोग में काल का भी कर्तृत्व आ जाएगा ऐसा नागेश ने कहा है (शब्देन्दुशेखर)।

यह स्वतन्त्रता कैसी है इस पर कुछ विचार अपेक्षित है। भर्तृहरि ने इस विषय पर बहुत मार्मिक विचार किया है यथा—

प्रागन्यत शक्तिलाभात् न्यग्भावापादनादपि ।
तदधीनप्रवृत्तित्वात् प्रवृत्तानां निवर्तनात् ॥
अदृष्टत्वात् प्रतिनिधेः प्रविवेके च दर्शनात् ।
आरादप्युपकारित्वे स्वातन्त्र्यं कर्तुरिष्यते ॥[1] (वाक्यपदीय साधन १०१ १ २)

यहाँ अन्य कारकों की अपेक्षा कर्ता की प्रधानता के लिये जो युक्तियाँ दी गई है उनका सार यह है कि चूँकि कर्ता अन्य कारकों को अपने अधीन रखता है, अन्य कारकों की प्रवृत्ति कर्ता के अनुसार ही होती है प्रवृत्त कारकों को वह निवृत्त कर सकता है अन्य कारक के न रहने पर भी उसकी स्थिति बनी रहती है अत कर्ता 'स्वतन्त्र' है। स्वव्यापार में स्वातन्त्र्य होने पर भी करण आदि क्यों कर्ता नहीं हो जाते इसका उत्तर भी इन्हीं कारिकाओं में दिया गया है जैसा कि हेलाराज ने कहा है—'एतेन हेतुकलापेन

१—वैयाकरणभूषणसार की प्रभा टीका (पृ० १९४) में इन श्लोकों का सरल अर्थ दिया गया है। अध्येता के सुखबोध के लिये उसको यहाँ उद्धृत किया जा रहा है— करणाधिकारकात् प्रागेव अन्यतः अर्मित्वादेरेव निमित्तात् शक्तिलाभात् कर्तृस्वाधिस्तलाभात् कर्ता प्रवर्तते। करणादि तु तदधीनप्रवृत्तिनिवृत्तिकम्। तथाह न्यग्भावापादनादिति—अन्येषां कारकाणां स्वाधीनप्रवृत्तिनिवृत्तिकरणतापादनात् इत्यर्थः। किञ्च करणादेरभावे प्रतिनिधि दृश्यते ब्रीह्यभावे यववत् कर्तृरभावे प्रति [illegible] हस्यते। कर्तृभेदे क्रियान्तरत्वमेव। प्रविवेके च कारकान्तराणामभावे च कर्तुः दर्शनात्। आरादप्युपकारित्वात् आरात् दूरतः उपकारित्वात् कारकान्तरव्यापारे परम्परया उपकारित्वात्। कर्तुः स्वातन्त्र्यमुच्यते बुधैः।

कर्तुः करणापेक्षया क्रियासिद्धौ विप्रकृष्टापकारकत्वेऽपि स्वातन्त्र्य प्राधान्यनिवन्धन मुच्यते, इति तस्यैव कर्तृसंज्ञा न तु करणादेः स्वव्यापारे स्वतन्त्रस्यापि' (अत्रैव)। इससे यह भी सिद्ध हुआ कि क्रियासिद्धिजनित फल मे यद्यपि करणकारक की अपेक्षा कर्त्ता मे अधिक व्यवधान रहता है, तथापि वह स्वतन्त्र ही माना जाएगा। वस्तुत अन्य कारको का नियमन कर्त्ता ही करता है, और यही उसकी स्वतन्त्रता है।

हमने पहले कारक को विवक्षाधीन कहा है। इसका अर्थ यह है कि 'जब जिसके व्यापार की स्वतन्त्रता विवक्षित होगी, (तत्वत नही) तब वह कर्त्ता माना जाएगा'। एक उदाहरण से इसे समझाया जा रहा है। वाक्य है—'देवदत्तः पचति'। अब इस पाक क्रिया मे स्थाली चाहिए (अधिकरण रूप मे), अग्नि भी चाहिए, एधः (काष्ठ) भी चाहिए, तण्डुल भी चाहिए (कर्म रूप मे)। इन अधिकरण, कर्म करण आदि का भी हम कर्ता के रूप मे प्रयोग कर सकते हैं, जैसे स्थाली पचति' (अधिकरण का कर्तृरूप), 'अग्नि पचति' (करण का कर्तृरूप), एधासि पचन्ति (करण का कर्तृरूप), तण्डुलः पच्यते स्वयमेव' (कर्म का कर्तृरूप)।

इस कर्त्ता के तीन अवान्तर भेद माने गए है—शुद्ध, प्रयोजक हेतु और कर्मकर्त्ता। इन तीनो के उदाहरण कौण्डभट्ट ने इस प्रकार दिए हैं—'मया हरिः सेव्यते', 'कार्यते हरिणा' और 'गमयति कृष्ण गोकुलम्'।

'कर्ता के भेदोपभेद के विषय मे व्याकरणदर्शनेरइहास-ग्रन्थ (पृ० २६५ २६७) मे जो कहा गया है, उसका सार यहा दिया जा रहा है—

"कोई कोई कर्त्ता की त्रिविधता मानते हैं, वे कहते हैं—'कर्त्ता च त्रिविधो ज्ञेय कारकाणा प्रवर्तक, केवलो हेतुकर्त्ता च कर्मकर्त्ता तथापर"। यहाँ केवल कर्त्ता, हेतुकर्त्ता और कर्मकर्त्ता, ये तीन भेद माने गए हैं। पर कर्त्ता मूलत दो प्रकार के हैं। एक स्वतन्त्र कर्त्ता जो पाणिनि के 'स्वतन्त्र कर्त्ता' (१।४।५४) सूत्र में उक्त है और दूसरा हेतुकर्ता, जो 'तत्प्रयोजको हेतुश्च' (१।४ ५५) सूत्र मे उक्त है। हेतुकर्ता=स्वतन्त्रकर्ता का प्रयोजक, जैसा कि जीवगोस्वामी ने कहा है—'यस्यैव व्यापारतया क्रिया विवक्ष्यते तत् स्वतन्त्रम्, यच्च तस्यापि प्रेरकतया तत् प्रयोजकम्। तच्च कारक कर्तृसज्ञ स्यात्' (हरिनामामृतवृत्ति)। सक्षिप्तसारव्याकरण मे भी यह द्वैविध्य स्वीकृत है—'क्रियामुख्यप्रयोजकौ कर्ता'। हेतुकर्ता के विषय मे भर्तृहरि ने कहा है—प्रेषणाध्येषणे कुर्वन् तत् समर्थानि वाचरन् कर्तैव विहिता शास्त्रे हेतुसज्ञा प्रपद्यते, (वाक्यपदीय, साधन १२५)।

स्वतन्त्र कर्ता के भी तीन भेद होते हैं—अभिहित अनभिहित तथा कर्म कर्ता। पहले का उदाहरण है—'देवदत्तः पचति'। दूसरे का है—'देवदत्तेन पच्यते'। कर्मकर्ता का अर्थ है वह कर्म जो कर्ता की तरह माना जाता है। इसके लक्षण में कहा गया है— क्रियमाणं तु यत् कर्म स्वयमेव प्रसिद्ध्यति सुकरैः स्वैर्गुणैः कर्तुः कर्मकर्तेति तद्विदुः (दुर्गसिंहवृत्ति धा० ७५ में उद्धृत) अर्थात् कर्ता जिस कर्म को करता है, वह यदि अपनी महिमा से स्वयं निष्पन्न हो जाए, तो वह कर्मकर्ता कहलाता है। उदाहरण—'पच्यते भक्तः स्वयमेव' भात स्वयं पकता है। हेतुकर्ता के भी दो विभाग होते हैं—चेतनविषयक तथा अचेतनविषय। पहले का उदाहरण है— पाचयति ओदनं देवदत्तेन' देवदत्त से ओदन पकवा रहा है और अचेतनविषयक उदाहरण है—'भिक्षा वासयति'।

कर्म—कर्ता के लक्षण के अनुसार (यः करोति स कर्ता) यदि इसका लक्षण किया जाए, तो 'यत् क्रियते तत् कर्म' ऐसा कहना होगा (कातन्त्र २।४।१३)। पर यह अतिस्थूल लक्षण है इसलिये पाणिनि ने कहा है—'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' (१।४।४९) इसका अर्थ है—कर्ता की क्रिया का जो ईप्सिततम है वह कर्म है। इस अर्थ में दो बातें ज्ञातव्य हैं। प्रथम—सूत्र में यद्यपि क्रिया शब्द नहीं है यथापि कारक का अधिकार होने के कारण 'क्रिया' स्वतः लभ्य हो जाती है। द्वितीय—ईप्सित का अर्थ इष्ट नहीं है क्योंकि यह 'योगिकशब्द' है (अर्थात् व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ लिया जाएगा) अतः ईप्सिततम का अर्थ होगा 'क्रिया से निकटतम रूप से सम्बद्ध' (आप्तुम् इष्यमाणतमम्)। इसका तात्पर्य यथास्थान विवृत होगा।

चन्द्र ने 'ईप्सिततम' का अर्थ 'क्रियाप्य' (२।१।४३) कहकर स्पष्ट किया है अर्थात् क्रिया का आप्य = प्रापणीय कर्म है। जैनेन्द्र संप्रदाय में भी यही स्वीकृत हुआ है— कर्त्रा यद् आप्यं तत् कारकं कर्मसंज्ञं भवति (जै वृत्ति १।२।१२)। हेमचन्द्र ने कर्तुर्व्याप्यं कर्म कहा है। (२।१।३)। सुपद्म में भी यही बात कही गई है—'क्रियाव्याप्यं कर्म (२।१।३)। ध्यान देना चाहिए कि यहाँ स्पष्टतः कर्तृव्याप्य न कहकर 'क्रियाव्याप्य' कहा गया है क्योंकि वस्तुतः क्रिया से ही कर्म व्याप्य होता है। कर्तृव्याप्य' कहने का तात्पर्य यही है कि कर्ता में क्रिया आश्रित रूप से रहती है अतः कर्तृव्याप्य कहने पर भी तात्पर्य क्रियाव्याप्य में ही होता है। प्रयोगरत्नमाला में इस तत्त्व को स्पष्टतः कहा गया है—'यत् कर्तुः क्रियया व्याप्यं तत् कर्म परिकीर्तितम् (१।६२)। हरिनामामृत 'क्रियाकार

यत्साधिका तत् कर्म' (४।१७) कहकर क्रिया-कर्मगत साध्य-साधनभाव को और भी स्पष्ट किया है।

यह जो 'क्रियते इति कर्म' (यक्षवर्मवृत्ति, १।३।१०५) कहा गया है, इसमे 'क्रियते' ('कृ' धातु) का अर्थ केवल 'करना' नही है। यहाँ 'कृ' धातु का तात्पर्य वस्तुत. 'क्रियासामान्य' मे है। कहा भी गया है—'कृभ्वस्यय' क्रियासामान्यवचनाः' (कृ, भू, अस् धातु का अर्थ क्रियासामान्य है)। किसी भी प्रकार की क्रिया का जो प्रापणीयतम होता है, वह कर्म है।

पहले कहा गया था कि क्रिया का आधार कर्त्ता है, और यहाँ क्रिया का निकटतम सम्बन्ध कर्म से दिखाया जा रहा है। शङ्का हो सकती है कि क्रिया से कर्त्ता और कर्म का जो सम्बन्ध है, क्या वह एक ही प्रकार का है? यदि एक ही प्रकार का है, तो दोनो मे भेद क्यो किया जाता है? उत्तर मे वक्तव्य है कि क्रिया वस्तुत' कर्त्ता मे ही रहती है, और क्रियाजन्य जो 'फल' है, उसका आधार कर्म होता है। क्रिया के दो भाग हैं—व्यापा और फल। व्यापार कर्त्ता मे रहता है और फल कर्म मे, जैसे 'ग्राम गच्छति' वाक्य मे गमन-रूप व्यापार तो कर्त्ता करता है, पर गमनजनित जो देशसयोग रूप फल है, उसका सम्बन्ध ग्राम से ही है, इसलिये ग्राम' कर्म होता है। सरस्वतीकण्ठाभरण की वृत्ति में यह वात वहुत ही स्पष्ट रूप स दिखाई है, यथा—'तेन कर्त्रा सम्यक् क्रियाभागितया गतादौ तत्फलभागितया च उद्दिष्ट कर्मसंज्ञं भवति' (५।२)।

यह भी ज्ञातव्य है कि व्यापार का फल अवश्यमेव होता है (निष्फल व्यापार होता ही नहीं), इसलिये सव धातु मूलत सकर्मक होते हैं, तत्त्वतः कोई भी धातु अकर्मक होती ही नही। जव फल कर्त्ता से पृथक् रूप से विद्यमान नही रहता, तव उस धातु को अकर्मक कहा जाता है, पर वहाँ भी फल की सत्ता है। अगरेजी-व्याकरण मे जो Transitive-Intransitive रूप धातु-विभाग है, वह हमारी दृष्टि मे अवैज्ञानिक है।

इस कर्म के कुछ भेद होते हैं। वाक्यपदीय (साधन० ४५-४६) मे इस सम्बन्ध मे जो कहा गया है (वैयाकरणभूषणसार मे इसकी व्याख्या द्रष्टव्य है) उसे यहाँ दिखाया जा रहा है—

> 'निर्वर्त्यं च विकार्यं च प्राप्यं चेति त्रिधा मतम्।
> तच्चेप्सिततमं कर्म चतुर्धान्यत्तु कल्पितम्॥
> औदासीन्येन यत् प्राप्तं यच्च कर्तुरनीप्सितम्।
> संज्ञान्तरैरनाख्यातं यद् यच्चाप्यन्यपूर्वकम्॥'

अर्थात्, ईप्सिततम कर्म तीन प्रकार का है—निर्वर्त्य, विकार्य और प्राप्य। अन्य प्रकार के चार कर्म हैं—उदासीन कर्म अनीप्सित कर्म संज्ञान्तर से अना ख्यात तथा अन्यपूर्वक कर्म। इस प्रकार कर्म सात प्रकार का होता है।

भर्तृहरि ने इन कर्मों के लक्षण भी दिए हैं यथा—

'असत्सज् जायते सद् वा जन्मना यत् प्रकाशते।
तन्निर्वर्त्यं विकार्यं च कर्म द्वेधा व्यवस्थितम्॥
प्रकृत्युच्छेदसम्भूतं किञ्चित् काष्ठादिभस्मवत्।
किञ्चिद् गुणान्तरोत्पत्त्या सुवर्णादिविकारवत्॥
क्रियाकृतविशेषाणां सिद्धिर्यत्र न गम्यते।
दर्शनादनुमानाद् वा तत् प्राप्यमिति कथ्यते॥'[1]
(साधन ४९-५१)

इन कारिकाओं का संक्षिप्त अर्थ यह है कि जब असद् या सद् वस्तु जन्म लेता है या प्रकाशित होती है तब उसको निर्वर्त्य कर्म कहा जाता है जैसे 'घट करोति' (घट को बनाता है) में घट पहले नहीं रहता (=असत्) पर कुम्भकारादि व्यापार से उसकी उत्पत्ति होती है। यहाँ यह भी माना जा सकता है कि घट मिट्टी में अव्यक्त रूप से था (सांख्यदृष्टि) और कारक-व्यापार से उसका आविर्भाव होता है। दोनों पक्षोंमें घट जन्म लेकर प्रकाशित होने से पहले व्यक्त रूप में (=घट-रूप में) नहीं था और घट को प्रयत्न से बनाया जाता है, अतः यह 'निर्वर्त्य कर्म' कहलाता है।

विकार्य कर्म दो प्रकार का होता है। प्रथम—प्रकृति के उच्छेद (कारण नाश) से जैसे 'काष्ठं भस्म करोति' (काष्ठ को भस्म बनाता है) वाक्य में काष्ठ-नाश के बाद ही भस्म की उत्पत्ति होती है। द्वितीय—जब कारण से कार्य में गुणान्तर की उत्पत्ति की विवक्षा होती है जैसे सुवर्णं कुण्डलं करोति (सोना को कुण्डल मे परिणत करता है) में सुवर्ण के अवयव-संस्थान से कुण्डल का अवयव संस्थान विलक्षण होता है। इन दोनों प्रकार के विकार्य कर्मों में भेदक तत्त्व यह है कि पहले मे जो विकार होता है वह उच्छेद-रूप है और दूसरे में जो विकार होता है वह आकारपरिवर्तन-रूप है।

प्राप्य कर्म उसे कहा जाता है जिस कर्म में क्रियाकृत विशेषों की सिद्धि (ज्ञान) नहीं होता (प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाण से) और क्रियासम्बन्धमात्र लक्षित होता है।

१—यह ध्यान देने का विषय है कि इन श्लोकों में वैशेषिक सांख्य आदि की दृष्टियाँ प्रतिबिम्बित हुई हैं (द्र हेलाराज-व्याख्या)।

इसका सरलार्थ उदाहरण के साथ इस प्रकार जानना चाहिए—'जिसमे प्रत्यक्ष और अनुमान से क्रियाकृत विशेष नही दिखाई पडता, वह प्राप्य कर्म है, जैसे 'आदित्य पश्यति' (सूर्य को देखता है) वाक्य मे आदित्य (कर्म) मे दर्शन-क्रिया से कोई विशेष (विकार, अवस्थान्तर आदि) उत्पन्न नही होता, जैसा कि पूर्वोक्त निर्वर्त्य विकार्य कर्मों मे देखा जाता है। शका हो सकती है कि 'आदित्य चक्षु का विषय है'—इस प्रकार का विषयता-रूप क्रियाकृत विशेष तो अवश्य ही होता है, अन्यथा आदित्य कर्म कैसे होगा ? उत्तर यह है कि ज्ञाता से पृथक् अन्य पुरुष की अपेक्षा से कोई विशेष नही होता, अतः क्रियाकृत विशेष नही है, यह मानना चाहिए। सार बात यह है कि निर्वर्त्य या विकार्य में 'कुछ उत्पन्न होता है' या 'कुछ प्रयत्न से निर्मित होता है', पर प्राप्य कर्म न स्वय बनता है, और न बनाया जाता है, इसलिये इसकी पृथक् गणना की गई है।

अनीप्सित कर्म के चार प्रकार हैं। (क) पहला प्रकार है—'उदासीन कर्म', जैसे 'तृण स्पृशति' (ग्राम को जाता हुआ तृण छू रहा है)। यहाँ 'तृण' रूप कर्म की उदासीनता दिखाने के लिये 'ग्राम को जाता हुआ' कहा गया है, अर्थात् ईप्सित कर्म ग्राम ही है।

ख) अनीप्सित(=अनुद्दिष्ट) कर्म का उदाहरण है-'विष भुङ्क्ते' (विष खाता है)। विकट परिस्थिति मे विष-भक्षण भी ईप्सित होता है, पर यहाँ सामान्य रूप से उदाहरण दिया गया है।

(ग) सज्ञान्तर से अनाख्यात कर्म वह है, जो 'अकथित च' (१।४।५१) सूत्र-लक्षित द्विकर्मक धातुओ का अप्रधान कर्म है जैसे—'गा दोग्धि पयः' वाक्य मे 'गो' दोहन-क्रिया का अप्रधान कर्म है।

(घ) अन्यपूर्वक कर्म वह है, जो 'दिव कर्म च' (१।४।४३) आदि सूत्रो से विहित होता है, जैसे 'क्रूरम् अभिक्रुध्यति' में 'क्रूर' शब्द की कर्मसज्ञा।

उदासीन, द्वेष्य और अनीप्सित कर्म के विषय मे आकर-ग्रन्थो मे अनेक मतान्तर मिलते हैं, विस्तार-भय से यहाँ उनका विवरण नही दिया जा रहा है।

करण—पाणिनि ने इसका लक्षण किया है—साधकतम करणम् (१।४।४२)। पाणिनि का यह लक्षण शब्दश अन्य आचार्यों ने भी लिया है (सारस्वती० १।१।५५; सुपद्म० २।१।९, हैम० २।२।२४, जैनेन्द्र० १।२।१०८)। साधकतम का साधारण अर्थ कातन्त्र मे मिलता है—'येन क्रियते तत् करणम्' (२।४।२२)। हरिनामामृत मे करण का एक मुख्य रूप दिखाया गया है—कर्त्तुरधीन प्रकृष्ट सहाय करणम् (४।९९)। 'प्रकृष्ट सहाय' को ही सारस्वत व्याकरण ने 'क्रिया-

तिसाधन' कहा है (५।१६)। बोपदेव ने साधन के इस स्वरूप को और भी विशद कर शास्त्रीय रीति से 'साधन-हेतु-विशेषण-भेदक' कहा है (मुग्धबोध २८८)।

पाणिनीय सम्प्रदाय में साधकतम का जो तात्त्विक स्वरूप दिखाया गया है, वह इस प्रकार है—करण का संबन्ध क्रियासिद्धि से है। क्रियासिद्धि में कर्ता का जो 'अतिशयसाधक' है वह करण है। अतिशयसाधकत्व का अर्थ है—जिसके व्यापार के बाद क्रिया की सिद्धि तत्क्षणात् हो जाती है जैसा कि भर्तृहरि ने कहा है—'क्रियायाः परिनिष्पत्तिर्यद्व्यापारादनन्तरम्। विवक्ष्यते यदा यत्र करणं तत् तदा स्मृतम्' ॥ (वाक्यपदीय साधन ९)। उदाहरण के लिये हम 'रामः परशुना वृक्षं छिनत्ति' वाक्य को ले सकते हैं, यहां राम कर्ता है परशु (कुठार) करण है और वृक्ष कर्म है। परशु करण इसलिये है कि परशु के व्यापार से तत्काल वृक्षच्छेदन-रूप क्रियाफल की निष्पत्ति होती है।

करण के साथ व्यापार का नित्यसंबन्ध है, अर्थात् व्यापारयुक्त होना ही करण का करणत्व है, अन्यथा वह करण न होकर 'हेतु' हो जाएगा। करण को समझने के लिये हेतु से उसका भेद भी ज्ञातव्य है, ऐसा समझ कर यहां इसका विशेष विवरण दिया जा रहा है।

जिस क्रिया की निष्पत्ति के लिये करण-व्यापार की आवश्यकता होती है वह दो प्रकार की हो सकती है, जैसा कि हरदत्त ने कहा है—'सिध्यत्, साध्यत् वा क्रियारूपमत्र प्रधानम्' (पदमञ्जरी २।३।४२ मुद्रित पाठ 'साध्यते' है जो अशुद्ध है)। क्रिया यदि भूयमाण न भी हो तो भी करण की सत्ता मानी जाती है, जैसे—'धन अमन' वाक्य में क्रिया भूयमाण नहीं है पर धन का करण माना गया है।

करण को जब क्रियानिष्पत्तिकारक कहा जाता है तब उसका तात्पर्य 'फल-साधन-योग्यता' में समझना चाहिए, और इसीलिये 'क्रियायाः फलनिष्पत्ति—' कारिका (व्याख्या पहले में उद्धृत) में 'फल' शब्द का प्रयोग भर्तृहरि ने किया है। यह फलजनक व्यापार अव्यवधान से होना चाहिये। अव्यवधान यदि न कहा जाए, तो दोष होगा (द्र० वैयाकरणभूषणसार की प्रभा-टीका पृ० ११८; साधन० ९)।

करण सदैव कर्ता का अधीन ही होगा। यह कर्तृकारक की व्याख्या में स्पष्ट किया गया है। कहा गया है—'करणं च सर्वत्र कर्तृव्यापारगोचरः'।

कहीं-कहीं साक्षात् रूप से करण नहीं होने पर भी भावनाविशेष से करणत्व का आरोप किया जाता है, जैसा कि काशिकाकार ने कहा है—'अग्निष्टोमः फलभावनाया करणम्'। इसका विशेष विचार मीमासा-दर्शनीय 'द्रव्यसयोगाच्चोदना पशुसोमयोः' अधिकरण (२।२।१७-२०) की अध्वरमीमासा-कुतूहलवृत्ति मे द्रष्टव्य है।

व्यापारवान् फलनिष्पादक पदार्थमात्र करण हो सकता है, करण के लिये सर्वदा द्रव्यरूप मे होना अपेक्षित नहीं है। पाणिनि के 'करणे च स्तोक ' (२।३।३३) सूत्र मे अद्रव्यवाची शब्दो का करणत्व स्पष्ट है। प्रकृत करण के लिये तीन बाते चाहिये—(१) वह क्रिया का ही जनक होगा, (२) वह व्यापारवान् होगा, (३) वह विवक्षाधीन होगा, अर्थात् जो करण है, उसे कर्त्ता मानकर भी प्रयोग किया जा सकता है।

करण के विषय मे यह निश्चित है कि जिसके व्यापार की अतिशय-विवक्षा होगी, वह करण अवश्य होगा, चाहे वह तत्त्वत. अधिकरण ही क्यो न हो। इस मत के अनुसार 'स्थाल्या पचति' के स्थान पर 'स्थाल्या पचति' प्रयोग उपपन्न होता है। विवक्षा ही इसका नियामक है, वस्तुस्थिति इस विवक्षा की नियामिका नहीं हो सकती। इसी दृष्टि से भर्तृहरि ने उचित ही कहा है—'वस्तुतस्तदनिर्देश्य नहि वस्तु व्यवस्थितम्। स्थाल्या पच्यत इत्येषा विवक्षा दृश्यते यत.' (वाक्यपदीय, साधन० ९१)।

पर, इसमे यह सशय होता है कि यह अतिशय विवक्षा अन्य कारक की तुलना मे है या अपनी ही कक्षा मे, अर्थात् जब एक क्रिया सिद्धि मे एकाधिक कारको के व्यापार की अतिशय-विवक्षा होगी, तब वे सभी करण ही माने जाएँगे, या उनमे भी कुछ भेद किया जाएगा? आचार्य कैयट ने इसके उत्तर मे कहा है कि अन्य कारको की अपेक्षा मे ही करण का अतिशय माना जाता है, और इसीलिये एक क्रिया सिद्धि मे अनेक कारको का व्यापारातिशय मानकर एकाधिक करण-कारक माने जा सकते है। उनका वाक्य इस प्रकार है—'कारकान्तरापेक्षश्च करणस्यातिशयो न तु स्वकक्षायामिति अश्वेन दीपिकया पथा व्रजतीति सर्वेषा क्रियानिष्पत्तौ सनिपत्य उपकारकत्वात् करणत्व सिद्धम्' (प्रदीप १।४।४२)।

सम्प्रदान—पाणिनि ने 'कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्' (१।४।३२) कहा है, जिसका साधारण अर्थ है—जिसको लक्ष्यकर कोई दान किया जाता है वह सम्प्रदान होता है। 'उद्देश्य' लक्ष्य और 'दान' शब्द पर विशेष विचार

माना किया जाएगा। पाणिनि ने यद्यपि केवल 'जिसके लिये कर्म किया जाए' इतना ही कहा है पर वस्तुतः 'क्रिया भी जिसके लिये की जाए' वह भी सम्प्रदान होता है ऐसा भाष्यवार्तिकादि में कहा गया है। वस्तुतः सूत्रकार ने क्रिया और कर्म दोनों के लिये कर्म शब्द का प्रयोग किया है, यह स्पष्ट है।

पाणिनि-लक्षण को शाकटायन ने और भी स्पष्ट किया है, यथा—'कर्मणोपेयः सम्प्रदानम्' (१।२।१२६) भाष्यवार्तिक-मत को भोज ने अपने एक सूत्र में समेटा है, जो 'कर्मणा क्रियया वा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्' (१।१।२६) रूप उनके सूत्र से स्पष्ट है। हेमचन्द्र ने शाकटायन-मत को ही स्पष्टतः दिखाया है उनका सूत्र है – कर्माभिप्रेयः सम्प्रदानम्' (२।२।२५)।

सम्प्रदान में 'दान का बहुत बड़ा महत्त्व है। ध्यान देना चाहिए कि कारकों में कर्ता कर्म, करण और अधिकरण ये चार 'कृ' धातु से बनते हैं, पर सम्प्रदान और अपादान ये दो कारक 'दा' धातु से बनाए गए हैं। इससे ज्ञापित होता है कि यहाँ 'दा' धातु का सार्थक्य है और यही कारण है कि कोई-कोई आचार्य दान-क्रिया के उद्देश्य को ही सम्प्रदान कहते हैं। कातन्त्र-सूत्र में कहा गया है—'यस्मै दित्सा (दित्सा = देने की इच्छा) रोचते धारयते वा तत् सम्प्रदानम्' (२।४।१)। दान का यह वशिष्ट्य संक्षिप्तसार-व्याकरण की वृत्ति में और भी स्पष्ट रूप से प्रतिपादित हुआ है यथा—'प्रदानमात्मनिवृत्तिकं दानं कर्म क्रियमाणं यो लभते स सम्प्रदानसंज्ञो भवति' (१२।१०)। उसी प्रकार, सुपद्म व्याकरण में भी कहा गया है—'प्रदानाभिसम्बध्यमानं सम्प्रदानम्' (२।१।१२)।

यहाँ जो लक्षण कहे गए हैं पाणिनीय सम्प्रदाय के आचार्यों की व्याख्या का अवलम्बन कर उनका स्पष्टीकरण किया जा रहा है—

'सम्प्रदान' एक महासंज्ञा है सुतरां वह अन्वर्थ भी है, जिसके कारण 'सम्यक् प्रदीयतेऽस्मै तत् सम्प्रदानम् यह कहना पड़ता है, अर्थात् दान-क्रिया रूप कर्म को कर्त्ता जिसके लिये करता है वह सम्प्रदान है। दान = अपना स्वत्व छोड़कर दूसरे के स्वामित्व का स्वीकार इसलिये 'विप्राय गां ददाति' (विप्र को गो का दान करता है) वाक्य में गो का स्वामी विप्र हो जाता है। रजक (= धोबी) को जब वस्त्र प्रक्षालनार्थ दिया जाता है, तब स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वक परस्वत्वोत्पादन' नहीं होता इसलिये वैसे स्थल पर रजक सम्प्रदान नहीं होता यह काशिकाकारादि का मत है।

पर, पतञ्जलि का मत ऐसा नही है—यह कोई कोई कहते है, क्योंकि जहाँ स्वस्वत्वनिवृत्ति आदि नही हैं, वहाँ भी उन्होने सम्प्रदान मानकर चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग किया है, जैसे 'खण्डिकोपाध्यायः शिष्याय चपेटा ददाति', (भाष्य १।१।१) मे देखा जाता है। प्राचीन प्रयोगो मे जहाँ पूर्वोक्त दान नही है, वहाँ भी सम्प्रदान दिखाई पडता है, जैसे—'तदाचक्ष्वासुरेन्द्राय स च युक्त करोतु यत्' (मार्क० ८५।७६) वाक्य मे दान नही है, पर सम्प्रदान मानकर 'असुरेन्द्र' मे चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग किया गया है। इसी दृष्टि से कोई कोई यह भी कहता है कि 'रजकाय वस्त्र ददाति' यह प्रयोग भी सम्प्रदान मानकर होगा, क्योंकि सम्प्रदान-स्थल में स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वक दान की विवक्षा होना आवश्यक नही है।

सम्प्रदानसबन्धी यह मत भर्तृहरि को मान्य नही है। उन्होने कहा है—'अनिराकरणात् कर्त्तुस्त्यागाङ्गं कर्मणेप्सितम्। प्रेरणानुमतिभ्या च लभते सम्प्रदानताम्' ॥ (वाक्यप० साधन, १२९), इसकी व्याख्या मे हेलाराज ने सम्प्रदान को अन्वर्थ मानकर प्रकृत दान-स्थल मे ही सम्प्रदान माना है।[1]

सम्प्रदान के इस स्वरूप को लक्ष्य कर कुछ कारिकाएँ विभिन्न व्याकरण-सम्प्रदायो मे रची गई हैं। मुग्धबोध-टीका मे कहा गया है—'पूजानुग्रहकाम्याभिः स्वद्रव्यस्य परार्पणम्, दान तस्यार्पणस्थान सम्प्रदान प्रकीर्तितम्' (२९४ सूत्र , रामतर्कवागीश टीका)। पूजा, अनुग्रह आदि से जब दान किया जाता है, तब सम्प्रदान होता है, यह यहाँ कहा गया है। चाङ्गुदास ने भी इस मत का अनुसरण किया है, यथा—'सम्प्रदान तदेव स्यात् पूजानुग्रहकाम्यया, दीयमानेन सत्यागात् स्वामित्व लभते यदि'। दान के स्वरूप के विषय में विभिन्न टीकाकारो ने प्रचुर विचार किया है, जिसका विवरण विस्तार-भय

१—हेलाराज का वाक्य यहाँ यथावत् उद्धृत किया जा रहा है—'अन्वर्थत्वात् सम्प्रदानस्य त्यागाङ्गमिति लक्षणलाभः। त्यागो दीयमानस्य स्वत्वनिवृत्त्या परस्वत्वोत्पादनम्। × × × कन्या ददातीति जन्यजनकभावाव्यावृत्तावपि स्वस्वामिसम्बन्धस्य निवृत्तेः मुख्य एव ददात्यर्थः। खण्डिकोपाध्यायः तस्मै चपेटा ददातीत्यादौ वस्तुतः असत्यपि चपेटादिस्वाम्ये तदुपकारितया दातुः स्वामित्वाभिसन्धिः अस्त्येव। यद्यपि प्रतिकूलरूपत्वात् चपेटाया तदानीमुपयोगो नास्ति तथापि फलद्वारेण अस्त्येव परोपयोगित्वम्।—चपेटासहत्वे शास्त्राभ्यासयोगत्वात् फलाव्याप्तेः'।

प्राप्त किया जाएगा। पाणिनि ने यद्यपि केवल 'जिसके लिये कर्म किया जाए' इतना ही कहा है पर तत्त्वतः 'क्रिया भी जिसके लिये की जाए' वह भी सम्प्रदान होता है ऐसा भाष्यवार्तिकादि में कहा गया है। वस्तुतः सूत्रकार ने क्रिया और कर्म दोनों के लिये कर्म शब्द का प्रयोग किया है, यह स्पष्ट है।

पाणिनि-लक्षण को शाकटायन ने और भी स्पष्ट किया है, यथा—'कर्मणोपेयः सम्प्रदानम्' (१।२।१२६) भाष्यवार्तिक-मत को भोज ने अपने एक सूत्र में समेटा है, जो 'कर्मणा क्रियया वा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्' (१।१।६६) रूप उनके सूत्र से स्पष्ट है। हेमचन्द्र ने शाकटायन-मत को ही स्पष्टतः दिखाया है, उनका सूत्र है —कर्माभिप्रेयः सम्प्रदानम् (२।२।२५)।

सम्प्रदान में 'दान' का बहुत बड़ा महत्त्व है। ध्यान देना चाहिए कि कारकों में कर्ता कर्म, करण और अधिकरण ये चार 'कृ' धातु से बनते हैं, पर सम्प्रदान और अपादान ये दो कारक 'दा' धातु से बनाए गए हैं। इससे ज्ञापित होता है कि यहां 'दा' धातु का सार्थक्य है और यही कारण है कि कोई-कोई आचार्य दान-क्रिया के उद्देश्य को ही सम्प्रदान कहते हैं। कातन्त्र-सूत्र में कहा गया है—'यस्मै दित्सा (दित्सा = देने की इच्छा) रोचते धारयते वा तत् सम्प्रदानम् (२।४।१)। दान का यह वशिष्टय संक्षिप्तसार-व्याकरण की वृत्ति में और भी स्पष्ट रूप से प्रतिपादित हुआ है यथा—'प्रदानमात्मविषयं दानं कर्मा क्रियमाणं यो लभते स सम्प्रदानसंज्ञो भवति' (१५।१७)। उसी प्रकार, सुपद्म व्याकरण में भी कहा गया है—'प्रदानाभिसम्बध्यमानं सम्प्रदानम्' (२।१।१२)।

यहाँ जो लक्षण कहे गए हैं पाणिनीय सम्प्रदाय के आचार्यों की व्याख्या का अवलम्बन कर उनका स्पष्टीकरण किया जा रहा है—

'सम्प्रदान एक महासंज्ञा है सुतरां यह अन्वर्थ भी है जिसके कारण सम्यक् प्रदीयतेऽस्मै तत् सम्प्रदानम्' यह कहना पड़ता है, अर्थात् दान-क्रिया रूप कर्म को कर्ता जिसके लिये करता है वह सम्प्रदान है। दान = अपना स्वत्व छोड़कर दूसरे के स्वामित्व का स्वीकार।' इसलिये 'विप्राय गां ददाति' (विप्र को गौ का दान करता है) वाक्य में गौ का स्वामी विप्र हो जाता है। रजक (= धोबी) को जब वस्त्र प्रक्षालनार्थ दिया जाता है, तब 'स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वक परस्वत्वोत्पादन' नहीं होता इसलिये वैसे स्थल पर रजक सम्प्रदान नहीं होता यह काशिकाकारादि का मत है।

पर, पतञ्जलि का मत ऐसा नही है—यह कोई कोई कहते है, क्योकि जहाँ स्वस्वत्वनिवृत्ति आदि नही हैं, वहाँ भी उन्होने सम्प्रदान मानकर चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग क्रिया है, जैसे 'खण्डिकोपाध्यायः शिष्याय चपेटा ददाति', (भाष्य १।१।१) मे देखा जाता है। प्राचीन प्रयोगो मे जहाँ पूर्वोक्त दान नही है, वहाँ भी सम्प्रदान दिखाई पडता है, जैसे—'तदाचक्ष्वासुरेन्द्राय स च युक्त करोतु यत्' (मार्क० ८५।७६) वाक्य मे दान नही है, पर सम्प्रदान मानकर 'असुरेन्द्र' मे चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग किया गया है। इसी दृष्टि से कोई कोई यह भी कहता है कि 'रजकाय वस्त्र ददाति' यह प्रयोग भी सम्प्रदान मानकर होगा, क्योकि सम्प्रदान-स्थल मे स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वक दान की विवक्षा होना आवश्यक नही है।

सप्रदानसबन्धो यह मत भर्तृहरि को मान्य नही है। उन्होने कहा है—'अनिराकरणात् कर्त्तुस्त्यागाङ्गं कर्मणेप्सितम्। प्रेरणानुमतिभ्या च लभते सम्प्रदानताम्' ॥ (वाक्यप० साधन, १२९), इसकी व्याख्या मे हेलाराज ने सम्प्रदान को अन्वर्थ मानकर प्रकृत दान-स्थल मे ही सम्प्रदान माना है।[1]

सम्प्रदान के इस स्वरूप को लक्ष्य कर कुछ कारिकाएँ विभिन्न व्याकरण-सम्प्रदायो मे रची गई हैं। मुग्धबोध-टीका मे कहा गया है—'पूजानुग्रहकाम्याभिः स्वद्रव्यस्य परार्पणम्, दान तस्यार्पणस्थान सम्प्रदान प्रकीर्तितम्' (२९४ सूत्र, रामतर्कवागीश टीका)। पूजा, अनुग्रह आदि से जब दान किया जाता है, तब सम्प्रदान होता है, यह यहाँ कहा गया है। चाङ्गुदास ने भी इस मत का अनुसरण किया है, यथा—'सम्प्रदान तदेव स्यात् पूजानुग्रहकाम्यया, दीयमानेन सत्यागात् स्वामित्व लभते यदि'। दान के स्वरूप के विषय मे विभिन्न टीकाकारो ने प्रचुर विचार किया है, जिसका विवरण विस्तार-भय

१—हेलाराज का वाक्य यहाँ यथावत् उद्धृत किया जा रहा है—अन्वर्थत्वात् सम्प्रदानस्य त्यागाङ्गमिति लक्षणलाभ। त्यागो दीयमानस्य स्वत्वनिवृत्त्या परस्वत्वोत्पादनम्। × × × कन्या ददातीति जन्यजनकभावाव्यावृत्तावपि स्वस्वामिसम्बन्धस्य निवृत्ते मुख्य एव ददात्यर्थ.। खण्डिकोपाध्यायःतस्मै चपेटा ददातीत्यादौ वस्तुत. असत्यपि चपेटादिस्वाम्ये तदुपकारितया दातुः स्वामित्वाभिसन्धिः अस्त्येव। यद्यपि प्रतिकूलरूपत्वात् चपेटाया' तदानीमुपयोगो नास्ति तथापि फलद्वारेण अस्त्येव परोपयोगित्वम्।—चपेटासहत्वे शास्त्राभ्यासयोगत्वात् फलाव्याप्तेः'।

से छोड़ दिया गया है।[१]

सम्प्रदान के कुछ भेदों का उल्लेख भी मिलता है। लौकिक सम्प्रदान तथा शास्त्रीय सम्प्रदान-रूप दो भेदों का उल्लेख कलाप-सम्प्रदाय में है। जब कर्मादि-कारकों की प्राप्ति होने पर सम्प्रदान का विधान किया जाता है तब वह शास्त्रीय सम्प्रदान होता है और जब कर्मणा यमभिप्रेति स सम्प्रदानम्, इस पाणिनि-सूत्र से सम्प्रदान होता है, तब वह लौकिक सम्प्रदान होता है यह कालापों का मत है (द्र० कारकचक्रसंग्रह-टीका)।

पाणिनीय सम्प्रदाय के वैयाकरणभूषणग्रन्थ (पृ० ११२) में इस विषय में भर्तृहरिकारिका का उद्धरण देकर विचार किया गया है। यथा—'अनिराकरणात् कर्तुस्त्यागाङ्गं कर्मणेप्सितम्, प्रेरणानुमतिभ्यां च लभते संप्रदानताम्' (अत्र उद्धृत)। इस कारिका में तीन प्रकार के सम्प्रदान कहे गये हैं—अनिराकर्त्ता प्रेरयितृ और अनुमन्तृ। अनिराकर्त्ता का उदाहरण है—'सूर्याय अर्घ्यं ददाति' (सूर्य को अर्घ्य देता है) क्योंकि यहाँ सूर्य न प्रार्थना करता है न अनुमोदन करता है और न निराकरण ही करता है। 'प्रेरयिता' का उदाहरण है—'विप्राय गां ददाति' (विप्र को गौ देता है) यहाँ विप्र दान के लिये दाता को प्रेरणा करता है। अनुमन्ता' का उदाहरण है—'उपाध्यायाय गां ददाति' (उपाध्याय को गौ देता है)। यहाँ उपाध्याय का अनुमोदन स्पष्ट ही है।

हमने पहले कहा है कि संप्रदान पद 'दा' धातु से बना है इससे इसके कारकत्व में संशय होता है। यह संशय तब और दृढ़ होता है, जब हम देखते हैं कि अन्य कारक के साथ इसका विनिमय नहीं होता अर्थात् 'असिना छिनत्ति' (असि से काटता है) प्रयोग में असि करण है, पर कर्ता के रूप में भी उसका प्रयोग हो सकता है असिः छिनत्ति' (असि काटता है) यह बात संप्रदान-स्थल में हम नहीं देख पाते अर्थात् 'विप्राय ददाति' वाक्य में जो संप्रदान (विप्र) है वह कभी भी कर्त्ता-कर्म आदि में परिवर्तित नहीं हो जाता।

१—सम्प्रदान के विषय में मुग्धबोध की दुर्गादास टीका एवं प्रसाद-टीका में यह कारिका उद्धृत है यथा—

'सम्प्रदानं तदेव स्यात् पूजानुग्रहकाम्यया।
दीयमानेन संयोगात् स्वामित्वं लभते यदि ॥' (प्रसाद १।७।१२)

इससे भी सम्प्रदान का सम्बन्ध दान से ही है यह सूचित होता है ('ददाति कर्मणेव यमभिप्रेतीति'—प्रसाद-टीका)।

वस्तुतः प्रत्येक कारक किसी-न-किसी रूप से कर्त्ता (स्वव्यापार की स्वतन्त्रता विवक्षित होने पर), अवश्य होता है, पर सम्प्रदान को स्वतन्त्रता-विवक्षा लोक मे नही होती ('रामाय ददाति' वाक्य कभी भी 'रामो ददाति', नही वनता)।

सप्रदान की इस विचित्रता के कारण कोई वादी इसको यथार्थ कारक नही मानते थे, यह बात १।४।२२ सूत्र-भाष्य से अनुमित होता है। वार्त्तिक है—'अपादानादीना त्वप्रसिद्धि' और नागेश ने 'आदि' पद से सम्प्रदान का ही ग्रहण किया है। शब्द-स्वभाव से भी जाना जाता है कि वाक्यस्थ धातु सप्रदान और अपादान के व्यापार मे प्रवर्त्तित नही होता ('शब्दशक्तिस्वाभाव्याच्चापादानसप्रदानव्यापारे धातुर्न प्रवर्त्तते'–प्रदीप १।४।३२)। यह वात वाक्यपदीयटीकाकार हेलाराज को भी मान्य है। उन्होने कहा है कि सप्रदान और अपादान के स्वव्यापार मे स्वतन्त्रता की विवक्षा नही होती ('सप्रदानापादानयो' स्वव्यापारे स्वातन्त्र्यविवक्षा नास्ति द्वितीयस्यादातु अपगन्तुश्चापेक्षणात्', साधन० १८ की टीका)।

इतना होने पर भी जो सप्रदान को कारक मानते हैं, उनका कहना है कि यद्यपि स्वव्यापार मे सप्रदान की स्वातन्त्र्य विवक्षा नही है, तथापि वह स्वव्यापार से क्रिया-सिद्धि मे सहायक तो होता ही है, अतएव वह कारक है। वह व्यापार क्या है, यह पहले कहा गया है।

अपादान—सम्प्रदान की तरह यह भी 'दा' धातु से वना है और इसका तात्पर्य भी सम्प्रदान की तरह ही है, जैसा कि आगे दिखाया जाएगा।

पाणिनि ने अपादान का लक्षण 'ध्रुवमपायेऽपादानम्'(१।४।२४) कहकर किया है। सरस्वतीकण्ठाभरण (१।१।६५) और जैनेन्द्र-व्याकरण (१।२।१२४) मे भी यही कहा गया है। अपाय = विश्लेष = विभाग है। विभाग-क्रिया मे जो ध्रुव (= अवधि = जहा से विभाग-क्रिया होती है) है, वह अपादान है, यह इस सूत्र का सामान्य लक्षण है। चन्द्र ने अपादान को 'अवधि' ही कहा है (२।१।८१), हेमचन्द्र भी यही कहते हैं ('अपायेऽवधिरपादानम्'—२।२।२९)। केवल 'अपाय' का हो नही, अन्यान्य प्रकार की क्रिया की अवधि भी अपादान है, जैसा कि सुपद्म मे कहा गया है—'अवधिरपायादिष्वपादानम्' (२।१।२०) और जीवगोस्वामी ने भी इस मत को माना है—'अपायादिष्ववधिरपादानम्' (हरिनामामृत ४।७४)। वस्तुत गमनशील द्रव्य का पहला सम्बन्ध-स्थान (जहाँ से वह चलता है) ही अपादान है जैसा कि संक्षिप्तसार मे कहा गया है—'चलत्प्राग्भूरपादानम्' (५।२६)—'चलत प्राक् सम्बन्धिस्थानम्' (वृत्ति)।

इन मतों का विशदीकरण पाणिनीय मत का आश्रयण कर किया जा रहा है। १।४।२४ सूत्र में जो अपाय शब्द है, उसका अर्थ विश्लेष = वियोग है। ध्रुव = अवधि है। संयुक्त दोनों वस्तुओं से जब एक का चलन होता है तब वह अपाय कहलाता है और जहाँ से अपाय होता है वह अवधि = ध्रुव कहलाता है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि प्रकृत धात्वर्थरूपी क्रिया का आश्रय ध्रुव नहीं होता पर चलनजन्य विभाग का आश्रय ध्रुव होता है। जैसे 'ग्रामाद् आयाति' वाक्य मे आगमन-क्रिया का आश्रय कोई व्यक्ति है पर आगमनजन्य विश्लेष का सम्बन्ध ग्राम से हो है इसलिये ग्राम अपादान है।

यह यहाँ ज्ञातव्य है कि जो अवधिभूत ध्रुव है वह निष्क्रिय भी हो सकता है, सक्रिय भी। निष्क्रिय का उदाहरण पहले दिया गया है। सक्रिय ध्रुव का उदाहरण 'धावत अश्वात् पतति' (धावनकारी अश्व से गिरता है) वाक्य है। यहाँ धावन-क्रियाविशिष्ट अश्व का प्रकृत धातुवाच्य क्रिया (= पतन) के प्रति अवधित्व है।

अपादान की इस निष्क्रिय और सक्रिय अवस्था के विषय में भर्तृहरि ने सुन्दर विचार किया है यथा—

> अपाये यदुदासीनं चलं वा यदि वाऽचलम्।
> ध्रुवमेवातदावेशात् तदपादानमुच्यते॥
> पततो ध्रुव एवाश्वो यस्मादश्वात् पतत्यसौ।
> तस्याप्यश्वस्य पतने कुड्यादि ध्रुवमिष्यते॥[1]
> मेषान्तरक्रियापेक्षमवधित्वं पृथक् पृथक्।
> मेषयोः स्वक्रियापेक्षमवधित्वं पृथक् पृथक्॥
>
> (वाक्य० १४१)

अर्थात्, अपाय (= विश्लेष) में जो उदासीन है वह (चाहे चल हो या अचल) ध्रुव कहलाता है। अतदावेश के कारण वह अपादान है। अतदावेश का तात्पर्य है—क्रिया का आश्रय न होना जैसे 'वृक्षात् पर्णं पतति' में पतन क्रिया का आश्रय पर्ण होता है वृक्ष नहीं और इसीलिये वृक्ष अपादान है। जब कोई पदार्थ अश्व से गिरता है तब अश्व अपादान होता है और अश्व जब कुड्य से गिरता है, तब कुड्य अपादान होता है। जब मेष एक दूसरे से टक्कर खाकर अलग हो जाते हैं, तो वहाँ भी एक मेष की अपेक्षा से दूसरा ध्रुव होता है।

१—ये दो श्लोक मुद्रित वाक्यपदीय में दृष्ट नहीं हैं।

अपाय और ध्रुव के विषय मे और भी कुछ बाते ज्ञातव्य हैं। पहली बात यह है कि किसी भी गति मे जब अवधि का उल्लेख रहेगा, तभी वहाँ 'अपाय' माना जाएगा, अन्यथा नही—'सति ह्यवधौ गतिरपायो भवति, नान्यथा गतिविशेषत्वादपायस्य' (प्रदीप १।४।२३)। जैसे, पर्ण की पतन-क्रिया मे वृक्ष की अवधि-रूपसे जब विवक्षा होगी, तभी वृक्ष अपादान होगा और 'वृक्षात् पर्णं पतति' ऐसा वाक्य बनेगा, अन्यथा जब अवधि की विवक्षा नही होगी, तब 'वृक्षस्य पर्णं पतति' यही कहा जाएगा। इस वाक्य मे वृक्ष को अवधि रूप से नही माना गया, बल्कि पर्ण स उसका सम्बन्ध दिखाया गया है। यह विषय इस कारिका मे स्पष्ट उल्लिखित हुआ है—'गतिर्विना त्ववधिना नापाय इति गम्यते, वृक्षस्य पर्णं पततीत्येव भाष्ये निदर्शितम्' ॥ (साधन० १४३)।

अवधि होने से ही 'अपाय' होगा, और केवल विश्लेष- क्रिया कहने मात्र से ही अपाय नही होगा—यह मत सभी सम्प्रदायो मे प्रतिष्ठित है। अपाय के साथ यद्यपि वैज्ञानिक दृष्टि से ध्रुव (या अवधि) का होना आवश्यक है, तथापि ध्रुव पदार्थ का स्पष्ट उल्लेख अपादान कारक के लिये होना चाहिए। यही कारण है कि पाणिनि ने १।४।२४ सूत्र मे ध्रुव और अपाय इन दोनो शब्दो का प्रयोग किया है। अन्यान्य आचार्यों के वचन भी इसी तथ्य की ओर इंगित करते हैं, यथा—'अपायेऽवधौ' (अभिनवशाकटायन १।३।१५६)। एक आश्रय से पृथक् या विभाग होना अपाय है। अर्थात्, सम्बन्धविगम = अपाय है। इस विषय मे दुर्गसिंह की विशद व्याख्या इस प्रकार है—'यतश्च सयोगो निवर्त्तते। सोऽयम् एकस्य संयोगिन. सयोगान्तराद् व्यपगमोऽपाय। तथाहि प्रथम चलति द्रव्य तदनन्तरमितरश्चापाय सोऽय भवति विभाग' (कातन्त्र-टीका)।

यह अपादान जिस प्रकार वास्तव होता है, उसी प्रकार बौद्ध (=बुद्धिकृत, काल्पनिक) भी होता है। भाष्यकार ने इस विषय को अच्छी तरह से समझाया है। जैसे 'वृक्षात् पर्णं पतति' मे वृक्ष का वास्तव अपादानत्व है, उसी प्रकार 'अधर्माद् विरमति' (अधर्म से हटता है) वाक्य मे 'अधर्म' विराम-क्रिया के प्रति ध्रुव होने के कारण अपादान है। पर, यह अपादान वास्तव नही है, बौद्ध है, यहा भी एक प्रकार का मानस 'अपाय' है। बात यह है कि जो प्रेक्षापूर्वकारी व्यक्ति है, वह समझता है कि अधर्म से कष्ट होता है, अतः वह अधर्म से निवृत्त होता है, यहाँ भी उस व्यक्ति का बुद्धिकृत (मानसिक) विश्लेष है, अतएव यह भी अपादान ही हुआ। भाष्यकार ने कई उदाहरणो से इसे समझाया है। यथा—

''इह तावत् अधर्माद् जुगुप्सते 'अधर्माद् बीभत्सते' इति । य एष मनुष्यः प्रेक्षापूर्वकारी भवति स पश्यति दुःखोऽधर्मो नानेन कृत्यमस्तीति । स बुद्ध्या सम्प्राप्य निवर्तते । तत्र ध्रुवमपायेऽपादानमित्येव सिद्धम् । इह धर्माद् विरमति धर्मात् निवर्तते इति धर्मात् प्रमाद्यति धर्मात् मुह्यतीति । य एष मनुष्यः संभिन्नबुद्धिर्भवति स पश्यति नैवं किञ्चिद् धर्मो नाम नैनं करिष्यामीति स बुद्ध्या सम्प्राप्य निवर्तते तत्र ध्रुवमपायेऽपादानमित्येव सिद्धम्' (भाष्य १।४।२४) ।

पाणिनि के अपादान प्रकरण के सभी सूत्र इस प्रकार बौद्ध अपाय मानकर भाष्यकार के द्वारा प्रत्याख्यात हुए हैं । भाष्यकार का यह दृष्टिकोण अन्यान्य व्याकरण-संप्रदायों को भी मान्य है । कलाप-टीकाकार कहता है— 'न हि कायप्राप्तो एवापायः किन्तर्हि चित्तप्राप्तो अपि । कातन्त्र की कविराज पञ्जी-टीका में भाष्यकारीय मत को हू-ब-हू माना गया है (चतुष्क २१४ सूत्र) ।

बौद्ध अपादान का यह विचार और भी विस्तृत क्षेत्र में प्रदर्शित किया गया है । कर्म और अधिकरण के स्थान पर कहीं-कहीं पञ्चमी विभक्ति का विधान *किया गया है (भाष्य २।३।२८) । भाष्यकार ने इसका भी बौद्ध अपाय मानकर,* प्रत्याख्यान किया है । जैसे 'आसनात् प्रेक्षते' (आसन में बैठकर देखता है) या 'प्रासादात् प्रेक्षते' वाक्य के विषय में पतञ्जलि ने कहा है कि यहाँ भी बौद्ध अपाय है । उनका वाक्य इस प्रकार है—'इह तावत् प्रासादात् प्रेक्षते आसनात् प्रेक्षते इत्यपक्रामति तत् तस्माद् दर्शनात् । यद्यपक्रामति किं न अत्यन्ताय अपक्रामति ? सन्ततत्वात् । अथवा अन्यान्यप्रादुर्भावात् । अन्या च अन्या' प्रादुर्भवति' (भाष्य २।३।२८) । बात यह है कि प्रेक्षण-क्रिया में भी दर्शन-क्रिया एक स्थान से अन्य स्थान में जाती है । सुतरां यहाँ भी अपाय है और अतः की अवधि मानकर प्रासाद और आसन का अपादानत्व सिद्ध होता है ।

बौद्ध अपाय के विषय में आकर-ग्रंथों में बहुत पुष्कल विचार है जो वहीं द्रष्टव्य है ।

अपादान के दो प्रकार (सक्रिय निष्क्रिय भेद से) पहले कहे गए हैं कारकोल्लास में भी सोदाहरण यह मत मिलता है ('अपादानमिदं द्वेधा चलमचलमपि पर्वताद् अवतीर्णोऽसौ धावतोऽश्वात् पपात सः—५६ श्लोक) । अन्य दृष्टि से इसके तीन भेद होते हैं—निर्दिष्टविषय उपात्तविषय तथा अपेक्षितक्रिय जैसा कि वाक्यपदीय में कहा गया है—

> 'निर्दिष्टविषयं किञ्चिद् उपात्तविषयं तथा ।
> अपेक्षितक्रियं चेति त्रिधा[illegible] ॥ ([illegible] १३६

कोण्डभट्ट ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है[1]—निर्दिष्टविषय 'अपादान' = यत्र साक्षाद् धातुना गतिः निर्दिश्यते (=जहाँ धातु के साक्षात् रूप से गति का निर्देश किया जाता है)। जैसे, 'अश्वात् पतति'। यहाँ गति = विभागजनक क्रिया है। उपात्तविषय अपादान = यत्र धात्वन्तरार्थाङ्ग स्वार्थ धातुराह (=धातु से धात्वन्तर अर्थगर्भित विषय है जिसका)। जैसे—'वलाहकाद् विद्योतते'। यहाँ निःसरणाङ्ग-भूत विद्योतन द्युत् धातु का अर्थ है। यहाँ समभिव्याहृत धातु मे गतिरूप विषय लक्षित हुआ है।[2] अपेक्षितक्रिय अपादान = 'अपेक्षिता क्रिया यत्र' (=धातु का उल्लेख नही रहने पर भी जहाँ आकाक्षिता क्रिया विभक्ति की प्रयोजिका होती है), जैसे—'कुतो भवान्' (आप कहाँ से) के उत्तर मे 'पाटलिपुत्रात्' (पाटलिपत्र से) वाक्य मे देखा जाता है। यहाँ दोनो स्थलो मे आगमन-क्रिया का अध्याहार कर अपादान माना जाता है।

सम्प्रदान के कारकत्व के विषय मे पहले जैसा सशय किया गया था, अपादान के कारकत्व मे भी वैसा ही सशय किया जा सकता है। चूंकि, प्रकृत धातूपात्त क्रिया का सम्बन्ध अवधि से नही होता और अवधिजन्य विभाग से ही अवधि का सम्बन्ध रहता है, अत. क्रिया से अवधि का कोई सम्बन्ध नही है, वस्तुत· क्रिया सिद्धि मे अपादान का कोई भी उपयोग प्रतीत नही होता, इसलिये अपादान को कारक क्यो माना जाए, ऐसा प्रश्न हो सकता है। यह भी नही कहा जा सकता कि अपादान मे पञ्चमी विभक्ति के विधानार्थ अपादान को कारक माना गया है, यह विभक्ति-विधान तो 'क्रियाजन्य अपाय की जो अवधि है, उसमे पञ्चमी विभक्ति होती है', ऐसा अनुशासन कर भी किया जा सकता है, अत अपादान को कारक मानने का कुछ भी आवश्यकता प्रतीत नही होती। प्राचीन आचार्य इसके उत्तर मे कहते थे कि 'अवधि-रूपमे अवस्थान' ही

१—इन तीनो भेदो की स्पष्टतर व्याख्या दण्डनाथ ने की है, यथा—'यत्र धातुना अपायलक्षणो विषयो निर्दिष्टस्तत् निर्दिष्टविषयम्, यथा पर्वतादवरोहति। यत्र तु धातुर्धात्वन्तरार्थाङ्ग स्वार्थमाह तदुपात्तविषयम्, यथा कुसूलात् पचतीति। अत्र आदानाङ्गे पाके पचिर्वर्त्तते। यत्र क्रियावाचि पद न श्रूयते केवल क्रिया प्रतीयते तदपेक्षितक्रियम्, यथा साकाश्यकेभ्य. पाटलिपुत्रका अभिरूपतरा. (सरस्वतीकण्ठाभरण-वृत्ति १।१।६५)।

२—इसका स्पष्ट अर्थ यह है—वलाहकात् नि सृत्य ज्योतिर्विद्योतते। वलाहकाद्वा विद्योतमान नि.सरतीत्यर्थः।

"इह तावत् अधर्माद् जुगुप्सते' 'अधर्माद् बीभत्सते' इति। य एष मनुष्यः प्रेक्षापूर्वकारी भवति स पश्यति दुःखोऽधर्मो नानेन कृत्यमस्तीति। स बुद्धया सम्प्राप्य निवर्तते। तत्र ध्रुवमपायेऽपादानमित्येव सिद्धम्। इह धर्मात् विरमति धर्मात् निवर्तते इति धर्मात् प्रमाद्यति धर्मात् मुह्यतीति। य एष मनुष्य संभिन्नबुद्धिर्भवति स पश्यति नैदं किञ्चिद् धर्मो नाम नैनं करिष्यामीति स बुद्धया सम्प्राप्य निवर्तते तत्र ध्रुवमपायेऽपादानमित्येव सिद्धम्' (भाष्य १।४।२४)।

पाणिनि के अपादान प्रकरण के सभी सूत्र इस प्रकार बौद्ध अपाय मानें जाकर भाष्यकार के द्वारा प्रत्याख्यात हुए हैं। भाष्यकार का यह दृष्टिकोण अन्यान्य व्याकरण-संप्रदायों को भी मान्य है। कलाप-टीकाकार कहता है— 'न हि कायप्राप्तौ एवापायः किन्तर्हि चित्तप्राप्तौ अपि'। कातन्त्र की कविराज-पञ्जी-टीका में भाष्यकारीय मत को हू-ब-हू माना गया है (चतुष्क २१४ सूत्र)।

बौद्ध अपादान का यह विचार और भी विस्तृत क्षेत्र में प्रवर्तित किया गया है। कर्म और अधिकरण के स्थान पर कहीं कहीं पञ्चमी विभक्ति का विधान किया गया है (भाष्य २।३।२८)। भाष्यकार ने इसका भी बौद्ध अपाय मानकर, प्रत्याख्यान किया है। जैसे 'आसनात् प्रेक्षते' (आसन में बैठकर देखता है) या 'प्रासादात् प्रेक्षते' वाक्य के विषय में पतञ्जलि ने कहा है कि यहाँ भी बौद्ध अपाय है। उनका वाक्य इस प्रकार है— इह तावत् प्रासादात् प्रेक्षते शयनात् प्रेक्षते इत्यपक्रामति तत् तस्माद् दर्शनात्। अपक्रामति किं न अत्यन्ताय अपक्रामति? सन्ततत्वात्। अथवा अन्यान्यप्रादुर्भावात्। अन्या च अन्या च प्रादुर्भवति' (भाष्य २।३।२८)। भाव यह है कि प्रेक्षण-क्रिया में भी दर्शन-क्रिया एक स्थान से अन्य स्थान में जाती है। सुतरां यहाँ भी अपाय है और अपाय की अवधि मानकर प्रासाद और शयन का अपादानत्व सिद्ध होता है।

बौद्ध अपाय के विषय में शास्त्र-ग्रंथों में बहुत पुष्कल विचार है जो यहाँ द्रष्टव्य है।

अपादान के दो प्रकार (सक्रिय निष्क्रिय भेद से) पहले कहे गए हैं। कारकोल्लास में भी सोदाहरण यह मत मिलता है ('अपादानमिदं द्वैधमचलं चलमित्यपि पर्वताद् अवतीर्णोऽसौ धावतोऽश्वात् पपात स'—७६ श्लोक)। अन्य दृष्टि से इसके तीन भेद होते हैं—निर्दिष्टविषय उपात्तविषय तथा अपेक्षितक्रिय, जैसा कि वाक्यपदीय में कहा गया है—

> निर्दिष्टविषयं किञ्चिद् उपात्तविषयं तथा।
> अपेक्षितक्रियं चेति त्रिधापादानमुच्यते॥ (साधन १३६)

अधिकरण के इस लक्षण को एक उदाहरण से समझाया जा रहा है। एक वाक्य लीजिये—'रामः स्थाल्याम् अन्न पचति' (राम स्थाली मे खाना पकाता है)। यहा पाक क्रिया का आधार राम ही है और उस क्रिया का फल (=विक्लित्ति)अन्न मे रहता है, सुतरा व्यापार और फल का आधार स्थाली नही हो सकती। पर पाक-क्रिया की सिद्धि के लिये स्थाली अपरिहार्य है और स्थाली मे ही पाक होता है, अतएव स्थाली असाक्षात् रूप से पाक क्रिया का धारण करती है, और इसीलिये वह अधिकरण-कारक है। पर, ऐसा भी उदाहरण है, जहाँ अधिकरण का साक्षात् क्रियाधारत्व भी देखा जाता है, जैसे 'गले बद्ध्वा गौः नीयते' (गले मे बाँधकर गाय लाई जाती है) वाक्य मे नयन-क्रिया मे गले का साक्षात् सम्बन्ध विद्यमान है। इसके दो समाधान हो सकते हैं। प्रथम—'अवयवेऽपि अवयवी विद्यते इति यन्मत तन्मते गलेऽपि बन्धनक्रियाधारो गौः विद्यत इति न दोषः'। अन्य समाधान इस प्रकार है—'यदेव क्रियाधार-भूतत्वेन विवक्ष्यते तदेवाधिकरणम्। परम्परया क्रियाधारत्वमधिकरणत्वमिति यदुक्त पञ्जिकाया तदुपलक्षण वेदितव्यम्। तेन कर्तृकर्मान्यतरद्वारा साक्षाद्वा क्रियाधारत्वमधिकरणत्वम्' (ये दो मत सुषेण विद्याभूषण ने कहे हैं)। पाणिनीय सम्प्रदाय को इसमे आपत्ति नही है।

अधिकरण और क्रिया के सबन्ध मे पाणिनीय सप्रदाय मे दो मत मिलते हैं। कैयटादि प्राचीनो का मत यह है कि अधिकरण-कारक का परपरा-सबन्ध से साक्षात् क्रिया मे अन्वय होता है। नवीन आचार्यों का मत है कि कर्त्ता और कर्म के साथ ही अधिकरण का साक्षात् अन्वय होता है और उसके द्वारा क्रिया मे अन्वय होता है। इन दोनो मतभेदो से फलभेद होता है, जिसका विचार वैयाकरणभूषणसार की प्रभा टीका (पृ० २०३) मे द्रष्टव्य है। अधिकरण के कई अवान्तर भेद माने गए हैं। हम यथाक्रमउनका उल्लेख कर रहे हैं। पतञ्जलि ने तीन प्रकार के अधिकरण माने हैं: अधिकरण नाम त्रिप्रकारम्—व्यापकम्, औपश्लेषिक, वैदयिकमिति' (भाष्य ६।१।७७)। किसी के मतानुसार एक सामीपिक अधिकरण भी है, जैसे 'नद्याम् आस्ते' (नदी मे रहता है) वाक्य मे नदी = नदी का समीप स्थान है। औपश्लेषिक = एकदेश सबन्ध से रहना, जैसे 'कटे आस्ते' का अर्थ है, कट के एक स्थान मे स्थित। यह कर्तृद्वारा क्रियाधार का उदाहरण है। कर्मद्वारा क्रियाधार का उदाहरण है—'स्थाल्या पचति' (स्थाली में पाक करता है) वैषयिक अधिकरणका उदाहरण है, 'मोक्षे इच्छा अस्ति'(मोक्षविषयक इच्छा है)। अभिव्यापक का उदाहरण है, 'तिलेषु तैलम्' (तिल के सर्वावयव मे तेल है)।

अपादान का व्यापार है, और इसीलिये वह कारक है'।[1]

अधिकरण—सभी प्रसिद्ध आचार्यों ने इसका लक्षण 'आधारोऽधिकरणम्' कहकर ही किया है (अष्टा० १।४।४५ जैनेन्द्र १।२।११४ सुपद्म २।१।२१ प्रयोगरत्नमाला १।६११ मम्प्र० २।१।८८)। कातन्त्र में जो 'य आधारस्तदधिकरणम् (२।४।११) कहा गया है।

इस आधार का आधेय कौन है यह विशेष रूप से विचार्य है। मुग्धबोध में 'कालभावाधार' कहा गया है (३१ सू०) अर्थात् काल और क्रिया का आधार अधिकरण है। यहां वस्तुतः क्रिया ही मुख्य है और काल गौण है क्योंकि अधिकरण का प्रयोग मुख्यतः क्रियाधार में ही होता है। यह क्रिया किसकी है, इसके विषय में हेमचन्द्र का सूत्र है—'कर्तृकर्मव्यवहितक्रियाधारोऽधिकरणम्' (२।२।३०) अर्थात् कर्ता से व्यवहित क्रिया या कर्म से व्यवहित क्रिया का आधार अधिकरण है। चूंकि सामान्य क्रिया का 'आधार' अधिकरण नहीं है, बल्कि कर्तृकर्मान्तरित क्रिया का आधार 'अधिकरण' है अतएव कहीं-कहीं कर्तृकर्माधार को भी अधिकरण कहा गया है जैसा कि हरिनामामृत में कहा गया है—'कर्तृकर्माधारोऽधिकरणम्' (४।६।)।

अब पाणिनीय सम्प्रदाय में इसका जो विचार है, उसे दिखाया जा रहा है। भर्तृहरि ने कहा है—'कर्तृकर्मव्यवहितामसाक्षाद् धारयत् क्रियाम्, उपकुर्वत् क्रियासिद्धौ शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम् (साधन १४८)। अधिकरण कर्ता या कर्म की क्रिया का धारण करता है और यह धारण करना क्रिया-सिद्धि में सहायक होता है इसलिये यह कारक है। (आधार शब्द का अर्थ व्यापार का आधार है जैसा कि आगे स्पष्ट होगा)। इस कारिका का आश्रयण कर नागेशभट्ट ने कहा है— कर्तृकर्मद्वारकफलव्यापाराधारत्वमधिकरणत्वम्' (मञ्जूषा)। यह मत कलाप-सम्प्रदाय में भी मान्य है-'क्रियाधारभूतकर्तृकर्मद्वाराधारत्वमधिकरणत्वम्' (सुषेण का मत)।

१—यह उत्तर अत्यन्त सामान्य जान पड़ता है पर ध्यान देने से इसकी वैज्ञानिकता स्पष्ट होती है। किसी भी द्रव्य के पतन में उसकी अवधि की प्रकृति भी कुछ-न-कुछ कारण अवश्य होती है। चपल द्रव्य से पतन क्रिया अचल द्रव्य से पतन-क्रिया इत्यादि क्रियाओं में पतन-क्रिया में पृथक्-पृथक् वैशिष्ट्य उत्पन्न होते हैं, जिनका विवरण आधुनिक वैज्ञानिक ग्रंथों में द्रष्टव्य है। अतएव पतन-क्रिया के वैशिष्ट्य के प्रति अवधि की कारणता-अनन्यो-कार्य है और इसीलिये अवधिभूत अर्थ को अपादान-कारक कहना उचित ही है।

कारकों का बलाबल—पूर्वाचार्यो ने इन कारको के बलाबल पर भी विचार किया है। इस विषय में प्रसिद्ध कारिका यह है—

'अपादानसम्प्रदानकरणाधारकर्मणाम् ।
कर्त्तुश्चोभयसम्प्राप्तौ परमेव प्रवर्त्तते ॥'

अर्थात्, अपादान-सम्प्रदान-करण-अधिकरण-कर्म-कर्त्ता—इन कारकों मे पर-पर पूर्व-पूर्व से बलवान् है। यह नियम कारिकाकार का कल्पित नहीं है, बल्कि पाणिनि ने कारको का विवरण जिस क्रम से दिया है, उस क्रम से ही यह नियम सिद्ध होता है। अष्टाध्यायी के प्रथम अध्याय, चतुर्थ पाद मे कारक-प्रकरण है। वहाँ कारको का क्रम भी पूर्वोक्त क्रम के अनुसार ही है। पाणिनि का नियम है 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' (१।४।२), अतः पूर्व-पूर्व कारक से पर-पर कारक बलवान् है, यह पाणिनिसिद्ध नियम ही है।

कारको के बलाबल का सोदाहरण विवेचन कैयट ने किया है। यथा—'कारकसंज्ञा तु वस्तुस्थित्या विद्यमानमुद्भूतत्वेन अविवक्षितमपि स्वातन्त्र्यमाश्रित्य करणादीनां विधानसामर्थ्यात् प्रवर्तते। यत्र च शक्तीनां निमित्त-निमित्तिभावेन युगपद् विवक्षा तत्र संज्ञानां विप्रतिषेध उच्यते, यथा धनुषा विध्यतीति विनापायविवक्षया धनुषः साधकतमत्वाभावात् संज्ञाद्वयप्रसङ्गे परत्वात् करणसंज्ञा। असिः छिनत्तीति सत्येव साधकतमत्वे स्वातन्त्र्यस्य विवक्षितत्वात् परत्वात् कर्तृसंज्ञा। तदा तु तैक्ष्ण्यादीनां करणत्वम्। तैक्ष्ण्यादीनां तु कर्तृत्वविवक्षायामात्मनः करणत्वम्। तैक्ष्ण्यमेव हि विवक्षावशाद् द्वेधाऽवतिष्ठते कर्तृत्वेन करणत्वेन च। वस्तुस्थित्या तु एक एव अर्थात्मेति कर्तृत्वं करणत्वस्य बाधकमुच्यते' (प्रदीप १।४।२३)। इस वाक्य मे यह स्पष्ट किया गया है कि क्यो कर्त्ता को करण या करण को कर्त्ता माना जा सकता है। अर्थ स्पष्ट होने के कारण इसकी व्याख्या अनावश्यक है।

अन्य कारक की सत्ता—छहो कारको की सिद्धि के बाद यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या अन्य कारक नही हो सकता, या क्या इनमें से किसी कारक को कारक-सूची से हटाया नही जा सकता? हम देखते हैं कि हिन्दी मे सम्बन्ध और सम्बोधन को भी कारक माना जाता है, तथा कुछ प्राचीन भाषाओ मे अपादान आदि कारको को नही माना गया है, इत्यादि। उत्तर मे वक्तव्य है कि पूर्वाचार्यों ने भी इस तथ्य को लक्ष्य किया था और उन्होंने विचार कर यह दिखाया है कि क्यो सम्बोधन और सम्बन्ध कारक नही हो सकते। संक्षेप मे उनका विचार इस प्रकार है:—

विट्ठल ने इन चार प्रकार के अधिकरणों की सुन्दर व्याख्या की है यथा— 'आधाराधेययो अन्यत्र सिद्धयो' प्रादेश संबन्ध उपश्लेषः,तत्र भव औपश्लेषिक। सामीप्य सान्निध्यम् तत्र भव सामीपिकः। विषयस्त्वनन्यत्र भाव। तत्र भावोऽनु पचारेण विषय। अपृथग्देशयोराधाराधेययोर्य सकलावयवसंबन्धस्तत्र भवो व्याप्त" (प्रसाद २।२।३६, पृ ४५५)।

विट्ठल वषयिक अधिकरण के उदाहरण (तर्के कुशल) पर यह शङ्का उठाते हैं कि 'अस्ति' क्रिया आश्रयभूत कौशल के साथ तर्क का न संयोग-संबन्ध है और न समवाय संबन्ध ही अत तर्क कैसे कौशल का आधार हो सकता है? उत्तर मे उन्होने कहा है कि चू कि यहाँ कौशल का स्थिति तर्काधीन है अत कौशल के प्रति तर्क का आधारत्व सिद्ध हो है। यहाँ हम उनके उत्तर को यथावद् उद्धृत कर रहे हैं— यतो यदधीना यस्य स्थिति स विनापि संयोगसम वायाभ्यां तस्याश्रयो भवति यथा पुरुषस्य राजा। अत्र यद्यपि राजा पुरुषस्य संयोग-समवायी न तथापि तदायत्तस्थितित्वात् राजाश्रयः पुरुष इत्युच्यते लोके। तथात्रापि कौशलस्य तर्काधीनास्थितित्वाद् युक्त तर्कस्य कौशलं प्रति आधाराधेय-भाव। गुरौ वसतीत्याद्यपि विषयस्योदाहरणं ज्ञेयम् (प्रसाद टीका पृ ४५६)।

हमने पहले सामीपिक अधिकरण का उल्लेख किया है (गङ्गायाम् आस्ते— उदाहरण में)। पर, यह वस्तुत औपश्लेषिक अधिकरण मे हा आ जाता है, अतएव इसको पृथक गणना क्यो की गई है ऐसी शङ्का हो सकती है। इसका एक संगत उत्तर रामतर्कवागीश मे दिया है—'सामीपिकस्य औपश्लेषिकत्वेनैव सिद्धे पृथगुपादानं सकलगया ज्ञेयपदार्थस्यापि आधारत्वज्ञाप-नायम्। तेन 'अङ्गुल्यग्रे करिशतम्' इत्यत्र अंगुरग्रमनिविष्टस्यापि आधारत्व सिद्धि (प्रबोधजननी टीका)। कोई-कोई इन चार आधारों के अतिरिक्त एक औपचारिक आधार भी मानते हैं। उपचार = अविद्यमान का आरोप। 'उपचारे भवम् औपचारिकम्'। उदाहरण—'करशाखाशिखरे करेणुशतम् आस्ते। कोई-कोई नैमित्तिक अधिकरण भी मानते हैं। नैमित्तिक = निमित्त हेतु तत्र भव नैमित्तिकम् यथा युद्धे सन्नह्यते धीरः (युद्ध के निमित्त वीर सन्नद्ध होता है)। इन छहों अधिकरणों के उदाहरणों को प्रदर्शित करने वाली एक कारिका का उल्लेख श्रीगुरुपदजी ने किया है—

कट शेते कुमारोऽसौ वटे गाव सुशेरते।
तिलेषु विद्यते तैलं हृदि ब्रह्मामृतं परम्।
युद्धे सन्नह्यते धीरोऽङ्गुल्यग्रे करिणां शतम्' ॥

कारकों का बलाबल—पूर्वाचार्यों ने इन कारकों के बलाबल पर भी विचार किया है। इस विषय में प्रसिद्ध कारिका यह है—

'अपादानसम्प्रदानकरणाधारकर्मणाम्।
कर्त्तुश्चोभयसम्प्राप्तौ परमेव प्रवर्त्तते ॥'

अर्थात्, अपादान-सम्प्रदान-करण-अधिकरण-कर्म कर्त्ता—इन कारकों में पर-पर पूर्व-पूर्व से बलवान् हैं। यह नियम कारिकाकार का कल्पित नहीं है, बल्कि पाणिनि ने कारकों का विवरण जिस क्रम से दिया है, उस क्रम से ही यह नियम सिद्ध होता है। अष्टाध्यायी के प्रथम अध्याय, चतुर्थ पाद में कारक-प्रकरण है। वहाँ कारकों का क्रम भी पूर्वोक्त क्रम के अनुसार ही है। पाणिनि का नियम है 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' (१।४।२), अतः पूर्व-पूर्व कारक से पर-पर कारक बलवान् है, यह पाणिनिसिद्ध नियम ही है।

कारकों के बलाबल का सोदाहरण विवेचन कैयट ने किया है। यथा—'कारकसंज्ञा तु वस्तुस्थित्या विद्यमानमुद्भूतत्वेन अविवक्षितमपि स्वातन्त्र्यमाश्रित्य करणादीनां विधानसामर्थ्यात् प्रवर्तते। यत्र च शक्तीनां निमित्त-निमित्तिभावेन युगपद् विवक्षा तत्र संज्ञानां विप्रतिषेध उच्यते, यथा धनुषा विध्यतीति विनापायविवक्षया धनुषः साधकतमत्वाभावात् संज्ञाद्वयप्रसङ्गे परत्वात् करणसंज्ञा। असिः छिनत्तीति सत्येव साधकतमत्वे स्वातन्त्र्यस्य विवक्षितत्वात् परत्वात् कर्तृसंज्ञा। तदा तु तैक्ष्ण्यादीनां करणत्वम्। तैक्ष्ण्यादीनां तु कर्तृत्वविवक्षायामात्मनः करणत्वम्। तैक्ष्ण्यमेव हि विवक्षावशाद् द्वेधाऽवतिष्ठते कर्तृत्वेन करणत्वेन च। वस्तुस्थित्या तु एक एवार्थ इति कर्तृत्वं करणत्वस्य बाधकमुच्यते' (प्रदीप १।४।२३)। इस वाक्य में यह स्पष्ट किया गया है कि क्यों कर्त्ता को करण या करण को कर्त्ता माना जा सकता है। अर्थ स्पष्ट होने के कारण इसकी व्याख्या अनावश्यक है।

अन्य कारक की सत्ता—छहों कारकों की सिद्धि के बाद यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या अन्य कारक नहीं हो सकता, या क्या इनमें से किसी कारक को कारक-सूची से हटाया नहीं जा सकता? हम देखते हैं कि हिन्दी में सम्बन्ध और सम्बोधन को भी कारक माना जाता है, तथा कुछ प्राचीन भाषाओं में अपादान आदि कारकों को नहीं माना गया है, इत्यादि। उत्तर में वक्तव्य है कि पूर्वाचार्यों ने भी इस तथ्य को लक्ष्य किया था और उन्होंने विचार कर यह दिखाया है कि क्यों सम्बोधन और सम्बन्ध कारक नहीं हो सकते। संक्षेप में उनका विचार इस प्रकार है:—

शाब्दिकों ने सम्बन्ध को कारक नहीं माना क्योंकि क्रिया के साथ उसका कोई भी अन्वय प्रतीत नहीं होता ('सम्बन्धस्य कारकत्वं नास्ति क्रियायोगाभावादिति, शाब्दिका —भवानन्दकृत कारकचक्र पृ० ४-५)। वैयाकरणों ने स्पष्ट ही क्रियाप्रकारीभूतोऽर्थः कारकं तच्च षड्विधम् कर्तृ कर्मादिभेदेन शेषः सम्बन्ध इष्यते' कहकर सम्बन्ध को कारक से विजातीय ही माना है। पाणिनि ने भी कारकविवरण में सम्बन्ध का उल्लेख नहीं किया, इससे पाणिनि भी सम्बन्ध को कारक नहीं मानते थे, यह सिद्ध होता है।

इस विषय में अधिक विचार करने पर यह प्रश्न उठता है कि सम्प्रदान और और अपादान यदि कारक हो सकते हैं, तो सम्बन्ध कारक क्यों नहीं? यह भी सत्य है कि कहीं-कहीं सम्बन्ध का भी क्रियानिमित्तत्व लोक में दृष्ट होता ही है। इस प्रश्न का उत्तर जगदीश तर्कालंकार ने दिया है यथा—'षष्ठ्यर्थस्तु सम्बन्धो न धात्वर्थे प्रकारीभूय भासते तद्बुधस्य पचतीत्याद्यप्रयोगात्, अतः सम्बन्धो न कारकम्' (शब्दशक्तिप्रकाशिका ६७ श्लो०)। वस्तुतः कर्तृ कर्म आदि रूप में ही यदि क्रिया के साथ योग हो तब वह कारक होगा अन्यथा नहीं—यह भर्तृहरि ने समझाया है, यथा—

'सम्बन्धः कारकेभ्योऽन्यः क्रियाकारकपूर्वकः।
श्रुतायामश्रुतायां वा क्रियायां सोऽभिधीयते ॥'[1] (वाक्यपदीय साधन १५६)।

इसकी व्याख्या में हेलाराज ने जो कहा है उससे सम्बन्ध का कारकत्व खण्डित हो जाता है पर उससे सम्प्रदान अपादान का कारकत्व भी सन्दिग्ध हो जाता है। सम्बन्ध के कारकत्व-निरास के लिये नागेशभट्ट की युक्ति ग्रहण है यथा—'ब्राह्मणस्य पुत्रं पन्थानं पृच्छति इत्यादौ ब्राह्मणस्य न कारकत्वं पुत्रेण अन्यथासिद्धया तत्त्वाभावात्। अतएव एषां क्रियायामेवान्वयः × × × सर्वेषां च कारकाणां स्व-स्वावान्तरक्रियाद्वारा प्रधानक्रिया-निष्पादकत्वं बोध्यम्। प्रश्नविहितसम्प्रदानस्यापि दान बुद्धिस्थतावश्यकत्वेन स्वदानपूर्वकसत्त्वेन जनकत्वम्' (लघुशब्देन्दु १।४।२१)।

सारांश यह कि सम्बन्ध अवश्य ही क्रियाकारकपूर्वक है पर वह कारक नहीं है। 'कारक' से कर्म करण आदि शब्दों का ही ग्रहण शास्त्रकार को इष्ट

१—इस कारिका की व्याख्या में हेलाराज ने कहा है—'राज्ञ श्रुतायां क्रियायां माषाणाम् अश्नीयादित्यादि अश्रुतायां तु राज्ञ पुरुष इत्यादि।

है, अतः चूँकि कारक शब्द पारिभाषिक है, इसलिये 'सम्बन्ध कारक क्यो नहीं है', यह प्रश्न उठता ही नहीं। सम्बन्ध अन्यथासिद्ध होता है, यह नागेशीय युक्ति सगत ही है, और यदि कही यह युक्ति भी व्यभिचरित हो जाए, तो भी 'सम्बन्ध' कारक नहो होगा, क्योंकि कारक एक पारिभाषिक शब्द है, जिसका अर्थ कर्तृ-कर्मादि छह ही हैं।

सम्बोधन को भी कारक नही माना गया है। इसका अर्थ है—'अभिमुखीकृत्य ज्ञापनम्'। इस लक्षण को भर्तृहरि ने इस प्रकार कहा है—

'सिद्धस्याभिमुखीभावमात्र सम्बोधन विदु'।
प्राप्ताभिमुख्यो ह्यर्थात्मा क्रियाया विनियुज्यते' ॥ (साधन० १६३)।

इससे सूचित होता है कि संबोधन-पद से जिसको बुलाया जाता है (अभिमुखीकरण), उसका योग क्रिया मे होता है, पर सबोधन का नहीं होता। 'हे राजन् सार्वभौमो भव' कहने मे अस्तित्व-क्रिया से सार्वभौम का योग होता है, पर 'राजन्' (सबोधन) का योग क्रिया के साथ नही होता। वाक्य से जिस क्रिया का बोध मुख्यत होता है, उस से सम्बोधन का योग नही होता ('सम्बोधन न वाक्यार्थ इति वृद्धेभ्य आगम'—वाक्यपदीय साधन० १६४)। सस्कृत-वैयाकरणो ने सम्बोधन को क्रिया मे विशेषण माना है और विशेषण हो जाने से क्रिया-सिद्धि मे उसका योग नही रहता, व्यधिकरण रूप से क्रिया का विशेषण बनता है। भर्तृहरि ने निम्नोक्त कारिका मे यह बात कही है—

'सबोधनपद यच्च तत् क्रियाया विशेषणम्।
व्रजानिदे वदत्तेति निघातोऽत्र तथा सति' ॥ (वाक्यपदीय ३।५)।

इसका स्पष्टीकरण आवश्यक है। एक वाक्य लीजिए—'हे देवदत्त, त्व अहम् व्रजानि' (हे देवदत्त, मैं जाऊँ)। यहाँ गमन क्रिया के साथ देवदत्त का सामानाधिकरण्य (एकत्रावस्थान) नही है, और वैयधिकरण्य-रूप से ही देवदत्त 'व्रजानि' क्रिया का विशेषण है। इसलिये, 'देवदत्त व्रजानि' का अर्थ होगा—देवदत्तामन्त्रणविशेषिता व्रजनक्रिया'। इससे सिद्ध होता है कि सबोधन-पद यद्यपि प्रकृतिगत विशेष्य है, पर क्रिया के साथ उसका सबन्ध विशेषण-रूप से ही होता है। क्रिया के प्रति विशेषण होने के कारण ही हम सबोधन को कारक नही मानते।

शाब्दिकों ने सम्बन्ध को कारक नहीं माना क्योंकि क्रिया के साथ उसका कोई भी अन्वय प्रतीत नहीं होता ('सम्बन्धस्य कारकत्वं नास्ति क्रियायोगाभावादिति। शाब्दिका'—भवानन्दकृत कारकचक्र पृ० ४–५)। वैयाकरणों ने स्पष्ट ही 'क्रियाप्रकारीभूतोऽर्थः कारकं तच्च षड्विधम् कर्तृकर्मादिभेदेन शेषः सम्बन्ध इष्यते' कहकर सम्बन्ध को कारक से विजातीय ही माना है। पाणिनि ने भी कारक-विवरण में 'सम्बन्ध' का उल्लेख नहीं किया, इससे पाणिनि भी सम्बन्ध को कारक नहीं मानते थे, यह सिद्ध होता है।

इस विषय में अधिक विचार करने पर यह प्रश्न उठता है कि सम्प्रदान और और अपादान यदि कारक हो सकते हैं, तो सम्बन्ध कारक क्यों नहीं? यह भी सत्य है कि कहाँ-कहाँ सम्बन्ध का भी क्रियानिमित्तत्व लोक में दृष्ट होता ही है। इस प्रश्न का उत्तर जयगोप तर्कालंकार ने दिया है, यथा—'षष्ठ्यर्थस्तु सम्बन्धो न धात्वर्थे प्रकारीभूय भासते तद्बुद्धस्य षष्ठीत्याद्यप्रयोगात् अतः सम्बन्धो न कारकम्' (शब्दशक्तिप्रकाशिका ६७ श्लो०)। वस्तुतः, कर्तृ कर्म आदि रूप में ही यदि क्रिया के साथ योग हो तब वह कारक होगा अन्यथा नहीं-यह भर्तृहरि ने समझाया है, यथा—

'सम्बन्धः कारकेभ्योऽन्यः क्रियाकारकपूर्वकः।
श्रुतायामश्रुतायां वा क्रियायां सोऽभिधीयते ॥'[1] (वाक्यपदीय साधन १२६)।

इसकी व्याख्या में हेलाराज ने जो कहा है उससे सम्बन्ध का कारकत्व बाधित हो जाता है पर उससे सम्प्रदान अपादान का कारकत्व भी सन्दिग्ध हो जाता है। सम्बन्ध के कारकत्व-निरास के लिये नागेशभट्ट की युक्ति द्रष्टव्य है यथा—'ब्राह्मणस्य पुत्रं पन्थानं पृच्छति इत्यादौ ब्राह्मणस्य न कारकत्वं पुत्रेण अन्वयासिद्धया तस्याभावात्। अतएव एषां क्रियायामेवान्वयः × × × सर्वेषां च कारकाणां स्व-स्वावान्तरक्रियाद्वारा प्रधानक्रिया-निष्पादकत्वं बोध्यम्। अनभिहितसम्प्रदानस्यापि दान बुद्धिस्थत्वावश्यकत्वेन स्वज्ञानपूर्वकामत्वेन जनकत्वम्' (लघुशब्देन्दु १।४।२३)।

सारांश यह कि सम्बन्ध अवश्य ही क्रियाकारकपूर्वक है पर वह कारक नहीं है। 'कारक' से कर्म करण आदि छहों का ही ग्रहण शास्त्रकार को इष्ट

१—इस कारिका की व्याख्या में विट्ठल ने कहा है,—'तत्र श्रुतायां क्रियायां माषाणाम् अश्नीयादित्यादि अश्रुतायां तु राज्ञः पुरुष इत्यादि।

नवम परिच्छेद

अष्टाध्यायी के प्रशंसा-पूजादिपरक सूत्र

अष्टाध्यायी मे कुछ ऐसे सूत्र हैं जिनका सम्बन्ध प्रशंसा तथा पूजा से है। किसी के प्रति श्रद्धा, प्रशंसा तथा निन्दा का भाव व्यक्त करना मानव का सहज स्वभाव है, अतएव उसकी भाषा मे भी ऐसे बहुत से शब्द या वाक्य होते हैं, जिनकी ध्वनि इन भावों मे अनुविद्ध रहती है। प्रशंसा (तथा निन्दा) कभी-कभी शब्द का वाच्य होती है, कभी द्योत्य और कभी अन्य कुछ। शब्दो के द्वारा प्रशंसा कितने रूपो से प्रकटित हो सकती है, यह अष्टाध्यायी के सूत्रो से ज्ञात होता है। हम इस निबन्ध मे प्रशंसा-पूजापरक सूत्रो पर संक्षेप से आलोचना करना चाहते है।

व्याकरणीय प्रक्रिया में प्रशंसा का स्वरूप—पाणिनि का सूत्र है—प्रशंसायां रूपप् (५।३।६६), जिसका अर्थ है—'प्रशंसा के अर्थ मे जो प्रतिपादिक विद्यमान हैं, उससे स्वार्थ मे रूपप् प्रत्यय होता है'। इस प्रशंसा का स्वरूप स्पष्ट जानना चाहिए, अन्यथा यह शङ्का होती है कि 'वृषलरूप' और 'चोररूप' (=प्रशस्त वृषल, प्रशस्त चोर) शब्द प्रशंसा मे कैसे निष्पन्न होते हैं, क्योंकि चोर या वृषल की प्रशंसा नही हो सकती। इस शंका के समाधान मे पतञ्जलि ने कहा है कि 'प्रशंसा' 'प्रकृति के अर्थ की विस्पष्टता' है, अर्थात् अपने व्यापार मे जब किसी की पटुता का प्रकर्ष होता है (चाहे वह व्यापार निन्द्य या अभिनन्दनीय हो), तब वह ५।३।६६ सूत्र-दर्शित प्रशंसा है, जिसके ज्ञापन के लिये रूपप्-प्रत्यय किया जाता है। पतञ्जलि ने इस सूत्र का उदाहरण देकर समझाया है कि जो सामान्यत चोरी करता है, वह चोर है, पर उस चोर की प्रशंसा (५।३।६६ सूत्र मे दर्शित) तब होगी जब वह आँखो के अञ्जन की भी चोरी कर सके (चोर-रूपोऽयम्, अप्ययम् अक्ष्णोरञ्जन हरेत्)।

इस उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस सूत्र मे दर्शित प्रशंसा किसी विशिष्ट व्यक्ति के व्यापार की पटुता है, और प्रकारान्तर से इस प्रशंसार्थक शब्द का प्रयोग निन्दा मे भी किया जा सकता है, यदि उस प्रकार की विवक्षा की जाए। प्रश्न हो सकता है कि प्रशंसार्थक शब्द का प्रयोग निन्दा मे कैसे हो सकता है? उत्तर यह है कि यह 'विवक्षा की महिमा' से ही संभव होता है। आचार्य कैयट ने कहा है कि जो प्रशंसावाची शब्द हैं, उनका निन्दावचनत्व भी

यह निश्चित है कि कारकों की संख्या को घटाया भी नहीं जा सकता। हमने प्रत्येक कारक की व्याख्या में उसके क्रियान्वयित्व को स्पष्ट दिखाया है। अतः उनमें कारक का लक्षण चरितार्थ होता है अतः कारक-सूची से किसी कारक को हटाना अन्याय्य होगा।

निबन्ध में मुख्य-मुख्य बातों का ही संग्रह किया गया है। कातन्त्र आदि अपाणिनीय संप्रदायों के विचारों के संकलन के लिये हम श्रद्धेय पुलस हालदार एवं क्षितीशचन्द्र चट्टोपाध्याय जी के प्रति कृतज्ञ हैं जिन अन्यान्य आधुनिक ग्रन्थकारों के ग्रन्थों से सहायता ली गई है उनके प्रति भी हम हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

देखा जाता है जैसे जब किसी पुरुष को 'राक्षस' कहा जाता है तब यदि पुरुषातिशय की विवक्षा हो तो प्रशंसा होगी और निपुणत्व की विवक्षा हो तो निन्दा होगी।[1]

पूर्वोक्त विचार का सार नागेश ने इस प्रकार दिखाया है—'एवं च प्रकृत्यर्थता वच्छेदकस्य तत्सहचरितगुणानां वा पूर्णत्वमेव प्रशंसा तस्य परिपूर्णत्वेन क्वचिद् निन्दाप्रतीतस्तु प्रकरणादिवशाद् गम्येति न दोषः' (उद्योत ५।३।६६) अर्थात् प्रकृति (जिसके बाद प्रत्यय होता है) का जो मौलिक धर्म है या उसके सहचरित जो गुण हैं उनकी पूर्णता (चाहे वह निन्दनीय हो या पूजनीय) विवक्षित हो तो वह प्रशंसा है गुण या धर्म के पूर्णतास्वरूप में यदि निन्दा की प्रतीति होती हो तो वह प्रकरण आदि पृथक् प्रमाणों से ही जानी जाती है वह शब्द से कथित नहीं होती। वस्तुतः इस सूत्र में प्रशंसा का तात्पर्य 'प्रकृत्यर्थ की पूर्णता' ही है 'स्तुति' नहीं है। हम आगे उन सूत्रों का भी उल्लेख करेंगे जहाँ स्तुति के अर्थ में प्रशंसा का प्रयोग किया गया है।

प्रशंसा और पूजा का स्वरूप—पूर्वाचार्यों ने अष्टाध्यायीगत प्रशंसा और पूजा शब्द के अर्थ पर यद्यपि विशेष विचार नहीं किया है तथापि उनकी व्योपयोगी से इन दोनों का स्वरूप जाना जा सकता है। पाणिनि का सूत्र है—'अर्हः प्रशंसायाम्' (३।२।१३३)। काशिका में प्रशंसा = स्तुति कहा गई है और स्तुति को ही अन्यान्य व्याख्याकार पूजा कहते हैं, जैसा कि इस सूत्र के 'अर्हन्' उदाहरण की व्याख्या में वासुदेव ने कहा है— 'पूजां प्राप्तुं योग्यः'। 'अर्हन्' (भवान् विद्याम् अर्हन्) पद में प्रशंसा का भाव कैसे आता है इस विषय में वासुदेव ने युक्ति दी है—'प्रशस्तस्यैव पूजायोग्यत्वात् प्रशंसा गम्यते' (बालमनोरमा) अर्थात् जो (क्रिया व्यक्ति द्रव्य) प्रशस्त होता है वही पूजा-योग्य होता है और इसीलिये *तत्संबंधी पद से प्रशंसा का भाव द्योतित* होता है। इससे पूजा और प्रशंसा का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। यदि हम प्रशंसा = क्रिया में पटुता का उत्कर्ष और पूजा = योग्यतोत्कर्ष के कारण *सम्मान—ऐसा अर्थ करें तो यह संगत होगा पर यह अर्थभेद व्याकरण में सर्वत्र* घटता है या नहीं यह जाचनीय है।

१—तस्येव पाटवादेर्वस्तुरूपे प्रशंसासद्भावाद् विवक्षावशात् येषामेव प्रशंसा वाचित्वं तेषामेव निन्दावचनत्वं दृश्यते यथा 'राक्षसः' इति पुरुषातिशय प्रतिपादने प्रशंसा गम्यते निपुणत्वप्रतिपादने तु निन्दा (प्रदीप ५।३।६६)।

प्रशसा के स्वरूप-ज्ञान के लिये 'रूपादाहतप्रशसयोर्यप्' (५।२।१२०) सूत्र द्रष्टव्य है (प्रशसाविशिष्टेऽर्थे वर्त्तमानाद् रूपशब्दात् मत्वर्थे यत्)। इससे 'रूप्य' शब्द बनता है, जिसका अर्थ है—प्रशस्तरूप-सपन्न। जब प्रशसा का भाव नही रहता, तब 'रूपवान्' पद बनता है। अब यदि रूप्य और रूपवान् का अर्थभेद प्रयोगादि से निश्चित किया जा सके तो यह भी निश्चित होगा कि गुण के किस परिमाण को लक्ष्य कर उसे 'प्रशसाविशिष्ट गुण' कहा जाता है। ध्यान देना चाहिए कि यहाँ रूप से प्रशसाविशिष्ट रूप लिया गया है, पर जिसे हम 'रूपवान्' कहते हैं, वह भी केवल 'रूपयुक्त' नही होता, प्रत्युत व्यवहार मे प्रशसा विशिष्ट रूपवान् ही होता है। अतः रूप्य और रूपवान् के अर्थों मे क्या भेद है, यह चिन्तनीय है।

प्रशसा के विषय मे यह शका भी होती है कि पाणिनि ने अतिशय के अर्थ मे 'तमप् प्रत्यय का विधान किया है—'अतिशयेन तमविष्ठनौ' (५।३।५५) और प्रशसाया रूपप् (५।३।६६) सूत्रीय प्रशसा का अर्थ भी विस्पष्टता (=प्रकर्षातिशय) है, अत' क्या इन दोनो सूत्रो मे द्विरुक्तिदोष नही है ? उत्तर नकारात्मक होगा क्योकि तमप् प्रत्यय जिस अतिशायन के अर्थ मे होता है, वह समान प्रतियोगी की अपेक्षा से होता है, (अर्थात् सुन्दरतम का जो सौन्दर्या-तिशय है, वह किसी की अपेक्षा से है) और जो ५।३।६६ सूत्रीय अतिशय है, वह निरपेक्ष है (अर्थात् जो चोर चोररूप है, वह किसी की अपेक्षा से नही है, तुलना की कोई विवक्षा वहाँ नही है, प्रत्युत स्वय उसमे उत्कर्ष का आधान है)—यह इन दोनो अतिशयो मे भेद है। इस व्याख्या से 'सापेक्ष अतिशय' और 'निरपेक्ष अतिशय'—रूप दो विभाग सिद्ध होते है।

प्रयोगगम्य प्रशसा :—यत. प्रशसा आदि मनोभाव सर्वत्र शब्द से ध्वनित नहीं होते और ये कभी कभी प्रकरण-गम्य या अन्य प्रमाण से विज्ञेय होते है, अत. कही-कही पाणिनीय सूत्रो मे 'प्रशसायाम्' ऐसा शब्दत. नही कहा गया, यद्यपि सूत्रनिष्पन्न शब्द का अर्थ प्रयोगो मे प्रशसाविशिष्ट ही होता है। पाणिनि का 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्' (५।२।९४) सूत्र इसका प्रसिद्ध उदाहरण है। सूत्रकार ने कण्ठत इतना ही कहा है—'तद् अस्य अस्ति' या 'तद् अस्मिन् अस्ति' इन दोनो अर्थों मे मतुप् प्रत्यय होगा। पर केवल विद्यमानता मे ही मतुप् प्रत्यय नही होता, वल्कि विद्यमानता के साथ सख्या-वहुत्व, निन्दा, प्रशसा, नित्यसवध, अतिशय आदि भाव अनुस्यूत रहने पर ही मतुप्प्रत्यय होता है, जैसे यवमान् का अर्थ यह नही कि 'जिसके पास एक यव है' वरन् वहुत यवो का स्वामी 'यवमान्'

कहलाता है। अतः ये प्रशंसा आदि अनुस्यूत भाव सर्वथा लौकिकविवक्षाधीन है अतः पाणिनि ने ५।४।६४ सूत्र में प्रशंसा निन्दा आदि शब्द नहीं पढ़े पर इससे यह नहीं समझना चाहिए कि ये अर्थ पाणिनिसंमत नहीं हैं तथा अपाणिनीय हैं। अर्थ-निर्देश में पाणिनि प्राय: मौन ही रहते हैं अतः उनका अनुक्ति मात्र से[1] शब्दार्थ-संबंधी कोई भी निर्णय सहसा नहीं करना चाहिए।

आरोपित प्रशंसा —प्रशंसा का भाव किस रूप से पदों में अनुस्यूत रहता है इसका सुन्दर उदाहरण 'राजा च प्रशंसायाम्' (६।२।६३) सूत्र में दर्शनीय है। इस सूत्र से 'राजनापित' शब्द बनता है (कर्मधारय या षष्ठीतत्पुरुष समास में)। हम यह जानते हैं कि ये दो समास उत्तर-पदार्थ-प्रधान होते हैं अतः इस प्रयोग में 'नापित' की प्रधानता होगी और इस परिस्थिति में यह प्रश्न हो सकता है कि 'राजनापित' में प्रशंसा की संभावना किस रूप से हो सकती है? काशिका में इसका उत्तर दिया गया है यथा—कर्मधारये राजगुणाध्यारोपेण उत्तरपदार्थस्य प्रशंसा षष्ठीसमासे च राजयोग्यतया तस्य' अर्थात् कर्मधारय समास में राजा के गुण का नापित पर आरोप किया जाता है, इसलिये नापित की प्रशंसा होती है और षष्ठीसमास में नापित की राजयोग्यता दिखाई जाती है इसलिय प्रशंसा होती है। राजयोग्य='अपने कर्म में प्रवीण होने के कारण वह राजा के क्षौरादि के लिय उपयुक्त होता है'। इस प्रकार एक नापित का संबंध राजा के साथ जोड़ दिया जाता है अतः इससे प्रशंसा का भाव द्योतित होता है। इस व्याख्या से यह पता चलता है कि किस रूप से कोई प्रशंसाहीन पदार्थ प्रशंसायुक्त हो सकता है। काशिका के अनुसार यह दो प्रकार से हो सकता है—आरोप द्वारा तथा योग्यता द्वारा।

१—अर्थ-संबंधी निर्णय व्याकरण का मुख्य विषय नहीं है और न इस विषय में पाणिनि का कोई हठ आग्रह ही है। भर्तृहरि ने ठीक ही कहा था—'तस्मादुपस्थितेऽप्यर्थे कस्यचित् प्रतिबध्यते शब्दस्य शक्तिर्लोकेषा शास्त्रेऽन्वाख्यायते विधिः' (वाक्यप उपग्रह समुद्देश कारिका १७)। व्याकरणीय अर्थनिर्देश किस पद्धति से किया जाता है इसका संक्षिप्त विचार कुमारिल ने भी किया है (तन्त्रवार्त्तिक १।३।१)। इस पद्धति को न जानकर अपनी कल्पना के अनुसार शास्त्रीय अर्थ निर्देशों पर विचार कर जो कुछ निर्णय आधुनिक गवेषक विद्वान् करते हैं, वे प्रायेण भ्रमपूर्ण होते हैं।

प्रशसा-शब्दों के प्रकारः—प्रशसा-वाचक शब्दो के कई प्रकार है। यहाँ सक्षेप से उन प्रकारो का उल्लेख (तथा पाणिनीय सूत्रो से उनका प्रतिपादन) किया जा रहा है।

मूलत. प्रशसागर्भक शब्द चार प्रकार के होते है—(क) रूढि शब्द, जैसे, प्रकाण्ड आदि, (ख) यौगिक शब्द, जैसे, प्रशस्त, रमणीय आदि, (ग) विशेषवचन, जैसे शुचि, मृदु आदि, (घ) गौणी वृत्ति से प्रशसागमक, जैसे 'सिंहो माणवक' आदि स्थलो मे सिह आदि। रूढि शब्द का उदाहरण 'प्रशसावचनैश्च' (२।१।६६) सूत्र मे है। इस सूत्र मे जो 'प्रशसावचन' शब्द है, उसका अर्थ है—'रूढि से प्रशसावाचक'। इसके उदाहरण मे टीकाकार मतल्लिका, मर्चर्चिका, प्रकाण्ड आदि ऐसे शब्दो का ही ग्रहण करते है जो रूढि से प्रशसा के वाचक है। यौगिक शब्दो (जैसे प्रशस्त आदि) से प्रशसा का द्योतन होना प्रसिद्ध ही है। शुचि-मृदु सदृश शब्द प्रशसापरक हैं, वे अभिधेय के किसी निश्चित गुण की प्रशसा करते हैं। जैसे 'मृदु' का सम्बन्ध 'स्पर्श' से है, अर्थात् ये शब्द प्रशसा-सामान्य न कहकर प्रशसकीय किसी विशिष्टता का उल्लेख करते हैं। 'सिंहो माणवक' मे सिह शब्द से माणवक का शौर्य लक्षित होता है। यह मुख्यतः तुलनामूलक प्रशसा है। पाणिनि ने भी 'उपमित व्याघ्रादिभि सामान्याप्रयोगे' (२।१।५६) कहा है, (जिससे 'पुरुषव्याघ्र' शब्द बनता है) जहा सादृश्य का उपपादक साधारण धर्म 'शौर्य' वक्ता के मनमे रहता है पर कठत' भाषित नही होता।

प्रकरणगम्य प्रशसा —अष्टाध्यायी मे कुछ इस प्रकार के सूत्र है, जिनसे निष्पन्न शब्द स्पष्टत प्रशसा नही प्रकट करते, पर उनमे प्रकरणादि के बलपर प्रशसा का बोध हो जाता है। इस पद्धति के कुछ उदाहरण दिए जा रहे हैं:—पाणिनि का सूत्र है—'कृत्यैरधिकार्थवचने' (२।१।३२)। अधिकार्थवचन = स्तुति फलत या निन्दाफलक अर्थवाद-वचन। सूत्रार्थ यह है कि अधिकार्थवचन यदि गम्यमान हो तो कृत्यप्रत्ययान्त शब्दो के साथ समास होगा, जैसे—काकपेया (नदी), वातच्छेद्य (तृण)। इन उदाहरणो मे दो बाते लक्षणीय हैं। प्रथम-स्तुति का भाव शब्द मे विद्यमान नही है, तथा द्वितीय-जो शब्द एक दृष्टि से प्रशसार्थक है, वह दूसरी दृष्टि से निन्दार्थक हैं, जैसा कि आचार्यो ने दिखाया है, काकपेया = 'काक द्वारा पान करने योग्य' इसमे शब्दत कोई प्रशसा नही है, पर इसका तात्पर्य है-'जल से भरी हुई' (नदी), अत इससे स्तुति का बोध होता है। उसी प्रकार 'वातच्छेद्य' का अर्थ है 'वात से छेदन योग्य', पर इसका तात्पर्य है—तृण की अतिकोमलता, जिसके कारण वायु के आघात

से यह सिद्ध हो जाता है। यहाँ इससे स्पष्ट है कि प्रशंसा (=स्तुति) का बोध प्रकरण या विवक्षा से होता है,प्रस्तुत यहीं—ये दो उदाहरण यह भी प्रमाणित करते हैं कि प्रशंसा और निन्दा अन्योन्य-परिवर्तनीय भी हैं। जैसे स्तुति की दृष्टि से काकपेया का तात्पर्य 'जल से परिपूर्णता' में है पर पूर्ण होती हुई भी जल की धारा क्षीण है (तभी नदी काक द्वारा पान करने योग्य होती है)—यह अर्थ निन्दा की विवक्षा में होगा। उसी प्रकार वातच्छेद्य का तात्पर्य स्तुति की दृष्टि से 'कोमलता' है, पर निन्दा की दृष्टि से निर्बलता ही इस पद से लक्षित होगी (अर्थात् तृण इतना दुर्बल है कि हवा से भी कट जाता है)।

प्रशंसा और निन्दा का विवक्षाभेद-गम्यत्व—विवक्षा भेद से एक ही शब्द प्रशंसा और निन्दा का द्योतक हो सकता है इसका उदाहरण सु पूजायाम् (१।४।९४) सूत्र है। पूजा (=प्रशंसा) के अर्थ में 'सु' कर्मप्रवचनीयसंज्ञक होता है, जिससे 'सुसिक्त (=सम्यक् सिक्त) शब्द बनता है। काशिकाकारक ने कहा है-'आश्चर्य' भवत्सूयते अर्थात् यहाँ की पूजा आश्चर्य-सम्बन्धी है, जिससे *सेचन-क्रिया की महनीयता प्रतिपादित होती है। पर यदि महनीयता के स्थान पर निन्दा विवक्षित हो तो (जो सेचन किया गया, वह अच्छा तो है, पर उसका* कोई फल नहीं हुआ—इस मूलार्थ में) सु की कर्मप्रवचनीय संज्ञा नहीं होगी।

कुछ सूत्रों से यह भाव भी व्यक्त होता है कि जब कोई पदार्थ (क्रिया या द्रव्य) प्रशंसा का हेतु होता है, तब वह शब्द भी प्रशंसा का व्यञ्जक हो जाता है जैसा कि 'उपात् प्रशंसायाम्' (७।१।६६) सूत्र से पता चलता है। इस सूत्र से 'उपलम्भ्य' शब्द बनता है जिसका योगलभ्य अर्थ है—'समीप में प्राप्य'। यद्यपि यहाँ धातु का अर्थ प्राप्ति ही है तथापि इस शब्द से प्रशंसा गम्यमान होने के कारण पाणिनि ने 'प्रशंसायाम्' कहा है। इस शब्द में प्रशंसा का भाव कैसे अनुस्यूत रहता है, इस विषय में ज्ञानेन्द्र सरस्वती ने युक्ति दी है यथा—"सा (प्रशंसा) चेह गम्यमानतया विशेषणम्। वास्तवं तु प्राप्तिरेव तेन यस्य प्राप्तिः यस्मात्तु प्राप्तिः प्रशंसाहेतुर्भवति तद्विषयोदाहरणम् (तत्त्वबोधिनी)। इस व्याख्यान से स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार शब्द के यौगिक अर्थ के साथ प्रशंसा का भाव अनुस्यूत रहता है (सूत्रदर्शित अर्थ को जब विशेषण माना जाता है)।

सामाजिक दृष्टि और पूजा—अष्टाध्यायी में ऐसे सूत्र भी हैं, जिनसे 'सामाजिक पूजा' का भाव ध्वनित होता है। एक सूत्र है—वृद्धस्य च पूजायाम् (काशिका ४।१।१६६ यह वाक्य काशिका में सूत्ररूप से पठित हुआ है पर

अन्यान्य व्याख्याकार इसे वार्त्तिक समझते हैं)। सूत्र का अर्थ यह है कि पूजा यदि गम्यमान हो, तो गोत्र की युवसज्ञा होती है। सूत्रीय पूजा का भाव क्या है, इसके उत्तर मे वासुदेव ने कहा है—"युवसञ्ज्ञकनामल्पवयस्कत्वेन, वृद्धाधीनत्वेन सुखितया च पूजा" (बालमनोरमा) अर्थात् युवसज्ञक व्यक्ति अल्पवयस्क होता है, वह वृद्धो के अधीन रहता है (अतः कष्टभार से मुक्त रहता है) तथा सुखी होता है (ससार का दायित्व नही रहने के कारण), अतः उसके प्रति पूजा का भाव व्यक्त होता है। यह स्पष्ट है कि यह पूजा स्तुति नही है, प्रत्युत प्रशसा है।

पूजितमहिमा —पूजित की महिमा अल्प नही है, पाणिनि का सूत्र है—'अनुदात्त प्रश्नान्ताभिपूजितयोः' (८।२।१००), अर्थात् अभिपूजितवाची शब्द मे जो प्लुत है वह अनुदात्त हो जाता है। स्वरप्रकरण मे पूजार्थ से सम्बन्धित कई सूत्र हैं, जहा पूजा रूप अर्थ मे स्वर मे विशिष्ट कार्य होते हैं। सूत्र है—'तुपश्यपश्यताहैः पूजायाम्' (८।१।३९) अर्थात् 'तु' आदि से युक्त तिङन्त पद अनुदात्त नही होता। व्याख्याकार कहते है कि 'तु' आदि यहा पूजाविपयक हैं। इस सूत्र का उदाहरण है—माणवकस्तु भुङ्क्ते शोभनम्', यहाँ पूजा का भाव कैसे आता है, इसके उत्तर मे व्याख्याकार कहते हैं—माणवकस्तु भुङ्क्ते इति आश्चर्ये तु-शब्दः इति भोजनस्य पूजा गम्यते (सुबोधिनी)। ध्यान देना चाहिए कि यहाँ भोजन की पूजा विवक्षित हुई है, क्योकि यह 'भोजन' आश्चर्यजनक है। इस उदाहरण से पूजा का स्वरूप स्पष्ट हा जाता है। यह भी ज्ञातव्य है कि आश्चर्यभूत वस्तु के प्रति 'पूजा' होती है, पर यदि अनाश्चर्यभूत वस्तु को असूया के कारण 'आश्चर्यवत्' प्रतिपादित किया जाए, तो वहाँ पूजा नही होगा (अनाश्चर्यभूतमव वस्तु, असूयया आश्चर्यवत् प्रतिपाद्यते न पूजा—सुबोधिनी (८।१।४१)। प्रसगतः यह भी जानना चाहिए कि आश्चर्य का भाव जहाँ प्रकट रूप से विवक्षित होता है, वहाँ 'पूजा' होती है, पर यदि तत्त्व कथन हो तो 'पूजा' नही होगा (सुबोधिनी ८।१।३९)।

पूजा और पूजित से सम्बन्ध रखनेवाला पाणिनि का अन्य सूत्र है—'पूजनात् पूजितमनुदात्त काष्ठादिभ्यः' (८।१।६७), अर्थात् पूजनवाची काष्ठा आदि शब्दो के बाद पूजित वचन शब्द अनुदात्त होते हैं। यहा जिस काष्ठादिगण का उल्लेख है, उस गण मे पठित काष्ठा,दारुण आदि सभी शब्दो के अर्थ के विपय मे व्याख्याकार कहते हैं–'अद्भुतपर्याया. काष्ठादय पूजावचना भवन्ति' (उद्द्योत)। तात्पर्य यह है कि काष्ठादिगण मे जो काष्ठा, दारुण आदि शब्द पठित हुए हैं, वे अद्भुतार्थक हैं, परन्तु समास होनेके कारण पूजार्थक हो जाते हैं।

से वह छिन्न हो जाता है। यहाँ इससे स्पष्ट है कि प्रशंसा (=स्तुति) का बोध प्रकरण या विवक्षा से होता है, शब्दतः नहीं—ये दो उदाहरण यह भी प्रमाणित करते हैं कि प्रशंसा और निन्दा अन्योन्य-परिवर्तनीय भी हैं। जैसे स्तुति की दृष्टि से काकपेया का तात्पर्य 'जल से परिपूर्णता' में है पर पूर्ण होती हुई भी जल की धारा क्षीण है (तभी नदी काक द्वारा पान करने योग्य होती है)—यह अर्थ निन्दा की विवक्षा में होगा। इसी प्रकार वातच्छेद्य का तात्पर्य स्तुति की दृष्टि से 'कोमलता' है, पर निन्दा की दृष्टि से निर्बलता ही इस पद से लक्षित होगी (अर्थात् तृण इतना दुर्बल है कि हवा से भी कट जाता है)।

प्रशंसा और निन्दा का विवक्षाभेद-गम्यत्व—विवक्षा भेद से एक ही शब्द प्रशंसा और निन्दा का द्योतक हो सकता है इसका उदाहरण 'सुः पूजायाम्' (१।४।९४) सूत्र है। पूजा (=प्रशंसा) के अर्थ में 'सु' कर्मप्रवचनीयसंज्ञक होता है, जिससे 'सुसिक्त (=सम्यक् सिक्त) शब्द बनता है। काशिकाकार ने कहा है—'पारवर्यं प्रशस्तत्वमुच्यते' अर्थात् यहाँ की पूजा आश्चर्य-सम्बन्धी है जिससे सेचन-क्रिया की महनीयता प्रतिपादित होती है। पर यदि महनीयता के स्थान पर निन्दा विवक्षित हो तो (जो सेचन किया गया, वह अच्छा तो है, पर उसका कोई फल नहीं हुआ—इस सूत्रार्थ में) सु की कर्मप्रवचनीय संज्ञा नहीं होगी।

कुछ सूत्रों से यह भाव भी व्यक्त होता है कि जब कोई पदार्थ (क्रिया या द्रव्य) प्रशंसा का हेतु होता है, तब वह शब्द भी प्रशंसा का व्यञ्जक हो जाता है जैसा कि 'उपात् प्रशंसायाम्' (७।१।६६) सूत्र से पता चलता है। इस सूत्र से 'उपलम्भ्य' शब्द बनता है जिसका योगलभ्य अर्थ है—समीप में प्राप्य'। यद्यपि यहाँ धातु का अर्थ प्राप्ति ही है, तथापि इस शब्द से प्रशंसा गम्यमान होने के कारण पाणिनि ने 'प्रशंसायाम्' कहा है। इस शब्द में प्रशंसा का भाव कैसे अनुस्यूत रहता है, इस विषय में ज्ञानेन्द्र सरस्वती ने युक्ति दी है यथा—"सा (प्रशंसा) चेह गम्यमानतया विशेषणम्। यातस्तु प्राप्तिरेव तेन यस्य प्राप्तिः यस्मात् प्राप्तिः प्रशंसाहेतुर्भवति तद्विषयोदाहरणम्" (तत्त्वबोधिनी)। इस व्याख्यान से स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार शब्द के यौगिक अर्थ के साथ प्रशंसा का भाव अनुस्यूत रहता है (सूत्रदर्शित अर्थ को जब विशेषण माना जाता है)।

सामाजिक दृष्टि और पूजा :—अष्टाध्यायी में ऐसे सूत्र भी हैं, जिनसे 'सामाजिक पूजा' का भाव ध्वनित होता है। एक सूत्र है—वृद्धस्य च पूजायाम् (काशिका ४।१।१६६ यह वाक्य काशिका में सूत्ररूप से पठित हुआ है, पर

अन्यान्य व्याख्याकार इसे वार्त्तिक समझते हैं)। सूत्र का अर्थ यह है कि पूजा यदि गम्यमान हो, तो गोत्र की युवसज्ञा होती है। सूत्रीय पूजा का भाव क्या है, इसके उत्तर मे वासुदेव ने कहा है—"युवसज्ञकनामल्पवयस्कत्वेन, वृद्धाधीनत्वेन सुखितया च पूजा" (बालमनोरमा) अर्थात् युवसज्ञक व्यक्ति अल्पवयस्क होता है, वह वृद्धो के अधीन रहता हे (अतः कष्टभार से मुक्त रहता है) तथा सुखी होता है (ससार का दायित्व नही रहने के कारण), अत. उसके प्रति पूजा का भाव व्यक्त होता है। यह स्पष्ट है कि यह पूजा स्तुति नही है, प्रत्युत प्रशसा है।

पूजितमहिमा —पूजित की महिमा अल्प नही है, पाणिनि का सूत्र है—'अनुदात्त प्रश्नान्ताभिपूजितयो.' (८।२।१००), अर्थात् अभिपूजितवाची शब्द मे जो प्लुत है वह अनुदात्त हो जाता है। स्वरप्रकरण मे पूजार्थ से सम्बन्धित कई सूत्र हैं, जहा पूजा रूप अर्थ मे स्वर मे विशिष्ट कार्य होते हैं। सूत्र है—'तुपश्यपश्यता हैः पूजायाम्' (८।१।३९) अर्थात् 'तु' आदि से युक्त तिडन्त पद अनुदात्त नही होता। व्याख्याकार कहते हैं कि 'तु आदि यहा पूजाविषयक हैं। इस सूत्र का उदाहरण है—माणवकस्तु भुङ्क्ते शोभनम्', यहाँ पूजा का भाव कैसे आता है, इसके उत्तर मे व्याख्याकार कहते है—माणवकस्तु भुङ्क्ते इति आश्चर्ये तु-शब्द. इति भोजनस्य पूजा गम्यते (सुबोधिनी)। ध्यान देना चाहिए कि यहाँ भोजन की पूजा विवक्षित हुई है, क्योकि यह 'भोजन' आश्चर्यजनक है। इस उदाहरण से पूजा का स्वरूप स्पष्ट हा जाता है। यह भी ज्ञातव्य है कि आश्चर्यभूत वस्तु के प्रति 'पूजा' होती है, पर यदि अनाश्चर्यभूत वस्तु को असूया के कारण 'आश्चर्यवत्' प्रतिपादित किया जाए, तो वहाँ पूजा नही होगी (अनाश्चर्यभूतमेव वस्तु, असूयया आश्चर्यवत् प्रतिपाद्यते न पूजा—सुबोधिनी (८।१।४१)। प्रसगतः यह भी जानना चाहिए कि आश्चर्य का भाव जहाँ प्रकट रूप से विवक्षित होता है, वहाँ 'पूजा' होती है, पर यदि तत्त्व कथन हो तो 'पूजा' नही होगी (सुबोधिनी ८।१।३९)।

पूजा और पूजित से सम्बन्ध रखनेवाला पाणिनि का अन्य सूत्र है—'पूजनात् पूजितमनुदात्त काष्ठादिभ्य ' (८।१।६७), अर्थात् पूजनवाची काष्ठा आदि शब्दो के बाद पूजित वचन शब्द अनुदात्त होते हैं। यहा जिस काष्ठादिगण का उल्लेख है, उस गण मे पठित काष्ठा, दारुण आदि सभी शब्दो के अर्थ के विषय मे व्याख्याकार कहते हैं–'अद्भुतपर्याया काष्ठादय पूजावचना भवन्ति' (उद्द्योत)। तात्पर्य यह है कि काष्ठादिगण मे जो काष्ठा, दारुण आदि शब्द पठित हुए हैं, वे अद्भुतार्थक हैं, परन्तु समास होनेके कारण पूजार्थक हो जाते हैं।

पूजा और पूज्यमानः—पूजा के साथ पूज्यमान का अच्छेद्य सम्बन्ध है, पूज्यमान से सम्बन्धित पाणिनि का एक सूत्र भी है–'सत् महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः' (२।१।६१)। [सूत्र का अर्थ यह है कि सत्, महत्, परम उत्तम तथा उत्कृष्ट शब्दों का पूज्यमान समानाधिकरण शब्द के साथ समास होता है]। सद्वैद्य शब्द इसका एक उदाहरण है। इस उदाहरण के विश्लेषण करने पर पूज्यमान का स्वरूप स्पष्ट होगा। पूज्यमान = जिसकी पूजा की जाती है। यहाँ वैद्य को 'सत्' कहा गया है। शास्त्र का सर्वांगीण ज्ञान होना यहाँ का सत्त्व है जिसके कारण वैद्य की पूजा (= प्रशंसा) होती है। सत्त्व का सम्बन्ध वैद्य में रहने के कारण वह पूज्यमान होता है और पूज्यमानता के बोध के लिये ही यह समास-सूत्र प्रवर्तित है। यदि यहाँ पूज्यमानत्व का बोध न हो तो यह सूत्र प्रवर्तित नहीं होगा।

इस सूत्र में एक और बात लक्षणीय है। सत्, महत्, उत्कृष्ट आदि शब्द रहने पर भी यदि पूज्यमानत्व का बोध न हो तो समास नहीं होगा जिससे यह सूचित होता है कि समास के अवसर यहाँ पूज्यमानत्व का बोध होता है। मान लीजिए कि हम उत्कृष्ट (उत्+कृष+क्त) का अर्थ उद्धृत लेते हैं अब इस अर्थ में (अर्थात् पंक से उद्धृत) पूज्यमान का बोध नहीं होता (उत्कृष्टो गौः—इस विग्रह वाक्य में) इसलिये 'उत्कृष्टवैद्य' की तरह यहाँ समास नहीं होगा।

पूर्वोक्त सूत्र में पूज्यमान के साथ सत् आदि का समास कहा गया है। इस स्थल में अन्य शब्दों के साथ भी पूज्यमान का समास 'वृन्दारक नागकुञ्जरैः पूज्यमानम्' (२।१।६२) सूत्र में अनुशिष्ट हुआ है। सूत्रार्थ यह है—समानाधिकरण वृन्दारक (देववाची) नाग और कुञ्जर (दोनों गजवाची हैं) के साथ पूज्यमान का समास होता है जैसे 'गोवृन्दारक'। संस्कृत भाषा का साधारण नियम यह है कि समास में विशेषणवाची शब्द प्रायः पहले ही प्रयुक्त होता है, पर इस सूत्र में विशेष्य शब्द का पूर्वस्थापन विहित हुआ है। 'गोवृन्दारक' में पूज्यमानता क्या है इसके उत्तर में टीकाकार कहता है– अत्र गोवृन्दारकादि तुल्यत्वात् श्रेष्ठत्वं गम्यते इति पूज्यमानता (बालमनोरमा)।

इस सूत्र में पूर्वसूत्र से एक विलक्षणता यह कि इस सूत्र में उपमान-उपमेय की स्पष्ट प्रतीति रहती है। पूर्व सूत्र में हम 'सत्+वैद्य' इस अर्थ में 'सद्वैद्य' समास बनाते हैं (किसी के साथ वैद्य की उत्कृष्टता की तुलना का प्रसंग नहीं है) पर इस सूत्र में जो गोनाग और गोकुञ्जर शब्द बनते हैं उनका विग्रह 'गौः नाग इव' 'गौः कुञ्जर इव' ऐसा उपमान उपमेय भाव प्रदर्शक ही होता है। टीकाकार

कहते हैं कि इस तुल्यता के कारण ही पूज्यमानता होती है, जिसको मानकर समास होता है। इन दोनो उदाहरणों से दो प्रकार की पूज्यमानता सिद्ध होती है—प्रथम 'स्वत' तथा द्वितीय 'किसी की तुलना मे'।

प्रमाणभूत आचार्यों की पूजा '—पूजाभाव के ज्ञापन के लिये आचार्य पाणिनि की एक शैली है—'आचार्यनामोल्लेख'। कुछ सूत्रो मे पाणिनि ने पूर्वाचार्यों के नाम लिए हैं, जैसे–'तृषिमृषिकृषे काश्यपस्य' (१।२।२५) आदि। पाणिनि के मत मे शब्दप्रयोग आचार्याधीन या आचार्य द्वारा नियमित नही है, अतः शब्द-निर्देश मे आचार्य का नाम क्यो लिया गया—ऐसा प्रश्न हो सकता है। इसके उत्तर मे पतञ्जलि ने कहा है—'काश्यपग्रहण पूजार्थम्, वेत्येव वर्तते' अर्थात् यह नही कहा जा सकता कि प्रयोग की वैकल्पिकता के लिये आचार्य का नाम लिया गया है, क्योकि 'वा' की अनुवृत्ति पूर्व सूत्र मे चली आ रही है, बल्कि 'पूजा' के लिये है। यहाँ पूजा = 'आचार्य के प्रामाण्य का स्वीकार' है जैसा कि कैयट ने कहा है–'शास्त्रस्य पूजा पारम्पर्यप्रतिपादनेन अनादित्वात् प्रामाण्यप्रतिपादनात्'–(प्रदीप, तत्रैव)। सूत्रो मे आचार्य का नाम 'पूजा के लिये' है, इसका चरम तात्पर्य यही है कि जिस आचार्य ने जिस शब्द का स्मरण किया है, उस शब्द के प्रसग मे यदि उस आचार्य का नाम लिया जाए तो 'पूजा' होती है, जैसा कि पहले ही पूजा = 'प्रामाण्य प्रतिपादन' कहा गया है। स्वय कैयट ने भी अन्यत्र स्पष्ट रूप से यह कहा है—"विकल्प-प्रतिपादनाय वा-ग्रहणे एव कर्तव्ये पूजार्थम् आचार्या उपादीयन्ते। सा चैव पूजा भवति–यदि येनाचार्येण यः शब्द स्मृत स तेनैव स्मर्तृत्वेन उपदिश्यते। एव हि तस्य स्मर्तृत्वेन प्रमाणत्वेन स्तुति कृता भवति × ×" प्रदीप ७।२।६३)। स्तुति या पूजा का यह स्वरूप महनीय है और आज भी हम इस पद्धति का सफल प्रयोग कर सकते हैं। इस विलक्षण पूजा का विशेष प्रतिपादन अन्यत्र द्रष्टव्य है।

इस प्रकार हम देखते है कि सस्कृत भाषा के शब्द प्रयोगो पर पूजा या प्रशसाजनित मनोभाव का पर्याप्त प्रभाव पडा है, जिसके कारण शब्दप्रयोगो मे अनेक विलक्षणताएँ आ गई हैं। पूजा या प्रशसा के बोध की उत्पत्ति कितने कारणो से होती है, यह भी उपर्युक्त विचार से स्पष्ट होता है।

— ❀ —

दशम परिच्छेद

अष्टाध्यायी के क्षेप—कुत्सादिपरक सूत्र

अष्टाध्यायी में कुछ ऐसे सूत्र हैं, जिनसे निष्पन्न शब्दों का तात्पर्य कुत्सा, क्षेप (=निन्दा) असूया अपटुता आदि में होता है। इस निबन्ध में उन सूत्रों तथा सूत्रों से निष्पन्न शब्दों पर विचार किया जा रहा है।

प्रवृत्तिनिमित्त-अप्रवृत्तिनिमित्त कुत्सा —कुत्सा के विषय में व्याकरण शास्त्र में दो प्रकार का दृष्टिकोण है। प्रथम—प्रवृत्तिनिमित्त कुत्सा और द्वितीय—अप्रवृत्तिनिमित्त कुत्सा। 'पाप्य पाशप् (५।३।४७) सूत्र में प्रथम दृष्टिकोण और कुत्सित (५।३।७४) सूत्र में द्वितीय दृष्टिकोण की सत्ता उपलब्ध होती है। इन दोनों सूत्रों की व्याख्या में कुत्सार्थक शब्दों पर व्याख्याकारों ने विचार किया है। प्रवृत्तिनिमित्त का अर्थ है—'वह विशेषण जिसका आश्रय कर घटादिशब्द अपने अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। यह प्रवृत्तिनिमित्त सामान्यतः चार प्रकार का होता है—जाति द्रव्य गुण तथा क्रिया। इन चारों में कुत्सितत्व (=अपकर्ष) होने से ५।३।४७ सूत्र की प्रवृत्ति होती है। प्रवृत्तिनिमित्त पर पतञ्जलि ने कहा है—'यस्य भावाद् द्रव्ये शब्दनिवेश' तदभिधाने तस्मिन् गुणे तत्कृते प्रत्ययेन भवितव्यम् (भाष्य ५।३।४०)। जहाँ प्रवृत्तिनिमित्त का कुत्सा नहीं होती वहाँ यह सूत्र नहीं लगता जैसा कि पतञ्जलि ने उदाहरण देकर समझाया है कि व्याकरण का विद्वान् यदि शरीर से कुश हो जाए, तो वह उसकी कुत्सा नहीं है, अतः वैयाकरण की शारीरिक कृशता उसके वैयाकरणत्व के अपकर्ष का साधक नहीं है। यही कारण है कि कुत्सा अर्थ में ५।३।४७ सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती (न च कार्श्यस्य भावाद् द्रव्ये वैयाकरणशब्द')। भाष्यमत द्रव्य = विशेष्य गुण = विशेषण।

अप्रवृत्ति निमित्तकुत्सा के विषय में आचार्य कैयट का विचार इस प्रकार है—'यत्र तु प्रवृत्तिनिमित्तस्य कुत्सा न सम्भवति—अपको देवदत्तः सकः—इत्यादि तत्र सहचरितगुणक्रियाश्रयेण प्रत्ययो भवत्येव (प्रदीप ५।३।४७)। तात्पर्य यह है कि प्रवृत्तिनिमित्त की कुत्सा संभव नहीं है उदाहरणार्थ जाति में कुत्सा संभव नहीं जैसे अश्वत्व जाति कुत्सित नहीं हो सकती पर वाहकारी अश्व यदि ठीक न दौड़ सके तो वह अश्व कुत्सित कहलाएगा इस स्थल में पदार्थ के

किसी गुण और क्रिया के अपकर्ष को लक्ष्यकर 'कुत्सिते' (५।३।७४) सूत्र से कन् प्रत्यय हो सकता है। अश्व को जब हम कुत्सित कहते हैं (अश्वक प्रयोग मे) तब वहा अश्वत्व जाति कुत्सित नही होती, प्रत्युत अश्वधावन का अपाटव विवक्षित होता है, जो अश्वसहचरित किसी धर्म के आश्रय से भाषित होता है—येन धर्मेण कुत्स्यते वस्तु तद्धर्मयुक्तार्थाभिधायिन प्रातिपदिकात् स्वार्थे प्रत्यय. स्यात् (बालमनोरमा)। कैयट भी कहते हैं—येन धर्मेण कुत्सादयस्तद्धर्म-युक्तार्थाभिधायिनः स्वार्थे प्रत्ययविधानमित्यर्थः (प्रदीप ५।३।७४)। पर ५।३।४७ सूत्रीय उदाहरण मे जब 'वैयाकरण-पाश' रूप कुत्सार्थक शब्द का प्रयोग किया जाता है, तब व्याकरण-ज्ञान का (जिसके हेतु कोई व्यक्ति वैयाकरण कहलाता है) अप्रकर्ष ही विवक्षित होता है, वैयाकरण की दु:शीलतादि-गुण नही, क्योकि दु:शीलता वैयाकरण का प्रवृत्तिनिमित्त नही है, व्याकरण का परिज्ञान या अध्ययन ही प्रवृत्तिनिमित्त है।

इन दोनो उदाहरणो से प्रवृत्तिनिमित्त और अप्रवृत्तिनिमित्त कुत्सा का भेद स्पष्ट हो जाता है, यथा, जिसके रहने का कारण कोई पदार्थ किसी शब्द का वाच्य होता है, यदि उस तत्त्व मे अप्रकर्ष हो तो प्रवृत्तिनिमित्त कुत्सा होगी, यदि वाच्य पदार्थ के सहचरित किसी गुण का अप्रकर्ष विवक्षित हो तो अप्रवृत्ति निमित्त कुत्सा होगी। यहाँ का 'प्रवृत्तिनिमित्त' शब्द महत्त्वपूर्ण है।[१]

'कुत्सितक' शब्द का अर्थ–जब यह निश्चित हो गया कि कुत्सार्थक प्रत्यय मुख्य (प्रवृत्तिनिमित्तक) तथा गौण (अप्रवृत्तिनिमित्तक) रूप से द्विविध होता है, तब यह शका उठती है कि सस्कृत मे 'कुत्सितक' शब्द (यहाँ कुत्सा मे क प्रत्यय हुआ है) कैसे बन सकता है ? किस नए अर्थ के द्योतन के लिये 'क' प्रत्यय किया गया है ? ५।३।७४ सूत्र की भाष्य-टीकाओ मे इसपर जो विचार है, उसे सक्षेप मे कहा जा रहा है। व्याख्याकारो ने 'कुत्सितक' शब्द के दो अर्थ माने है–(क) कुत्सितत्व की कुत्सा के लिये अर्थात् 'कुत्सितत्व यहाँ सम्यक् नही है,' इस अर्थ मे कुत्सितक शब्द बनता है, (ख) कुत्सित शब्द मे जिस कुत्सा का अभिधान

१—प्रवृत्तिनिमित्त = शक्यतावच्छेदक धर्म जो जाति-द्रव्य-गुण-क्रिया रूप चतुर्विध है। यथाक्रम इनके उदाहरण हैं–गो ,डित्थ ,शुक्ल, चल । प्रवृत्तिनिमित्त 'स्वार्थ' पद से भी अभिहित होता है। किसी किसी के अनुसार स्वार्थ पाच प्रकार का होता है, यथा—जाति (गो), गुण (शुक्ल), क्रिया (पाचक), सम्बन्ध (राजपुरुष) और स्वरूप (डित्थ), स्वरूप = पदस्वरूप और व्यक्तिस्वरूप ।

होता है वह किसी विशेष धर्म की ओर ध्यान नहीं करता और कुत्सा के किसी विशेष धर्म को दिखाने के लिये 'क' प्रत्यय जोड़कर (कुत्सित+क) कुत्सितक शब्द बनाया जाता है (अनिर्धारितविशेषधर्मनिबन्धना कुत्सा कुत्सितशब्द प्रवृत्तिनिमित्तम् प्रज्ञादित्यादि विशेषनिबन्धना कुत्सा तु प्रत्ययनिबन्धनम्-प्रदीप)। पहले पक्षवाले युक्ति देते हैं कि जैसे प्रकृष्ट के प्रकर्ष में तम प्रत्यय होकर प्रकृष्टतम बनता है वैसे ही कुत्सित को कुत्सितत्व की कुत्सा मे भी 'क' प्रत्यय हो सकता है।

इन दोनों व्याख्याओं से 'कुत्सितक' शब्द के दो विरोधी अर्थ होते हैं। 'क' पक्ष के अनुसार इसका अर्थ होगा—जिसकी कुत्सा असम्यक है अर्थात् जो निन्दनीय नहीं है और 'ख' पक्ष में अर्थ होगा—जिसकी कुत्सा किसी विशेष धर्म के कारण है।

कुत्सा के त्रिविध कारण :—कुत्सन व्यापार के विषय में कैयट ने एक सारगर्भ विचार व्यक्त किया है यथा—'कश्चित् स्वार्थकुत्सया कुत्स्यते पटुकः, परिव्राजक इति कश्चिल्लिङ्गेन यथा—प्राप्य गाण्डीवधन्वानं विद्धि कौरवका स्त्रियः इति कदाचित् संख्यया यथा इयम् एकमेव धातुमिति' (प्रदीप ५।३।७४)। यहाँ कैयट ने तीन प्रकार से कुत्सित भाव के ज्ञात होने का उल्लेख किया है (१) स्वार्थकुत्सा (२) लैंगिक कुत्सा और (३) संख्या-प्राप्य कुत्सा का भेद ज्ञातव्य है—

स्वार्थ कुत्सा का उदाहरण 'परिव्राजक' या 'पटुक' है। यह कुत्सा प्रवृत्तिनिमित्त के अपकर्षहेतुक है। पटुत्व होने से कोई भी पटु कहलाता है पर पटुत्व में अपेक्षित उत्कर्ष यदि न हो तो वह 'पटुक' कहलाएगा। प्रवृत्ति निमित्त कुत्सा के अन्य उदाहरण भी हैं। कुत्सितानि कुत्सनैः (२।१।५३) सूत्र के उदाहरण मे जो वैयाकरणखसूचि शब्द है वहाँ शब्दप्रवृत्तिनिमित्त कुत्सा है अर्थात्, व्याकरणज्ञान में कमी के कारण ऐसा कहा जाता है पर शास्त्रज्ञान यदि ठीक हो तो इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होगी जैसे—'वैयाकरणो दुराचारः' इस प्रयोग मे २।१।५३ सूत्र से समास नहीं होता। पापाणके कुत्सितैः (२।१।५४) सूत्र में इस नियम का दूसरा उदाहरण है।

लैंगिक कुत्सा के उदाहरण में जो श्लोक उद्धृत हुआ है उससे पता चलता है कि यहाँ भी कुत्सा पदार्थान्तर सापेक्ष है। चूँकि गाण्डीवधन्वा अर्जुन के समक्ष कौरव लोग निर्वीर्य हो जाते हैं, अतः वे कुत्सित हैं (अर्जुनसंनिधौ

किमेते पुमास इति प्रतीयत इति भाव –उद्द्योत)। इसी भाव के द्योतन के लिये यहाँ 'कौरवक' शब्द प्रयुक्त हुआ है।

सख्याज्ञाप्य कुत्सा के उदाहरण की व्याख्या मे स्वय प्रदीपकार ने ही कहा है—'शतभरणे यद् दु ख तद् एकस्य भरण इति शतत्वारोपेण कुत्सा'। अर्थ स्पष्ट है।

वाक्यगम्य कुत्सा—पाणिनि के सूत्रो से इस प्रकार के कुत्सार्थक शब्द भी सिद्ध होते है, जो स्वरूपत. किसी भी प्रकार से कुत्साभाव के व्यञ्जक नहीं होते पर किसी अन्य वाक्य (या प्रकरण) की सहायता से कुत्सा के व्यञ्जक होते हैं। यह तथ्य 'सोरवक्षेपणे (६।२।१९५) सूत्र से विज्ञात होता है। इस सूत्र से 'सुप्रत्यवस्थित' शब्द बनता है, जो स्वरूपत' किसी भी प्रकार से कुत्सा का वाचक नही है, पर किसी वाक्य मे सम्बन्धित हो कर यह कुत्सा भाव अभिव्यक्त करता है (वाक्यार्थोऽत्र निन्दा, असूयया तथाऽभिधानात्)। व्याख्याकार कहते हैं कि इस शब्द का प्रयोग तब होता है, जब अनर्थ उपस्थित होने पर भी कोई व्यक्ति सुख मे रहता है और उसके प्रति असूया उत्पन्न होती है। ध्यान देना चाहिए कि यहाँ 'सु' का अर्थ पूजा ही है (सुरत्र पूजायामेव), परतु प्रकरण या वाक्य से यह शब्द निन्दावाचक होता है।

स्वरूपत. कुत्सावाची न होकर भी कुत्सा का अभिधायक—पाणिनि ने उन कुत्साज्ञापक तत्त्वो का भी विवरण दिया है जो स्वरूपतः कुत्सापरक नही हैं, परन्तु जिनके बलपर अन्य कोई कुत्सित आचरण करता है और दु'शील व्यवहारकारी के कुत्सित होने से तद्व्यवहार्य पदार्थ भी कुत्सित माना जाता है, तत्त्वत नही। पाणिनि का सूत्र है—'अवक्षेपणे कन् (५।३।९५), अवक्षेपण = निन्दा। इस सूत्र से 'व्याकरणक' शब्द बनता है, जिससे 'व्याकरणकेन नाम त्व गर्वित' ऐसा वाक्य बनता है। 'व्याकरणक' शब्द मे कन् प्रत्यय कुत्सा में हुआ है, पर व्याकरण वस्तुत कुत्सित शास्त्र नही है। शका होगी कि तब यहाँ कुत्सा मे प्रत्यय कैसे उत्पन्न होता है? व्याख्याकार कहते हैं—'व्याकरण हि न स्वतः कुत्सित किन्तु अधीत सन् अध्येतृकुत्साहेतुभूत गर्व-भावहत् अवक्षेपणम्' अर्थात् व्याकरण यद्यपि स्वत कुत्सित नही है, परन्तु यदि उसके पाठ से वैयाकरण मे गर्व उत्पन्न हो जाए तो, औपचारिक रूप से कुत्सा का हेतु होने के कारण व्याकरण भी कुत्सित कहलाता है।

शब्दत उल्लिखित न होनेपर भी कोई शब्द अन्य रूप से कुत्सा का वाचक हो सकता है—इसका उदाहरण 'कर्मणीनि विक्रय.' (३।२।९३) आदि सूत्रो मे

होता है वह किसी विशेष धर्म की ओर सदय नहीं करता और कुत्सा के लिये विशेष धर्म को दिखाने के लिये 'क' प्रत्यय आइकर (कुत्सित+क) कुत्सितक शब्द बनाया जाता है (अनिर्धारितविशेषधर्मनिबन्धना कुत्सा कुत्सितस्य प्रवृत्तिनिमित्तम्,प्रकृष्टत्वादि विशेषनिबन्धना कुत्सा तु प्रत्ययनिबन्धनम्-प्रदीप)। पहले पक्षवाले युक्ति देते हैं कि जैसे प्रकृष्ट के प्रकर्ष में तम प्रत्यय होकर प्रकृष्टतम बनता है वैसे ही कुत्सित को कुत्सितत्व की कुत्सा में भी क प्रत्यय हो सकता है।

इन दोनों व्याख्याओं से 'कुत्सितक' शब्द के दो विरोधी अर्थ होते हैं। 'क' पक्ष के अनुसार इसका अर्थ होगा—जिसकी कुत्सा प्रशस्यक है अर्थात् जो निन्दनीय नहीं है और क पक्ष में अर्थ होगा—जिसकी कुत्सा किसी विशेष धर्म के कारण है।

कुत्सा के त्रिविध कारण :—कुत्सन व्यापार के विषय में कैयट ने एक सारगर्भ विचार व्यक्त किया है यथा—'कश्चित् स्वार्थकुत्सया कुत्स्यते पटुक परिव्राजक इति कश्चिल्लौकिकयोग यथा—प्राप्य गाण्डीवधन्वानं विद्धि कौरवका स्थिरम इति कदाचित् संख्यया यथा इदम् एकमेव धनमिति' (प्रदीप ५।३।७४)। यहाँ कैयट ने तीन प्रकार से कुत्सित भाव के प्रकट होने का उल्लेख किया है (१) स्वार्थकुत्सा (२) लौकिक कुत्सा और (३) संख्या प्राप्य कुत्सा का भेद ज्ञातव्य है—

स्वार्थ कुत्सा का उदाहरण परिव्राजक' या 'पटुक' है। यह कुत्सा प्रवृत्तिनिमित्त के अपकर्षहेतुक है। पटुत्व होने से कोई भी पटु कहलाता है पर पटुत्व में अपेक्षित उत्कर्ष यदि न हो तो वह पटुक कहलाएगा। प्रवृत्ति निमित्त कुत्सा के अन्य उदाहरण भी हैं। कुत्सितानि कुत्सनै" (२।१।५३) सूत्र के उदाहरण में जो 'वैयाकरणखसूचि' शब्द है वहाँ सम्यप्रवृत्तिनिमित्त कुत्सा है अर्थात् व्याकरणज्ञान में कमी के कारण ऐसा कहा जाता है पर व्याकरणज्ञान यदि ठीक हो तो इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होगी जैसे—'वैयाकरणो चुराचारः' इस प्रयोग में २।१।५३ सूत्र से समास नहीं होगा। पापाणके कुत्सितै (२।१।५४) सूत्र में इस नियम का दूसरा उदाहरण है।

लौकिक कुत्सा के उदाहरण में जो श्लोक उद्धृत हुआ है उससे पता चलता है कि यहाँ की कुत्सा पदार्थान्तर सापेक्ष है। चूँकि गाण्डीवधन्वा अर्जुन के समक्ष कौरव लोग निर्वीर्य हो जाते हैं, अतः वे कुत्सित हैं (अर्जुनसंनिधौ

किमेते पुमास इति प्रतीयत इति भाव –उद्द्योत)। इसी भाव के द्योतन के लिये यहाँ 'कौरवक' शब्द प्रयुक्त हुआ है।

सख्याज्ञाप्य कुत्सा के उदाहरण की व्याख्या मे स्वयं प्रदीपकार ने ही कहा है—'शतभरणे यद् दु ख तद् एकस्य भरण इति शतत्वारोपेण कुत्सा'। अर्थ स्पष्ट है।

वाक्यगम्य कुत्सा —पाणिनि के सूत्रो से इस प्रकार के कुत्सार्थक शब्द भी सिद्ध होते हैं, जो स्वरूपत किसी भी प्रकार से कुत्साभाव के व्यञ्जक नहीं होते पर किसी अन्य वाक्य (या प्रकरण) की सहायता से कुत्सा के व्यञ्जक होते हैं। यह तथ्य 'सोरवक्षेपणे (६।२।१९५) सूत्र से विज्ञात होता है। इस सूत्र से 'सुप्रत्यवसियत' शब्द बनता है, जो स्वरूपत. किसी भी प्रकार से कुत्सा का वाचक नही है, पर किसी वाक्य मे सम्बन्धित हो कर यह कुत्सा भाव अभिव्यक्त करता है (वाक्यार्थोऽत्र निन्दा, असूयया तथाऽभिधानात्)। व्याख्याकार कहते है कि इस शब्द का प्रयोग तब होता है, जब अनर्थ उपस्थित होने पर भी कोई व्यक्ति सुख मे रहता है और उसके प्रति असूया उत्पन्न होती है। ध्यान देना चाहिए कि यहाँ 'सु' का अर्थ पूजा ही है (सुरत्र पूजायामेव), परतु प्रकरण या वाक्य से यह शब्द निन्दावाचक होता है।

स्वरूपत. कुत्सावाची न होकर भी कुत्सा का अभिधायक—पाणिनि ने उन कुत्साज्ञापक तत्त्वो का भी विवरण दिया है जो स्वरूपतः कुत्सापरक नही हैं, परन्तु जिनके बलपर अन्य कोई कुत्सित आचरण करता है और दु·शील व्यवहारकारी के कुत्सित होने से तद्व्यवहार्य पदार्थ भी कुत्सित माना जाता है, तत्त्वत. नही। पाणिनि का सूत्र है—'अवक्षेपणे कन् (५।३।९५), अवक्षेपण = निन्दा। इस सूत्र से 'व्याकरणक' शब्द बनता है, जिससे 'व्याकरण-केन नाम त्व गर्वित' ऐसा वाक्य बनता है। 'व्याकरणक' शब्द मे कन् प्रत्यय कुत्सा मे हुआ है, पर व्याकरण वस्तुत. कुत्सित शास्त्र नही है। शका होगी कि तब यहाँ कुत्सा मे प्रत्यय कैसे उत्पन्न होता है? व्याख्याकार कहते हैं—'व्याकरण हि न स्वत कुत्सित किन्तु अधीत सन् अध्येतृकुत्साहेतुभूत गर्व-भावहत् अवक्षेपणम्' अर्थात् व्याकरण यद्यपि स्वत. कुत्सित नही है, परन्तु यदि उसके पाठ से वैयाकरण मे गर्व उत्पन्न हो जाए तो, औपचारिक रूप से कुत्सा का हेतु होने के कारण व्याकरण भी कुत्सित कहलाता है।

शब्दत उल्लिखित न होनेपर भी कोई शब्द अन्य रूप से कुत्सा का वाचक हो सकता है—इसका उदाहरण 'कर्मणीनि विक्रय.' (३।२।९३) आदि सूत्रो मे

मिलता है। इस सूत्र से 'सोमविक्रयी' शब्द बनता है जिसमें आपाततः दृष्टि से कुत्सा की गन्ध भी नहीं है क्योंकि तद्वाचक कोई शब्द नहीं है। परन्तु वार्त्तिककार ने 'कुत्सित इति वक्तव्यम्' कहा है।[1] यह विक्रय शब्द चूंकि शास्त्र प्रतिषिद्ध है अतः यह निन्द्य है। यदि कुत्सित का भाव न हो तो 'सोमविक्रय' शब्द होगा। यहाँ शब्द में कुत्साज्ञापक कोई तत्त्व न रहने पर भी कुत्साभाव व्यवहारगम्य है।

स्वतः और परतः कुत्सा—सापेक्ष कुत्सा के लिये अष्टाध्यायी मत में 'अवक्षेपणे कन्' (५।३।९५) सूत्र द्रष्टव्य है। यहाँ भाष्यकार ने कुत्सा के कार्य कारण सम्बन्ध पर विचार किया है। उन्होंने अवक्षेपण को 'करण' और कुत्सित को 'कर्म' कहा है। उनके अनुसार इस सूत्र के उदाहरण 'व्याकरणक' शब्द का अर्थ यद्यपि 'कुत्सित व्याकरण' है परन्तु व्याकरण तत्त्वतः कुत्सित नहीं होता वस्तुतः व्याकरण पढ़कर यदि कोई गर्वित हो जाए, तो कुत्सा का हेतु होने से अनिन्दित व्याकरण कुत्सित कहलाता है—व्याकरणं हि स्वतो न कुत्सितं किन्तु अधीतं सद् अध्येतृकुत्साहेतुभूतगर्वभावहद् अवक्षेपकम् (बालमनोरमा)। कुत्सिते (५।३।७४) सूत्रानुसार जो कुत्सित कहलाता है वह स्वयं कुत्सित होता है,यह बोध होगा अथवा कहने से अवक्षेपण की अपूर्णता समझी जाएगी।

१—वार्त्तिककारोक्त यह कुत्सा-भाव पाणिनिसम्मत है, क्योंकि सोमविक्रयी आदि सुप्रसिद्ध शब्द कुत्सा के अर्थ में मनुस्मृति रामायण महाभारत आदि प्राक्पाणिनीय ग्रन्थों में मिलते हैं। यहाँ स्पष्टरूप से यह जान लेना चाहिए कि जहाँ पाणिनि ने विशेषार्थ का उल्लेख नहीं किया और वार्त्तिककार तथा भाष्यकार ने किया है वहाँ इतने मात्र से ही यह समझना कि वह अर्थ अर्वाक् पाणिनीय काल में ही उद्भूत हुआ है अर्थतत्त्व और पाणिनीय पद्धति के न जानने का फल है। व्याकरण में प्रायः अर्थ-निर्देश नहीं किए जाते या विशेषार्थ के स्थान में भी सामान्यार्थ का ही निर्देश किया जाता है। वस्तुतः अर्थचिन्ता पाणिनिव्याकरण का मुख्य विषय भी नहीं है अर्थ निर्देश के विषय में व्याकरण की जो पद्धति है उसपर स्वतन्त्र निबन्ध में विचार किया जाएगा। इस नियम का एक उदाहरण पालआटचो बहुभाषिणि (५।२।१२५) सूत्र भी है। इस सूत्र से निष्पन्न वाचाल शब्द कुत्सार्थक (निन्दितबहुभाषणकारी) है ऐसा वार्त्तिककार ने कहा है सूत्रकार यद्यपि कण्ठतः ऐसा कुछ नहीं कहते हैं। वार्त्तिकवर्णित अर्थ में सूत्रकार की सम्मति थी यह जाना जाता है।

ऐसा ही एक विचार ८।१।८ सूत्रभाष्य मे मिलता है, जहाँ असूया और कुत्सन का एकत्र पाठ है। यह शका होती है कि ये दो शब्द जब समार्थक हैं तब इनका एकत्र पाठ क्यो किया गया ? भाष्यकार ने असूया और कुत्सन का यह भेद दिखाया है कि यद्यपि असूया के विना कुत्सा नही होती, तथापि गुरु असूया के विना भी शिष्य की कुत्सा करते हैं, शिष्य के उपकार के लिये, और इसीलिये सूत्रकार ने दोनो का पृथक् निर्देश किया है। कैयट ने यहाँ एक प्राचीन कारिका भी समर्थन के लिये उद्धृत की है (विनाऽप्यसूयया कुत्सा ----) जिससे यह भेद स्पष्ट हो जाता है।

अमौलिक कुत्सा—कुछ ऐसे गर्हार्थक सूत्र हैं जिनसे निष्पन्न शब्द स्पष्टतः गर्हार्थक नही होते, पर किसी उपमान के आश्रय मे उनसेकुत्सा का बोध होता है। चेलखेटकटुकाण्डं गर्हायाम् (६।२।१२६) सूत्र इसका प्रसिद्ध उदाहरण है। इस सूत्र से पुत्रचेल, नगरखेट, दधिकटुक तथा प्रजाकाण्ड शब्द बनते है। 'पुत्र चेल' मे गर्हा क्या है, इस विषय मे व्याख्याकार कहते हैं—'चेल वस्त्र तद्वत् तुच्छम्'। यहाँ वस्त्र की तुच्छता का आरोप पुत्र पर किया गया है। उसी प्रकार नगरखेट मे तृण की दुर्वलता का आरोप किया गया है (खेटमिति तृणनाम, तद्वद् दुर्वलम्)। कटु की स्वादहीनता का आरोप दधि में किया गया है और काण्ड की कष्टदायकता को प्रजा मे आरोपित किया गया है (काण्ड शरः, स यथा पीडाकर एवभूतम्)। ये शब्द किसी के धर्म के आरोप के वल पर ही कुत्सा के वाचक होते हैं।

समास से कुत्सा का वोध :—पाणिनि के सूत्रो से यह भी पता चलता है कि कुत्सा कभी-कभी समास का नियमन करती है। जहाँ समास में क्षेपार्थ का सम्बन्ध होता है वहाँ व्याख्याकारगण कहते हैं कि क्षेपार्थक समास नित्य-समास होता है, क्योकि वहाँ समास न कर विग्रहवाक्य के प्रयोग करने से कुत्सा का वोध नही होता। एक उदाहरण लीजिए। सूत्र है—'खट्वा क्षेपे' (२।१।२६) [=द्वितीयान्त खट्वा शब्द के साथ कृत्प्रत्ययान्त शब्द का समास होता है, निन्दा के अर्थ मे] जिसमे 'खट्वारूढ' शब्द बनता है, जिसका योगानुसारी अर्थ है—'खटिया में आरोहणकारी'। पर समास के कारण इसका तात्पर्य निन्दा मे होता है[1] और निन्दा के अर्थ मे सदैव समास ही होगा—'खट्वाया

[1]—'क्षेप इत्युच्यते। क क्षेपो नाम ? अधीत्य स्नात्वा गुरुभिरनुज्ञातेन खट्वाऽरोढव्या, य इदानीमतोऽन्यथा करोति स उच्यते खट्वारूढोऽय जाल्मो नातिव्रतवान्' (भाष्य २।१।२५)।

स्त्व' ऐसा व्यस्त प्रयोग नहीं होगा, क्योंकि विग्रह करने से निन्दा का बोध नहीं होता (नहि वाक्येन निन्दा गम्यते)। यह शब्द निषिद्धानुष्ठानकारी के अर्थ में इतना प्रचलित है कि चाहे कोई खट्वारोहण करे या न करे, सभी निषिद्धाचरणकारी खट्वारूढ कहे जाते हैं। यहाँ कुत्सा के साथ समास का नित्य सम्बन्ध है।[1]

इस रीति का दूसरा उदाहरण 'पात्रेसमितादयश्च' (२।१।४७) सूत्र है। सूत्र का तात्पर्य है कि कुत्सा के अर्थ में ही पात्रे-समित गेहे-शूर, कूप-मण्डूक आदि शब्द समस्तपद के रूप में निष्पन्न होते हैं। इस सूत्र के द्विविध तात्पर्य हैं। प्रथम—कुत्सा भाव में ही दोनों शब्दों का समास होगा तथा द्वितीय-अन्य शब्द के साथ पुनः इस शब्द का समास नहीं होगा। किस रीति से इस सूत्र से निष्पन्न पात्रेसमित आदि शब्द कुत्सा के द्योतक होते हैं, इसका स्पष्टीकरण व्याख्यानग्रन्थों में द्रष्टव्य है।

स्तुति निन्दार्थकशब्द निष्पादकसूत्र —इसके परिज्ञान के लिये 'कृत्यैरधिकार्थवचने' (२।१।३२) सूत्र अवश्य दर्शनीय है। सूत्र का अर्थ है—अधिकार्थवचन (=स्तुतिनिन्दार्थक अर्थवाद) यदि हो तो तृतीयान्त कर्तृवाची या करणवाची शब्दों के साथ कृत्यप्रत्ययान्त शब्दों का समास होता है यथा—काकपेया (नदी) या वातच्छेद्य (तृण)। निन्दा की दृष्टि से काकपेया का अर्थ है—वह नदी जिसमें अत्यन्त अल्प जल है वातच्छेद्य का अर्थ है कि तृण इतना दुर्बल है कि हवा से भी छिन्न हो जाता है।

यहाँ व्याख्याकारगण कहते हैं कि यदि इस प्रकार की निन्दा इन शब्दों से द्योतित न हो तो समास नहीं होगा वे यह भी कहते हैं कि निन्दा के अर्थ में यह सूत्र कुछ अपूर्ण है अर्थात् पाणिनि ने यद्यपि कृत्य प्रत्ययान्त शब्द से ही समास होने के लिये कहा है तथापि अन्य प्रकार के शब्दों से भी समास होगा स्तुति-निन्दा के पक्ष में अर्थात् जिस प्रकार 'काकपेया' पद होता है उसी प्रकार काकपीता भी होगा जिसके लिये पाणिनि का सूत्र मौन है। शब्दप्रयोग के क्षेत्र में निन्दा और स्तुति का प्रभाव कितना अधिक है यह इससे सूचित होता है।

---

[1]—'खट्वारूढः' शब्द सदैव निन्दा में ही प्रयुक्त होगा और यदि 'खट्वा में आरोहण कारी' अर्थ विवक्षित हो तो 'खट्वामारूढः' ऐसा समासहीन प्रयोग ही होगा यह व्याख्याकारों का मत है। ऐसे शब्दों के अध्ययन से सामाजिक प्रथाओं का ज्ञान भी होता है।

यह भी स्पष्ट जानना चाहिए कि क्षेपार्थ में जहाँ समास होता है, वहाँ समास के बल पर ही क्षेप का बोध होता है और समास के स्थान पर व्यस्त प्रयोग करने पर क्षेप का बोध कदापि नहीं होगा। २।१।४१ सूत्र में क्षेपार्थ में 'तीर्थकाक' शब्द निष्पन्न होता है, पर यदि 'तीर्थे काक' कहा जाए, तो आधार-आधेय सम्बन्ध ही प्रतीत होगा, निन्दा का बोध नहीं होगा (क्षेप समासात् प्रतीयते—प्रदीप)।

विभक्ति की सत्ता में गम्यमान कुत्सा—पहले यह दिखाया गया है कि कुत्सा यदि द्योतित हो तो वहाँ नित्य ही समास होगा। इसके साथ यह भी जानना चाहिए कि कुछ ऐसे भी प्रयोग हैं, जहाँ कुत्सा के लिये समास होने पर भी विभक्ति का लोप नहीं होता। इस विषय में पाणिनि के दो सूत्र हैं—षष्ठ्या आक्रोशे (६।३।२१) और पुत्रेऽन्यतरस्याम् (६।३।२२)। आक्रोश = निन्दा। इन दोनों सूत्रों में यह कहा गया है कि किसी कुल की निन्दा के लिये जब हम 'यह चोर का कुल है', ऐसा कहेंगे, तब 'चौरस्य कुलम्' यही प्रयोग होगा। 'चोरकुलम्' ऐसा नहीं होगा। उसी प्रकार किसी की निन्दा के लिये जब 'तुम तो दासी के पुत्र हो', ऐसा कहा जाएगा, तब 'दास्याः पुत्रः' (और विकल्प में दासीपुत्र' भी) प्रयोग होगा। निन्दा का प्रभाव शब्द प्रयोग में कितना अधिक होता है, ये दो सूत्र इसके ज्ञापक हैं।

प्राणिस्वभावगत निन्दा :—कुत्सार्थक सूत्रों के विश्लेषण से कभी-कभी स्त्री और पुरुषों के स्वभाव का भी कुछ न कुछ ज्ञान हो जाता है—जिसका उदाहरण 'नादिन्याक्रोशे पुत्रस्य' (८।४।४८) सूत्र में देखा जा सकता है। यह सूत्र कहता है कि आक्रोश (निन्दा) यदि गम्यमान हो तो 'पुत्र+आदिनी' इस स्थल पर तकार का द्वित्व नहीं होता। पर यहाँ एक बात लक्षणीय है। वह है आदिनी शब्द की स्त्रीलिंगता। क्यों यहाँ एक स्त्रीलिङ्ग शब्द का ही उल्लेख किया गया, पुंलिंग का नहीं, इसके उत्तर में हरदत्त कहते हैं कि ऐसा आक्रोश स्त्री में ही संभव है। इसलिये पाणिनि ने स्त्रीलिङ्ग शब्द का ही प्रयोग किया है। माधव ने भी इस बात को माना है (धा० वृ०)। यदि यह बात सत्य हो तो व्याकरण के अन्यान्य सूत्रों से भी इस प्रकार की मनोवृत्तियों का पता लगाया जा सकता है।

निषेध और कुत्सा—कुत्सा सम्बन्धी मनोभाव का अन्य उदाहरण 'मन्यकर्मण्यनादरे विभाषाऽप्राणिषु' (२।३।१७) सूत्र से भी जाना जा सकता है। अनादर-प्रदर्शन के क्षेत्र में चतुर्थी विभक्ति के विधान के लिये यह सूत्र है। एक

उदाहरण लीजिए—'न त्वां श्वानं मन्ये' में (मैं तुमको कुत्ता भी नहीं मानता!) व्याख्याकार कहते हैं कि ऐसे स्थलों में यदि 'मैं तुमको कुत्ता मानता हूँ' कहा जाए तो यह वाक्य अनादर का प्रदर्शन यथोचित रूप से नहीं करेगा और इसीलिये इस निषेधमूलक वाक्य (नहीं मानता हूँ) का प्रयोग किया गया है।

इसी भाव के लिये वार्तिककार ने कहा है—'मन्यकर्मणि प्रकृष्ट कुत्सित ग्रहणम्' जिससे 'न त्वां तृणं मन्ये' ऐसे स्थलों पर (जहाँ वार्तिक-दर्शित मनोभाव विद्यमान नहीं है) चतुर्थी-विभक्ति नहीं होती है। इसका तात्पर्य यह है कि श्वा या तृण के साथ जब मनुष्य का साम्य दिखाया जाएगा तब चतुर्थी नहीं होगी क्योंकि कुत्सा का प्रतिपादन प्रकर्षपूर्वक होना चाहिए और इसीलिये प्रतिषेधयुक्त कुत्सा में ही चतुर्थीविभक्ति होती है।

शायद पाणिनि से प्राचीनकाल में तिरस्कार के प्रसंग में चतुर्थीविभक्ति के विधान में पाणिनि-वर्णित कुत्सा-बोध से भी अधिकतर कुत्सा-बोध में ही चतुर्थी होती थी। प्राक्पाणिनीय आचार्य आपिशलि इस विषय में कहते थे—मन्यकर्मण्यनादरे उपमाने विभाषाऽप्राणिषु (द्र॰ प्रदीप टीका) जिसकी व्याख्या में नागेश ने कहा है—आपिशलिवाक्येन उपमानवाचकात् तत्रोऽपि तिरस्कारे चतुर्थीरुच्यते' (उद्द्योत)।

गर्हा और लकार—कुत्सार्थक सूत्रों से यह पता चलता है कि लकार (कालबोधक लट्, लिट् आदि प्रत्यय) का नियमन भी कुत्साबोधक शब्दों से होता है। सूत्र है—गर्हायां लडपि-जात्वोः (३।३।१४२)। यहाँ गर्हा (= निन्दा) अर्थ में केवल लट् लकार का प्रयोग नियमित किया गया है यद्यपि तीनों कालों में लट् होगा। इस प्रकार 'किंवृत्ते लिङ्लृटौ (३।३।१४४) सूत्र भी गर्हा के अर्थ में लिङ् और लिट् का विधान करता है जो अन्य लकारों का बाधक है।

कुत्सादि-ज्ञापक विशिष्ट शब्द—उपसंहार में हम धृष्टता-धूर्ततादिवाचक कुछ शब्दों के पूर्वाचार्य-वर्णित अर्थ उद्धृत कर रहे हैं। मानवीय प्रवृत्ति की विभिन्नता का ज्ञान भी इन उदाहरणों से हो जाता है।

पाणिनि के 'पात्रेसमितादि' गण (अष्टा॰ २।१।४७) के कुछ उदाहरणों में मानवीय धूर्तता कपटता आदि के अच्छे प्रामाणिक निदर्शन मिलते हैं। इस गण के शब्द क्षेप (= निन्दा) के अर्थ में निपातित होते हैं। इस गण के प्रतिपदिक शब्द किसी-न-किसी प्रकार की धूर्तता आदि का निर्देश अवश्य करते हैं, जैसा कि निम्नोक्त उदाहरणों में स्पष्ट प्रतिभात होता है—

पात्रेसमित—अपचितक्षीरा धेनुर्या सा पात्रसगतिमात्रपर्यवसितव्यापारा सत्येवमुच्यते। तद्वदन्योऽपि यः फलविकलव्यापाराडम्बरः स तदुपमानात् तथा वाच्यः (गणरत्नमहोदधि २।१०२), अर्थात् दुग्धहीन गौ जिस प्रकार दूध नहीं देती, उसी प्रकार जिस व्यक्ति मे व्यापार का आडम्बर है, पर उससे कुछ फल नहीं निकलता, उस कपटव्यक्ति को 'पात्रेसमित' कहा जाता है। जिसमे दिखावा है, पर कोई कार्य करने की क्षमता नही है, वह इस शब्द से लक्षित होता है। इसकी दूसरी व्याख्या यह भी है कि जो व्यक्ति भोजन मे भाग लेता है, पर काम से भागता है, वह 'पात्रेसमित' पदवाच्य होता है। कपट का भाव स्पष्ट है।

पात्रेबहुल.—इसका तात्पर्य भी पूर्व शब्द की तरह ही है। यहाँ बहुल का अर्थ है—'बाहुल्येन सघटनम्'। इसकी एक और भा व्याख्या है—'पात्र एव बहुलाः प्रचुरा. नान्यत्र', अर्थात् पात्र (भोजन का उपलक्षण) मे तो बहुसख्या मे बार-बार आते हैं, पर काम के समय बहाना बना कर भाग जाते हैं।

नगरकाक.—वर्धमान के अनुसार इसकी व्याख्या है—नगरे काक इव स्वार्थ-निष्ठ परवञ्चनानिपुण उच्यते' (गणरत्न० २।१०४) अर्थात् काक की तरह जो व्यक्ति स्वार्थपरायण और प्रवचना मे पटु हो, वह नगरकाक कहलाता है। इसकी अन्य व्याख्या भी है, यथा—नगरकाको न क्वचित् तिष्ठति सर्वमेव नगर परिभ्रमति, तद्वत् तत्र अन्यत्र वाऽनवस्थितः पुरुष उच्यते, अर्थात् नगरकाक जिस प्रकार कही एक स्थान पर एकलक्ष्य होकर बैठा नही रहता, उसी प्रकार जो व्यक्ति अपने किसी भी कार्य मे दत्तचित्त न होकर विभिन्न स्वार्थों से परिचालित होकर सभी कार्यों के प्रति अवहेलना करता है, वह नगरकाक शब्दवाच्य होता है। यहा भी प्रवचना का मनोभाव स्पष्ट है।

पिण्डीशूर·—पिण्ड्या खादितव्ये वस्तुनि शूर.। कलहवर्धनादिक कृत्वा खादितव्य खादति, अन्यत्र कार्यान्तरे निर्विक्रम (गणरत्न० २।१०२)—वह भोग की प्राप्ति के लिये कलह आदि करता है, पर न्यायसगत कार्य करने के क्षेत्र मे उसकी शक्ति नही रहती। धूर्तता स्पष्ट है।

गेहेक्ष्वेडी:—गेहे एव क्ष्वेडति विक्रम प्रदर्शयति (गण० २।१०२)—घर मे (या दुर्बल व्यक्ति के सामने) अपना विक्रम दिखाता है और जहाँ बल की आवश्यकता पडती है, वहाँ भाग जाता है। धूर्तता स्पष्ट है।

गेहेविचिती·—गेहे स्थित्वा इद युक्तमिदमयुक्तमिति विचिनोति निरूपयति बुद्धिमत्ता प्रदर्शयति न समामध्ये कार्ये वा (गणरत्न० २।१०५)—जहाँ बुद्धि या

उदाहरण लीजिए—'न त्वां श्वानं मन्ये' में (मैं तुमको कुत्ता भी नहीं मानता)। व्याख्याकार कहते हैं कि ऐसे स्थलों में यदि 'मैं तुमको कुत्ता मानता हूँ' कहा जाए तो यह वाक्य अनादर का प्रदर्शन समुचित रूप से नहीं करेगा और इसीलिये इस निषेधमूलक वाक्य (नहीं मानता हूँ) का प्रयोग किया गया है।

इसी भाव के लिये वार्तिककार ने कहा है—'मन्यकर्मणि प्रकृष्ट कुत्सित ग्रहणम्' जिससे 'न त्वां तृणं मन्ये' ऐसे स्थलों पर (जहाँ वार्तिक-दर्शित मनोभाव विद्यमान नहीं है) चतुर्थी-विभक्ति नहीं होती है। इसका तात्पर्य यह है कि श्वा या तृण के साथ जब मनुष्य का साम्य दिखाया जाएगा तब चतुर्थी नहीं होगी क्योंकि कुत्सा का प्रतिपादन प्रकर्षपूर्वक होना चाहिए और इसीलिये प्रतिषेधयुक्त कुत्सा में ही चतुर्थीविभक्ति होती है।

शायद पाणिनि से प्राचीनकाल में तिरस्कार के प्रसंग में चतुर्थीविभक्ति के विधान में पाणिनि-दर्शित कुत्सा-बोध से भी अधिकतर कुत्सा-बोध में ही चतुर्थी होती थी। प्राक्पाणिनीय आचार्य आपिशलि इस विषय में कहते थे—मन्यकर्मण्यनादरे उपमाने विभाषाऽप्राणिषु (द्र० प्रदीप टीका) जिसकी व्याख्या में नागेश ने कहा है—आपिशलिवाक्येन उपमानवाचकात् तदोऽपि तिरस्कारे चतुर्थीयुच्यते' (उद्योत)।

गर्हा और लकार—कुत्सार्थक सूत्रों से यह पता चलता है कि लकार (कालबोधक लट्, लिट् आदि प्रत्यय) का नियमन भी कुत्साबोधक शब्दों से होता है। सूत्र है—'गर्हायां लडपि-जात्वोः' (३।३।१४२)। यहाँ गर्हा (= निन्दा) अर्थ में केवल लट् लकार का प्रयोग नियमित किया गया है अर्थात् तीनों कालों में लट् होगा। इस प्रकार 'किंवृत्ते लिङ्लृटौ' (३।३।१४४) सूत्र भी गर्हा के अर्थ में लिङ् और लिट् का विधान करता है जो अन्य लकारों का बाधक है।

कुत्सादि-ज्ञापक विशिष्ट शब्द—उपसंहार में हम शठता-धूर्तताविवाचक कुछ शब्दों के पूर्वाचार्य-दर्शित अर्थ उद्धृत कर रहे हैं। मानवीय प्रवृत्ति की विचित्रता का ज्ञान भी इन उदाहरणों से हो जाता है।

पाणिनि के 'पात्रेसमितादि' गण (अष्टा० २।१।४७) के कुछ उदाहरणों में मानवीय धूर्तता कपटता आदि के अच्छे प्रामाणिक निदर्शन मिलते हैं। इस गण के शब्द क्षेप (= निन्दा) के अर्थ में निपातित होते हैं। इस गण के अधिकांश शब्द किसी-न-किसी प्रकार की धूर्तता आदि का निर्देश अवश्य करते हैं, जैसा कि निम्नोक्त उदाहरणों में स्पष्ट प्रतिपादित होता है—

चाहिए कि यहाँ छात्र का जो आचरण सगत है, वह आचरण सासारिक व्यक्ति के लिये असंगत दिखाया गया है। दूसरी व्याख्या मे यह कहा गया है कि छात्र का वेष बनाकर जो दुनिया को ठगता है, वह भी छात्रव्यमक कहलाता है। कपटता स्पष्ट है।

छत्रव्यंसक'—छत्रवद् व्यसक', छत्र हि प्रसारित सत् सुन्दराकारमाभाति, स्वय तु स्थातुमशक्तम् अन्येन प्रयत्नवता धार्यते। एवमन्योऽपि यः सदा परावष्टम्भवलम्थिति सुन्दराकारोऽपि स एवमुच्यते (गणरत्न० २।११५)। छत्र प्रसारित करने से सुन्दर लगता है, पर वह स्वय अपने-आप को खडा नही रख सकता। उसी प्रकार जो व्यक्ति अपने को शक्तिमान्, प्रतिष्ठासम्पन्न आदि दिखाता है, पर जिसकी शक्ति और प्रतिष्ठा स्वोपार्जित नही होती, जो दूसरे के वल पर कूदता है, वह 'छत्रव्यसक' कहलाता है। आज कल के कितने ही 'नेता' ऐसे 'छत्रव्यमक' हैं—यह कहने की आवश्यकता नही।

——

विचारशक्ति को दिखाना चाहिए (यथा इत्यादि में) वहाँ तो भय से चुप रहता है, और जहाँ विचार अप्रयोजनीय है वहाँ अपनी पण्डिताई दिखाता है।

गर्भतृप्त—गर्भ एव तृप्तः स्वमात्राहृतेन आहारेण, ततो निःसृत्य न क्वापि उदरपूरं कृतवानिति गर्भतृप्तो रुचिः (गणरत्न० २।१२) अर्थात् जो स्वयं परिश्रम कर नहीं खाता और दूसरों के उपार्जन से अपना पेट भरने में ही रुचि रखता है वह गर्भतृप्त कहलाता है। कुत्सा स्पष्ट है।

आसनिकबक—आसनिकः जलस्रोतः स्थानं तस्मिन् बक इव। तद्वदन्योऽपि य आत्मीये गृहे यत् किञ्चिदस्ति तद् भक्षयति नान्यत्र गच्छति स एवमुच्यते (गण० २।१२)—जो व्यक्ति घर के धन से ही अपना खर्च आदि चलाता रहता है और अन्यत्र जाकर परिश्रम से कोई कार्य नहीं करना चाहता वह आसनिकबक कहलाता है। असदाचरण का मनोभाव स्पष्ट है।

इस प्रकार का दूसरा महत्त्वपूर्ण गण मयूरव्यंसकादि (अष्टा० २।१।७२) भी है। यद्यपि सूत्रकार ने यहाँ यह स्पष्ट नहीं कहा कि इस गण में निपातित शब्द निन्दा के अर्थ में व्यवहृत होते हैं, पर व्याख्याकारों ने कुछ शब्दों की जो व्याख्या की है, उससे निन्दार्थ की स्पष्ट प्रतीति होती है। यहाँ कुछ उदाहरणों को लेकर इस दृष्टि का विशदीकरण किया जा रहा है —

मयूरव्यंसक—वर्धमान ने इसकी व्याख्या की है यथा—विगतौ अंसौ यस्य व्यंसकः रमणीमाकारवेषनेपथ्योपेतत्वात् मयूरवत् मयूरः पुमान्। स चासौ व्यंसकश्च बहुसाध्यव्यापारपुरस्कारविकलः कश्चिदेवं प्रतिक्षिप्यते (गणरत्न २।११५) अर्थात् उस व्यक्ति को मयूरव्यंसक कहा जाता है जिसमें प्रदर्शन का भाव (दिखावा) अधिक है पर जो किसी कार्य की सिद्धि नहीं कर सकता। 'बह्वारम्भे लघुक्रिया' इस न्याय इन्हीं व्यक्तियों के कार्य को लक्ष्य कर कहा जाता है। इसकी अन्य व्याख्या भी है—व्यंसयति छलयति इति व्यंसकः। स चासौ स च यो मुग्धकानां मयूराणां गृहीतशिखः अन्यान् मयूरान् छलयति वञ्चयति स विप्रलम्भक उच्यते (गणरत्न)।

छात्रव्यंसक—छात्रो हि यथा लब्धभिक्षामात्रवृत्तिकृतसन्तोषो निर्व्यापार तथा कार्यतो व्यंसकः तद्वदन्योऽप्येवमुच्यते। छात्रव्येव वञ्चको वा मायावी (गणरत्न २।११५) अर्थात् छात्र जिस प्रकार भिक्षामात्र से सन्तोष कर ही अपना जीवन-कार्य चलाता है उसी प्रकार जो व्यक्ति धूर्तता से कर्म आदि न कर, अपनी कार्यसिद्धि चाहता है, वह 'छात्रव्यंसक' कहलाता है। व्यापं ऐसा

एकादश परिच्छेद

पाणिनिस्मृत भिक्षुसूत्र का स्वरूप

पाणिनि के 'पाराशर्य-शिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः' (४।३।११०) सूत्रस्थ भिक्षुसूत्र शब्द का तात्पर्य क्या है, यह यहां विचारित हो रहा है। यह सूत्र प्रोक्त प्रकरण मे पठित है अतः पाराशर्य प्रोक्त कोई भिक्षुसूत्र था, यह ज्ञात होता है। पाराशर्य का परिचय तथा भिक्षुसूत्र ग्रन्थ का रचनाकाल—ये दो विषय भी यहां विचारित होगे।

भिक्षुसूत्र का अपक्षित अर्थ—कतिपय पूर्वाचार्य एवं आधुनिक गवेषक यह कहते हैं कि प्रचलित वेदान्त सूत्र (=ब्रह्मसूत्र) और उनके प्रणेता कृष्णद्वैपायन व्यास ही यथाक्रम भिक्षुसूत्र और पाराशर्य (पराशरापत्य) है।[1] ये बादरायण व्यास और कृष्णद्वैपायन को एक ही व्यक्ति समझते है जैसा कि पौराणिक प्रसिद्धि है। कुछ विद्वान् भिक्षुसूत्र का अर्थ भिक्षु चर्याविषयक सांख्यशास्त्रीय ग्रन्थ-विशेष समझते है।[2]

अपक्षित अर्थ की असंगति—हमलोगो के अनुसार न वेदान्तसूत्र भिक्षुसूत्रपद वाच्य हो सकता है और न ही इस सूत्र म पाराशर्य व्यासकृत ग्रन्थविशेष लक्षित ही हुआ है। यह पाणिनिस्मृत भिक्षुसूत्र भिक्षुचर्याविषयक ग्रन्थविशेष है जो कि कृष्णद्वैपायन व्यास स अत्यन्त प्राचीनकाल म रचित हुआ था। इस विषय मे निम्नोक्त युक्तियां द्रष्टव्य हैं—

१—भिक्षव संन्यासिन' तदीयकारकं सूत्रं भिक्षुसूत्रं व्यासप्रणीतं प्रसिद्धम् (बालमनोरमा) चतुर्थाश्रमीणां भिक्षूणामुपयोगि सूत्रमित्यर्थः (शब्दकल्पद्रुम पृ १२६१) पाराशर्येण प्रोक्त वेदान्तसूत्रम् अधीयाना पाराशरिणः (प्रक्रिया सर्वस्व) पाराशर्येण प्रोक्त भिक्षुसूत्रं चतुर्थाश्रमपरमधीयते पाराशरिणो भिक्षव (शब्दकौस्तुभ) The Bluksu Sutras of Parasarya (I 3 110) which probably denoted the earliest Vedanta treatises written in Sutra form (India as Known to Panini p 391)

२—कोई विद्वान् भिक्षुसूत्र का अर्थ वेदान्तविषयक सूत्र करते हैं अन्य इसे सांख्यशास्त्र का प्राचीनसूत्र समझते हैं (सं व्या शा० इ०, भाग १ पृ २५२ India as Known to Panini p 338)

(क) भिक्षुसूत्र शब्द की तरह अन्य अनेक सूत्रग्रन्थो का उल्लेख प्राचीन ग्रन्थो मे मिलता है, यथा हस्तिसूत्र, रथसूत्र, अश्वसूत्र (सभापर्व ५।२१)। ५।१२२ मे यन्त्रसूत्र का उल्लेख है जो धनुर्वेदपरक है। इन सूत्रो मे हस्ति अश्व-रथादि से सम्बन्धित से रोग-चर्या-निर्माण-वर्धन-पोषणादि कर्म विवृत हुए है, यह स्पष्ट है। इस प्रकार 'भिक्षुसूत्र'पद से 'भिक्षुसम्बन्धी आचरण परक ग्रन्थ' ही गृहीत होना चाहिए। श्रौतसूत्र, धर्मसूत्र, गृह्यसूत्र भी व्रतादिकर्म-प्रतिपादक ही है, अत भिक्षुसूत्र का अर्थ भिक्षुकर्मप्रतिपादक ही होगा।

(ख) कुछ विद्वान् कहते है कि भिक्षुत्वसंपादक सूत्र = भिक्षुसूत्र है जो वेदान्तसूत्र ही है। यहाँ यह चिन्तनीय है कि क्या वेदान्तसूत्रो मे भिक्षुत्वसंपादन की चर्चा की गई है? यह तो मुख्यत ब्रह्म विचार-परक सूत्रग्रन्थ है[1], इसके तृतीय-चतुर्थाध्याय मे क्वचित् भिक्षुचर्यापरक सूत्र उपलब्ध होते है। यही कारण है कि प्राचीन आचार्यों ने भिक्षुसूत्र कहकर इस ब्रह्मसूत्र का उद्धरण नही दिया है।

यदि वेदान्तसूत्र भिक्षुसूत्र-पदवाच्य होता तो प्रचलित ब्रह्मसूत्र और उसमे स्मृत अन्यान्य ब्रह्मसूत्रकार (काशकृत्स्न, औडुलोमि, जैमिनि आदि) नियमत. भिक्षु ही होते (भिक्षु द्वारा ही भिक्षुसूत्रो की रचना उपपन्न होती है), पर काशकृत्स्न आदि सूत्रकार भिक्षु थे—इस विषय मे कोई प्रमाण उपलब्ध नही है। भिक्षुसूत्र यदि वेदान्तसूत्र होता तो कर्मन्द भी वैदान्तिक आचार्य माने जाते, पर सप्रदायो मे ऐसी प्रसिद्धि नही है।

(ग) यह सोचना चाहिए कि भिक्षु शब्द मूलत आश्रमविशेष (चतुर्थाश्रम) का वाचक है (या उस आश्रम मे स्थित व्यक्ति का वाचक है), अत भिक्षुसूत्र मे सामान्यतया आश्रमचर्चा और विशेषतया चतुर्थाश्रमसबद्ध चर्चा होनी चाहिए। पर क्या वेदान्तसूत्र मे ऐसी चर्चा है? भिक्षुसूत्र नाम से ही ज्ञात होता है कि इस सूत्र के आरम्भ मे भिक्षु-विषय अधिकृत होगा, क्या ब्रह्मसूत्र के आरम्भ मे भिक्षुविषय का अधिकार है?

यदि वस्तुत प्रचलित ब्रह्मसूत्र भिक्षुसूत्र पदवाच्य होता तो धर्मसूत्रो में जिस प्रकार भिक्षुसम्बद्ध वाक्य मिलते है, उसी प्रकार प्रचलित वेदान्तसूत्र मे भी

१—वेदान्तवाक्यकुसुमग्रथनार्थत्वात् सूत्राणाम्। वेदान्तवाक्यानि सूत्रैरुदाहृत्य विचार्यन्ते (शारीरक भाष्य १।१।२)।

अवश्य मिलते। धर्मसूत्रों में (एवं प्राचीन स्मृतियों में) भिक्षुपरक चर्चा की है, इसके लिये यहाँ कुछ विशिष्ट वाक्य उदाहृत किए जा रहे हैं।[1]

(ध) कुछ लोग कहते हैं कि 'भिक्षु द्वारा अध्येतव्य सूत्र' इस अर्थ में भिक्षुसूत्र शब्द निष्पन्न होता है और प्रचलित ब्रह्मसूत्र चूँकि भिक्षु द्वारा अध्येतव्य है अतः यह भिक्षुसूत्र ही है। पर यह कहना असंगत है यदि यह ब्रह्मसूत्र केवल भिक्षु द्वारा अध्येतव्य होता तो वाचस्पति आदि शास्त्रवित् गृहियों का वेदान्त-ग्रन्थ-प्रणयन असत् कर्म माना जाता। किंच गृहस्थ भी वेदान्ताध्ययन के अधिकारी हैं, यह योगियाज्ञवल्क्य मे कहा गया है—स्वकर्मणामनुष्ठानात् सम्यगात्मनिदर्शनात्। वेदान्तानां परिज्ञानाद् गृहस्थोऽपि विमुच्यते (३५७ अपरार्कटीकाधृत ११।८५ वचन गृहस्थोऽपि हि मुच्यते–मुद्रित पाठ)।

यह भी सोचना चाहिए कि भिक्षु द्वारा अध्येतव्य सूत्र' इस अर्थ में 'भिक्षुसूत्र' शब्द व्याकरणानुसार निष्पन्न होता है या नहीं। ऐसे ग्रंथ हैं, जो केवल द्विज या ब्राह्मण द्वारा अध्येतव्य हैं पर इस प्रकार के ग्रंथो के नाम कभी भी द्विजपद घटित या ब्राह्मणपद-घटित नहीं देखे जाते अतः भिक्षु द्वारा अध्येतव्य सूत्र' इस अर्थ में भिक्षुसूत्र शब्द निपन्न नहीं होता। 'भिक्षुओं द्वारा बाहुल्येन अध्येतव्य' यह अर्थ भी नहीं हो सकता क्योंकि अध्ययनविधि तो वस्तुतः ब्रह्मचर्याश्रम से सम्बद्ध है चतुराश्रम में अध्ययनविधि सम्बन्धी एतादृश चर्चा का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता अतः इस प्रकार का काल्पनिक तर्क व्यर्थ है। कुछ कलाशास्त्र ऐसे हैं जो स्त्रियों द्वारा ही अध्येतव्य हैं पर इस कारण वे शास्त्र स्त्रीशास्त्र पदवाच्य नहीं हो जाते यह तात्पर्य है।

(क) पाणिनिस्मृत भिक्षुसूत्र कदापि ब्रह्मसूत्र नहीं हो सकता इस विषय में पाणिनि-व्याकरण का 'तद्विषयता-नियम सर्वबलिष्ठ प्रमाण है। यह नियम छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि (४।२।६६) सूत्र में सिद्ध है। यह तद्विषयता-नियम (अर्थात् प्रोक्तार्थक प्रत्यय के बाद अध्येतृ-वेदितृ प्रत्यय अवश्य ही प्रयुक्त

१—प्रव्रजिता भिक्षुः (गौ ध सू ३।११) भिक्षाबलिपरिश्रान्तः पश्चाद् भवति भिक्षुकः (वी ध०सू० ।१०।१९) ध्यानं शौचं तथा भिक्षा नित्यमेकान्तशीलता। भिक्षाश्चत्वारि कर्माणि पञ्चमो नोपपद्यते (दक्षस्मृति ७।१९)· भिक्षाटनं जपो ध्यान स्नानं शौच सुरार्चनम्। कर्तव्यानि षडेतानि यतिना (मेधातिथि वचन यतिधर्मसंग्रह पृ २७ में उद्धृत) कपालं वृक्षमूलानि कुचैलमसहायता। उपेक्षा सर्वभूतानामेतावद् भिक्षुलक्षणम् (शान्तिपर्व २४५।७ पद्मपु० ३।१४।३११) वायु ८।१८१ १८८ भी द्र०।

होगा) जिस प्रकार संहिता ब्राह्मणों में प्रयुक्त होता है, उसी प्रकार अन्ततः कल्पसूत्र, भिक्षुसूत्र एवं नटसूत्र में भी प्रयुक्त होता है—ऐसा व्याख्याकारगण कहते हैं।[1]

यहाँ यह विचारना चाहिए कि क्या यह तद्विषयता का नियम पाराशर्य प्रोक्त ब्रह्मसूत्र में लगता है? इस वेदान्तसूत्र के निर्देश में यह नियम कभी भी नहीं लगता, यह सत्य है। यदि पाराशर्य व्यासकृत ब्रह्मसूत्र में तद्विषयता का नियम प्रवर्तित होता तो व्यासकृत महाभारत (एवं पुराणादि) में भी यह नियम प्रवर्तित होता, पर ऐसा नहीं देखा जाता। अग्निना प्रोक्तम् आग्नेयम् (पुराणम्)—ऐसा प्रयोग होता है, यदि तद्विषयता का नियम लगता तो 'अग्निना प्रोक्तम् आग्नेयम्' ऐसा न होकर—'अग्निना प्रोक्तम् पुराणम् ये अधीयते ते' इस अर्थ में ही शब्द (आग्नेया) बनता (प्रोक्त प्रत्यय के बाद अध्येतृ-प्रत्यय जोड़ना आवश्यक हो जाता)। अतः यह मानना पड़ता है कि तद्विषयता नियम के अप्रवर्तन के कारण प्रचलित ब्रह्मसूत्र भिक्षुसूत्र पदवाच्य नहीं हो सकता। यदि अनतिप्राचीन किसी विद्वान् ने ब्रह्मसूत्र को भिक्षुसूत्र समझा है तो वह उनकी भूल ही है। हम यहाँ तक समझते हैं कि कृष्णद्वैपायन व्यासके काल में तद्विषयता का नियम प्रायेण लुप्त हो गया था।

भिक्षुसूत्र का सम्भाव्य अर्थ—पूर्वोक्त दोषों के कारण तथा अर्थ-सारल्य के कारण हम समझते हैं कि धर्मसूत्र की तरह भिक्षुचर्या-विषयक कोई भी सूत्रग्रंथ[2] भिक्षुसूत्र पदवाच्य हो सकता है। वैसा ग्रन्थ पाणिनि से प्राचीनकाल में (वेदव्यास से भी अत्यन्त प्राचीनकाल में) देवल-हारीत पाराशर्य आदि अनेक

१—कथ पाराशरिणो भिक्षव शैलालिनो नटा, अत्रापि तद्विषयता चेत्यनुवर्तिष्यते (भाष्य ४।२।६६), तस्मात् प्रोक्तप्रकरणे अध्येतृवेदितृग्रहण पाराशर्यशिलालिभ्यामित्यादौ अनुवर्त्यमिति भाष्यकारो मन्यते (प्रदीप)। सायण कहते हैं—पाराशर्यो गर्गादित्वादपत्ये यञ्। पाराशर्येण प्रोक्त भिक्षुसूत्रमधीयाना पाराशरिणो भिक्षव, पाराशर्यशिलालिभ्या भिक्षुनटसूत्रयोरिति प्रोक्ते णिनौ तदन्तात् छन्दोब्राह्मणानि इत्यध्येतृवेदित्रोरण प्रोक्ताल् लुगिति लुक्। सूत्रस्यापि छन्दस्त्व तत्रेष्यते। णिनावल्लोपयलोपौ (धातुवृत्ति क्र्यादि १६)।

२—सूत्र सदैव पाणिनिसूत्र की तरह अतिलघुकलेवर युक्त ही हो, यह आवश्यक नहीं है। अर्थस्य सूचनात् सूत्रम् (अर्थशास्त्र-जयमङ्गला)। देवबोध सभापर्व टीका में सूत्र = सक्षिप्तोपदेश कहते हैं।

अवश्य मिलते। धर्मसूत्रों में (एवं प्राचीन स्मृतियों में) भिक्षुपरक चर्चा की है, इसके लिये यहाँ कुछ विशिष्ट वाक्य उदाहृत किए जा रहे हैं।[1]

(घ) कुछ लोग कहते हैं कि 'भिक्षु द्वारा अध्येतव्य सूत्र' इस अर्थ में भिक्षुसूत्र शब्द निष्पन्न होता है और प्रचलित ब्रह्मसूत्र चूंकि भिक्षु द्वारा अध्येतव्य है अतः यह भिक्षुसूत्र ही है। पर यह कहना असंगत है यदि यह ब्रह्मसूत्र केवल भिक्षु द्वारा अध्येतव्य होता तो वाचस्पति आदि शास्त्रवित् गृहियों का वेदान्त ग्रन्थ प्रणयन असत् कर्म माना जाता। किंच गृहस्थ भी वेदान्ताध्ययन के अधिकारी हैं यह योगियाज्ञवल्क्य में कहा गया है—स्वकर्मणामनुष्ठानात् सम्यगात्मनिदर्शनात्। वेदान्तानां परिज्ञानाद् गृहस्थोऽपि विमुच्यते (१६७ अपरार्कटीकाधृत ११।४५ वचन गृहस्थोऽपि हि मुच्यते—मुद्रित पाठ)।

यह भी सोचना चाहिए कि 'भिक्षु द्वारा अध्येतव्य सूत्र' इस अर्थ में 'भिक्षुसूत्र' शब्द व्याकरणानुसार निष्पन्न होता है या नहीं। ऐसे ग्रंथ हैं, जो केवल द्विज या ब्राह्मण द्वारा अध्येतव्य हैं पर इस प्रकार के ग्रन्थों के नाम कभी भी द्विजपद घटित या ब्राह्मणपद-घटित नहीं देखे जाते अतः 'भिक्षु द्वारा अध्येतव्य सूत्र' इस अर्थ में भिक्षुसूत्र शब्द निपन्न नहीं होता। 'भिक्षुओं द्वारा बाहुल्येन अध्येतव्य' यह अर्थ भी नहीं हो सकता क्योंकि अध्ययनविधि तो वस्तुतः ब्रह्मचर्याश्रम से सम्बद्ध है चतुर्थाश्रम में अध्ययनविधि सम्बन्धी एतादृश चर्चा का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता अतः इस प्रकार का काल्पनिक तर्क अनर्थक है। कुछ कर्मशास्त्र ऐसे हैं जो स्त्रियों द्वारा ही अध्येतव्य हैं पर इस कारण वे शास्त्र स्त्रीशास्त्र पदवाच्य नहीं हो जाते यह ज्ञातव्य है।

(ङ) पाणिनिस्मृत भिक्षुसूत्र कदापि ब्रह्मसूत्र नहीं हो सकता इस विषय में पाणिनि-व्याकरण का तद्विषयता-नियम सर्वबलिष्ठ प्रमाण है। यह नियम छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि (४।२।६६) सूत्र से सिद्ध है। यह तद्विषयता-नियम (अर्थात् प्रोक्तार्थक प्रत्यय के बाद अध्येतृ-वेदितृ प्रत्यय अवश्य ही प्रयुक्त

१—अनिचयो भिक्षुः (गौ० ध०सू० ३।११) भिक्षार्थमभिपरिभ्रमणेन ग्रामान् अचरति भिक्षुकः बौ० ध० सू० ।१०।१६) ध्यानं शौचं तथा भिक्षा नित्यमेकान्तशीलता। भिक्षाचत्वारि कर्माणि पञ्चमो नोपपद्यते (दक्षस्मृति ७।३१) भिक्षाटनं जपो ध्यानं स्नानं शौचं सुरार्चनम्। कर्तव्यानि षडेतानि यतिना (मेधातिथि वचन यतिधर्मसंग्रह पृ० २७ में उद्धृत) कपालं वृक्षमूलानि कुचैलमसहायता। उपेक्षा सर्वभूतानामेतावद् भिक्षुलक्षणम् (शान्तिपर्व २०५।७ पद्मपु० ५।१५।३६१) वायु० ८।१८६ १८८ भी द्र०।

होगा) जिस प्रकार संहिता ब्राह्मणो मे प्रयुक्त होता है, उसी प्रकार अगत: कल्पसूत्र, भिक्षुसूत्र एव नटसूत्र मे भी प्रयुक्त होता है—ऐसा व्याख्याकारगण कहते हैं ।[1]

यहाँ यह विचारना चाहिए कि क्या यह तद्विषयता का नियम पाराशर्य-प्रोक्त ब्रह्मसूत्र मे लगता है ? इस वेदान्तसूत्र के निर्देश मे यह नियम कभी भी नही लगता, यह सत्य है । यदि पाराशर्य व्यासकृत ब्रह्मसूत्र मे तद्विषयता का नियम प्रवर्तित होता तो व्यासकृत महाभारत (एवं पुराणादि) मे भी यह नियम प्रवर्तित होता, पर ऐसा नही देखा जाता । अग्निना प्रोक्तम् आग्नेयम् (पुराणम्)—ऐसा प्रयोग होता है, यदि तद्विषयता का नियम लगता तो 'अग्निना प्रोक्तम् आग्नेयम्' ऐसा न होकर—'अग्निना प्रोक्तम् पुराणम् ये अधीयते ते' इस अर्थ मे ही शब्द (आग्नेया.) बनता (प्रोक्त प्रत्यय के बाद अध्येतृ-प्रत्यय जोडना आवश्यक हो जाता) । अत यह मानना पडता है कि तद्विषयता नियम के अप्रवर्तन के कारण प्रचलित ब्रह्मसूत्र भिक्षुसूत्र पदवाच्य नहीं हो सकता । यदि अनतिप्राचीन किसी विद्वान् ने ब्रह्मसूत्र को भिक्षसूत्र समझा है तो वह उनकी भूल ही है । हम यहाँ तक समझते हैं कि कृष्णद्वैपायन व्यासके काल मे तद्विषयता का नियम प्रायेण लुप्त हो गया था ।

भिक्षुसूत्र का सभाव्य अर्थ—पूर्वोक्त दोषो के कारण तथा अर्थ-सारल्य के कारण हम समझते हैं कि धर्मसूत्र की तरह भिक्षुचर्या-विषयक कोई भी सूत्रग्रथ[2] भिक्षुसूत्र पदवाच्य हो सकता है । वैसा ग्रन्थ पाणिनि से प्राचीनकाल मे (वेदव्यास से भी अत्यन्त प्राचीनकाल में) देवल-हारीत पाराशर्य आदि अनेक

१—कथ पाराशरिणो भिक्षव शैलालिनो नटा , अत्रापि तद्विषयता चेत्य-नुवर्तिष्यते (भाष्य ४।२।६६), तस्मात् प्रोक्तप्रकरणे अध्येतृवेदितृग्रहण पाराशर्य-शिलालिभ्यामित्यादौ अनुवर्त्यमिति भाष्यकारो मन्यते (प्रदीप) । सायण कहते हैं—पाराशर्यो गर्गादित्वादपत्ये यञ् । पाराशर्येण प्रोक्त भिक्षसूत्रमधीयाना·

आचार्यों द्वारा प्रणीत हुआ था।[1] इन प्राचीनतर भिक्षुसूत्रों में पाराशर्यप्रोक्त भिक्षुसूत्र प्राचीनतम था क्योंकि इसके नामकरण में तद्विषयता का नियम प्रवर्तित था। गौतमादि प्रणीत धर्मसूत्रों में भिक्षुचर्याविषयक वचन (सूत्र) उपलब्ध होते हैं, अतः ऐसा अनुमान करना संगत हो होगा कि केवल भिक्षुचर्या को लेकर भी सूत्रग्रंथों की रचना की जा सकती है। पाणिनिस्मृत पाराशर्य और कर्मन्द नामक ऋषियोंने ऐसे दो सूत्रग्रन्थों का प्रवचन किया था (४।३।११०–१११) जिनमें प्रतिप्राप्रोक्तत्वनिबन्धन तद्विषयता का नियम लगता था।

पाराशर्य और भिक्षुसूत्र—पाराशर्यकृत कोई भिक्षुसूत्र था यह प्रबलित सामग्री से भी अनुमित होता है। भिक्षुचर्या के प्रसंग में निबन्ध-ग्रंथों में पराशर के वचन उद्धृत हुए हैं।[2] 'पराशर' पाठ यदि भ्रष्ट न हो तो मानना होगा कि पराशरकृत वचनों के आधार पर किसी तद्वंशसम्भव पाराशर्य ने भिक्षुसूत्र की रचना की थी अथवा यह भी हो सकता है कि पाराशर्याख्य मतों का लेकर किसी पराशर ने कोई ग्रंथ रचा था। चाहे जो भी हो इस उद्धरणों से 'किसी पाराशर्य का भिक्षुसूत्र के साथ सम्बन्ध था' यह अनुमित होता है।

पाराशर्य का परिचय—यह पाराशर्य कृष्णद्वैपायन नहीं हो सकते यह पहले कहा गया है। संस्कृत साहित्य में कई पाराशर्य स्मृत हुए हैं (पाराशर्य गोत्र-प्रत्ययान्त है)। लिङ्गपुराण के २४ वें अध्याय में योगाचार्यों की गणना में विभिन्न परिवर्तों में दो पृथक् पाराशर्य के नाम लिए गए हैं (४४, ११७ श्लोक द्र०)। वृद्ध पराशर का स्मरण बुद्धचरित काव्य में सांख्याचार्यों के प्रसङ्ग में मिलता (१२।६७) है। सांख्याचार्य पञ्चशिख पाराशर्य-सगोत्र थे (शान्तिपर्व ३२।२४) यह पाराशर्य कृष्णद्वैपायन नहीं हो सकते क्योंकि पञ्चशिख

१—स भिक्षुरनुरागात्मोक्षप्रधानः क्वचामी मुनिरास मतिधर्मः (कृत्यकल्पतरु-मोक्षकाण्ड पृ ५ में उद्धृत देवलवचन) भिक्षोश्च हालयेच्छ्प्रापि वचनान्तरं हारीत (पृ ४२धृत हारीतवचन)। यतिधर्मसंग्रह में भिक्षुविषयक देवलादि के वचन उद्धृत हुए हैं (पृ ७८,८२ आदि)।

२—'पराशर'—सब परमहंसा नाम एकवस्त्रधरा " पश्यन्त इति" (यतिधर्मसंग्रह पृ २७) पराशर—ग्रामैकरात्रवासिनो नगरतीर्थावसथेषु पञ्चरात्रवासिनः —चातुर्वर्ण्यं भैक्ष्यं चरन्त आत्मत्वेनावतिष्ठते (तत्रैव पृ ७७) बृहत्पराशरस्मृतिगत यतिधर्मपरक प्रकरण द्रष्टव्य है (१२।१४४)।

आदिविद्वान् कपिल के प्रशिष्य हैं। एक पाराशर्य कौथुम सामशाखाकारो मे अन्यतम है, यह वायुपुराण ६१।४९ मे कहा गया है। अत यह नही कहा जा सकता कि 'पाराशर्य' कोई एक ही व्यक्ति हो सकता है, या जो पाराशर्यनामक है वही महाभारतकृद् द्वैपायन व्यास है।

हमारी दृष्टि मे इसकी पूरी सम्भावना है कि सामशाखाकार पाराशर्य पाणिनिस्मृत भिक्षुसूत्र का प्रवक्ता है, तद्विषयतानियम ही इस अनुमान मे बलिष्ठ हेतु है, यद्यपि अभी यह अनुमान बहुत सुदृढ नही है। जिस समय तद्विषयतानियम प्रचलित था, उस काल का कोई पाराशर्य इसका प्रवक्ता है, इतना ही कहा जा सकता है।

तद्विषयता-नियम-काल मे भिक्षुचर्या-सम्बन्धी ग्रन्थो का होना असम्भव नही है, क्योकि वैदिक ग्रन्थो मे भिक्षुचर्याविषयक वचन उपलब्ध होते है[1]। वैदिक वाङ्मय के साथ पराशर का नाम सुप्रसिद्ध है (पराशर और पाराशर्य कुलसम्बद्ध हैं)। अरुणपराशर ब्राह्मण प्रसिद्ध है (तन्त्रवार्तिक पृ० १६४ चौखम्बा०)। यह ब्राह्मण कल्परूप है। पाराशरकल्पिकशब्द महाभाष्य ४।२।६० मे है, अतः पाराशर्यकृत ग्रन्थ मे तद्विषयतानियम का प्रवर्तन होना सङ्गत ही है।

भिक्षुसूत्र का अर्थ सांख्यसूत्र नहीं है—पाराशर्य-सगोत्र पञ्चशिख का सूत्रग्रन्थ भिक्षुसूत्र है, यह मत युक्तिसङ्गत प्रतीत नही होता। पञ्चशिख के अनेक वचन व्यासभाष्य और अन्यान्य ग्रन्थो मे उद्धृत हैं, पर उनमे एक भी वचन भिक्षुपरक नही है, यद्यपि पञ्चशिख के विवरण मे उनको 'सन्यासी' रूप में कहा गया है—सर्वसन्यासधर्माणां तत्त्वज्ञानविनिश्चये .... (शान्ति० २१८।७)। यह भी जानना चाहिए कि जिस प्रकार नटविशेष द्वारा रचित होने मात्र से कोई ग्रन्थ नटसूत्र नामक नही हो जाता, इसी प्रकार भिक्षुविशेष द्वारा रचित होने के कारण किसी ग्रन्थ का भिक्षुसूत्र नाम नही पड जाता, अत यही मानना सङ्गत है कि अत्यन्त प्राचीनकाल मे (जिस समय ब्राह्मण

१—मैत्रायणी श्रुतिः "त्रीन् वैणवान् दण्डान् भैक्षमश्नीयात्" इति। काठकब्राह्मणम्—"चतुर्षु वर्णेषु भैक्षचर्यां चरेत्"। आरुणिश्रुति —"यतयो भिक्षार्थं ग्राम प्रविशन्ति"। मैत्रायणीश्रुति —"अथान्य परिव्राड् भिक्षार्थी ग्राम प्रविशेत्" (यतिधर्मसग्रह पृ० ७६ मे उद्धृत वचन)। चतुरो मासान् वार्षिकान् ग्रामे नगरे वापि वसेत् (पृ० ९४)। अथ भिक्षाचर्यं चरन्ति (बृहदारण्यक ३।५।१)।

प्रव्यादि का प्रवचन किया जा रहा था) पाराशर्य नामक किसी ऋषि ने (उनका व्यक्तिनाम क्या था यह ज्ञात नहीं है) भिक्षुचर्याविषयक जिस सूत्रमय ग्रन्थ का प्रवचन किया वही पाणिनिस्मृत भिक्षुसूत्र है। श्री युधिष्ठिर मीमांसक का भी यही मत है (संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास भाग १ पृ० २५२) । महामहोपाध्याय काणे भी भिक्षु सम्बन्धी सूत्र = भिक्षुसूत्र समझते हैं[1]।

इस लेख में इस विषय पर कोई चर्चा नहीं की गई है कि पाराशर्य ब्रह्मसूत्र का कर्ता है या नहीं। पाराशर्य बादरायण को इस सूत्र का प्रणेता माना जाता है यद्यपि आधुनिक विद्वानों ने इस पर संशय व्यक्त किया है। सामविधान ब्राह्मण में पाराशर्य और बादरायण को पृथक व्यक्ति माना गया है (३ । ९ । ३) । भिक्षुसूत्र का तात्पर्य ही इस निबन्ध में विवेचित हुआ है।

१—Panini knew Bhiksusutras composed by पाराशर्य and कर्मन्द —— & As sutra works about भिक्षु were composed before Panini— (H Dh S Vol II, p. 528)

द्वादश परिच्छेद

पाणिनि द्वारा स्मृत 'शिशुक्रन्दीय' ग्रन्थ का स्वरूप

शिशुक्रन्दशब्द का प्रचलित अर्थ—'शिशुक्रन्दयमसभद्वन्द्वेन्द्रजननादिभ्यश्छः' (४।३।८८) इस पाणिनीयसूत्र से शिशुक्रन्द शब्द से 'छ' प्रत्यय करने पर 'शिशुक्रन्दीय' शब्द सिद्ध होता है। इस सूत्र मे 'अधिकृत्य कृते ग्रन्थे' (४।३।८७) सूत्र का अधिकार आता है, इसलिये व्याख्याकारो ने 'शिशुक्रन्दन का अधिकार कर लिखे ग्रन्थ' को 'शिशुक्रन्दीय' कहा है।

इस शिशुक्रन्द का अर्थ क्या है ? शिशुक्रन्दीय ग्रन्थ कोई शास्त्रविशेष है या काव्यविशेष ? कई आधुनिक गवेषको का मत है कि शिशुक्रन्दीय ग्रन्थ काव्य-विशेष है [१]। क्रन्दन का स्पष्टीकरण करते हुए वे अनुमान करते हैं कि शिशु कृष्ण के जन्म समय के क्रन्दन को लेकर इस ग्रन्थ का प्रणयन किया गया था [२]।

प्रचलित अर्थ की असमीचीनता—हमारी दृष्टि मे यह अर्थ पूर्णतः असमीचीन है, क्योंकि व्याख्याताओ के मत से 'अधिकृत्य कृते ग्रन्थे' सूत्र के साथ दृश्यकाव्य और श्रव्यकाव्य का ही कोई निश्चित सम्बन्ध नही है। जिस किसी विषय को लेकर (अधिकृत्य) जिस ग्रन्थ का प्रणयन किया जाता है (चाहे वह काव्यरूप हो या न हो) वही इस सूत्र मे इष्ट है। इसीलिये 'ज्योति को लेकर लिखा गया ग्रन्थ' [३] इस अर्थ मे वैयाकरण इसी सूत्र से

१—As to Kavyas Panini mentions शिशुक्रन्दीय as actual works (India as Known to Panini, p 339) Hindu Civilization ग्रन्थ मे राधाकुमुद मुखोपाध्याय भी यही मत व्यक्त करते हैं (पृ० १२२)।

२—"शिशुक्रन्द = बच्चो का रोना (सभवतः इसमे कृष्ण के जन्म समय रोने और पहरेदारो के जागने का आख्यान हो" (सस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास भाग १, पृ० २५७)। "The name शिशुक्रन्दीय suggests that the poem related to the birth of कृष्ण, literally a work dealt with the crying of child (India as Known to Panini p 340)

३—ज्योतिष शब्द की साधुता के विषय मे अन्यत्र विचार किया गया है।

'ज्योतिष' शब्द को सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं। ४।३।८७ सूत्र का सम्बन्ध आख्यान और आख्यायिका से भी है (द्र० भाष्य-प्रदीप-उद्योत)। इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि इस सूत्र द्वारा सिद्ध ग्रन्थ नियमानुसार काव्य-ग्रन्थ ही हो [१]। यदि ४।३।८७ और ८८ इन दोनों सूत्रों का सम्बन्ध काव्य और नाटक से ही हो तो 'द्वन्द्वे देवासुरादिभ्यः प्रतिषेधः' इस वार्तिक के उदाहरण में 'गोणमुख्य' (द्र० काशिका) पद देना निरर्थक होगा क्योंकि किसी काव्य नाटक आख्यान या आख्यायिका का नाम गोणमुख्य नहीं हो सकता। ४।३।८७ सूत्र के उदाहरण में काशिका ने 'वाक्यपदीय' पद को ग्रहण किया है और वाक्यपदीय नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ काव्यादि के अन्तर्गत नहीं हो सकता। इसलिये समझना चाहिए कि जहाँ किसी निश्चित विषय को लेकर ग्रन्थ का प्रणयन किया जाता है वहीं इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि 'शिशुक्रन्दीय' नाम किसी काव्य या नाटक का ही हो सकता है—ऐसा नहीं कहा जा सकता।

शिशुक्रन्द का संभाव्य अर्थ—अब 'शिशुक्रन्दीय' के अर्थ पर विचार किया जा रहा है। काशिका आदि के व्याख्याकार 'बच्चों का रोना' यह अर्थ बताते हैं। नारायण बच्चों के रोने के विषय से सम्बन्धित ग्रन्थ को शिशुक्रन्दीय कहता है (प्रक्रियासर्वस्व)। पेरुसूरि भी यही कहते हैं— 'शिशूनां क्रन्दने प्रोक्तः शिशुक्रन्दो बभ्रा ततः'। अधिकृत्य कृते ग्रन्थे शिशुक्रन्दीय उच्यते॥ (औणादिक-पदार्णव १।१६६)। शिशवो बालास्तेषां क्रन्दनमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः शिशुक्रन्दीयो बालपुस्तकः (गणरत्नमहोदधि ५।३२४)। सर्वत्र व्याख्याओं में बहुवचनान्त पद (शिशूनाम्) है। अर्वाचीन विद्वान् शिशुपद एकवचनान्त मानते हैं और शिशुपद से कृष्ण को समझते हैं—यह पहले हम कह चुके हैं। कृष्ण का जन्म कालीन क्रन्दन कुछ इतना विस्मयकारक नहीं है कि उसको लेकर कोई ग्रन्थ लिखने लग जाए।

१—यह तथ्य आधुनिक विद्वानों को भी ज्ञात है। म० म० पाण्डुरंग वामन काणे महोदय कहते हैं कि पाणि० ४।३।८७ और इसके बाद के सूत्रों में ऐसे लौकिक ग्रन्थों के उल्लेख हैं, जो काव्य भी हो सकते हैं (न कि अवश्यमेव काव्य हैं)— The Sutra of Panini (अधिकृत्य कृते ग्रन्थे ४।३।८७) and the following Sutras indicate the existence of secular works before Panini's day which may have been poetic (History of Sanskrit Poetics, p. 320)

अध्ययन से विदित होता है कि शिशुओ के रोदन को लेकर (अर्थात् बाल-रोग विषय पर) जो ग्रन्थ-विशेप लिखा जाता था वही शिशुक्रन्दीय' पद से अभिहित होता था। इसीलिये व्याख्याताओ का 'शिशूनाम्' इस वहुवचनान्त पद का प्रयोग सार्थक ही है। भाषावृत्ति में पुरुषोत्तमदेव स्पष्टरूप से कहते हैं—"शिशुक्रन्दरोगमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः शिशुक्रन्दीय"।

शिशुक्रन्दीय शास्त्र का परिचय—वस्तुत: आयुर्वेद मे 'शिशुक्रन्दीय' की सत्ता प्रसिद्ध है। वच्चो का रोना रोग का एक मूलभूत विशिष्ट चिह्न है। वाल-रोगो की चर्चा कौमारभृत्य नामक अङ्ग मे की गई है। भगवान् सुश्रुत कहते हैं—"कौमारभृत्यं नाम कुमाराणा धात्रीक्षीरदोषसशोधनार्थं दुष्टस्तन्यग्रहसमुत्थाना च व्याधीनामुपशमार्थमिति" (सूत्रस्थान १।८)। दूषित दुग्धादि के पान से उत्पन्न रोग से पीडित शिशु वहुधा रोता-चिल्लाता रहता है। आयुर्वेद ग्रथो में कौमारभृत्य के अन्तर्गत वालरोगो की चर्चा मे 'क्रन्दन' शब्द का वहुधा प्रयोग मिलता है। कही रोदन शब्द भी है (सुश्रुत–उत्तर० २७।४)। अग्निपुराण के 'वालतन्त्र' विवरण में (२९९ अ०) शिशु और क्रन्दन शब्दो का वहुधा प्रयोग लक्षणीय है (२९९।६,११,१३,१७ आदि)। कौमारभृत्य के विचार मे 'शिशु' शब्द का प्रयोगवाहुल्य देखा जाता है। इस विषय पर सुश्रुत का उत्तर तन्त्र देखना चाहिए (२७।७,२७।१२,२७।१५,२९।२,३१।२,३३।२,३६।२, इन स्थलो मे 'शिशु' शब्द प्रयुक्त हुआ है)।

इसमे यह स्पष्ट हो जाता है कि सूत्रगत शिशुक्रन्द शब्द से 'वच्चों का रोग-जनित रोना' ही इष्ट है। आयुर्वेद के विद्वानो ने इसी रोने के विषय पर जो ग्रन्थ लिखा, वही 'शिशुक्रन्दीय' कहलाता था। जिस प्रकार आजकल काश्यपसहिता (कौमारभृत्य-सम्बद्ध) पायी जाती है, उसी प्रकार अन्य वाल-रोग-विषयक ग्रन्थ थे, जिनमे शिशुक्रन्दन के विषय पर विशेष विचार किया गया था, ऐसा समझना चाहिए। पाणिनि से पूर्व कौन-कौन 'शिशुक्रन्दीय' ग्रन्थ थे, इसकी खोज की जानी चाहिए।

त्रयोदश परिच्छेद

पाणिनीय 'यवनानी' शब्द के अर्थ के विषय में एक भ्रम

पाणिनि के 'इन्द्रवरुण——यवयवनमातुलाचार्याणामानुक्' (अष्टाध्यायी ४।१।४९) सूत्र से ङीप् प्रत्यय (और आनुक् आगम) होकर स्त्रीलिंग में 'यवनानी' शब्द बनता है। इसमें कात्यायनकृत 'यवनाल्लिप्याम् वार्तिक' की प्रवृत्ति है जिससे यवनानी का अर्थ होता है—यवनों की लिपि (यवनानां लिपिः)।

इस 'यवनानी' शब्द पर आधुनिक ऐतिहासिक और भाषाविदों ने पर्याप्त विचार किया है। यवन शब्द से सूत्रकार का अभिप्राय क्या है—यह इस निबन्ध का विचार्य विषय नहीं है। यह जो कहा जाता है कि (यवनाल्लिप्याम् इस वार्तिक के विषय में) पाणिनि को 'लिपि' रूप अर्थ ज्ञात नहीं था और बाद में यवनानी शब्द का लिपि-विशेष रूप अर्थ हुआ है, पहले यवनानी का अर्थ 'यवन की स्त्री' था[2]—इस मत की असंगति यहाँ दिखाई जाएगी। इस वार्तिक का आश्रय कर कुछ विद्वान् पाणिनि-कात्यायन-काल के अन्तर की सीमा पर भी निर्णय करने की चेष्टा करते हैं—इस दृष्टि की अयुक्तता भी इस लेख के द्वारा सिद्ध होगी। निश्चित ही इन दोनों आचार्यों में कालगत पौर्वापर्य है जो सर्वथा स्वाभाविक है, पर इस तथ्य के निर्धारण में यह वार्तिक अप्रयोज्य है।

१—वार्तिक के स्वरूपभेद आदि से संबन्धित एक महत्त्वपूर्ण रचना 'अभिनव भारती' शोध पत्रिका (३।१) में द्रष्टव्य है।

2—In this particular case Panini's reference must certainly belong to the earlier period compared with Katyayana's knowledge about the Yavanas that of Panini is very light. Panini did not know that the Yavanas had a script of their own (comp. yavanal lipyam Katyayana Vartika 3 to IV 1 49) or at least in his time there was no correct Sanskrit word for that script. (Systems of Sanskrit Grammar p. 16)

हमारा पक्ष यह है कि यवनानी का लिपि-विशेष रूप अर्थ पाणिनिसमत (सुतरा पाणिनि ज्ञात) भी है, यह अर्थ परवर्ती काल की उपज नहीं है, और न ही यवन-स्त्री रूप अर्थ विकसित होकर यह नया अर्थ बना है। यवन स्त्री के लिये 'यवनी' शब्द पृथक् है जो सर्वथा पाणिनिसमत है। चूंकि आधुनिक गवेषक शास्त्रीय दृष्टिकोण को छोडकर शास्त्रीय शब्दार्थसबन्ध को जानने की चेष्टा करते हैं, अत उनमे इस प्रकार की भ्रान्त धारणाओ की उत्पत्ति होती है। धर्मशास्त्रीय निबन्ध ग्रन्थो के प्रणेताओ की दृष्टि मे जिस प्रकार वैज्ञानिक मतो की समीक्षा करना भ्रमपूर्ण है, उसी प्रकार शब्दशास्त्रीय निश्चित दृष्टि का न जानकर व्याकरण-गत शब्दार्थस्वरूप को जानने में भ्रम होता है, इस भ्रम का दूरीकरण अवश्य कर्तव्य है।[1]

हम समझते हैं कि आधुनिक विद्वान् व्याकरण के स्त्रीलिङ्ग को लौकिक स्त्री समझकर ही पूर्वोक्त मत का प्रतिपादन करते हैं। व्याकरण के स्त्रीत्व मे लौकिक स्त्रीत्व का सर्वथा ऐक्य नहीं है। पाणिनि जब यवन शब्द के स्त्रीलिङ्ग मे 'यवनानी' कहते हैं, तब महसा यह प्रतीत हो सकता है कि वे यवन के 'लौकिक स्त्री' रूप अर्थ को ही लक्ष्य कर रहे हैं, पर यह धारणा भ्रान्त है। व्याकरणशास्त्रीय दृष्टि से यह जानना चाहिए कि लिपि रूप उपाधि की विवक्षा ही यवन शब्द का पूर्वोक्त स्त्रीलिङ्ग रूप बनता है, अन्यथा यवन शब्द का स्त्रीत्व होगा ही नही। पूर्वाचार्यों ने स्पष्टत ऐसा ही कहा है[2] और यह दृष्टि व्याकरण

१—व्याकरण का मुख्य विषय अर्थ-निर्देश नही है, यह महाभाष्य (२।१।१) से भी ज्ञात होता है। प्रत्येक शब्द अर्थवान् है, और कहीं-कहीं अनेकार्थक शब्दो के किसी एक अर्थ में ही शब्दशास्त्रीय विधि प्रवर्तित होती है, यद्यपि कण्ठत उस अर्थ का उल्लेख व्याकरणकार नहीं करते (क्वचित् इस नियम का अपवाद भी है), जिससे व्याकरणशास्त्रोक्त शब्दो के अर्थ-निर्णय मे सन्देह रहता है, जो व्याख्यान से निराकृत होता है। जहाँ व्याख्यान से निराकृत होने की सभावना नही है, वहाँ 'प्रयोग' देखकर ही अर्थनिर्णय करना होगा, क्योकि व्याकरण वस्तुत प्रयोगमूलक शास्त्र है (प्रदीप ८।१।८७)।

२—४।१।४९ सूत्र के प्रथम वार्तिक—'हिमारण्ययोर्महत्वे' की व्याख्या मे कैयट कहते हैं—'महत्त्वयोगे हिमारण्ययोः स्त्रीत्वम्', यह युक्ति 'यवाद् दोषे' और 'यवनाल् लिप्याम्' इन दो वार्तिको पर भी चरितार्थ होगी। इस स्थल की व्याख्या मे काशिका के प्राचीनतम व्याख्याकार जिनेन्द्र बुद्धि कहते हैं—'महत्त्वेन

में सर्वत्र मान्य है यह नहीं कि पाणिनि यवनानी का अर्थ 'यवन-स्त्री' समझते हैं और कात्यायन 'यवनों की लिपि'। किस उपाधि में यहाँ स्त्रीत्व का अनुशासन पाणिनि कर रहे हैं उसको दिखाने (अल्पबुद्धि शिष्यों के लिये) के लिये ही वार्तिककार ने 'यवनाल् लिप्याम्' ऐसा स्पष्ट कह दिया है। यदि वार्तिककार ऐसा न कहते तो अल्पबुद्धि शिष्यों में यह भ्रम होता कि जिस प्रकार ४।१।४९ सूत्रगत इन्द्र वरुण आदि शब्दों से उत्पन्न इन्द्राणी वरुणानी आदि शब्द पुंयोग के अर्थ में हो रहे हैं उसी प्रकार यहाँ भी पुंयोग में ही यवन से यवनानी शब्द होगा। ऐसा भ्रम न हो इसलिये जिस उपाधि में यवन शब्द का स्त्रीत्व होता है उस लिपि रूप उपाधि को कह दिया गया है।

यह सोचना पूर्णतः भ्रान्त है कि पाणिनि के काल में यवनानी का अर्थ 'यवन-स्त्री' था। जहाँ भी यवनानी शब्द है वहाँ उसका अर्थ लिपिविशेष ही है (सब काल में)। यवनी शब्द पुंयोग में या जाति अर्थ में स्वतन्त्र रूप से बनता है, जिस प्रकार ब्राह्मण-जातीया की ब्राह्मणी उसी प्रकार यवन-जातीया की यवनी। इस अर्थ में कालिदास का 'यवनीमुखपद्मानाम्'—प्रयोग सिद्ध होता है।

इसी प्रकार इस सूत्र से (और 'हिमारण्ययोर्महत्त्वे' इस वार्तिक के साथ) जो अरण्यानी शब्द बनता है उसके विषय में भी यह सोचना पूर्णतः भ्रान्त है कि पाणिनि के समय अरण्यानी का अर्थ 'अरण्य की पत्नी' था और कात्यायन के समय 'महत् अरण्य' रूप नया अर्थ विकसित हुआ।[1] वस्तुतः महत्त्व उपाधि में ही अरण्य का स्त्रीत्व होता है, अन्यथा यह शब्द स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त होता ही नहीं। निरुक्तकार यास्क जब अरण्यानी का अर्थ 'अरण्यस्य पत्नी' कहते हैं (निरुक्त ९।२१) तब भी पाणिनि की दृष्टि बाधित नहीं होती यह शास्त्रीय दृष्टि से पूर्वापर-सम्बन्ध को देखने से स्पष्ट होता है।

शब्दार्थ कदापि परिवर्तित नहीं होता यह हम नहीं कह सकते पर उपर्युक्त उदाहरणों में अर्थ में परिवर्तन हुआ है, ऐसा शास्त्रीय दृष्टि से कदापि नहीं कहा

युक्तम् हिमान्य' स्त्रीलिङ्गेन अभिसंबध्यन्ते यदा तदा स्त्रीत्वविवक्षायाम् अनयोः प्रत्ययागमयोर्विधानमित्येतदनेन अन्वाख्यायते न तु स्त्रीप्रत्ययस्यागमपवाद उच्यते। स्त्रीत्वे एव हि प्रत्ययो भवति।

१—बड़े प्राकृतिक वन को पाणिनि ने अरण्य (४।१।४९) और कात्यायन ने अरण्यानी कहा है (पाणिनिकालीन भारतवर्ष पृ २९) यह विचार भी उपर्युक्त शास्त्रीय दृष्टि के अनुसार सङ्गत नहीं बैठता।

जा सकता। अतएव अर्थ मे परिवर्तन मानकर जो पूर्वोक्त ऐतिहासिक निर्णय किया गया है, वह बाधित हो गया है, यह ज्ञातव्य है।

इस प्रसङ्ग मे यह ज्ञातव्य है कि व्याकरण मे अर्थ-निर्देश किस दृष्टि से किया जाता है, इस पर अभी आधुनिक विद्वानो का ध्यान आकृष्ट नही हुआ है। अष्टाध्यायी मे शतश' ऐसे सूत्र हैं, जहाँ 'अमुक अर्थ मे अमुक प्रत्यय या समास या निपातन हो'—ऐसा कहा गया है, पर वह अर्थ कैसा है, यह सूत्रकार ने सूत्रो मे नही कहा, जो प्राचीन व्याख्यानो से जानना चाहिए। सूत्रदर्शित 'अर्थ' के विवरण मे टीकाकारो ने कही वाच्य, कही गम्य, कही विशेषण, कहीं उपाधि, कही उपपद, कही गम्यमान, कही प्रत्ययार्थान्वयी आदि शब्दो के प्रयोग किए हैं, जिनके अनुसार सूत्रप्रक्रियानिष्पन्न शब्दो का अर्थ यथार्थत' जाना जाता है। उपाधि, विशेषण आदि शब्दो का अर्थ यदि न जाना जाए तो अर्थनिर्देशो को देखकर ऐतिहासिक निर्णय करना भ्रामक ही होगा। पाणिनि ने कहा है—'तनुत्व अर्थ मे वत्स शब्द से ष्टरच् प्रत्यय होता है (५।३।९१), इससे 'वत्सतर' शब्द बनता है। जो यह नही जानता कि यहाँ तनुत्व •प्रवृत्तिनिमित्त का है या शरीर का, वह लौकिक दृष्टि के अनुसार 'शरीर की कृशता' अर्थ मे वत्सतर शब्द का प्रयोग करेगा और अपने को 'वैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययनकारी' समझेगा, शास्त्रत. यहाँ प्रवृत्ति-निमित्त का तनुत्व है, कृशता से इसका सम्बन्ध नही है। इन सूक्ष्म भेदो को न जानने के कारण शब्दार्थसम्बन्ध पर आश्रित ऐतिहासिक विचार अनर्थकारी होता है, जैसा कि हम गोल्डस्टूकर आदि के ग्रन्थो मे देखते हैं। लेखान्तर मे इस विषय पर सोदाहरण विवेचन प्रस्तुत किया जाएगा।

—•०•—

चतुर्थ परिच्छेद

पाणिनिसूत्र-ज्ञापित ऋग्वेदीय कठशाखा की सत्ता

अष्टाध्यायी की 'देवसुम्नयोर्यजुषि काठके' (७।४।३८) सूत्र की व्याख्या में हरदत्त ने पदमञ्जरी में कहा है कि ऋग्वेद की भी एक कठशाखा है (बह्वृचानामप्यस्ति कठशाखा[1])। यद्यपि सामान्यरूप से इस वाक्य में कोई असङ्गति प्रतीत नहीं होती तथापि यह एक विचार्य विषय अवश्य ही है क्योंकि वैदान्वेषक पं० भगवद्दत्तजी कहते हैं—'हमें इस बात की सत्यता में सन्देह है' (वैदिक वाङ्मय का इतिहास द्वि० सं० भाग १ पृ० २८९)। इस निबन्ध में ऋग्वेदीय कठशाखा की सम्भावना पर विचार प्रस्तुत किया जा रहा है।

यजु और काठक शब्दद्वय का अर्थ—पहले ही यह ज्ञातव्य है कि पाणिनि के (७।४।३८)। सूत्र में जो 'यजुषि काठके' पदद्वय है उनके तात्पर्य में संशय हो सकता है। यजु शब्द का मुख्य अर्थ एक मन्त्रविशेष है (ऋक्साम शब्द की तरह) यह पूर्वमीमांसा के मन्त्रलक्षणाधिकरण (२।१।३५-३७) से स्पष्टतः ज्ञात होता है। काठक शब्द का अर्थ 'कठानाम् आम्नायः' है[2] ऐसी स्थिति में सूत्र का यही अर्थ होना उचित प्रतीत होता है कि काठक (कठों के आम्नाय) में विद्यमान जो यजुर्मन्त्र उसमें यदि देव-सुम्न शब्द हैं, तो उनमें ७।४।३८ सूत्रीय कार्य हो।' यजुर्मन्त्र गद्य (पादहीन) ही होता है

१—विचार में सौविध्य के लिये इस सूत्र की सिद्धान्तकौमुदी का पाठ उद्धृत हो रहा है—'नह यजुःशब्दो न मन्त्रमात्रपरः किन्तु वेदोपलक्षकः तेन ऋग्वात्मकेऽपि मन्त्रे यजुर्वेदस्थे भवति किञ्च ऋग्वेदेऽपि भवति। स चेमन्नो यजुषि कठशाखायां इष्टः। यजुषीति किम्—देवान् जिगाति सुम्नयुः। बह्वृचानामप्यस्ति कठशाखा ततो भवति प्रत्युदाहरणम् इति हरदत्तः'। बृहच्छब्देन्दु में इस स्थल की स्पष्ट व्याख्या है—ननु देवान् जिगातीति प्रत्युदाहरणं मयुक्तम् यजुषि काठके इत्यस्यापि तथाभावात आह—बह्वृचानामपीति। तमेव हृत्समिति भावः। काठके इति किम्? यजुर्वेदेऽपि शाखान्तरे मा भूत—मत्र सुम्नयुरिदमस्ति।

२—कठ कलाप आदि चरणवाचक शब्द हैं (काशिका ४।२।४६)। इस शब्द से गोत्रचरणाद् वुञ् (४।३।१२६) सूत्र द्वारा वुञ् प्रत्यय विहित होता है—धर्म और आम्नाय इन दो अर्थों में (चरणाद् धर्माम्नाययोरिष्यते)। वुञ्

अत: इस अर्थ में पादहीन यजुर्मन्त्र ही उदाहरण के रूप में उल्लिखित होना चाहिए, पर काशिकादि में जो उदाहरण दिए गए हैं, (देवायन्तो हवामहे, देवायन्तो यजमानाय शर्म, सुम्नायन्तो हवामहे), वे पादबद्ध ऋङ्मन्त्र हैं। सब आचार्यों का जहाँ ऐकमत्य हो, वहाँ प्रवल प्रमाणान्तर के विना किसी व्याख्या को सदोष कहना असमीचीन है।

अष्टाध्यायीस्थ ऋक्-यजुष-शब्दो का तात्पर्य पहले ज्ञातव्य है। 'यजुषि' की तरह 'ऋचि' पद अष्टाध्यायी ६।३।१३३ मे है। नागेश ने यहाँ भी 'ऋग्वेदे इत्यर्थ.' कहा है, जिसका तात्पर्य ऋग्वेदीय मन्त्र-ब्राह्मणसमुदाय है। काशिकाकार यहाँ 'ऋचि विषये' यह अर्थ करते हैं, जिससे केवल ऋङ्मन्त्र विवक्षित होता है। उसी प्रकार ६।१।११७ मे भी 'यजुषि' पद है, जहाँ 'यजुषि विषये' अर्थ काशिका मे किया गया है। ७।४।३८ मे यजुष् के विषय मे काशिकाकार ने कुछ भी नही कहा है, पर ऋङ्मन्त्र (पादबद्ध) का उदाहरण दिया है।

काशिका मे प्रदत्त उदाहरणो से यह स्पष्ट होता है कि सूत्र मे जो 'यजुष्' पद है, उसका अर्थ यजुर्मन्त्र न होकर 'यजुर्वेद' है। भट्टोजिदीक्षितने 'यजुर्वेदस्थ' यही अर्थ दिखाया है, यह अर्थ नागेशभट्ट, सुबोधिनीकार जयकृष्ण आदि को भी अनुमत है। नागेश इसका अर्थ–'यजुर्वेदीय कठशाखा' करते हैं (शब्देन्दु०)। यजुर्वेद का अर्थ है—'मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद', केवल मन्त्र नही। इस विषय मे 'इह यजु:शब्दस्य वेदोपलक्षणत्वे सति ' यह चन्द्रकलाकार का वाक्य द्रष्टव्य है। अत: 'यजुषि काठके' का अर्थ होगा—यजुर्वेदीय कठशाखा मे। चूँकि कठशाखा यजुर्वेद में ही है, इसलिये 'यजुर्वेदीय' यह विशेषण व्यर्थ हो जाता है। इस दोष के दूरीकरण के लिये हरदत्त ने कहा है कि ऋग्वेद की भी एक कठशाखा है, जिसकी व्यावृत्ति के लिये पाणिनि को यह विशेषण देना पडा है। ऋग्वेदीय कठशाखा न उपलब्ध है और न उसका सकेत ही वैदिक साहित्य में मिलता है, अत हरदत्त की इस व्याख्या मे सशय का उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है। इस सशय के समाधान के लिये निम्नोक्त तथ्य विचार्य है।

शाखानाम की विचित्रता—पहले ही यह ज्ञातव्य है कि यह सशय नही किया जा सकता कि एक ही शाखा-नाम दो पृथक् वेदो में कैसे सम्भव हो

प्रत्यय से काठकम्, कालापकम् आदि शब्द सिद्ध होते हैं। आम्नाय=वेदाभ्यास (बालमनोरमा)। नागेश कहते हैं—आम्नाय. सम्प्रदाय. शास्त्रमित्यन्ये (शब्देन्दु, अत्रैव)।

सकता है। शाखाकार के नामानुसार शाखा-नाम होते हैं—यह सार्वत्रिक नियम है, अतः यदि एक नाम के एकाधिक शाखाकार ऋषि हुए हैं, तो समान नामवाली एकाधिक शाखाएं (एक या एकाधिक वेदों में) सर्वथा प्रतीत हो ही सकती हैं। हम प्रत्यक्षतः देखते हैं कि सुमन्तु नामक एकाधिक आचार्यों ने साम-अथर्व-शाखाओं का प्रवचन (पुराणोक्त शाखा-विवरण के अनुसार) किया है[1]। पराशर-शाखा ऋग्वेदीय भी है शुक्लयजुर्वेदीय भी (वैदिक वाङ्मय का इतिहास भाग १ पृ २७७)। उसी प्रकार गौतम शाखा ऋग्वेद में भी है और सामवेद में भी (वही पृ० २२९)। इस प्रकार के अन्यान्य उदाहरण भी मिलते हैं[2]। अतएव एकाधिक शाखा के समाननामत्व पर संशय नहीं किया जा सकता।

कठ और ऋग्वेद—'कठ' नाम ऋग्वेदीय शाखा विशेष का है, यह हेमचन्द्रकृत कोश से भी ज्ञात होता है। यहाँ कहा गया है—'कठो मुनौ स्वरभेदे ऋचां भेदे तत्पाठिवेदिनोः'[3]। इस श्लोकसे यह स्पष्टतः ज्ञात होता है कि 'ऋचां भेदे' (ऋग्वेद का भेद अर्थात् शाखा) भी कठ शब्द का अर्थ है। शाखा के लिये 'भेद' शब्दका प्रयोग उचित ही है क्योंकि शाखा के प्रसंग में पुराणों में 'भिद्' धातु का प्रयोग बहुधा मिलता है—बिभेद प्रथमं पत्र ऋग्वेदपादपम् (विष्णु ३।४।१६ तथा कूर्म० १।४९।५२)। यह भी कहा

१—विष्णुपु० ३।६।२ में सामशाखाकार के रूप में सुमन्तु का नाम है और ३।६।९ में अथर्व-शाखाकार के रूप में। वायु ६१।२४-६१ तथा ब्रह्माण्ड १।२४।२७-१५ में भी वेदशाखा-प्रकरण है यह ज्ञातव्य है।

२—तारक्यशाखा सामवेदीय है। पर यजुर्वेद में भी इस नाम की शाखा या कल्पसूत्र की सत्ता ज्ञात होती है। अनुशासन पर्व १६।७० की टीका में नीलकण्ठ कहते हैं—सूत्रकर्ता तारक्यम इति यजुर्वेदे शाखाविशेषः, तत् कल्पसूत्रकर्ता।

३—चौखम्बा संस्करण पृ १०। मुद्रित पाठ है 'कठो मुनौ ——' पर यहाँ 'कठ' पाठ ही होगा। वस्तुतः, मुद्रणप्रमाद के कारण 'इति त्रिस्वरान्ता' रूप पाठ इस वाक्य के बाद हो गया है और इसका पाठ 'अव्यक्ते प्रतिष्ठे-' इस पूर्व श्लोक के बाद ही होना चाहिए था। प्रस्तुत 'कठो मुनौ ——' श्लोक त्रिस्वरान्त वर्ग का सर्वादिम श्लोक होगा। मेदिनी कोषके ठ-द्विक वर्ग में 'कठो मुनौ —' कहा गया है पर यहाँ वेदका प्रसंग नहीं है।

गया है कि इस शाखा के अध्येता और वेदिता [तु० अष्टाध्यायी, 'तदधीते तद्वेद' (४।२।५९), इस सूत्र का नेदिष्ट सम्बन्ध वैदिक साहित्य के साथ है, जो छन्दोब्राह्मणानि (४।२।६६, सूत्र से ज्ञात होता है] भी 'कठाः' कहे जाते हैं। यह बात सत्य है, जो पाणिनि के 'कठचरकाल्लुक्' (४।३।१०७) सूत्र से भी ज्ञात होती है। इससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि ऋग्वेद की कोई कठशाखा थी। यह ज्ञातव्य है कि कोशस्थ 'ऋचा भेदे' का अर्थ 'ऋङ्मन्त्र का भेद' ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि रचनाशैली के अनुसार 'ऋक्' मन्त्र के किसी भेद-(प्रकार) का उल्लेख कहीं भी नहीं मिलता। इसका अर्थ ऋग्वेद का शाखा-विशेष ही है।

एकाधिक कठों की सत्ता—प्रचलित कठोपनिषद् से अन्य भी कोई कठोपनिषद् थी, ऐसा ज्ञात होता है। शंकराचार्य ने छान्दोग्योपनिषद् (६।३।२) की व्याख्या में 'इति हि काठके' कहकर 'सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षु ' और 'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्य ' वाक्य उद्धृत किए हैं। इनमे प्रथम वाक्य (सूर्यो यथा) तो प्रचलित कठोपनिषद् (२।२।११) में मिल जाता है, पर दूसरा वाक्य (आकाशवत्) नहीं मिलता। यह दूसरा वाक्य[1] भी किसी कठोपनिषद् का होना चाहिए, और हम समझते हैं कि यह वाक्य ऋग्वेदीय कठशाखान्तर्गत कठोपनिषद् का है, ऐसा सोचना असंगत नहीं है।[2]

कठ का परिचय—यह ऋग्वेदीय कठ ऋषि कौन हैं, इसका विशिष्ट परिचय नहीं मिलता। शान्तिपर्व (३३६।९) में जो 'आद्य. कठ.' वाक्य है, यह सम्भवत. इस कठ को लक्ष्य करता हो, यद्यपि इसका गमक कुछ नहीं मिलता। यदि ऐसा न माना जाय, तो यह मानना होगा कि कृष्णयजुर्वेदीय

१—आपस्तम्ब धर्मसूत्र १।८।२३।४ की शंकरकृत विवरणटीका में यह वाक्य 'श्रुति' कहकर उद्धृत हुआ है।

२—समान नाम के एकाधिक उपनिषदों का अन्य उदाहरण भी मिलता है। श्वेताश्वतर-उपनिषद् ७।१४ के शांकरभाष्य में 'परेषा पाठे' कहकर व्याख्येय मन्त्र का पाठान्तर दिया गया है। पर यह वस्तुत' पाठान्तर नहीं है, बल्कि अन्य-शाखीय श्वेताश्वतर-उपनिषद् का पाठ ही है, यह 'परेषा' पद से ध्वनित होता है, वैदिक सम्प्रदाय का व्यवहार ऐसा ही है। श्वेताश्वतर-शाखा की दो मन्त्रोपनिषद् की सत्ता प्रमाणान्तर में भी सिद्ध होती है। (वैदिक वाङ्मय का इतिहास भाग १, पृ० २९६)।

'कठ' ही ऋग्वेदीय शाखा-विशेष का प्रवचनकारी है। यह असम्भव भी नहीं है, क्योंकि अथर्ववेदीय शौनक यदि बह्वृच (ऋक्शाखाविद्) हो सकते हैं (जैसा कि पुराणों में माना गया है तथा परम्परा में भी स्वीकृत है) तो यजुर्वेदीय प्रवक्ता ऋषि द्वारा ऋक्शाखा का प्रवचन करना असंभव नहीं है।

यदि यजुर्वेदीय कठ को ही ऋग्वेदीय कठशाखा का प्रवक्ता माना जाय, तो इस विषय में एक अन्य तथ्य भी विचार्य है। शान्तिपर्वस्थ २४६ तम अध्याय का प्रतिपाद्य विषय प्रायः कठोपनिषद्-प्रतिपाद्यविषयवत् ही है। कई श्लोक (२ १ ४) भी उभयत्र समान हैं। इस अध्याय के १४ वें श्लोक में कहा गया है कि दशसहस्र ऋङ्मन्त्र को मथकर यह अमृत ज्ञान निकाला गया है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि इस श्लोक की यहाँ क्या आवश्यकता है? निश्चित ही इसका लक्ष्य ऋग्वेदीय किसी शाखा की ओर है और उस शाखा के उपनिषद् ग्रन्थ में जो ब्रह्मविद्या थी उसका ही प्रतिपादन शान्तिपर्व के इस अध्याय में किया गया है। ऐसा मानने पर ही इस श्लोक को यहाँ कहने की कुछ संगति बन सकती है। चूँकि शान्ति २४६।१२ में 'रहस्यं सर्ववेदानां' कहा गया है, अतः इस निर्देश का सम्बन्ध औपनिषद भाव से ही है यह भी सुस्पष्ट सिद्ध होता है। ऋक्शाखा विशेष का जो परिमाण[1] यहाँ दिखाया गया है, वह इस अनुल्लिखित शाखा (अर्थात् ऋग्वेदीय कठशाखा) का है ऐसा अनुमान किया जा सकता है यद्यपि यह बहुत कुछ सन्दिग्ध है। क्या हम यहाँ यह कह सकते हैं कि इस ऋक्शाखा में भी प्रायः कठोपनिषत्सदृश ज्ञान (तदनुरूप शब्द व्यवहारपूर्वक) था जिससे यह भी सिद्धप्राय ही होगा कि यजुर्वेदीय कठर्षि ही ऋग्वेदीय कठशाखा के प्रवर्तक हैं। शान्तिपर्व के इस अध्याय के शब्दों के साथ कठोपनिषद्-शब्द का साम्य और अध्यायान्त में ऋग्वेद का उल्लेख—ये दो अवश्यमेव कुछ न कुछ अन्तर्निहित तात्पर्य रखते हैं जिस पर विद्वानों को विचार करना चाहिए।

१—इस स्थल की टीका में नीलकण्ठ ने 'तदुक्तं शाकलकै:' कहकर 'ऋचां दश सहस्राणि ... चोच्यते' श्लोक को उद्धृत किया है। यह श्लोक शौनकीय अनुवाकानुक्रमणी (४३) में मिलता है जो शाकलशाखीय है। दोनों के पाठ में ईषत् भेद है।

पञ्चदश परिच्छेद

'अधिकृत्य कृते ग्रन्थे' सूत्र एवं ज्योतिष शब्द

सूर्य-चन्द्रादि ग्रहविषयक शास्त्र का नाम 'ज्योतिष' है अथवा 'ज्योतिष' यह यहाँ विचारित हो रहा है। हमारे मत मे शास्त्र का नाम 'ज्योतिष' ही है न 'ज्योतिष'। 'ज्योतिष' शब्द (शास्त्रविशेष का नाम) आधुनिक विद्वानो द्वारा कल्पित है, जिसका आधार पाणिनीय सूत्र की भ्रान्त व्याख्या ही है। यह शब्द न तो शिष्टो के व्यवहार से सिद्ध होता है और न वैयाकरणसम्मत है। कुछ ही वर्षों से 'ज्योतिष' लिखने की प्रवृत्ति दिखाई पड रही है। जिन विद्वानो ने 'अधिकृत्य कृते ग्रन्थे (४।३।८७) सूत्रानुसार ज्योतिष शब्द को सिद्ध करने के लिये चेष्टा की है, वे इस सूत्र का तात्पर्य नही समझते, यह भी यहाँ दिखाया जाएगा।

उपर्युक्त मत की उपपत्ति के लिये पाच युक्तियाँ हैं :—

(क) महाराष्ट्र, द्राविड, वग इत्यादि देशो मे जो ग्रन्थ कुछ वर्षो पहले छापे गए थे, उनमे 'ज्योतिष' ऐसा ही पाठ है, 'ज्योतिष' कही भी नही। काशी मे भी प्राचीन मुद्रित ग्रन्थो मे ऐसा ही पाठ देखा जाता है।

(ख) पुरानी हस्तलिखित पुस्तको मे सर्वत्र 'ज्योतिष' यही रूप देखा जाता है। प्राचीनकोश-सवाद के साथ जिन ग्रन्थो का सम्पादन किया गया है, उनमे भी सर्वत्र 'ज्योतिष' पाठ ही छपा है। यह भी ज्ञातव्य है कि 'ज्योतिप' ऐसा पाठान्तर भी इनमे कही नही मिलता।[1]

(ग) ज्योतिर्विद्याविपयक जो ग्रन्थ मिलते हैं और जिन ग्रन्थो के नाम की स्मृति है, उनमें सर्वत्र 'ज्योतिष' शब्दही प्रयुक्त हुआ है। इन ग्रन्थो की एक सूची

१—कौटिल्य-अर्थशास्त्र के मैसूर सस्करण मे कहा है—'शिक्षा कल्पो व्याकरण निरुक्त छन्दोविचितिर्ज्योतिषमिति पडङ्गानि' (१।२)। बर्लिन नगर से प्रकाशित चरणव्यूह मे भी 'ज्योतिप' ऐसा ही पाठ मुद्रित है (पृ० ३६)। ऋक्प्रातिशाख्य वर्गद्वय वृत्ति मे (पृ० १३), निरुक्त की दुर्गकृत टीका में (पृ० २ आनन्दा०), मेधातिथि भाष्य मे (४।१९), बृहत्सहिता में, ऋग्वेद-भाष्यभूमिका मे 'ज्योतिप' ही पढ़ा है।

श्री शङ्कर बालकृष्ण दीक्षित ने 'भारतीय ज्योतिष' नामक ग्रन्थ में प्रकाशित की है। धर्मशास्त्र में भी ज्योतिषार्णव (रघुनन्दनकृत दुर्गोत्सव प्रश्न में स्मृत) ज्योतिष रत्न (सिद्धेश्वर कृत संस्कारभास्कर में स्मृत), और अन्य कतिपय ऐसे ग्रन्थों का स्मरण किया गया है जिनमें 'ज्योतिष' ऐसा ही पाठ है, कहीं भी 'ज्यौतिष' नहीं। यदि 'ज्यौतिष' यह शब्द शुद्ध होता तो कहीं भी ज्योतिष-ग्रन्थों में यह प्रयोग मिलता।

(घ) जिन ग्रन्थों में भ्रष्टपाठ की कल्पना नहीं की जा सकती उन ग्रन्थों में भी 'ज्योतिष' ही पढ़ा गया है। जैसे मुण्डकोपनिषद् में—"शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषम्" (१।१।५)। यह निश्चित है कि वैदिक सम्प्रदाय में कहीं भी 'ज्यौतिष' प्रयुक्त नहीं हुआ है।[1]

यह भी नहीं माना जा सकता कि 'ज्योतिष' छान्दस प्रयोग है और लौकिक प्रयोग 'ज्यौतिष' ही होगा। भाष्यकारों ने कहीं भी इसकी छान्दसता को सिद्ध नहीं किया है। जहाँ छान्दस प्रयोग होता है वहाँ व्याख्याकार बहुधा प्रयोग के छान्दसत्व को कहते ही हैं जैसे तैत्तिरीयोपनिषद् गत 'शीक्षां व्याख्यास्यामः' वाक्य की व्याख्या के अवसर पर शङ्कर आदि व्याख्याकारों ने कहा है कि यह प्रयोग छान्दस है। 'ज्योतिष' में शङ्कराचार्यादि भाष्यकारों का ऐसा कुछ भी वचन नहीं मिलता। आपस्तम्बधर्मसूत्र में वेदाङ्गों के नाम गिनाने के अवसर पर जहाँ 'शीक्षा' कहा गया वहाँ हरदत्त कहते हैं,—'पृषोदरादित्वाद् दीर्घः'।

ज्यौतिष शब्द को ही साधु समझने वाले मानते हैं कि 'ज्योतिः' को लेकर लिखा गया ग्रन्थ' इस अर्थ में 'अधिकृत्य' (४।३।८७) इस पाणिनीय सूत्र से 'अण्' प्रत्यय होगा। इसके बाद 'तिरस्कार आदिवृद्धि' होकर 'ज्यौतिष' ऐसा औकारयुक्त पाठ ही सिद्ध होगा।

परन्तु यह मत ठीक नहीं जँचता। शास्त्रों के नाम रूढ़ भी होते हैं, और वे अध्येतृसम्प्रदाय में उसी रूप में स्वीकृत होते हैं। इस तरह के सिद्ध शब्द व्याकरण के नियमों से नहीं बाँधे जा सकते। इसलिये यहाँ 'अधिकृत्य कृते ग्रन्थे' इस सूत्र से अण् प्रत्यय नहीं होगा क्योंकि 'ज्योतिष' यह शास्त्र नाम पहले से ही सिद्ध है। इस मत को प्राचीन विद्वानों ने भी माना है। भानुजि दीक्षित ज्यौतिष

१—आपस्तम्बधर्म सूत्र में वेदाङ्गों के नाम कहे गए हैं—"कल्पो व्याकरणं ज्योतिषम् (२।८।११)। इसपर हरदत्त कहते हैं—सूर्यादीनि ज्योतींष्यधिकृत्य प्रवृत्त शास्त्रं ज्योतिषम्। आदिवृद्ध्यभावे यत्नः कार्यः"।

शब्द की व्याख्या के अवसर पर कहते हैं—'ज्योतिर्नक्षत्राद्यधिकृत्य कृतो ग्रन्थः, 'अधिकृत्य कृते ग्रन्थे' इत्यण्, सञ्ज्ञापूर्वकत्वान्न वृद्धिः, ज्योतिषमधीते वेद वा 'क्रतूक्थादि (४।२।६०) इति ठक्' (अमरकोश टीका २।८।१४)।

यही क्षीरस्वामी कहते हैं—"ज्योतीषि ग्रहादीनधिकृत्य कृतो ग्रन्थो ज्योतिषः, ज्योतिष वेद ज्यौतिषिक इति" (अमरकोषोद्घाटन)। 'ज्योतिष' यह पुल्लिङ्ग पद शास्त्रसम्मत है या नही यह सूत्रतात्पर्य को समझने के बाद स्वतः समझ मे आ जाता है। ज्योतिप शब्द मे औकार की निवृत्ति के लिये नारायणभट्ट भी कहते हैं—'ज्योतिषमित्यत्र सञ्ज्ञापूर्वकत्वादवृद्धिरिति' (प्रक्रिया-सर्वस्व ४।३।८७)। दुर्घटवृत्ति मे शरणदेव ने भी सञ्ज्ञापूर्वकविधि के अनित्यत्व का आश्रयण करके वृद्धिनिषेध का समर्थन किया है।[1] शरणदेव ने कहा है कि सुभूति आदि शब्दशास्त्र के पण्डितो का भी यही मत है।[2]

यदि 'ज्योतिष' शब्द असाधु होता तो इन वैयाकरणो ने यही कहा होता कि यह शब्द 'कालदुष्ट' है या कवियो ने भ्राति से इसका प्रयोग किया है। 'ज्योतिष' यह पद मतान्तर में साधु है, ऐसा भी नही कहा गया। इसलिये समझना चाहिए कि यही पद सर्वसम्मत है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि 'ज्यौतिष' यह शास्त्रनाम किसी भी वैयाकरण ने नही माना, यद्यपि अण्विधायक सूत्र अष्टाध्यायी में विद्यमान है।

१—कथ ज्योतिष शास्त्रम् ? अनेन [अधिकृत्येति सूत्रेण] अणि वृद्धिसभवात्। उच्यते—सञ्ज्ञापूर्वकविधेरनित्यत्वाद् वृद्ध्यभाव इति सुभूति· (पृ० ९१)। कथ ज्योतिष शास्त्रमिति ? अधिकृत्य कृते ग्रन्थे (४।३।८७) इत्यणि वृद्धे। उच्यते—सञ्ज्ञापूर्वकानित्यत्वादिति भवभूति [सुभूति· ?] (पृ० १२६)।

२—सुपद्मविवरणपञ्जिकाकार कहते हैं—ज्योतिषमित्यादिवृद्धिराचार्यैर्नेष्टा (५।३।११८, इस विषय मे ५।२।९६ सूत्रपञ्जिका भी द्रष्टव्य है)। परिभाषासग्रह मे भी कहा गया है—'ज्योतिरधिकृत्य कृते ग्रन्थे ज्योतिपम् · ·· णकृतस्यानित्यत्वाद् वृद्धिर्न भवति (पृ० २२)। यह विचारना चाहिए कि भट्टोजि ने ग्रन्थान्ताधिके च (६।३।७९) के उदाहरण में 'समुहूर्तं ज्योतिषम्' ही कहा है (ज्योतिष = ज्योतिः शास्त्रम्—बालमनोरमा)। क्वचित् ज्यौतिष पाठ भी कौमुदी मे मिलता है, पर यह शास्त्रनाम नही है, यह नागेश ने अत्यन्त [illegible] रूप से दिखाया है—ज्यौतिषमिति पाठे ज्योतिष इदम् इत्यर्थः (बृहच्छब्देन्दु०)। यदि ज्यौतिष शास्त्रनाम होता तो नागेश कभी भी ऐसा न कहते।

जो विद्वान 'ज्यौतिष' शब्द को ही ठीक मानते हैं वे अपने संपादित ग्रन्थों में 'ज्यौतिष' ही लिखते और प्रकाशित करते हैं। हमारी दृष्टि में ऐसा करना अशोभनीय है। छान्दोग्योपनिषद् में 'नक्षत्रविद्या' शब्द की व्याख्या में शंकराचार्य कहते हैं 'नक्षत्रविद्या ज्योतिषमिति' (७।१।२)। शाङ्करभाष्य के सभी प्राचीन संस्करणों में यही पाठ मिलता है, पर गीता प्रेस के संस्करण में 'ज्यौतिष' पाठ छपा होता है। यह भी बड़ी विचित्र बात है कि काशी में भी जो ज्योतिष सम्बन्धी ग्रन्थ प्रकाशित किए जाते हैं उनमें पुराने पाठ (ज्योतिष) को बदल कर 'ज्यौतिष' शब्द ही लिखा जा रहा है।

यहाँ यह भी विचार्य वस्तु है कि पुरुषोत्तम देव ने भाषावृत्ति में (४।३।५९) 'ज्यौतिष' शब्द का प्रयोग ज्योतिर्विद्याविद् के अर्थ में किया है। 'तदधीते तद्वेद' इस अर्थ में अण् करने पर ज्यौतिष शब्द साधु ही है, जैसा कि 'ज्यौतिषिक' शब्द (द्र० पृ०२ ५)। इस शब्द की सिद्धि में कोई बाधा नहीं है।

अब देखना चाहिए कि अधिकृत्य कृते ग्रन्थे इस सूत्र का ज्योतिष शब्द के साथ कोई सम्बन्ध है या नहीं। यहाँ पाणिनि ने 'ग्रन्थ' पद का प्रयोग किया है इसलिये जब 'ग्रन्थ' विवक्षित होगा तभी सूत्र की प्रवृत्ति होगी। जैसा कि 'शारीरकमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः' (भाष्यरूपी) = शारीरकीयम् निष्पन्न होता है। जिस प्रकार शिक्षा कल्प या व्याकरण किसी ग्रन्थ का नाम नहीं है परन्तु विद्या या शास्त्र का नाम है उसीप्रकार 'ज्योतिष' शब्द विद्याविशेष (या शास्त्रविशेष) को ही कहता है न कि ग्रन्थ को। विद्या और ग्रन्थ में निश्चय ही भेद है। शास्त्र का तात्पर्य है—प्रतिपाद्य विषय ग्रन्थ का तात्पर्य है—आचार्यविशेष द्वारा प्रणीत वाक्यसन्दर्भ जिसमें शब्दों की निश्चित आनुपूर्वी रहती है। इसी दृष्टि से कहा जाता है कि पाणिनि ने व्याकरणविद्या का प्रणयन नहीं किया बल्कि सूत्र का प्रणयन किया है। शास्त्र और ग्रन्थ का यह भेद मेधातिथि ने मनुभाष्य में बहुत अच्छी तरह दिखाया है। 'इदं शास्त्रं तु कृत्वासौ (१।५८) इस श्लोक का व्याख्यान करते हुए वे कहते हैं—'इह शास्त्रशब्देन स्मार्तो विधिप्रतिषेधसमूह उच्यते न तु ग्रन्थस्तस्य मनुना कृतत्वात्।' यद्यपि यहीं मेधातिथि ने यह भी कहा—'शास्त्रशब्देन ग्रन्थाभिधानमपि शासनस्यार्थप्रतिपादकत्वाद् इष्टमेव' इसलिये ग्रन्थरूप अर्थ में भी शास्त्र शब्द का प्रयोग किया जा सकता है ऐसा हम कह सकते हैं फिर भी यह वाक्य यह भी बताता है कि ऐसा प्रयोग लाक्षणिक ही होता है और शास्त्र शब्द का लाक्षणिक प्रयोग ग्रन्थ के अर्थ में होता है—इस मत को मान लेने पर भी शास्त्र

अर्थ मे ग्रन्थ पद का लक्षणया प्रयोग होता है—यह कथन सिद्ध नही होता। यह तो स्पष्ट ही है कि पाणिनि के सूत्र में 'ग्रन्थ' पद वर्त्तमान है। अत. शास्त्रवाची या विद्यावाची ज्योतिष शब्द की निष्पत्ति के साथ इस सूत्र का कोई सम्बन्ध नही है।

पूर्वोक्त युक्तियो से यह निश्चित किया जा सकता है कि 'ज्योतिष' शब्द ज्योतिर्विद्या के अर्थ मे रूढ है। अथवा 'इसमे ज्योतिः (सूर्यादि) विचार्य विषय के रूप मे हैं' इस अर्थ मे मत्वर्थीय 'अच्' प्रत्यय की कल्पना करनी होगी। जैसा कि दुर्घटवृत्तिकार ने कहा है—'ज्योतीषि नक्षत्राण्यस्य सन्ति गणनीयत्वेनेत्यर्श आद्यच्' (पृ० ९१)। इस प्रकार शास्त्र का नाम 'ज्योतिष' है, यही प्रमाणसिद्ध होता है।

कुछ लोग कहते हैं कि ज्योतिष शब्द से स्वार्थ मे अण् करके 'ज्यौतिष' सिद्ध किया जा सकता है। यदि सस्कृतवाङ्मय मे ज्यौतिष शब्द का प्रयोग किया गया हो, तब तो इस शब्द की सिद्धि की कल्पना की जा सकती है। हम पहले ही प्रतिपादित कर चुके हैं कि यह शब्द अप्रयुक्त है। ऐसी स्थिति मे 'ज्योतिष' शब्द का ही प्रयोग करना चाहिए, न कि 'ज्यौतिप' का।

षोडश परिच्छेद

महाभाष्योक्त पदकार के अर्थ के विषय में एक भ्रम

सांख्य सिद्धान्त के विषय में एशियाटिक सोसायटी कलकत्ता के इस्लामी विभाग के अध्यक्ष श्री पुलिन बिहारी चक्रवर्ती एम० ए० महोदय ने एक ग्रन्थ लिखा है—जिसका नाम Origin and Development of the Samkhya System of Thought है। यह ग्रन्थ सुलिखित है एवं आवश्यक सामग्री का संकलन प्रतिपद मिलता है।

इस ग्रन्थ में एक स्थान पर चक्रवर्ती जी लिखते हैं कि महाभाष्यकार पतञ्जलि ने पदकार और सूत्रकार का उल्लेख किया है और सूक्ष्मेक्षिका से देखने से यह ज्ञात होता है कि वार्तिकों के रचयिता ही पदकार शब्द से उल्लिखित हुए हैं।[1] यह कहकर ग्रन्थकार ने 'न लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः पदकारैर्नाम लक्षणमनुवर्त्यम्'—यह महाभाष्यवचन (३।१।१ ९) उद्धृत किया है।

चक्रवर्तीजी का यह विचार भ्रमात्मक है। हम मानते हैं कि सांख्यकारिका की युक्तिदीपिका टीका में एक स्थान पर 'पदकार' शब्द से 'वार्तिक का रचयिता उद्दिष्ट हुआ है क्योंकि इसमें 'पदकारस्त्वाह जातिवाचकत्वात्' यह वाक्य मिलता है (पृ० ७) और यह 'जाति-वाचक' शब्द १।२।१० सूत्र के वार्तिक (दम्भेर्हल्ग्रहणस्य जातिवाचकत्वात् सिद्धम्) और ४।१।४ सूत्र के वार्तिक (जातिवाचकत्वाच्च शब्दस्य) में मिलता है तथा युक्तिदीपिकाकार का लक्ष्य भी ये वार्तिक हैं, यह भी पूर्वापर-सम्बन्ध से स्पष्ट होता है। व्याकरण के ग्रन्थों में 'पदकार' शब्द से भाष्यकार और वार्तिककार लक्षित होते हैं यह भी प्रसिद्ध है[2]।

1—We find Patanjali in his Mahabhasya referring to both the Padakara and Sutrakara and on a closure examination it appears that the author of the Varttika is meant by this Padakara (p 58

२—'व्याकरण शास्त्र का इतिहास' (भाग १, अ० १) में यह दिखाया गया है कि पदकार शब्द से महाभाष्यकार बहुलतया उक्त हुए हैं, क्वचित् वार्तिककार भी।

पर 'न लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः ' इत्यादि वाक्य मे पदकार का अर्थ वार्तिककार नही है और न ही ऐसा अर्थ हो सकता है। इस वाक्य मे 'पदकार' का अर्थ है 'पदपाठकार' (वेद के पदपाठों के रचयिता)। भाष्य के इस वचन का तात्पर्य यह है कि लक्षण (व्याकरण के नियम) पदपाठ का अनुसरण कभी नही करते, बल्कि पदपाठकार ही व्याकरणनियमो के अनुसार अपने पदपाठो की रचना करते हैं। महाभाष्य में अन्यत्र भी यह वाक्य है—"अवग्रहोऽपि–न लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्या " यथालक्षणं पदं कर्त्तव्यम्" (८।२।१६)। ध्यान देना चाहिए कि ३।१।१०९ भाष्यगत 'न लक्षणेन' इत्यादि वाक्य की जो व्याख्या कैयट ने की है[1] उससे भी यह निश्चित होता है कि 'पदकार' का अर्थ पदपाठकार ही है, वार्तिककार नही। पदकार शब्द से 'पदपाठकार' रूप अर्थ लेना अत्यन्त प्रसिद्ध है, यथा—निरुक्तटीका (२।१३) मे स्कन्दस्वामी कहते हैं—"विचित्रा हि पदकाराणाम् अभिप्राया", जहाँ पदकार का अर्थ 'पदपाठकार' ही है, वार्त्तिककार नही। कैयट भी (केचित् पदकारा आ आदीत्यवगृह्णन्ति, प्रदीप ६।४।६४) पदकार का प्रयोग 'पदपाठकार' के अर्थ मे करते हैं। प्रातिशाख्यो मे भी पद से पदपाठ का ग्रहण अत्यन्त प्रसिद्ध है (द्र० ऋक्-प्रतिशाख्य)। अष्टाध्यायी के उक्थादिगण (४।२।६०) मे जो 'पद' शब्द है, वह निश्चयेन 'पदपाठ' का वाचक है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि पदकार का अर्थ पदपाठकार है और महाभाष्य के उपर्युक्त सन्दर्भ मे यही अर्थ विवक्षित भी है।

ध्यान से विचारने से यह ज्ञात होगा कि 'न लक्षणेन पदकारा.'—इत्यादि वाक्य मे पदकार का अर्थ वार्तिककार कभी हो भी नही सकता, क्योकि तब अर्थ होगा—'लक्षण, अर्थात् व्याकरण (=व्याकरणसूत्र) का रचयिता पदकार अर्थात् वार्तिककार का अनुवर्त्तन नही करते।' इस वाक्य को कहने का अभिप्राय या प्रयोजन क्या है? सूत्रकार के बाद वार्तिककार होते हैं, अत. उनके द्वारा वार्तिककार के अनुवर्त्तन का प्रश्न ही नही उठता, अत इस निषेध वचन की आवश्यकता ही क्या है? किंच 'वार्त्तिककार व्याकरणसूत्रकार का अनुवर्त्तन करते हैं,' इस चक्रवर्त्ति-समत अर्थ की सगति क्या है? वार्त्तिको मे मूल

१—"संहिताया एव नित्यत्वं पदविच्छेदस्य तु पौरुषेयत्वम्। तथा च यत्र अर्थनिश्चयाभाव तत्रावग्रहो न क्रियते। तदुक्तम्—हरिद्रुरनवगृह्यते इति, हरिद्रुरित्यत्र किं हरिशब्द इकारान्त अथवा हरित् शब्दस्तकारान्त इति सन्देहात्"।

व्याख्येयग्रंथ का समालोचना (उक्त–अनुक्त–दुरुक्तचिन्ता आदि) रहता है प्रचुरमात्रा में दोषप्रदर्शन भी किया जाता है अतः अनुवर्तना का प्रश्न क्या है ? न्यायशास्त्र आदि में तो वार्त्तिककार मूलग्रन्थ का अनुवर्ती है पाणिनि-व्याकरण में ऐसा नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार यदि महाभा के इस वचन में पदकार का अर्थ वार्त्तिककार लिया जाए तो कई असंग उत्पन्न होती हैं।

पदपाठकार व्याकरण को मानकर चलते हैं, यह एक सत्य है। इस प्रभाव के कारण पदपाठसंमत अर्थ छोड़ दिया जाता है, यह रीति शास्त्रीय है (द्र० वैदिकस्वरमीमांसा, पृ० ७-८)। पदपाठ के अनुसार पदविभाग व्याख्या करना भी सार्वत्रिक नहीं है (द्र निरुक्त ५।२१ की व्याख्याएं निरुक्त सम्प्रदाय के आचार्य वररुचि ने भी पदपाठ का अनादर कर व्या की है (२।२९)) एक ही पद के विभाग में पदकार कहीं-कहीं विवदमान। हैं (निरुक्त २।११ की स्कन्द टीका), अतः व्याकरण-निरुक्तादि के अनुसा पदपाठ का प्रामाण्य स्वीकृत होता है। वस्तुतः व्याकरण के पीछे ही पद चलते हैं, पदकारों के पीछे व्याकरण नहीं। यह मत पदपाठ–व्याकरण की पू की दृष्टि से सत्य है और इससे पदपाठ का स्वकीय प्रामाण्य व्याहत नहीं हो यह विवेच्य है।

चक्रवर्ती जी यह भी कहना चाहते हैं कि 'पद' शब्द एक प्रकार व्याख्यान या व्याख्यान-विशेष का वाचक है। वे कहते हैं कि गीता में 'ब्रह्मसूत्रपद' शब्द है (१३।४) संभवतः यहां पद का अर्थ 'ब्रह्मसूत्र का व्याख्या विशेष' है—Most probably it stands for the commenta upon the Brahmasutra as discussed above (p 58)। वे य भी लिखते हैं कि 'व्याख्याविशेष' रूप 'पद' शब्द का अर्थ पारिभाषिक (Thus we find that the term पद in its technical sens passes for a commentary)।

चक्रवर्ती जी का यह विचार भी असिद्ध है। व्याकरण को पद या पदशास्त्र कहा जाता है (जो सर्वथा उचित है) और व्याकरण-सूत्र-सम्बन्धी ऊहापो करने के कारण वार्त्तिककार या भाष्यकार को पदकार कहा जाता है, ऐस स्पष्टतः प्रतीत होता है। न चायं यहां क्रियासामान्यार्थक [illegible] क्रिया

विशेषार्थक है, जैसे 'मन्त्रकृत्'[1] का अर्थ—'मन्त्राध्यापक' या 'मन्त्रविनियोजक' होता है। इतना होने पर भी 'पद' को एक प्रकार की व्याख्या अथवा व्याख्या-विशेष मानना उचित नही प्रतीत होता, यद्यपि पदपाठ (और व्याकरण भी) एक प्रकार से व्याख्यानशास्त्र ही है। यदि 'पद' को व्याख्यान माना भी जाए तो 'शब्दशास्त्र-सम्बन्धित व्याख्यानविशेष' अर्थ ही होगा, तदितर शास्त्र मे उसका अनुप्रवेश नही होगा, क्योकि व्याख्यानविशेष के अर्थ मे 'पद' शब्द का प्रयोग कही भी स्मृत नही है। व्याख्या के भाष्य, वृत्ति आदि अनेक प्रकार पूर्वाचार्यों ने कहे हैं, पर 'पद' नामक व्याख्याप्रकार कही भी कहा नही गया है। इस प्रकार 'पद' का ग्रथकारदर्शित अर्थ भी चिन्त्य ही है। चक्रवर्ती जी ने जो 'सभवत:' (most probably) शब्द का प्रयोग किया है, वह सगत ही है।

१—ताण्ड्य ब्राह्मण मे मन्त्रकृत् शब्द है (१३।३।२४)। ब्राह्मण का यह प्रकरण मनुस्मृति (अ० २) मे व्याख्यात हुआ है, जहाँ ब्राह्मण मे शिशु आङ्गिरस को मन्त्रकृत् कहा गया है वहाँ स्मृति मे 'अध्यापयामास पितॄन्' वाक्य है (२।१०१), अत अध्यापक रूप अर्थ सगत ही है। कुमारिल पूर्वोक्त ब्राह्मणवाक्य पर कहते हैं—शिशुर्वा आङ्गिरसो मन्त्राणा मन्त्रकृदासीदित्यत्र मन्त्रकृच्छब्दः प्रयोक्तरि प्रयुक्तः (पृ० २३१ आनन्दाश्रम०)।

सप्तदश परिच्छेद

पाणिनीय दृष्टि में व्याकरण की मर्यादा

किसी भी शास्त्र का अध्ययन एक विशेष दृष्टिकोण और एक निश्चित स्तर का सापेक्ष होता है और शास्त्रकार अपनी रचना में इन दोनों तत्त्वों का कभी भी अतिक्रमण नहीं कर सकते। यही न्याय व्याकरणशास्त्र में भी चरितार्थ होता है। प्रत्येक वैयाकरण का पृथक दृष्टिकोण होता है, जिसके अनुसार वह शब्दों का अन्वाख्यान करते हैं, किन्तु प्रत्येक व्याकरण का एक निश्चित स्तर होता है जिस स्तर को जानकर ही किसी व्याकरण के विषय में कोई धारणा बनानी चाहिए।

शब्दविदों के दृष्टिकोण—जब हम प्राचीन तथा अर्वाचीन व्याकरणों का अध्ययन करते हैं, तब यह सिद्धान्त पूर्णतः दृष्टिगोचर तथा सम्यक् प्रमाणित होता है। हम देखते हैं कि कुछ वैयाकरण 'कार्यशब्दवादी' थे तो कुछ 'नित्यशब्दवादी' कुछ 'जातिपक्षवादी' थे तो कुछ 'व्यक्तिपक्षवादी' इत्यादि। अवश्यमेव इन वैयाकरणों की गौण मान्यताओं में कुछ न कुछ भिन्नता भी तथा किसी अंश तक सब समदृष्टि थे। यदि हम किसी भी व्याकरण का अन्तरङ्ग अध्ययन करना चाहें तो हमें इन मान्यताओं का ज्ञान करना होगा, अन्यथा हमारा शास्त्रानुशीलन कुछ न कुछ व्यर्थ होगा। हम यहाँ 'पाणिनीय व्याकरण का व्यापार' तथा 'संस्कृत भाषा की प्रकृति के साथ उसका सम्बन्ध' —इन दो विषयों में कुछ आलोचना करने जा रहे हैं, जिससे इस शास्त्र के आन्तरिक विश्लेषण में कुछ सहायता हो।

व्याकरण के विषय में आचार्य पाणिनि से उपज्ञात कुछ मान्यताओं की भी आलोचना प्रसंगतः की जाएगी। हम यह नहीं कह सकते हैं कि ये मान्यताएँ संपूर्णरूप से पाणिनि की सूझ हों! हो सकता है कि कुछ विचार प्राक् पाणिनीय हों वस्तुतः यह बात सत्य है। हम यहाँ संक्षेपतः मान्यताओं की ही आलोचना करेंगे जो पाणिनीय तन्त्र के सूक्ष्मार्थ ज्ञान के लिये एक उपादेय अध्ययन होगा। यहाँ यह भी दिखाया जाएगा कि संस्कृत भाषा की प्रकृति के साथ पाणिनि-व्याकरण का क्या सम्बन्ध है तथा इस विषय में प्रचलित कुछ भ्रान्तियों का निराकरण भी किया जाएगा।[1]

१—हिन्दी भाषा-शास्त्र और हिन्दी व्याकरण के लिये ऐसी आलोचना

व्याकरण की स्वतःसिद्ध मान्यताएँ—प्रत्येक शास्त्र की रचना के लिये कुछ स्वतःसिद्ध सत्यो की आवश्यकता होती है, क्योकि उसके विना तर्क प्रतिष्ठित नही हो सकता। प्रत्येक शास्त्र कुछ न कुछ स्वतः प्रमाण मानकर चलता है, जैसे—न्याय-वैशेषिक मे सवित् (सविदेव भगवती वस्तुपगमेत् नः शरणम्—उपस्कार ७।२।४६ मे उद्धृत तात्पर्याचार्य का वचन), शाकरवेदान्त मे उपनिषद्-वाक्य, साख्ययोग मे योगजप्रज्ञा इत्यादि, उसी प्रकार पाणिनि ने भी एक स्वत सिद्ध तथ्य मानकर अपने शास्त्र की रचना की है, वह है—"सिद्धा. शब्दार्थ-सवन्धा.", जैसा कि पतञ्जलि ने स्पष्ट शब्द मे कहा है—'कथं पुनरिद भगवतः पाणिनेराचार्यस्य लक्षणम् प्रवृत्तम् ? सिद्धे शब्दार्थसवन्धे (पस्पशाह्निक)। यहाँ प्रश्न उठाया गया कि क्या पाणिनि शब्दार्थ सम्वन्धो का कर्त्ता है या स्मर्त्ता ? उत्तर यह है कि पाणिनि स्मर्त्ता है, कर्त्ता नही। वैयाकरणो का यह सिद्धान्त ही प्रमाणित करता है कि वैयाकरण के पास शब्दार्थसवन्ध-नियमन की शक्ति नही है। वाक्यपदीय (१।२३) मे कण्ठतः यह मत भाषित हुआ है (नित्या शब्दार्थ-सम्वन्धाः)।[1] आचार्य कैयट ने भी कहा है कि पाणिनि ने नित्य शब्दार्थसवन्ध की नित्यता मानकर अपने व्याकरण की रचना कीहै (प्रदीप ३।४।६७)।

उपर्युक्त पाणिनीय स्वत सिद्धान्त का अर्थ है—शब्द, अर्थ और इन दोनो

की पूर्ण सार्थकता है। अब तो यह निश्चित ही हो यगा है कि हिन्दी का व्याकरण तथा उसके भाषाविज्ञान को मूल रूप सस्कृत भाषा के निरुक्त-व्याकरण के अनुसार ही होना चाहिए, अन्यथा वह शास्त्र न होकर 'बुद्धि का विलास' मात्र रह जाएगा। हम निश्चयेन कह सकते हैं कि दीर्घकाल-व्यापी प्रयास कर हमारे पूर्व शाब्दिक तथा नैरुक्तो ने जो चिन्तनधारा दी है, वह हिन्दी की पैतृक सम्पत्ति है, जिसके अनुशीलन से हिन्दी अवश्यमेव समृद्ध होगी। सस्कृत व्याकरण का भाषासम्बन्धी प्रत्येक सिद्धान्त हिन्दी वैयाकरणो द्वारा आलोचित होना चाहिए। वस्तुत सस्कृत व्याकरण तथा निरुक्तसे उपादेय सिद्धान्तो का पृथक्करण कर उनकी विशद आलोचना प्रस्तुत करनी चाहिए, जिससे हिन्दी का व्याकरण समृद्ध हो जाए।

१—नित्य. सम्बन्ध इत्यस्येद भावे सति शब्दार्थयो. सोऽयमिति य सवन्ध सोऽयदिशनस्य कर्तुमशक्यत्वाद् औत्पत्तिक स्वभावसिद्धो न केनचित् कर्त्रा कश्चित् प्रतिपत्तार प्रत्यज्ञातपूर्वः तत् प्रथम कृत इति। तस्मादनादिर्नित्य प्राप्ताविच्छेद. शब्दार्थयो. सवन्ध. (१।२३ की हरिवृषभ-टीका)।

का सम्बन्ध—ये तीन सिद्ध हैं। यहाँ सिद्ध = नित्य = अकृतक जिसकी व्याख्या नागेश के अनुसार है—'व्याकरणानिष्पाद्यत्व' (उद्द्योत १।१। अर्थात् व्याकरण से अनिष्पादनीय। व्याकरण के विषय में यह सन्देह हो कि क्या *व्याकरणशास्त्र अपूर्वशब्दनिष्पादन-द्वारा अर्थविशेषसम्बन्ध* नियमन करता है या सिद्ध शब्दार्थसम्बन्ध का बोधक है? पाणि सम्प्रदाय स्पष्ट शब्द से कहता है कि पाणिनि लोकसिद्ध शब्दों के स्रष्टा कर्त्ता नहीं, अतः '*व्याकरणकर्तृक नियमन*' का प्रसंग ही नहीं उठता। व्या के लिये बार-बार यह कहा जाता है कि प्रयुक्तानाम् इदम् अन्वाख्या अतः सिद्ध ही है कि व्याकरण लोकसिद्ध शब्दों का अन्वाख्यायक है; निष्पादक या नियामक है, या नहीं ऐसा प्रश्न ही नहीं उठता। 'पाणिनि ने संस्कृत प्रयोगों का नियमन या आविष्कार' किया ऐसा वि करना भी शास्त्रीय दृष्टि से असंगत है। भौतिक विज्ञानशास्त्र में जड़प व्यापार-सम्बन्धी अनेक नियम हैं। पर वे नियम जड़पदार्थों का विश्ले कर निश्चित किए गए हैं, न कि वे नियम पहले कल्पित किए गए जड़पदार्थ उन नियमों को मानकर चल रहे हैं। जिस प्रकार भौति विज्ञानी जड़ व्यापार का नियमन नहीं करता, जो विद्यमान है, उ विश्लेषण मात्र करता है ठीक उसी प्रकार पाणिनि भी विद्यमान सं *प्रयोगों का विश्लेषण कर जो नियम पाते हैं उसी को कहते हैं।*

वैयाकरणों की चरम मान्यता के अनुसार यह कहा जाएगा कि पाणि जब कहते हैं—'इको यणचि' (६।१।७७) तब उसका तात्पर्य यह होता कि 'इक के स्थान में 'यण्' को अवश्य होना चाहिए, यदि अच्' में हो। उसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि अच् परे रहते इक् के प्रसं यण् को प्रयुक्त होते देखा गया है अर्थात् पाणिनि का सूत्र शब्द-व्यवह सम्बन्धी एक विद्यमान घटना को दिखाता है न कि उपदेश देता है कि ऐ करना चाहिए, या करो। यद्यपि सूत्रों का अर्थ आदेशवाक्य या विधिवाक्य तरह किया जाता है पर वह प्रक्रिया की दृष्टि से ही किया जाता है, तात्वि दृष्टि से नहीं। हमें पहले ही जान लेना चाहिए कि घटना की प्रकृति के अनुस नियम बनाए जाते हैं, न कि नियमों के अनुसार घटना घटती है। इसी प्रक तत्त्वतः व्याकरणसूत्र के अनुसार शब्दप्रयोग नहीं होता है प्रत्युत व्याक का सूत्र ही शब्दप्रयोग की प्रकृति को दिखाता है। व्याकरण पूर्णतः श (शब्द) के अधीन होता है—'लक्ष्यपरतन्त्रत्वात् लक्षणस्य' (प्रदीप १।२।८)

व्याकरण की मूल भूत दृष्टि—वस्तुतः वैयाकरणो का सिद्धान्त यह है कि शब्दसाधुत्व का ज्ञान व्याकरण से होता है, और लोक से शब्दार्थ का ज्ञान होता है, जो कदापि शास्त्रसापेक्ष नही है (न हि अविद्यमान-सम्बन्धस्य शक्तिः शास्त्रेण नियम्यते, प्रदीप २।१।७०) और वस्तुतः शब्दार्थ-सम्बन्ध का यथार्थ ज्ञान व्याकरण से न होकर वृद्धव्यवहार मे ही होता है, जैसा कि कैयट ने कहा है—'तस्माद् वृद्धव्यवहारादेव शब्दार्थ सम्बन्धव्युत्पत्तिः अनिच्छताऽपि युक्तिवशाद् एष्टव्या' (प्रदीप २।८।१), अतः पाणिनीय वैयाकरण निःसशय होकर यह मानते हैं कि साधुत्वमात्र शास्त्रसापेक्ष है, पर अर्थज्ञान शास्त्रसापेक्ष नही है (साधुत्वमात्र शास्त्रैकगम्यम् प्रयोग-तदर्थ-ज्ञान तु प्राक्शास्त्रादपि अस्त्येव पाणिनेः—उद्द्योत १।३।१०), जिससे पूर्वोक्त सिद्धान्त ही दृढीकृत होता है।

व्याकरण का अन्वाख्यान—पाणिनि-व्याकरण की इस अन्वाख्यान-*परायणता को आचार्य भर्तृहरि ने स्पष्टशब्द मे दिखाया है, यथा—'तस्मादकृतक* शास्त्र स्मृति च सनिबन्धनाम्, आश्रित्यारभ्यते शिष्टैः शब्दानामनुशासनम्' (वाक्यपदीय १।४३)। पाणिनि ने नूतन 'शब्दानुशासन' आरम्भ करने से पहले पूर्व-प्रचलित शब्द-व्यवहार और तदन्वाख्यायक पूर्वाचार्यों के व्याकरण सम्बन्धी स्मृतिशास्त्रो को देखा और तदनुसार अपना शास्त्र रचा। इसकी व्याख्या मे हरिवृषभ ने युक्तियो से प्रमाणित किया है कि वैयाकरण को प्रतिपद लोक-सिद्ध शब्दव्यवहार मानकर चलना पडता है।[1]

इस दृष्टि को पतञ्जलि ने और भी उदात्तस्वर से कहा है—'यच् शब्द आह—तदस्माक प्रमाणम्'। अब विचारना चाहिए कि व्याकरणशास्त्र का प्रमाण है 'शब्द', अतः वह प्रमाणो का नियमन या उद्भावन कैसे कर सकता है? जो जिसको प्रमाण मानता है, क्या वह उसको गत्यवरोधादि कर सकता है? हाँ, प्रमाण भ्रष्ट न हो जाए, या प्रमाण का स्वरूप और वलिष्ठ और स्पष्ट हो जाए, इसके लिये तो चेष्टा की जा सकती है, पर प्रमाण का नियमन नही हो सकता। किंच व्याकरण का विषय भी शब्द ही है, अतः प्रमाण और विषय दोनो शब्द

१—तस्मादपौरुषेयमनतिशङ्कनीय पुरुषहितोपदेशाय प्रवृत्तमाम्नाय प्रमाणी-कृत्य, पृषोदरादिवच्च साधुशब्दप्रयोगेषु शिष्टाचारितमविच्छिन्नपारम्पर्य स्वचरण-समाचार परिगृह्य, विरोधे च स्थितविकल्पानि उत्सर्गापवादवन्ति पूर्वेषामृषीणा स्मृतिशास्त्राणि प्रतिकाल दृष्टशब्दशक्तिस्वरूपव्यभिचाराणि प्रमाणीकृत्येद-माचार्यैः शब्दानुशासन प्रक्रान्तमनुगम्यते (हरिवृषभटीका १।४३)।

ही होने के कारण शब्दप्रयोग में व्याकरण का प्राधिपत्य नहीं बनता हाँ, अन्वाख्यानरूप अनुशासन बन सकता है। इसी दृष्टि से भर्तृहरि ने कहा था— 'साधुत्वज्ञानविषया सैषा व्याकरणस्मृति' (वाक्यप १।१४३) अर्थात् व्याकरण स्मृति केवल इतना ही दिखाती है कि किस अर्थ में कौन आनुपूर्वी साधु है और यह दिखाकर ही वह निवृत्त हो जाती है। व्याकरण से भाषावृत्ति के नियम बनाए नहीं जाते प्रत्युत भाषागत नियम आवेदित होते हैं [तु परस्मेति (३।१।२) नियमेन आवेदितम्—वाक्यप० टीका १ का० (१४। ८३)।

वस्तुतः पाणिनि के व्याकरण से एक भी ऐसा शब्द नहीं बनाया जा सकता जो पहले से लोकसिद्ध न हो। सूत्र की प्राप्ति होने पर भी उसका प्रयोग नहीं किया जाता यदि तदनुरूप लोकसिद्ध शब्द न हो, ऐसा पतञ्जलि ने कई बार दिखाया है। यथा—पाणिनि के 'तत आगतः' (४।३।७४) सूत्र के अनुसार 'वृक्षमूलाद् आगतः' इस अर्थ में 'वार्क्षमूल' शब्द बनना चाहिए, पर वह नहीं बनाया जाता, क्योंकि 'वार्क्षमूल' शब्द का प्रयोग नहीं है (द्रष्टव्य भाष्य ४।३।२२)। क्यों सिद्ध शब्दों को छोड़कर अप्रसिद्ध शब्दों की ओर व्याकरण की प्रवृत्ति नहीं होती—इसका हेतु आचार्य कैयट ने दिया है—'लोकप्रसिद्धार्थानां शब्दानामिह साधुत्वान्वाख्यानात्' (प्रदीप १।२।३७)। इसमें युक्ति यह है कि प्रयुक्त शब्दों की साधुता (अमुक शब्दानुपूर्वी अमुक अर्थ में साधु = वाचक है) तथा असाधुता के ज्ञापन के लिये व्याकरण रचा जाता है। शास्त्र के इस साधुत्वज्ञापनस्वभाव को स्पष्टतया कैयट ने दिखाया है यथा— 'लोके स्वार्थे प्रयुज्यमानानां शब्दानां साधुत्वमात्रम् अनेन शास्त्रेण अन्वाख्यायते न तु अर्थे नियोगः क्रियते' (प्रदीप १।१।१) अर्थात् लोक में अपने अर्थ में जो शब्द प्रयुक्त हैं उनका अन्वाख्यान-मात्र शास्त्र करता है। अन्वाख्यान 'साधुत्व का ज्ञापन' है साधुत्व का नियमन नहीं देवदत्त मनुष्य है—ऐसा कहने से देवदत्त मनुष्य नहीं हो जाता प्रत्युत यह वाक्य देवदत्त की प्राकसिद्ध मनुष्यता को दिखाता है ऐसा यहाँ भी समझना चाहिए।

व्याकरण शब्द-प्रयोग का तत्त्वतः नियामक नहीं है—व्याकरणशास्त्र का व्यापार भी प्रमाणित करता है कि व्याकरण से शब्दगति का अवरोध या अपूर्व शब्दनिर्माण संभव नहीं है। वार्तिककार ने कहा है—'सद्-आख्यानत्वात् शास्त्रस्य' (१।१।६१) अर्थात् शास्त्र सत् (= विद्यमान) शब्दों का अन्वाख्यान करता है। यह अन्वाख्यान किस प्रकार का है इस विषय में आचार्य कैयट कहते हैं—'शास्त्रेण करणेन आचार्यः स्मर्ता सद् विद्यमानं वस्तु

निमित्तत्वेन अन्वाचष्टे' (प्रदीप), अर्थात् पाणिनि ने पहले से विद्यमान शब्दो का स्मरण कर किसी एक निमित्त को लेकर शब्दों का अन्वाख्यान किया है, जिस अन्वाख्यान रूप कार्य का करण शास्त्र है। यह वाक्य भी प्रमाणित करता है कि पाणिनि ने शब्दो की गति का अवरोध नही किया है, क्योकि—

(१) पाणिनि स्मर्त्ता है, कर्ता नही।

(२) विद्यमान वस्तु का स्मरण कर उन्होने अन्वाख्यान किया है, नूतन शब्द सृष्टिपूर्वक नही।

(३) व्याकरण अन्वाख्यान का करण (सर्वोच्च सहायक) है।

(४) अन्वाख्यान किन्ही व्यवस्थित निमित्तो को लेकर किया जाता है।

यदि हम इन चारो वाक्यो का अर्थ ठीक से समझे तो शब्दशास्त्रीय मान्यताओ का स्वरूप स्पष्ट हो जाएगा, और प्रमाणित होगा कि पाणिनि का शास्त्र विज्ञापक है, निष्पादक, व्यवस्थापक, या नियामक नही, तथा कही-कही जो पाणिनि मे निष्पादकत्व, व्यवस्थापकत्व और नियामकत्व दिखाई पडते हैं, भाषाशिक्षार्थी के लिये प्रक्रियाअवस्था मे ही प्रतिभास होते हैं, वे तात्त्विक नही हैं।

पाणिनि कर्तृक शब्द प्रयोग का अनवरोध—जो कहते हैं कि पाणिनि ने शब्दप्रयोगो का अवरोध किया है, उनका तात्पर्य क्या है, यह विचारना चाहिए। क्या पाणिनि ने कही कहा है कि अमुक अमुक शब्दो का प्रयोग नही होना चाहिए? किसका प्रयोग होना चाहिए, इतना तो पाणिनि ने अवश्य दिखाया है, पर किसका प्रयोग नही होना चाहिए (जो अवरोधकारी को सर्वथा स्पष्टरूप से कहना पडेगा), इस विषय मे पाणिनि सर्वथा मौन है। यदि कोई तर्क करे कि पाणिनि ने जिन शब्दो का साधुत्व नही दिखाया, वे पाणिनि के अनभिप्रेत हैं, और पाणिनि ने उन शब्दो का अवरोध किया है, तो यह बात असिद्ध है। इसमे निम्नोक्त युक्तियाँ आलोचनीय हैं :—

(१) पूर्वाचार्यों के वचनो से यह प्रमाणित है कि पाणिनि का व्याकरण सक्षिप्त है, सब साधु शब्दो का अन्वाख्यान उसमे नही है, अत पाणिनि की अनुक्ति मात्र मे शब्दविशेष का अवरोध सभव नही है।

(२) विचारना चाहिए कि शब्द-प्रयोग का नियमन किस रूप से संभव हो सकता है। विषय जिसके अधीन में हो, वह नियमन कर सकता है पर शब्द-प्रयोग कभी भी वैयाकरण के अधीन नही है। यदि सस्कृतशब्दो के ऊपर पाणिनि का

नियन्त्रण सिद्ध होता, तो पाणिनि अनेक सूत्रों के साथ-साथ बहुलम् न कहते और व्याख्याकारगण पाणिनि के अनेक सूत्रों को अनित्य नहीं कहते। जब वैयाकरण को शब्द-मर्यादानुसारी (उद्योत ५।१।२१) कहा जाता है, तब यह भी मानना पड़ता है कि वह शब्दगति का स्वरूप-निरूपण ही कर सकता है नियमन या अवरोध नहीं। अतः व्याकरण की प्रक्रिया के विषय में कहा जाता है—'न हि अव्यवस्थाकारिणा शास्त्रेण भवितव्यम्' (भाष्य ६।४।४२)।

(१) आचार्यों का परम मान्य सिद्धान्त यह है कि पाणिनि की अष्टाध्यायी केवल साधुशब्दों को दिखाती है पतञ्जलि के शब्दों में 'शिष्टपरिज्ञानार्था अष्टाध्यायी' (भाष्य ६।३।१०९) है। इस स्थल के भाष्य में पतञ्जलि ने पाणिनीय व्याकरण का व्यापार (तथा सार्थक्य) को स्पष्ट दिखाया है जो आज भी सभी भाषा-वैज्ञानिकों के लिये एक मननीय विषय है।

शब्दशास्त्रीय व्यापार की सीमा—व्याकरण विद्यमान शब्द (शब्दार्थ सम्बन्ध भी) का अन्वाख्यान करता है शब्दनिर्माण के विषय में उसका साक्षात् आग्रह नहीं है। पाणिनि-व्याकरण के इस मौलिक स्वरूप के विषय में पतञ्जलि ने कहा है कि जिस प्रकार घट के लिये लोग कुम्भकार के घर जाकर कहते हैं कि 'घट बनाओ मैं उसका प्रयोग करूँगा' उसीप्रकार वैयाकरणकुल में जाकर कोई नहीं कहता कि शब्द बनाओ मैं उसका प्रयोग करूँगा (पस्पशा)। यदि वैयाकरण शब्दों का निष्पादक या नियामक होते तो कुम्भकारवत् वे शब्द-निर्माण या शब्द-नियमन करते पर चूँकि शब्द-व्यवहार के ऊपर पाणिनि का कुछ भी नियमन नहीं है इसलिये शब्दप्रयोग का अवरोध पाणिनि ने किया है—ऐसा कहना हेतुशून्य प्रतिज्ञामात्र है। शब्द घट आदि क्यों नित्य हैं तथा उस नित्यता का स्वरूप क्या है इस विषय में कैयटाचार्य ने युक्ति दी है—'शब्दानां व्यवहारः अनादिवृद्धव्यवहारपरम्परा व्युत्पत्तिपूर्वक इति शब्दादीनां नित्यत्वम्' (प्रदीप १ आ०)। भाषा बनाई नहीं जाती, वह स्वतः लोकस्वभावानुसार प्रवाहित होती रहती है—शब्द-नित्यतावादी का यह मत अत्यन्त युक्तियुक्त है।

यदि व्याकरणशास्त्र की वस्तुतः नियामक¹ शक्ति होती तो उसकी अवरोधक

१—भाषा की प्रकृति का विश्लेषण करने पर जो नियम ज्ञात होते हैं, उनके द्वारा भाषा प्रयोग-सौकर्य का नियमन किया जा सकता है जो व्याकरण का गौण कार्य है। इस दृष्टि से 'भाषाविश्लेषक' और भाषानियामक' रूप दो व्याकरण भेद किए जा सकते हैं। व्याकरण का तात्त्विक रूप प्रथम वर्ग में आता है।

शक्ति भी मानी जाती, पर प्रयोगक्षेत्र मे पाणिनीय सम्प्रदाय का नियम है—'यथालक्षणम् अप्रयुक्ते'। पतञ्जलि ने बार-बार इस न्याय का व्यवहार अनिष्ट-प्रयोगनिवारण के लिये किया है। भाष्यकार के अनुसार इस न्याय का अर्थ है—'अप्रयुक्त शब्द की सिद्धि के लिये पाणिनि का सूत्र प्रवर्त्तित नही होता' (२।४।३४ प्रदीप-टीका)। जो केवल शब्दशास्त्र के बलपर शब्दार्थ-सम्बन्ध का ज्ञान करना चाहता है, वह कभी सफल नही हो सकता—इस सिद्धान्त का एक रोचक विवरण हेलाराज ने दिया है (द्र० वाक्यपदीय तृतीयकाण्ड वृत्ति० ८०)।

यदि पाणिनि के पास कुछ स्वाधीन शक्ति होती, तो यह कहा जा सकता था कि उन्होने संस्कृतभाषा की गति का नियमन किया, पर विचारने से पता चलता है कि पाणिनि का आश्रयभूत पदार्थ शब्द था और शब्द ही पाणिनि के अनुसार चरम प्रमाण है सुतरां यह कैसे कहा जा सकता है कि पाणिनि ने स्वप्रमाणभूत शब्दो की गति का अवरोध किया? लोक-सिद्ध शब्दो को मानकर पाणिनि उनका अन्वाख्यान करते है, अत पाणिनि के लिये यह संभव नही है कि वे शब्द-प्रगति मे बाधा दे। शब्दशक्ति के विषय मे पाणिनि का कोई भी निजी निर्देश (जो लोकसिद्ध न हो) प्रमाणभूत नही हो सकता, न ही पाणिनि वैसा करने का साहस ही कर सकते हैं, जैसा कि हरिदीक्षित ने कहा है—'यदि शब्द मे शक्ति अविद्यमान हो तो पाणिनि को सहस्र सूत्र भी उस शक्ति का स्फोरण नही कर सकते हैं' (शब्दरत्न १।२।६५)।

व्याकरण 'स्मृतिविशेष' है—वैयाकरणो का सिद्धान्त यह है कि पाणिनि स्मर्त्ता है। पूर्वाचार्य 'व्याकरण' को स्मृति कहते हैं, वस्तुत पाणिनि का शास्त्र स्मृति ही है (पाणिनिना स्मृति उपनिबद्धा—काशिका ४।१।११४)। शब्दो को स्मारक पाणिनि कभी भी नियामक नही हो सकते। वस्तुत. पाणिनि का तात्पर्य इतना ही है कि अमुक अर्थ मे अमुक शब्दानुपूर्वी साधु है, जैसा कि पाणिनीय शिक्षा के भाष्यकार ने स्पष्ट कहा है—व्याकरण एतत् चिन्त्यते गोशब्द. सास्नादिमत्यर्थे साधुः' (१ कारिका)।

स्मृति होने के कारण व्याकरण नियमत काल से अवच्छिन्न है, अर्थात् पाणिनि ने संस्कृत भाषा का जो अन्वाख्यान किया, वह चिरकालव्यापी भाषा का पूर्ण रूप से ज्ञापक है, ऐसी बात नही है। पाणिनि से पहले आपिशलि, काशकृत्स्न आदि वैयाकरण हुए थे, जिनका प्रामाण्य मानकर पाणिनि ने अपना ग्रन्थ रचा (पदमञ्जरी, पृ० ८), पर पाणिनि के व्याकरण मे

नियन्त्रण सिद्ध होता, तो पाणिनि अनेक सूत्रों के साथ-साथ 'बहुलम्' न कहते और व्याख्याकारगण पाणिनि के अनेक सूत्रों का 'अनित्य' नहीं कहते। जब वैयाकरण का शब्द-मर्यादानुसारी (उद्योत ५।१।२१) कहा जाता है, तब यह भी मानना पड़ता है कि यह शब्दशक्ति का स्वरूप-विधायक ही कर सकता है नियमन या अवरोध नहीं। अतः व्याकरण की प्रक्रिया के विषय में कहा जाता है—'न हि अव्यवस्थाकारिणा शास्त्रेण भवितव्यम्' (भाष्य १।१।४२)।

(१) भाषायों का परम मान्य सिद्धान्त यह है कि पाणिनि की अष्टाध्यायी केवल साधुशब्दों को दिखाता है पतञ्जलि के शब्दों में शिष्टपरिज्ञानार्थी अष्टाध्यायी (भाष्य ६।३।१०९) है। इस स्थल के भाष्य में पतञ्जलि ने पाणिनीय व्याकरण का व्यापार (तथा सार्वत्रय) को स्पष्ट दिखाया है जो आज भी सभी भाषा-वैज्ञानिकों के लिये एक मननीय विषय है।

शब्दशास्त्रीय व्यापार की सीमा—व्याकरण विद्यमान शब्द (शब्दार्थ सम्बन्ध भी) का अन्वाख्यान करता है शब्दनिर्माण के विषय में उसका साक्षात् आग्रह नहीं है। पाणिनि-व्याकरण के इस मौलिक स्वरूप के विषय में पतञ्जलि ने कहा है कि जिस प्रकार घट के लिये लोग कुम्भकार के घर जाकर कहते हैं कि 'घट बनाओ मैं उसका प्रयोग करूँगा' उसीप्रकार वैयाकरणकुल में जाकर कोई नहीं कहता कि शब्द बनाओ मैं उसका प्रयोग करूँगा (पस्पशा)। यदि व्याकरण शब्दों का निष्पादक या नियामक होते तो कुम्भकारवत् वे शब्द-निर्माण या शब्द-नियमन करते पर चूँकि शब्द-व्यवहार के ऊपर पाणिनि का कुछ भी नियमन नहीं है इसलिये शब्दप्रयोग का अवरोध पाणिनि ने किया है—ऐसा कहना हेतुशून्य प्रतिज्ञामात्र है। शब्द अर्थ आदि क्यों नित्य हैं तथा उस नित्यता का स्वरूप क्या है इस विषय में कैयटाचार्य ने युक्ति दी है—'शब्दार्थव्यवहारः अनादिवृद्धव्यवहारपरम्परया व्युत्पत्तिपूर्वक इति पाणिन्यादीनां नित्यत्वम्' (प्रदीप १ आ)। भाषा बनाई नहीं जाती वह स्वतः लोकस्वभावानुसार प्रवाहित होती रहती है—शब्द-नित्यतावादी का यह मत अत्यन्त युक्तियुक्त है।

यदि व्याकरणशास्त्र की वस्तुतः नियामक[1] शक्ति होती तो उसकी अवरोधक-

---

१—भाषा की प्रकृति का विश्लेषण करने पर जो नियम ज्ञात होते हैं, उनके द्वारा भाषा-प्रयोग-साङ्कर्य का नियमन किया जा सकता है जो व्याकरण का गौण कार्य है। इस दृष्टि से 'भाषाविश्लेषक और भाषाशासक' रूप दो कार्य भेद किए जा सकते हैं। व्याकरण का तात्त्विक रूप प्रथम वर्ग में आता है।

शक्ति भी मानी जाती, पर प्रयोगक्षेत्र मे पाणिनीय सम्प्रदाय का नियम है—'यथालक्षणम् अप्रयुक्ते'। पतञ्जलि ने वार वार इस न्याय का व्यवहार अनिष्ट-प्रयोगनिवारण के लिये किया है। भाष्यकार के अनुसार इस न्याय का अर्थ है—'अप्रयुक्त शब्द की सिद्धि के लिये पाणिनि का सूत्र प्रवर्तित नही होता' (२।४।२४ प्रदीप-टीका)। जो केवल शब्दशास्त्र के बलपर शब्दार्थ-सम्बन्ध का ज्ञान करना चाहता है, वह कभी सफल नही हो सकता—इस सिद्धान्त का एक रोचक विवरण हेलाराज ने दिया है (द्र० वाक्यपदीय तृतीयकाण्ड वृत्ति० ८०)।

यदि पाणिनि के पास कुछ स्वाधीन शक्ति होती, तो यह कहा जा सकता था कि उन्होने सस्कृतभापा की गति का नियमन किया, पर विचारने से पता चलता है कि पाणिनि का आश्रयभूत पदार्थ शब्द था और शब्द ही पाणिनि के अनुसार चरम प्रमाण है सुतरा यह कैसे कहा जा सकता है कि पाणिनि ने स्वप्रमाणभूत शब्दो की गति का अवरोध किया? लोक-सिद्ध शब्दो को मानकर पाणिनि उनका अन्वाख्यान करते हैं, अत पाणिनि के लिये यह सभव नही है कि वे शब्द-प्रगति मे वाधा दें। शब्दशक्ति के विपय मे पाणिनि का कोई भी निजी निर्देश (जो लोकसिद्ध न हो) प्रमाणभूत नही हो सकता, न ही पाणिनि वैसा करने का साहस ही कर सकते हैं, जैसा कि हरिदीक्षित ने कहा है—'यदि शब्द मे शक्ति अविद्यमान हो तो पाणिनि को सहस्र सूत्र भी उस शक्ति का स्फोरण नही कर सकते हैं' (शब्दरत्न १।२।६५)।

व्याकरण 'स्मृतिविशेष' है—वैयाकरणो का सिद्धान्त यह है कि पाणिनि स्मर्त्ता हैं। पूर्वाचार्य 'व्याकरण' को स्मृति कहते हैं, वस्तुतः पाणिनि का शास्त्र स्मृति ही है (पाणिनिना स्मृति. उपनिवद्धा—काशिका ४।१।११४)। शब्दो को स्मारक पाणिनि कभी भी नियामक नही हो सकते। वस्तुत पाणिनि का तात्पर्य इतना ही है कि अमुक अर्थ मे अमुक शब्दानुपूर्वी साधु है, जैसा कि पाणिनीय शिक्षा के भाष्यकार ने स्पष्टत कहा है—व्याकरण एतत् चिन्त्यते गोशब्द. सास्नादिमत्यर्थे साधु.' (१ कारिका)।

स्मृति होने के कारण व्याकरण नियमतः काल से अवच्छिन्न है, अर्थात् पाणिनि ने संस्कृत भाषा का जो अन्वाख्यान किया, वह चिरकालव्यापी भाषा का पूर्ण रूप से ज्ञापक है, ऐसी वात नही है। पाणिनि से पहले आपिशलि, काशकृत्स्न आदि वैयाकरण हुए थे, जिनका प्रामाण्य मानकर पाणिनि ने अपना ग्रन्थ रचा (पदमञ्जरी, पृ० ८), पर पाणिनि के व्याकरण मे

प्राचीन आचार्य से दर्शित सब शब्दों का अन्वाख्यान नहीं है। पाणिनि को उनके समय में प्रचलित संस्कृत का ही मुख्यत: अन्वाख्यान करना पड़ा जैसा कि हरदत्त ने कहा है—'पाणिनिरपि स्वकाले शब्दान् प्रत्यक्षयन् आपिशलादिना पूर्वस्मिन्नपि काले सताम् अनुसन्धत्ते' (पदमञ्जरी पृ ८)। आचार्य कैयट ने इस विषय में एक विलक्षण तथ्य का उद्घाटन किया है—*नियतकालाश्च स्मृतयो व्यवस्थाहेतव इति मुनित्रयमतेन प्रयत्ने साध्वसाधु प्रविभाग*' (प्रदीप ५।१।२१) अत: आज हमें संस्कृत के प्रयोगों में पाणिनि का पूर्णत: अनुसरण करना चाहिए पर साथ ही हमें यह भी जान लेना चाहिए कि पाणिनि के व्याकरण से परवर्ती काल में व्यवहृत संस्कृत का पूर्णत ज्ञान होना दुष्कर है।[1]

पाणिनि-स्मृत पूर्वाचार्य और शब्दनियमन—पाणिनि ने स्थान-स्थान पर अपने पूर्वाचार्यों का नामग्रहणपूर्वक उनके मतों का उल्लेख किया है। कुछ गवेषक कहते हैं कि इससे आचार्यविशेषकर्तृक शब्दनियमन सिद्ध होता ही है अत: पाणिनि नित्यशब्दवादी कैसे हो सकते हैं? पाणिनि-दर्शन के विषय में यह एक मौलिक प्रश्न है जिसके समाधान के बिना यह दर्शन विपर्यस्त हो सकता है। संक्षेप में इसका उत्तर यह है—

पाणिनीय सम्प्रदाय का सिद्धान्त यह है कि कोई भी आचार्य शब्द का *नियामक नहीं है वह स्मर्ता' मात्र है। पाणिनि ने जो अनेक सूत्रों में कई* आचार्यों के नाम लिए हैं उसका तात्पर्य केवल स्मारकत्व हेतु 'पूजा' को दिखाना है भाष्यकार ने ऐसा ही कहा है। 'पूजा' का तात्पर्य कैयट के अनुसार यह है—'सा चैवं पूजा भवति-यदि येन आचार्येण य: शब्द: स्मृत: स तेनैव स्मृतत्वेन उपदिश्यते एवं हि तस्य स्मृतृत्वेन प्रमाणत्वेन स्तुति: कृता भवति' (प्रदीप ७।२।६३)। अर्थात् स्मर्ता आचार्य का प्रामाण्य मानना ही उनकी 'पूजा' है।

'नवेति विभाषा' (१।१।४४) सूत्र के भाष्य में पाणिनि द्वारा स्मृत आपिशलि आदि आचार्यों के *मतोल्लेख के प्रामाण्य पर विचार किया गया है। भाष्यकार* का कथन है कि पाणिनि का व्याकरण यह मानता है कि जब अमुक सूत्र अमुक आचार्य का नाम लेकर किसी विधि का उल्लेख करता है, तब उसका तात्पर्य यह होता है कि उस आचार्य ने उस प्रयोग का स्मरण किया

[1]—इस तथ्य के सोदाहरण विवेचन के लिये मेरा 'संस्कृत भाषा का अनुशीलन' ग्रन्थ द्रष्टव्य है।

और यही 'पूजा' है। जिस आचार्य का नाम पाणिनि ने लिया है, उससे पृथक् अन्य आचार्यों ने उस शब्द का स्मरण नही किया—यह भी इससे ज्ञापित होता है (प्रदीप तथा उद्योत १।१।४३)। पर इसका कोई प्रभाव साधुत्व पर नही पड़ता, क्योंकि शब्दसाधुत्व आचार्यकृत नही है। शिष्टलोकव्यवहार्यता ही साधुता का चिह्न है, व्याकरण इस निर्धारण मे सहायक है।

व्याकरण मे अर्थानुशासन—व्याकरणप्रसग मे कैयट ने कहा है—'न तु अर्थे नियोग क्रियते' अर्थात् 'व्याकरण अर्थसवन्धी नियमन नही करता'। 'तेन रक्त रागात्' (४।२।१) सूत्र-टीका मे इस नियोगाभाव को कैयट ने इस प्रकार दिखाया है 'रक्तादि शब्दो का जो अर्थ है, वह यदि लौकिक प्रयोग मे प्रत्यय से अभिहित हो तो प्रत्यय होगा, नचेत् नही (प्रदीप ४।२।१)। वस्तुतः व्याकरण मानता है—सर्वत्र चात्र शब्दशक्ति. प्रयोगानुसारिणी प्रमाणम् (प्रदीप ६।३।४६)।

प्रश्न हो सकता है कि तब अनेक सूत्रो मे अर्थोपदेश क्यो है ? उत्तर—वह वस्तुतः अर्थादेश नही है, उत्सर्गापवादात्मक सूत्रो के प्रयोग मे अध्येता को भ्रम न हो जाए, इसलिये सुहृत् पाणिनि ने अर्थादेश किया है, जैसा कि कैयट ने कहा है—'असकरेण विशिष्ट एवार्थे अपवादा यथा स्यु' इत्येवमर्था अर्थनिर्देशाः' (प्रदीप ४।३।२५)। एक उदाहरण लीजिए। पाणिनि के सूत्रो के अनुसार 'पञ्चभि भुक्तम् अस्य' इस अर्थ मे वहुव्रीहि समास होना चाहिए। पर समास नही होता, क्योंकि अभिधान नही है। पतञ्जलि ने इस स्थल पर जो कुछ कहा है, वह स्पष्ट ही शब्दप्रयोग की व्यवस्था मे अभिधान की शक्ति को दिखाता है, यथा—"तच्च अवश्यम् अनभिधानम् आश्रयितव्यम्। क्रियमाणेऽपि परिगणने यत्र अभिधान न भवति, तत्र न वहुव्रीहि" (भाष्य २।२।२४), नागेश ने अभिधान का अर्थ कहा है—'शिष्टाना ततोऽर्थवोधरूपम्'।

इस विषय मे काशिकाकार का मत भी नि सशय रूप से व्याकरण की शक्ति की सीमा को दिखाता है, यथा—शब्दैः अर्थाभिधान स्वाभाविक न पारिभाषिकम् अशक्यत्वात् लोकत एवार्थावगतेः (काशिका १।२।५६)।[1]

१—हेलाराज कहते हैं—'यदि शास्त्र शब्दाना जनकं स्यात्, तदा यथाशास्त्रम् शब्दानामर्थोऽवतिष्ठेत, न चैवम्, नित्या शब्दा शास्त्रेण ज्ञाप्यन्ते तथा चार्थाना देशनात् किञ्चिदर्थरूपमदूर विप्रकर्षेण समानत्वमशभावेन आश्रित्य अवस्थितमेव शब्दरूप नियतार्थम् अन्वाख्यायते इति सिद्धमिष्टम् (पुरुष समुद्देश ८ कारिका टीका)।

व्याकरणगत अर्थ निर्देश—इस विषय में प्रश्न हो सकता है कि यदि व्याकरण अर्थ-नियमन नहीं करता तो सूत्रों में अर्थनिर्देश क्यों किया गया? शब्दान्वाख्यानपरायण व्याकरण अर्थदिश क्या करता है? उत्तर में वक्तव्य यह है कि पाणिनि की अर्थदिशन-प्रक्रिया के रहस्य को जानने पर ऐसा प्रश्न उठता ही नहीं है। स्वयं पतञ्जलि ने इस विषय में २।१।१ सूत्रभाष्य में विस्तृत विचार कर जो सिद्धांत दिखाया है उसका निर्गलित अर्थ यहाँ संक्षेप में दिखाया जा रहा है—

पाणिनि ने वस्तुतः अर्थों का आदेश नहीं किया प्रत्युत लोकसिद्ध अर्थों का अनुवाद कर मात्र किया है। जैसे यदि कोई कहता है कि 'आकाश में चन्द्र को देखो' तो यह समझना चाहिए कि चन्द्र अपने स्वभाव से आकाश में है न कि चन्द्र को आकाश में स्थित कर ऐसा कहा जाता है। जिस प्रकार आकाश को चन्द्र के लक्षण (तत्स्थता) की तरह मानकर वक्ता कहता है उसी प्रकार पाणिनि भी स्वभावतः अर्थों में अभिनिविष्ट शब्दों का किसी निमित्त को लेकर अन्वाख्यान करते हैं। इसी दृष्टि के अनुसार नागेश ने कहा है— तस्मात् लोकप्रसिद्धानामेव निमित्तत्वेन अन्वाख्यानमित्येव युक्तम्' (उद्योत २।१।१)।

अन्वाख्यान के विषय में भर्तृहरि ने जो कुछ कहा है, उससे भी सिद्ध होता है कि व्याकरण नियामक नहीं है (द्र० वाक्यपदीय २।१७२-१८८)। उपर्युक्त प्रघट्टक में पाणिनि-व्याकरण का स्वरूप विश्लेषण कर यह प्रमाणित किया गया है कि पाणिनि ने व्याकरण रच कर शब्दमति का अवरोध नहीं किया था।

व्याकरण के दो व्यावहारिक उद्देश्य—पाणिनि के अनुसार व्याकरण के दो व्यावहारिक प्रयोजन हैं—

(क) सामान्य-विशेष-नियमों के ज्ञान से समस्त शब्दों का ज्ञान

(ख) भाषा के शुद्ध रूप की रक्षा में सहायक होना।

यहाँ इन दोनों तत्त्वों का अपेक्षित विवरण दिया जा रहा है।

व्याकरण किस रूप से सामान्य सूत्र और विशेष सूत्र की रचना कर शब्दों का अन्वाख्यान करता है, इसका सोदाहरण विचार महाभाष्य में है (प्रत्यय परपशाह्निक)। यद्यपि अन्वाख्यान की प्रक्रिया में आचार्य स्वतन्त्र हैं पर यह स्पष्ट जान लेना चाहिए कि शास्त्रकार भी लोकप्रामाण्य की अवहेलना कर अन्वाख्यान नहीं कर सकता क्योंकि वह लोकप्रसिद्ध शब्दों का ही अन्वाख्यान करता है। इस न्याय का एक विलक्षण प्रयोग ६।२।२७ सूत्रीय टीकादि में है।

इस विषय मे दूसरी बात यह है कि व्याकरण कभी भी शब्दो का अन्वाख्यान पूर्णतः कर नही सकता। कैयट ने ठीक ही कहा है—'अशक्यो वा आनन्त्यात् सर्वशब्दानुगमः' (प्रदीप ५।१।५९)। शब्दो की इस अपरिमेयता और व्याकरणसामर्थ्य की ससीमता को देखकर ही पाणिनि ने अनेक सूत्रो मे 'बहुलम्' (अर्थात् सूत्र का प्रयोग अनिर्दिष्टरूप से करना चाहिए) शब्द का व्यवहार किया है। 'बहुल' शब्द की यह सार्थकता प्राचीन आचार्यों ने ही दर्शाई है—अपरिपूर्णाना हि पूर्णत्व बहुलग्रहणेन क्रियते (प्रदीप ३।३।१)।

व्याकरण की इस अशक्ति को देखकर ही पाणिनि ने अनेक सूत्रो मे 'दृश्यते' शब्द का व्यवहार किया है, जिसका अर्थ यह किया जाता है कि प्रयोगो को देखकर सूत्रो का उपयोग करना चाहिए (प्रदीप २।३।२)।

व्याकरण 'साधुत्वज्ञानविषया स्मृति' है, यह दिखाया गया है। कैयट ने कहा है—प्रयुक्ताना शब्दाना साध्वसाधुविवेकाय शास्त्रारम्भात्' (प्रदीप ४।२।१)। जिससे ध्वनित होता है कि पाणिनि के समय साधु तथा असाधु दोनो प्रकार के शब्द लोक-प्रचलित थे, और पाणिनि ने लोक-प्रचलित शब्दो मे कौन साधु है, इसका ज्ञापन किया। अन्यत्र इसी भाव को निम्नोक्त शब्दो मे दिखाया गया है—'इह नित्याना शब्दाना सकीर्णप्रयोगदर्शने सति साध्वसाधुविभागाय शास्त्रारम्भः' (प्रदीप ३।१।७), सुतरा यह मानना पडता है कि शब्दो के अन्वाख्यान के द्वारा साधु और असाधु का विवेक करना व्याकरण शास्त्र का कार्य है।

धीर बुद्धि से विचारने से विज्ञात होता है कि यही पाणिनि का मौलिक कार्य था, जैसा कि प्रदीपकार ने कहा है—'सिद्धाना च शब्दाना सकरनिरासाय अन्वाख्यान क्रियते न तु अप्रयुक्त अपूर्व-शब्दव्युत्पादनाय' (३।१।८), अर्थात् सिद्ध शब्दो का ही अन्वाख्यान किया जाता है, व्याकरणशास्त्र अप्रयुक्त या अपूर्व शब्दो का निष्पादन करने के लिये प्रयास नही करता। पाणिनीय-वैयाकरण अपशब्दो की सत्ता को मानते हैं, और यह भी कहते हैं कि अपशब्द भी लोकसिद्ध एव अर्थवान् हैं (अपशब्दो हि लोके प्रयुज्यते, साधुशब्द-समानार्थश्च, प्रदीप ३।१।८), पर अपशब्द साधु नही हैं, किंच व्याकरण यह भी मुख्यत दिखाता है कि कौन शब्द साधु है जैसा कि कैयटाचार्य ने कहा है—'साधुत्वप्रतिपादनार्थत्वात् शास्त्रस्य साधुत्वस्यैव प्राधान्यात्' (प्रदीप १।१।४३)। पर गौण रूप से असाधु शब्द का विवेक भी साधुशब्दान्वाख्यान से हो जाता है, और इसलिये यह कहना उचित प्रतीत होता है कि व्याकरण साधुशब्दो का

ज्ञापन करता है (उन शब्दों का अन्वाख्यान पूर्वक) तथा गौणरूप से असाधु शब्दों के साधुत्व का निरास करता है, जैसा कि आचार्य ने कहा है— 'लोके प्रयुज्यमानस्य साधुत्वम् असाधुत्वं च विचार्यते गोगाव्यादिशब्दवत्' (प्रदीप २।१।१)। इस विषय में सारभूत वाक्य यह है— नित्येषु शब्देषु प्रयोग-संकरे स्थिते ग्राम्यादिप्रयोगनिवारणायेद शास्त्रम्' (प्रदीप २।२।१०)। व्याकरणावश्यकता के निर्णय में यह वाक्य अवश्य विचार्य है।

पाणिनि व्याकरण के मौलिक सिद्धान्त—उपसंहार मे हम पाणिनीय व्याकरण के मौलिक सिद्धान्तों का सारसंकलन प्रस्तुत कर रहे हैं —

(क) शब्द अर्थ तथा इन दोनों सम्बन्ध नित्य है।

(ख) नित्य = व्याकरण से अनिष्पाद्य।

(ग) शब्दार्थ में लोक-व्यवहार का प्रतिषेध अशक्य है तथा वह परम प्रमाण है।

(घ) व्याकरण तत्त्वतः न नियामक है न निष्पादक।

(ङ) यह मुख्यतः 'किस अर्थ में कौन वर्णानुपूर्वी साधु है' इसका विचार करता है।

(च) गौणरूप से यह असाधु शब्द का विवेक भी करता है। (साम्य साधुसंकरनिरास)।

(छ) व्याकरण एक स्मृति है जो काल से अवच्छिन्न है।

(ज) सुतरां व्याकरण किसी न किसी अंश तक अपूर्ण है।

(झ) अन्वाख्यान की भिन्नता से शब्दप्रयोग की भिन्नता नहीं होती।

(ञ) व्याकरण से अयुक्त शब्द भी साधु हो सकते हैं।

अष्टादश परिच्छेद

पाणिनीय वैयाकरणों की प्रकृति-प्रत्ययविश्लेषणपरक दृष्टि

व्याकरणशास्त्र शब्दो का अन्वाख्यान करता है। यह अन्वाख्यान किस दृष्टि से किया जाता है तथा अन्वाख्यान-प्रक्रिया का कारण क्या है—इत्यादि विषयो की आलोचना पाणिनीय वैयाकरणो की मान्यता के आधार पर की जा रही है। यह विवेचन आधुनिक वैयाकरणो मे प्रचलित धारणाओ के अनुसार ही किया जा रहा है। प्राचीनतर सामग्री के मिलने पर प्रचलित धारणाओ मे कुछ परिवर्तन करना आवश्यक होगा, ऐसा हमें प्रतीत होता है।

अन्वाख्यानस्वरूप—पहले शब्दो (भाषा) से वाक्यो का पृथक्करण, फिर वाक्यो का पदो मे विभाग, और उसके बाद पदो का प्रकृति-प्रत्ययो में विश्लेषण (आगम-आदेश इत्यादि के साथ)—ये तीन विभाग अन्वाख्यान मे प्रसिद्ध हैं। इस प्रसग मे यह पहले ही जान लेना चाहिए कि वैयाकरण पहले से सिद्ध शब्दो का अन्वाख्यान करते हैं,[1] न कि प्रकृति-प्रत्ययो का इच्छा-पूर्वक सयोग कर असिद्ध शब्दो को बनाते हैं। जब तक प्राचीन आचार्यों द्वारा उपदिष्ट यह सिद्धान्त हृदयङ्गम नही होगा, तब तक 'अन्वाख्यान' का रहस्य कदापि बोद्धव्य नही होगा।

वैयाकरण शब्दो को पहले से सिद्ध मानकर प्रकृति-प्रत्ययो की कल्पना करते हैं। भाष्यकार ने स्पष्टत. कहा है—'सत् शास्त्रेण अन्वाख्यायते।' कैयट ने इस वाक्य की व्याख्या मे कहा है—'शास्त्रेण करणेन आचार्य· स्मर्ता सद् विद्यमान वस्तु निमित्तत्वेन अन्वाचष्टे' (२।२।६२)। वैयाकरण वस्तुत. शब्दो का कर्ता नही, स्मर्ता होता है, जिस प्रकार कुम्भकार के पास जाकर उसको घट बनाने के लिये कहा जाता है, इस प्रकार का व्यवहार शब्दक्षेत्र मे नही देखा जाता। व्याकरणशास्त्र का मूल 'प्रयोग' है, अत प्रयोग के अभाव में सूत्र की प्रवृत्ति ही नहीं होती (प्रदीप ६।१।९९)। व्याकरण (= लक्षण) लक्ष्य के अधीन ही होता है—'लक्ष्यपरतन्त्रत्वात् लक्षणस्य' (प्रदीप ५।१।८०)।

अन्वाख्यान की आवश्यकता—इस अन्वाख्यान पद्धति की आवश्यकता के विषय मे कुछ कहना अप्रासङ्गिक न होगा। प्राचीन सवाद में कहा गया है कि

१—लोकप्रसिद्धार्थानुवादेन साधुत्वान्वाख्यानात् (प्रदीप ५।२।२०)।

बृहस्पति ने इन्द्र को 'प्रतिपदपाठ' रीति से दिव्य वर्षसहस्र तक पढ़ाया, शब्दराशि का अन्त नहीं हुआ।[1] केवल शब्दों की गणना करके उनका अप करने से कदापि सब शब्दों का अर्थज्ञान सम्भव नहीं है इसीलिये उत्सर्ग अपवाद सूत्रों की रचना करके शब्दार्थ ज्ञान कराया जाता है—ऐसा पतञ्जलि कहा है (द्र० पस्पशाह्निक)। कोष आदि की शक्ति व्याकरण की अपेक्षा है क्योंकि कोष में जितने शब्दों का संकलन है उनके अतिरिक्त शब्दार्थों ज्ञान कोषपाठी को प्रायेण नहीं होता पर व्याकरण की अन्वाख्यान-पद्धति व्युत्पादित शब्दों के अतिरिक्त अन्य शब्दों का भी अर्थ ज्ञान हो सकता व्याकरण की पद्धति से पद के उपादान के ज्ञान-पूर्वक पद-पदार्थ-ज्ञान कर जाता है अतः इस पद्धति से अज्ञातार्थक शब्दों का भी 'अर्थज्ञान' हो जाता जिस प्रकार पाँच ही तत्त्वों का ज्ञान हो जाने से असंख्य बाह्य द्रव्यों का ज्ञ हो जाता है (सांख्यमतानुसार) उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिए शास्त्रीय पद्धति के अनुसार व्याकरणशास्त्र को पढ़ने से इसकी सत्यता प्रमाणि होगी।[2]

प्रकृति प्रत्ययविश्लेषण की उपादेयता—व्याकरण की प्रकृति प्रत्य विश्लेषण-पद्धति से लघुता से शब्दार्थ का ज्ञान होता है यह मत वैयाकरणों प्रसिद्ध है। नागेश ने लिखा है—

तत्र प्रतिवाक्यं संकेतग्रहासम्भवात् तदन्वाख्यानस्य लघूपायेन अशक्यत कल्पनया पदानि प्रविभज्य पदे प्रकृतिप्रत्ययभागकल्पनेन कल्पिताभ्यामन्वय व्यतिरेकाभ्यां तत्तदर्थविभागं शास्त्रमात्रविषयं परिकल्पयन्ति स्माचार्या (लघुमञ्जूषा)।

१—बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच नान्तं जगाम (भाष्य-पस्पशाह्निक)।

२—वेद का पदपाठ भी एक प्रकार की शब्द-विश्लेषण-पद्धति ही है। समास में समस्यमान पदों को दिखाना तथा क्रिया पद में उपसर्ग और धातु को पृथक् करना इत्यादि पदपाठ के विषय हैं। यह आदिम विश्लेषण-पद्धति है। व्याकरण इस पद्धति का ही अतिविकसित रूप है। पतञ्जलि ने स्पष्ट शब्दों में बताया है कि पदकार किसी भी प्रकार से व्याकरण की विश्लेषण-पद्धति की उपेक्षा नहीं कर सकते—'न च लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः पदकारैर्नाम लक्षणमनुवर्त्यम्' (६।१।२ ७)।

नागेशभट्ट का यह वाक्य वैयाकरणो की शब्द-विश्लेषण-पद्धति के मूल-स्वरूप का ज्ञापक है। इस सारभूत वाक्य मे विश्लेषणपद्धति के विषय मे निम्नोक्त सिद्धान्त दिखाए गए है—

(१) शब्दार्थबोध मे लाघव के लिये शब्दो का प्रकृति-प्रत्ययविभाग किया गया है।

(२) यह विभाग वस्तुतः असत्य और काल्पनिक है तथा धातु, प्रातिपदिक आदि के जो अर्थ दिखाए जाते हैं, वे भी काल्पनिक है।

(३) यह प्रकृति प्रत्यय-विभाग केवल शास्त्रगम्य है, लौकिक (लोक-विदित) नही।

शब्द का यथार्थविपरिणामाभाव—उपर्युक्त तथ्य पर विचार करने से पहले एक महत्त्वपूर्ण विषय की ओर पाठको का ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। प्राचीन वैयाकरण कभी भी यह मानने के लिये तैयार नहीं है कि किसी अन्य भाषा के शब्द (चाहे भारतीय उच्चारण के अनुसार थोडा-सा विकृत होकर ही सही) सस्कृत भाषा मे विद्यमान हैं। अतः आजकल जिस पद्धति से भाषान्तरीय शब्दो के उच्चारण की समानुपाती विकृति को दिखाते हुए शब्दो की निरुक्ति की जाती है (जैसे संस्कृत दर्पवत् > प्रा० दप्पुल > दपउल > ढपउल >—इत्यादि क्रम से हिन्दी के 'ढपोल' शब्द की निरुक्ति[1]), उस पद्धति का प्राचीन व्याख्याकारो ने कही भी आश्रय नही लिया। उनका विश्वास था कि सस्कृत भाषा सब प्राकृत-भाषाओ की जननी है और नियत है, तथा किसी अन्य भाषा के शब्द इसमें नही हैं।[2] भर्तृहरि ने इस मत को माना है तथा यह भी कहा है कि यह वाक् अर्थात् सस्कृत भाषा अनित्य नही है (दैवी वाग् व्यवकीर्णेयमशक्तैरभिधातृभिः, अनित्यदर्शिना त्वस्मिन् वादे बुद्धिविपर्यय —वाक्यपदीय १।१५६)।

प्राचीन शाब्दिक शब्द का रूपान्तर न मानकर (अर्थात् कभी यह शब्द अमुक रूपवाला था बाद में अमुक रूपवाला हो गया—इस प्रकार) प्रत्येक

१—द्रष्टव्य ना० प्र० पत्रिका (वर्ष ५४ अङ्क २-३) मे डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का लेख 'हिन्दी के सौ शब्दो की निरुक्ति'।

२—यहाँ मत ही दिखाया गया है। आधुनिक भाषाविज्ञानी इस मत को नही मानते।

शब्द को स्वतःसिद्ध मानते थे। जहाँ उन्होंने एक शब्द से अन्य शब्द की उत्पत्ति दिखाई है वहाँ वे उत्पादक शब्द को वास्तविक और लोकप्रयोगार्ह नहीं मानते थे। उनके मत से स्थानी तथा आदेश (यत' में यत नहीं है, यत') काल्पनिक हैं, क्योंकि लोक में उनका स्वतन्त्र प्रयोग नहीं होता। व्याकरण के आदेश आगम आदि क्यों लौकिक शब्द नहीं हैं, इसका एक उत्तर नागेशभट्ट ने दिया है कि कोष में आगम आदि का उल्लेख न होनेके कारण उनकी वाचकता (लौकिकशब्दत्व) नहीं है (उद्द्योत ३।१।११)। इस विषय में स्पष्ट युक्ति कैयट ने दी है—'शब्दसंस्काराय हि शास्त्रे सर्वत्र परिकल्पितार्थवत्ताऽश्रीयते तात्त्विकी तु वाक्यस्यैव, तस्यैवार्थप्रत्यायनाय प्रयोगात्' (प्रदीप ५।१।१०) अर्थात् वास्तविक अर्थवत्ता वाक्य में होती है और उसी का अवबोध कराने के लिए प्रकृत्यादि की अर्थवत्ता कल्पित की जाती है। इससे वाक्य का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है तथा यह सिद्धान्त प्रतिपादित होता है कि मूलतः वाक्यार्थ-ज्ञान के लिये ही व्याकरणशास्त्र में प्रकृति-प्रत्ययविचार किया जाता है।

अब यहाँ इस प्रकृति-प्रत्यय-विभाग-पद्धति का विशेष विवरण प्रस्तुत किया जाता है —

द्विविध अन्वाख्यान—मौलिक अन्वाख्यान दो प्रकार का है। एक 'वाक्य विभज्यान्वाख्यान' और दूसरा 'पदविभज्यान्वाख्यान'। इन दोनों प्रकारों के नाम यथाक्रम वाक्य-संस्कार' पक्ष और पद-संस्कार' पक्ष भी हैं। पदों की ओर ध्यान न रखकर जब केवल वाक्यों का ही संस्कार (वाक्यार्थ को लक्ष्यकर उसका विभाग) किया जाता है तब वाक्य-संस्कार पक्ष होता है और जब पदों का संस्कार (पदार्थ को लक्ष्यकर पद का प्रकृति प्रत्यय आदि में विभाग) किया जाता है तब पदसंस्कार पक्ष होता है। सूत्र ६।१।८८ के भाष्य में इन दोनों के उदाहरण दिए गए हैं। इन दोनों पक्षों में प्रयोग की दृष्टि से क्या भेद है यह भी व्याख्याग्रन्थों में दिखाया गया है। वस्तुतः श्रोता को पहले वाक्य (= विशेष्यविशेषणभावयुक्त क्रिया) का बोध होता है फिर उसके बाद वाक्य में पदों की प्रतीति पृथक् होती है अतः विशेषण भी वाक्यविशेषण तथा 'पद-विशेषण' रूप दो प्रकार का होता है। (द्र प्रदीप ३।१।११ ३।४।७७ इत्यादि)। पूर्वाचार्यों के कथन से यह स्पष्टतया अनुमित होता है कि प्राचीनों के अनुसार 'सिद्ध वाक्यों से पदों को पृथक् किया जाता है न कि पदों से वाक्य बनता है'। पदों से यदि वाक्य बनता है तो केवल प्रक्रिया की दृष्टि से तत्त्वतः नहीं।

पद की काल्पनिकता—कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि केवल प्रकृति-प्रत्यय-विभाग ही काल्पनिक है, पर पाणिनीय वैयाकरणो का यथार्थ सिद्धान्त यही है कि वाक्यान्तर्गत पद भी काल्पनिक हैं। पद यदि सत्य होता तो कदाचित् 'हे राजपुरुष' कहने से 'राज' रूप क्रियापदार्थ की भी प्रतीति होती। 'न लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः पदकारैर्नाम लक्षणमनुवर्त्यम्'—भाष्यकार का यह वाक्य (६।१।२०७) पद-विभाग की काल्पनिकता को प्रमाणित करता है। वाक्य-पदीयकार ने यह प्रमाणित कर दिया है कि पद-विभाग मिथ्या है, अत. पदो का रूढ यौगिक योगरूढ रूप विभाग भी मिथ्या है (द्र० द्वितीय काण्ड)।

पाणिनीय सप्रदाय के अनुसार 'पाचक', 'लेखक' आदि शब्द यौगिक हैं, तथा 'घट' आदि शब्द रूढ हैं, पर वृद्धकातन्त्र सप्रदाय के अनुसार 'पाचक' आदि शब्द भी 'वृक्ष' आदि शब्दो की तरह रूढ ही हैं (वृक्षादिवद् अमी रूढाः—कातत्र की दुर्ग टीका)। पदो का काल्पनिक विश्लेषण कर 'प्रकृति-प्रत्यय' की कल्पना की जाती है, अत काल्पनिक प्रकृति-प्रत्यय की प्रवृत्ति के अनुसार वास्तविक पदो मे विभाग नही हो सकता। यदि विभाग (रूढ, यौगिक आदि) किया भी जाए तो उसमे काल्पनिक विषय मे ही विप्रतिपत्ति होती है, वास्तविक पद मे नही—यह मत वैयाकरणसप्रदाय मे प्रसिद्ध है।

व्याकरणोक्त उपायों की अनियतता—प्रकृति-प्रत्यय-विभाग की काल्प-निकता को मानने से और एक सिद्धान्त निर्गलित होता है। वह है—उपायो की अनियतता, अर्थात् जब प्रकृति-प्रत्यय आचार्य की कल्पना के अनुसार कल्पित हैं, तब अपनी रुचि के अनुसार (व्याकरणरचनापद्धति के अनुकूल) प्रकृत्यादि की कल्पना कर पदो की सिद्धि की जा सकती है। इसीलिये सभी व्याकरणो में सिद्ध पदो का स्वरूप समान होनेपर भी उनके उपादानभूत प्रकृति-प्रत्यय आदि मे अशेष विभिन्नता देखी जाती है। यह दोषावह नही है, क्योंकि उपाय मे भेद होनेपर भी उपेय (व्याकरण प्रक्रियानिष्पन्न साधु शब्द और उसके लौकिक अर्थ) मे भेद नहीं होता। उपायो की व्यर्थता स्वय आचार्य भर्तृहरि ने बतलाई है—'उपादायाऽपि ये हेयास्तानुपायान् प्रचक्षते, उपायाना च नियमो नावश्यमवतिष्ठते' (वाक्यपदीय २।३८)। प्रौढमनोरमा मे भट्टोजि ने भी कहा है—'अतएव वैयाकरणनामुपायेषु अनाग्रह'। नागेश भी कहते हैं—'अतएव व्याकरणभेदेन उपाया अनियता'।

उपायो की अनियतता दोषावह नही है, क्योंकि वाक्यार्थ का ज्ञान ही अन्तिम प्रयोजन है। व्युत्पत्ति की भिन्नता होनेपर भी वाक्यार्थ-ज्ञान मे भेद

नहीं होता अतः साधुत्वमात्र दिखाने के लिये व्युत्पत्ति की जाती है। अर्थानुसार व्युत्पत्ति दिखाने के लिये वैयाकरण चेष्टा करते हैं, पर अर्थ व्युत्पत्ति के अनुरूप होने के लिये बाध्य नहीं है। एक उदाहरण से—'गो' शब्द की व्युत्पत्ति चाहे गम् धातु से की जाए, चाहे गृ अथवा गर्व धातु से पर 'गौ' शब्द का अर्थ निश्चित ही रहेगा किसी प्रकार साधुत्व-प्रतिपादन हो इसी लिये अन्वाख्यान किया जाता है— नित्यानां शब्दानां यथाकथंचिद् अन्वाख्यानं कर्तव्यम् इति मन्यते' (प्रदीप ३।१।९६) वस्तु और वाचक में न्यूनतम सदृशता मानकर एक शब्द की व्युत्पत्ति अनेक धातुओं से करने की प्रथा सभी आचार्यों ने मानी है। इसका एक रोचक उदाहरण श्वेतवनवासी ने दिया है, यथा (रोमशब्द की व्युत्पत्ति में)—'रहे रुणेश्च रौतेश्च रुदिरम्य रोहतेरपि यस्मादेव च धातूनां रोमशब्दं निपातयेत् (उणादिवृत्ति, पृ १८४)। यतः शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार अर्थ (वाच्य वस्तु) का समस्त पूर्णरूपेण घटित नहीं होता अतः वैयाकरण कहते हैं कि शब्द का व्युत्पत्तिनिमित्त और प्रवृत्तिनिमित्त (जैसा घट का घटत्व) समान नहीं हैं। (प्राचीनतर सामग्री के मिलने पर इस मत की सत्यता परीक्षित होगी)।

उपायानित्यता के उदाहरण—उपायों की अनियतता (अर्थात् प्रकृत्यादि विभाग की विभिन्नता) के कुछ विशिष्ट स्थलों का उपन्यास यहाँ किया जा रहा है—

(१) पाणिनिव्याकरण में जहाँ 'अस्' धातु का पाठ है, आपिशल व्याकरण में वहाँ केवल 'स' का पाठ था (द्र० १।१।२२ सूत्र की न्यासव्याख्या)। द्रष्टव्य यह है कि यह भेद अनुबन्ध के विषय में नहीं प्रत्युत धातु के स्वरूप के विषय में है। तिङन्त प्रयोग (यथा अस्ति, स्तः सन्ति इत्यादि) के विषय में पाणिनि और आपिशलि में मतभेद नहीं है पर धातु के स्वरूप के विषय में है—इससे प्रमाणित होता है कि स्व-स्वशास्त्रानुसारिणी प्रक्रिया के अनुसार जो वैयाकरण धातु के जिस रूप की कल्पना को न्याय्य समझते थे वे उस रूप की कल्पना कर सकते थे। धातु-स्वरूप की अनियतता का यह एक प्रसिद्ध उदाहरण है।

(२) दुर्गाचार्य ने निरुक्तव्याख्या में लिखा है कि प्राचीन वैयाकरणों की तिङन्त प्रक्रिया पाणिनीयानुरूप नहीं थी (निरुक्त १।१३) अर्थात् पाणिनि की भाँति ल-तिङ की कल्पना न कर वे लकारादेशके बिना ही तिङन्त प्रयोगों की सिद्धि करते थे। इससे तिङन्त-प्रक्रिया की काल्पनिकता भी सिद्ध होती है, क्योंकि यदि प्रक्रिया सत्य होती तो व्याकरण-भेद से उसमें भिन्नता होती

तिङन्त पदो में भी भिन्नता होती, परन्तु तिङन्त पदो के स्वरूप मे विवाद नही है।

(३) पाणिनि 'यावत्' पद की सिद्धि के लिये वतुप् प्रत्यय के साथ प्रातिपदिक मे आकार का आदेश करते हैं। कैयट ने लिखा है कि प्राक्पाणिनीय आचार्य आकारादेशयुक्त 'डावतु' प्रत्यय का विधान करते थे—पूर्वाचार्यास्तु डावतु विदधिरे (प्रदोप ५।२।३९)। पाणिनि की पृथक् कल्पना का कारण उनकी निजो प्रक्रिया हो है। उक्त उदाहरण प्रत्ययो की काल्पनिकता को प्रमाणित करता है।

(४) पाणिनि जिन शब्दो को तद्धित प्रत्ययो से सिद्ध करते हैं, कोई प्राक् पाणिनीय आचार्य उनकी सिद्धि धातु से ही करते थे। इससे तद्धित, कृत् आदि विभागो की भी काल्पनिकता सिद्ध होती है। इस सिद्धान्त का एक उदाहरण क्षीरस्वामी ने दिया है—'काल्पनिके हि प्रकृति-प्रत्यय-विभागे द्राघिमादय कस्मिश्चिद व्याकरणे धातोरेव साधिता. एव नेदिष्ठादयोऽपि नेदत्यादे.' (क्षीरतरङ्गिणी १।८०)। अर्थात् प्राक्पाणिनीय आचार्य 'नेद्' धातु से 'नेदिष्ट' शब्द की सिद्धि करते थे और पाणिनि ने 'अन्तिक' शब्द से 'नेद' आदेश कर 'नेदिष्ठ' पद की सिद्धि की है।

स्पष्ट है कि पाणिनि ने जिस शब्द की निरुक्ति मे तद्धित का व्यवहार किया है, प्राचीन आचार्य वहाँ कृत् प्रत्यय का व्यवहार करते थे। विपरीत पक्ष मे यह भी देखा जाता है कि पाणिनि के अनुसार जो शब्द कृत् प्रत्यय से वनता है, किसी-किसी के मतानुसार वह तद्धितान्त भी है। जैसे पाणिनि के अनुसार हन् धातु से यत् प्रत्यय (कृत्) कर 'वध्य' शब्द वनता है, पर किसी के मत से 'वधमर्हति' (वध के योग्य है) अर्थ मे 'वध' शब्द से तद्धित-प्रत्यय कर भी 'वध्य' शब्द वन सकता है। कृत् और तद्धित प्रत्ययो की यह अन्योन्य-विनिमयप्रक्रिया प्रमाणित करती है कि ये दोनो ही काल्पनिक हैं, पर इनसे निर्मित पद अकाल्पनिक (सत्य) है।

(५) क्षीरस्वामी ने यह भी लिखा है कि 'गोमय' शब्द पाणिनि के अनुसार गो+मयट् प्रत्यय से वनता है, पर किसी व्याकरण के अनुसार यह 'गोमृ' धातु से वनता था (१०।२६३)। ये सव उदाहरण प्रमाणित करते हैं कि प्रकृति-प्रत्यय का स्वरूप हो काल्पनिक नही है, प्रत्युत उनके विभाग आदि सव काल्पनिक हैं। वैयाकरणभूषणसार में कोण्डभट्ट ने भी कहा है कि 'रामेण' पद यद्यपि नियत है, पर उसकी प्रक्रिया अनियत है।

अनेक पृथक् तथा असम्बद्ध प्रकारों से जो व्युत्पत्ति की जाती है उसका कारण क्या है—इस प्रश्न का सोदाहरण उत्तर आचार्य भर्तृहरि ने दिया है, यथा—

> 'वैरवासिष्ठगिरिशा' तथैकागारिकादयः ।
> केचित् कथंचिदाख्याता निमित्तावधिसंकरे ॥
>
> (वाक्यपदीय २।१७२)।

अर्थात् 'निमित्त' और 'अवधि' के सांकर्य होनेके कारण पृथक् पृथक् रूप से अन्वाख्यान किया जाता है। यहाँ निमित्त = अर्थ, तथा अवधि = प्रत्ययों की प्रकृति (द्र० उद्द्योत १।२।४५) है। अतः अर्थ और प्रत्ययोंकी प्रकृति — ये दोनों समनुपाती नहीं होते अतएव व्युत्पत्ति में भिन्नता होना अवश्यम्भावी है।

प्रकृत्यादि के अर्थसम्बन्धी मतभेद—प्रत्येक व्याकरण में प्रकृति-प्रत्यय स्वरूप में ही विभिन्नता हो सो बात नहीं, प्रकृति-प्रत्यय आदि के अर्थों में भी मत-भिन्नता पाई जाती है। जैसे—'संख्या' को कोई आचार्य प्रातिपदिक का अर्थ और कोई विभक्ति का अर्थ मानते हैं।[1] स्मरण रखना चाहिए कि इस प्रकार के मतभेद होने पर भी पद या वाक्य के अर्थ में भिन्नता नहीं होती। यद्यपि वाक्यार्थ के स्वरूप के विषय में भी विभिन्न शास्त्रीय मत हैं, तथापि वे प्रकृति-प्रत्यय के अर्थों की विभिन्नता को लेकर नहीं हुए हैं।

१—वाक्यपदीय हरिटीका में कहा गया है—केषाञ्चित् संख्या प्रत्ययेनाभिधीयते कर्मादयः प्रातिपदिकेन, अपरेषां कर्मादयः प्रत्ययेन संख्या तु प्रातिपदिकेन, अपरेषामुभयं प्रातिपदिकेन, क्रियासाधनकालादयोऽपि केचित् कथंचिदभिधीयमानत्वेन प्रविभक्ताः (१।२६ टीका)। पदावयवभूत प्रकृत्यादि की अर्थवत्ता जिस अन्वयव्यतिरेकरीति से निश्चित की जाती है वह रीति पूर्णतः व्यवस्थापिका नहीं है, जैसा कि कैयट ने उदाहरण देकर सिद्ध किया है—द्विविधावन्वयव्यतिरेकावस्था शास्त्रीया पदावयवानाम् भावाभावौ व्यभिचारिणौ अवयवता। तौ चान्वयव्यतिरेकौ एकतरस्यापि न व्यवतिष्ठेते साधनानुक्रमान्तरेणापि कर्तव्यक-गमात्—यथा गच्छ ग्रामम् अधीयि भवता अकारि कट इति। तथा क्रियाभावेऽपि कर्तृव्यवगतिरस्ति—अधिकीटं संभविति। उभयाभावेऽप्यस्ति—अजागर्मा-र्गानिति। क्वचित्तूभयसन्निधौ कर्तृव्यवगतिः—पचति पच्यत इति (प्रदीप १।१।६७)।

प्रकृत्यादि-कल्पना जनित गौण मत—उपर्युक्त उदाहरणो से प्रकृति-प्रत्यय-विभाग और प्रकृत्यादि के अर्थों की पूर्ण काल्पनिकता प्रमाणित होने पर उससे और जितने मत अवश्यम्भावी रूप से निकलते हैं, उन सबका यहाँ सक्षेप मे प्रतिपादन किया जा रहा है :—

(१) शब्दो की व्युत्पत्ति अनेक प्रकार से की जा सकती है, क्योकि व्युत्पत्ति भी वस्तुत आचार्यकल्पनाप्रसूत है। व्युत्पत्ति प्रवृत्तिनिमित्त के अनुसार यथासम्भव किया जाता है, पर वह प्रवृत्तिनिमित्त की नियामक नही हो सकती। यही कारण है कि उणादिसूत्रो की अनेक व्युत्पत्तियो का आर्थिकदृष्टि से कुछ भी महत्त्व नही रह जाता।[1] निर्वचनो की अनेकविधता के विषय मे भर्तृहरि ने जो कहा है,वही इस विषय का सारभूत वाक्य है। यथा—

केश्चिन् निर्वचन भिन्न गिरतेर्गर्जतेर्गमे. ।
गवतेर्गदतेर्वापि गौरित्यत्रानुदर्शितम् ॥
(वाक्यपदीय २।१७५)

टीकाकार ने इसकी व्याख्या यथार्थ ही की है—'गिरति गर्जति गदति इत्येवमादाय साधारणा सामान्यशब्दनिबन्धना क्रियाविशेष. तैस्तैराचार्यै-र्गोशब्दव्युत्पादनक्रियाया परिगृहीता'। अर्थात् गो शब्द की व्युत्पत्ति विभिन्न आचार्य गिरति, गर्जति, गदति आदि भिन्न भिन्न क्रियावाची धातुओ से करते हैं।

(२) निर्वचन के सम्बन्ध मे साधारण तथ्य यह है कि शब्दो का प्रकृति-प्रत्ययादि से निर्माण नही होता, शब्द नित्य माने जाते हैं। वस्तुत: शब्दो मे स्वर, अर्थ आदि के ज्ञान के लिये प्रकृति-प्रत्यय की कल्पना की जाती है—'नित्याना भवतीत्यादि-शब्दाना स्वरार्थकालाद्यवबोधनार्थं प्रकृत्यादिविभाग-

---

१—अर्थदृष्टि से व्यर्थ होने के कारण व्युत्पत्ति 'वर्णानुपूर्वीज्ञानार्थ' है, ऐसा मत आधुनिक वैयाकरणो मे प्रचलित है। वर्णानुपूर्वी = अक्षरानुपूर्वी। प्रसिद्ध विद्वान् परशुराम कृष्ण गोडे महोदय अपने Studies in Indian Literary History (Vol III p 173) ग्रन्थ मे एक स्थल पर 'वर्णानुपूर्वी'गत वर्णशब्द का अर्थ रग (Colour) कहते हैं (खड्गाह आदि अश्वनामो के निर्वचन प्रसग मे, हेमचन्द्राचार्य का 'व्युत्पत्तिस्त्वेषा वर्णानुपूर्वी निश्चयार्थम्' वाक्य के आग्लानुवाद मे)। यह असावधानी से कहा गया है। हेमकोश श्लोक २०३—२०९ टीका मे पूर्वोक्त वाक्य कहा गया है।

कल्पनया व्याख्यामम्। (क्षीरतरंगिणी प्रारम्भिक वाक्य)। शब्द अनन्त हैं और प्रतिपदपाठ (प्रत्येक शब्द का पृथक्-पृथक् ज्ञान) से सब शब्दों का ज्ञान कभी संभव नहीं। परन्तु प्रकृति-प्रत्यय विभाग द्वारा करोड़ों शब्दों का ज्ञान सरलता से होता है। कहा गया है—

प्रकृतिप्रत्ययानन्त्याद् भावन्त्यः पदराशयः।
लक्षणेनानुगम्यन्ते कस्तानभ्येतुमर्हति॥

—कुमारिलभट्टकृत, तन्त्रवार्तिक (आनन्दाश्रम, पृ० २७९)।

जो लोग इस तथ्य को नहीं मानते उनके विरोध में धातुचिन्तामणिकार ने कहा है—'यद्यपि लाघवं शास्त्रीयमुक्तं तथापि न बुद्धिकार्यैकजातीयप्रत्ययकल्पनेन कोटिशब्दानुगमदर्शनेन लाघवानपायात्'।

(३) धातु काल्पनिक है, अतः धात्वर्थ और उपसर्ग (प्र परा आदि) भी काल्पनिक हैं। काल्पनिक धात्वादि के अर्थ के सम्बन्ध में भर्तृहरि ने ठीक ही कहा है—'धात्वादीनां विशुद्धानां लौकिकोऽर्थो न विद्यते (२।२१२) अर्थात् केवल धातु आदि का कोई लोकविदित अर्थ नहीं होता।

वैयाकरणों का स्पष्ट मत है कि वाक्यों से पदों का पृथक्करण किया जाता है। भर्तृहरि कहते हैं— द्विधा कैश्चित् पदं भिन्नं चतुर्धा पञ्चधापि वा अपोद्धृत्यैव वाक्येभ्यः प्रकृतिप्रत्ययादिवत्' (वाक्यपदीय ३।१।१)। सर्वदर्शनसंग्रहान्तर्गत पाणिनि-दर्शन में स्पष्ट रूप से इस विश्लेषणप्रणाली का स्वरूप दिखाया गया है—यथा— 'यथा पदार्थावगतये प्रकृति-प्रत्ययाः पदेभ्यः पृथक् कल्प्यन्ते तथा वाक्यार्थावगतये वाक्येभ्योऽपि पदानि पृथक् कल्प्यन्ते तत्र पृथक्कल्पितं पदजातं नामाख्यातभेदेन द्विधेति कैश्चिदुच्यते। उपसर्गनिपाताभ्यां पृथग्गणनायां चतुर्धेति। कर्मप्रवचनीयां पृथग्गणनायां पञ्चधेत्यर्थः'। (उपर्युक्त श्लोक की प्रम्बंकर टीका पृ २२९)।

(४) व्याकरणशास्त्र में जो 'स्थानी-आदेश'—भाव (अमुक शब्द के स्थान में अमुक का आदेश) है वह भी पूर्वोक्त सिद्धान्त के अनुसार वास्तविक नहीं काल्पनिक है। स्थान्यादेश की यह काल्पनिकता 'बुद्धिविपरिणामवाद' नाम से व्याकरण शास्त्र में प्रसिद्ध है।

इस बात का यथार्थ रहस्य जान लेना चाहिए। बात यह है कि पाणिनीय संप्रदाय परमार्थतः नित्य-शब्दवादी है। इस दृष्टि के अनुसार किसी शब्द के 'नाश' के बाद उसके स्थान पर नूतन शब्द की 'उत्पत्ति' नहीं होती, अपितु एक

शब्द के प्रसग में अन्य 'शब्द' का प्रसग होता है ('षष्ठी स्थानेयोगा।' १।१।४९ सूत्र की व्याख्याएँ द्रष्टव्य)। इस दृष्टि से अस्तेर्भूः (२।४।५२) सूत्र का अर्थ होगा 'अस्' के प्रयोग के प्रसग होने पर 'भू' का प्रयोग होता है। इस दृष्टि से यह मानना होगा कि बोद्धा की 'अस्ति'-बुद्धि 'भू' बुद्धि मे परिणत हो जाती है।

'बुद्धि का ही परिणाम होता है, शब्द का नही'—यही 'बुद्धिविपरिणामवाद' है। कैयट ने कहा है–'बुद्धिविपरिणाममात्र स्थान्यादेशभाव" (प्रदीप १।१।४४)। भाष्योक्त बुद्धिविपरिणामवाद का विस्तृत प्रतिपादन मञ्जूषा आदि ग्रन्थो मे मिल जाता है।

(५) जब प्रकृति-प्रत्यय की काल्पनिकता सिद्ध हो गई तब कल्पना से एक का धर्म दूसरे मे आरोपित किया जा सकता है। ऐसा करने से न्यायदोष नही होता है, क्योकि इस प्रकार का आरोप भी सत्य नही है। इसका एक उदाहरण लीजिए—

'इयत्' (इदम्+वतुप्) एक प्रातिपदिक है, जिसमे पाणिनीय प्रक्रिया के अनुसार प्रकृति का अश पूर्ण रूप से लुप्त हो गया है, पर वैयाकरण केवल प्रत्यय अश में प्रकृति के अर्थ का आरोप कर लेते हैं। 'इयत्' शब्द नित्य (लोकसिद्ध) है, और इसका उपादानभूत प्रकृति-प्रत्यय काल्पनिक हैं, इसलिये प्रकृतिभाग के न रहने पर भी अर्थ का बोध होता है और इसीलिये कोई दोष नही माना जाता।

(६) जब प्रकृति-प्रत्यय-विभाग असत्य है, तब उसका प्रतिपादक व्याकरण-शास्त्र भी असत्य है—यह वैयाकरणो का अन्तिम निष्कर्ष है—'शास्त्रेषु प्रक्रिया-भेदैरविद्यैवोपवर्ण्यते' तथा 'असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्य समीहते' (वाक्य-पदीय २।२३४, २।२४०), ये दो वचन इस प्रसग मे आलोच्य हैं।

प्रकृति-प्रत्ययो की काल्पनिकता के साथ-साथ इन सबो की जो अर्थवत्ता है, उसकी भी काल्पनिकता सिद्ध होती है। कैयट ने कहा है कि लोक में जब 'पाक' शब्द का प्रयोग होता है, तब प्रकृति-प्रत्यय का विचार कर प्रयोग नही किया जाता (प्रदीप १।३।१), वास्तव अर्थ तो वाक्य का है, वाक्यान्तर्गत शब्दो का नही (प्रदीप ५।१।२२)। यह सर्वमान्य है कि पदो के अन्तर्गत उपसर्ग, प्रत्यय आदि का कोई अर्थ वस्तुत. है ही नही, क्योकि उन सबके अकेले प्रयोग करने पर लोक मे कुछ भी अर्थबोध नही होता, अर्थात् 'हरति' कहने से अर्थ का बोध होता है, 'प्र-हरति' कहने से भी होता है, पर केवल 'प्र' के प्रयोग से कुछ

कल्पनया व्याख्यानम् । (क्षीरतरंगिणी प्रारम्भिक वाक्य) । शब्द अनन्त हैं और प्रतिपदपाठ (प्रत्येक शब्द का पृथक्-पृथक् ज्ञान) से सब शब्दों का ज्ञान कभी संभव नहीं । परन्तु प्रकृति-प्रत्यय विभाग द्वारा करोड़ों शब्दों का ज्ञान सरलता से होता है । कहा गया है—

> प्रकृतिप्रत्ययानन्त्याद् यावन्तः पदराशयः ।
> लक्षणेनानुगम्यन्ते कस्तानभ्येतुमर्हति ॥
>
> —कुमारिलभट्टकृत, तन्त्रवार्तिक (आनन्दाश्रम, पृ० २०९) ।

जो लोग इस तथ्य को नहीं मानते उनके विरोध में भाट्टचिन्तामणिकार ने कहा है—'यदपि लाघवं नास्तीत्युक्तं तदपि न सुप्तिङ्गणोकजातीयप्रत्ययकल्पनेन कोटिशब्दानुगमवचनेन लाघवमपायात्' ।

(३) धातु काल्पनिक है अतः धात्वर्थ और उपसर्ग (प्र परा आदि) भी काल्पनिक हैं । काल्पनिक धात्वादि के अर्थ के सम्बन्ध में भर्तृहरि ने ठीक ही कहा है—'धात्वादीनां विशुद्धानां लौकिकोऽर्थो न विद्यते (२।२१२) अर्थात् केवल धातु आदि का कोई लोकविदित अर्थ नहीं होता ।

वैयाकरणों का स्पष्ट मत है कि वाक्यों से पदों का पृथक्करण किया जाता है । भर्तृहरि कहते हैं— द्विधा कैश्चित् पदं भिन्नं चतुर्धा पञ्चधापि वा अपोद्धृत्यैव वाक्येभ्यः प्रकृतिप्रत्ययादिवत्' (वाक्यपदीय ३।१।१) । सर्वदर्शनसंग्रहान्तर्गत पाणिनि-दर्शन में स्पष्ट रूप से इस विश्लेषणप्रणाली का स्वरूप दिखाया गया है—यथा— 'यथा पदार्थविगतये प्रकृति-प्रत्ययाः पदेभ्यः पृथक् कल्प्यन्ते तथा वाक्यार्थविगतये वाक्येभ्योऽपि पदानि पृथक् कल्प्यन्ते । तत्र पृथक्करणिपर्व पदजातं नामाख्यातभेदेन द्विधेति कैश्चिदुच्यते । उपसर्गनिपातयोः पृथग्गणनायां चतुर्धेति । कर्मप्रवचनीयानां पृथग्गणनायां पञ्चधेत्ययः' । (उपर्युक्त श्लोक की धर्मकर टीका पृ २२९) ।

(४) व्याकरणशास्त्र में जो 'स्थानी-आदेश'—भाव (अमुक शब्द के स्थान में अमुक का आदेश) है वह भी पूर्वोक्त सिद्धान्त के अनुसार वास्तविक नहीं काल्पनिक है । स्थान्यादेश की यह काल्पनिकता 'बुद्धिविपरिणामवाद' नाम से व्याकरण शास्त्र में प्रसिद्ध है ।

इस बात का यथार्थ रहस्य जान लेना चाहिए । बात यह है कि पाणिनीय संप्रदाय परमार्थतः नित्य-शब्दवादी है । इस दृष्टि के अनुसार किसी शब्द के 'नाश' के बाद उसके स्थान पर नूतन शब्द की 'उत्पत्ति' नहीं होती, प्रत्युत एक

शब्द के प्रसग में अन्य 'शब्द' का प्रसग होता है ('षष्ठी स्थानेयोगा:' १।१।४९ सूत्र की व्याख्याएँ द्रष्टव्य)। इस दृष्टि से अस्तेर्भूः (२।४।५२) सूत्र का अर्थ होगा 'अस्' के प्रयोग के प्रसग होने पर 'भू' का प्रयोग होता है। इस दृष्टि से यह मानना होगा कि बोद्धा की 'अस्ति'-बुद्धि 'भू' बुद्धि मे परिणत हो जाती है।

'बुद्धि का ही परिणाम होता है, शब्द का नही'—यही 'बुद्धिविपरिणामवाद' है। कैयट ने कहा है–'बुद्धिविपरिणाममात्र स्थान्यादेशभाव.' (प्रदीप १।१।४४)। भाष्योक्त बुद्धिविपरिणामवाद का विस्तृत प्रतिपादन मञ्जूषा आदि ग्रन्थो मे मिल जाता है।

(५) जब प्रकृति-प्रत्यय की काल्पनिकता सिद्ध हो गई तब कल्पना से एक का धर्म दूसरे मे आरोपित किया जा सकता है। ऐसा करने से न्यायदोष नही होता है, क्योकि इस प्रकार का आरोप भी सत्य नही है। इसका एक उदाहरण लीजिए—

'इयत्' (इदम्+वतुप्) एक प्रातिपदिक है, जिसमे पाणिनीय प्रक्रिया के अनुसार प्रकृति का अश पूर्ण रूप से लुप्त हो गया है, पर वैयाकरण केवल प्रत्यय अश मे प्रकृति के अर्थ का आरोप कर लेते हैं। 'इयत्' शब्द नित्य (लोकसिद्ध) है, और इसका उपादानभूत प्रकृति-प्रत्यय काल्पनिक हैं, इसलिये प्रकृतिभाग के न रहने पर भी अर्थ का बोध होता है और इसीलिये कोई दोष नही माना जाता।

(६) जब प्रकृति-प्रत्यय-विभाग असत्य है, तब उसका प्रतिपादक व्याकरण-शास्त्र भी असत्य है—यह वैयाकरणो का अन्तिम निष्कर्ष है—'शास्त्रेषु प्रक्रिया-भेदैरविद्यैवोपवर्ण्यते' तथा 'असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्य समीहते' (वाक्य-पदीय २।२३४, २।२४०), ये दो वचन इस प्रसग में आलोच्य हैं।

प्रकृति-प्रत्ययो की काल्पनिकता के साथ-साथ इन सबो की जो अर्थवत्ता है, उसकी भी काल्पनिकता सिद्ध होती है। कैयट ने कहा है कि लोक मे जब 'पाक' शब्द का प्रयोग होता है, तब प्रकृति-प्रत्यय का विचार कर प्रयोग नही किया जाता (प्रदीप १।३।१), वास्तव अर्थ तो वाक्य का है, वाक्यान्तर्गत शब्दो का नही (प्रदीप ५।१।२२)। यह सर्वमान्य है कि पदो के अन्तर्गत उपसर्ग, प्रत्यय आदि का कोई अर्थ वस्तुत है ही नही, क्योकि उन सबके अकेले प्रयोग करने पर लोक मे कुछ भी अर्थबोध नही होता, अर्थात् 'हरति' कहने से अर्थ का बोध होता है, 'प्र-हरति' कहने से भी होता है, पर केवल 'प्र' के प्रयोग से कुछ

बोध नहीं होता उसी प्रकार 'हृ' से भी कुछ लौकिकार्थ का बोध नहीं होता। व्याकरणशास्त्र में प्र आदि उपसर्गों के जो अर्थ दिखाए गए हैं, वे मूलतः काल्पनिक हैं। वस्तुतः केवल प्रकृति या प्रत्यय का प्रयोग होता भी नहीं। शास्त्र में जो ऐसा प्रयोग दिखाया जाता है वह सिद्ध शब्दों की कल्पित सिद्धि के लिये ही है।

प्रकृत्यादि विभागसम्बन्धी कुछ विशिष्ट बातें—अब हम प्रकृति-प्रत्यय विभाग के एक विशिष्ट तथ्य पर पूर्वाचार्यों के मत प्रस्तुत करेंगे जिससे वैयाकरणों का दर्शन स्पष्टरूप से बोधगम्य हो जाय—

(क) तिल से जात—इस अर्थ में 'तैल' शब्द का प्रयोग शास्त्रसिद्ध है। पर 'तिल-तैल' तथा 'सर्षप-तैल' का प्रयोग भी होता है। इसकी संगति कैसे होगी? आजकल ऐसे सादृश्य-सम्बन्धमूलक प्रयोगों की उपपत्ति के लिये उत्तर दिया जाता है कि कालक्रम से भ्रमवश तैल का अर्थ तिल से जात न जानकर स्नेह मात्र मान लिया जाता है अतः तिल से जो स्नेह निकलता है वह 'तिल तैल' तथा सर्षप से जो स्नेह निकलता है वह सर्षप-तैल, कहलाता है।

इसी प्रकार अन्य प्रयोगों की भी सादृश्यादि हेतुक उत्पत्ति होती है। पर प्राचीन वैयाकरण यह मानने को तैयार नहीं थे कि कालक्रम से शब्दार्थ में परिवर्तन होता है।[1] वे कहेंगे कि 'तैल' शब्द का अर्थ है 'विकारविशेष' अतः 'तिलानां तैलम्' इस विग्रह में 'तिलतैलम्' शब्द बनने में बाधा नहीं है। 'इङ्गुदतैल' इत्यादि प्रयोग उपमान (सदृशतासम्बन्ध) से बनेंगे। वस्तुतः 'तिलानां विकारः तैलम्' यह व्युत्पत्ति का उपायमात्र है और स्नेह-द्रव्यवाचक 'तैल' का (जो रूढ शब्द है) तिल से कोई सम्बन्ध नहीं है। जैसे 'प्रवीण' शब्द की व्युत्पत्ति (प्रकृष्टो वीणायाम्) केवल साधुत्व दिखाने के लिये है वीणा से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है इसका प्रवृत्तिनिमित्त 'कौशल' है इसी लिये 'वीणायां प्रवीणः' ऐसा वाक्य भी बनता है (महाभाष्य ५।२।२९)। वस्तुतः संस्कृत वैयाकरण एक शब्द से अन्य शब्द की परमार्थतः उत्पत्ति मानते ही नहीं। उनके अनुसार 'पा' धातु से 'सन्' प्रत्यय कर 'पिपास्' नाम का सनन्त धातु नहीं बनता। जैसा 'पा'

1—यह नित्यशब्दवादी वैयाकरणों के सम्बन्ध में कहा गया है, कार्यशब्दवादी वैयाकरणों के अनुसार शब्दों में परिवर्तन होता था।

अन्तिम परिच्छेद

पाणिनीय मतानुसार क-वर्ग का उच्चारण-स्थान

आजकल यह आक्षेप प्रायः किया जाता है कि पाणिनीय सम्प्रदाय में कवर्ग का उच्चारणस्थान जो कण्ठ कहा जाता है[1] वह असम्यक् दर्शन है, वस्तुतः उच्चारण स्थान जिह्वामूल है[2]। इस विषय पर हम लोगों की दृष्टि यह है कि 'अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः' कहने पर भी कोई दोष नहीं होता (यदि शास्त्रीय पद्धति को ठीक से समझा जाए) और जिह्वामूलवादी भी भ्रान्त नहीं हैं। प्राचीन शब्दविदों की विचार-सरणि के अनुशीलन करने पर उपर्युक्त मत सङ्गत ही प्रतीत होगा।

उच्चारण प्रक्रिया—पहले ही यह ज्ञातव्य है कि वर्तमान काल में हम लोग प्राचीन संस्कृत भाषी के अनुसार यथावत् कवर्ग का उच्चारण करते हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। अनेक वर्णों के उच्चारण में कुछ न कुछ विसदृशता (चाहे वह नगण्य ही क्यों न हो) उत्पन्न हो गई है[3] यह अवश्य स्वीकार्य है। कुछ वर्णों (ऋ ॡ) का उच्चारण तो बहुलतया भ्रष्ट ही है। ए—ऐ आदि वर्णों का जो प्रचलित उच्चारण है, वह भी कुछ न कुछ विकृत ही है, अतः हम समझते हैं कि क—वर्ग का उच्चारण यदि कुछ भ्रष्ट हो गया हो तो यह

१—'अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः' (सिद्धान्तकौमुदी १।१।९ कु—कवर्ग)। पाणिनिप्राचीन आपिशलि भी ऐसा ही कहते हैं—'अकुहविसर्जनीयाः कण्ठ्याः' (आपिशलि शिक्षासूत्र ७, न्यास भाग १।१।९ में यह उद्धृत है)।

२—'हिन्दी अनुशीलन [धीरेन्द्रवर्मा विशेषांक] में डा. सिद्धेश्वर वर्मा का लेख—'क्या हिन्दी कवर्ग कण्ठ्यध्वनियां हैं?'। हिन्दी का लक्ष्य संस्कृत से भी है क्योंकि इस लेख में प्रातिशाख्यों का निर्देश है। अन्यान्य भाषाविद् भी ऐसा मानते हैं।

३—ऋ का उच्चारण इस विषय का प्रसिद्ध उदाहरण है। आज इसका उच्चारण 'रि' ही है पर ऐसा मूल में नहीं हो सकता क्योंकि ऐसा मानने पर 'पितृ' आदि शब्दों में 'पि' गुरु हो जाएगा (संयोगे गुरु—इस नियम के अनुसार) जिससे छन्द का भंग होगा।

विस्मयजनक नहीं है। हमारा स्पष्ट कहना है कि क-वर्ग के प्रचलित उच्चारण को देखकर इसका सम्यक् निरूपण करना दुरूह है कि प्राचीन काल मे क-वर्ग का साधु उच्चारण कैसा था। वस्तुत. हमे उच्चारणसम्बन्धी शिक्षा-प्रातिशाख्यादिगत लक्षणवाक्यो पर ही निर्भर करना होगा[1] और यही इस समय वैज्ञानिक दृष्टि है। व्यवहारतः उच्चारणादि सम्प्रदायाधीन है और सम्प्रदाय बहुत कुछ भ्रष्ट हो गया है,[2] अतः पूर्वोक्त मार्ग ही ग्रहणयोग्य है। प्रचलित उच्चारण से कण्ठ और जिह्वामूल की पहचान करना भी कुछ न कुछ असङ्गत होगा, अत स्थानादिनिर्देशपरक शास्त्रीय वचनो पर हमे अपना ध्यान केन्द्रित करना होगा (प्रचलित उच्चारण बहुत दूर तक सहायक अवश्य ही है, यह अन स्वीकार्य है)।

इस विषय मे मतभेद—यह अनपलाप्य है कि जिस प्रकार 'अकुहविसर्जनीयाना कण्ठः' वाक्य मिलता है, उसी प्रकार यह निर्देश भी स्पष्टत. मिलता है कि कवर्ग का स्थान जिह्वामूल[3] है। यह भी ज्ञातव्य है कि कण्ठस्थानवादी भी इस मत को जानते थे। कण्ठस्थानवादी यह भी जानते थे कि कुछ पूर्वाचार्य

१—अनतिप्राचीन पूर्वाचार्य भी प्रत्यक्ष उच्चारण की अपेक्षा शास्त्रगत लक्षणवाक्य पर अधिक जोर देते हैं। अमोघानन्दिनी शिक्षा मे कहा गया है—लक्षण न त्यजेद् धीमान् सम्प्रदायोऽन्यथा भवेत्। लक्षणेन विना शिष्यः सम्प्रदायो विनाशवान्॥ (१२३), कभी-कभी इस सामान्य नियम का अपवाद भी मिलता है (लघ्वमोघानन्दिनी शिक्षा, १४)।

२—'यद्यपि वैदिकसम्प्रदाय इदानी परिभ्रष्ट' इत्यादि नागेशभट्ट का वचन (उद्द्योत अ० ६) इस प्रसङ्ग मे द्रष्टव्य है। यह भ्रष्टता अत्यल्प है। शुक्लयजुः-माध्यन्दिन-सहिता १।३० गत 'वेष्प' पाठ भी सम्प्रदायभ्रश के कारण कही कही 'विष्य' बन गया है (द्र० श्री ब्रह्मदत्त जिज्ञासुकृत दयानन्दभाष्यविवरण)।

३—'जिह्वामूले तु कु' प्रोक्त" यह वचन पाणिनीय शिक्षा के सभी शाखा-भेदो मे है (द्र० कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित 'पाणिनीय शिक्षा' नामक ग्रन्थ)। क-वर्गस्तु जिह्वामूले कथितः (पञ्जिका टीका, पृ० १४)। पूर्वोक्त पाणिनिवचन की व्याख्या मे प्रकाशटीकाकार कहते हैं कि पाणिनि तथा अन्य आचार्यों ने क-वर्ग का स्थान जिह्वामूल कहा है (पृ० ३०)। वर्णरत्नप्रदीपिका (२५) मे भी यह मत है।

अवशिष्ट परिच्छेद

पाणिनीय मतानुसार क-वर्ग का उच्चारण-स्थान

आजकल यह आक्षेप प्रायः किया जाता है कि पाणिनीय सम्प्रदाय में कवर्ग का उच्चारणस्थान जो कण्ठ कहा जाता है[1] वह असम्यक् दर्शन है, वस्तुतः उच्चारण स्थान जिह्वामूल है[2]। इस विषय पर हम लोगों की दृष्टि यह है कि 'अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः' कहने पर भी कोई दोष नहीं है (यदि शास्त्रीय पद्धति को ठीक से समझा जाए) और जिह्वामूलवादी भी भ्रान्त नहीं हैं। प्राचीन शब्दविदों की विचार-सरणि के अनुशीलन करने पर उपर्युक्त मत सङ्गत ही प्रतीत होगा।

उच्चारण प्रक्रिया—पहले ही यह ज्ञातव्य है कि वर्तमान काल में हम लोग प्राचीन संस्कृत भाषी के अनुसार यथावत् कवर्ग का उच्चारण करते हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। अनेक वर्णों के उच्चारण में कुछ न कुछ विसदृशता (चाहे वह नगण्य ही क्यों न हो) उत्पन्न हो गई है[3] यह अवश्य स्वीकार्य है। कुछ वर्णों (ऋ, ऌ) का उच्चारण तो बहुलतया भ्रष्ट ही है। ख—ग आदि वर्णों का जो प्रचलित उच्चारण है, वह भी कुछ न कुछ विकृत ही है। अतः हम समझते हैं कि क—वर्ग का उच्चारण यदि कुछ भ्रष्ट हो गया हो, तो यह

१—'अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः' (सिद्धान्तकौमुदी १।१।९, कु=कवर्ग)। पाणिनिप्राचीन आपिशलि भी ऐसा ही कहते हैं—अकुहविसर्जनीया कण्ठ्याः (आपिशलि शिक्षासूत्र ७ न्यास भाग १।१।९ में यह उद्धृत है)।

२—द्र हिन्दी अनुशीलन [धीरेन्द्रवर्मा विशेषांक] में डा सिद्धेश्वर वर्मा का लेख—'क्या हिन्दी कवर्ग कण्ठ्यध्वनियां हैं ?'। हिन्दी का लक्ष्य संस्कृत से भी है क्योंकि इस लेख में प्रातिशाख्यों का निर्देश है। अन्यान्य भाषाविद् भी ऐसा मानते हैं।

३—ऋ का उच्चारण इस विषय का प्रसिद्ध उदाहरण है। आज इसका उच्चारण 'रि' ही है पर ऐसा मूल में नहीं हो सकता क्योंकि ऐसा मानने पर 'पितृ' आदि शब्दों में 'पि' गुरु हो जाएगा (संयोगे गुरु—इस नियम के अनुसार) जिससे छन्द का भंग होगा।

विस्मयजनक नहीं है। हमारा स्पष्ट कहना है कि क-वर्ग के प्रचलित उच्चारण को देखकर इसका सम्यक् निरूपण करना दुरूह है कि प्राचीन काल मे क-वर्ग का साधु उच्चारण कैसा था। वस्तुत हमे उच्चारणसम्बन्धी शिक्षा-प्रातिशाख्यादिगत लक्षणवाक्यो पर ही निर्भर करना होगा[1] और यही इस समय वैज्ञानिक दृष्टि है। व्यवहारतः उच्चारणादि सम्प्रदायाधीन हैं और सम्प्रदाय बहुत कुछ भ्रष्ट हो गया है,[2] अत. पूर्वोक्त मार्ग ही ग्रहणयोग्य है। प्रचलित उच्चारण से कण्ठ और जिह्वामूल की पहचान करना भी कुछ न कुछ असङ्गत होगा, अत स्थानादिनिर्देशपरक शास्त्रीय वचनो पर हमे अपना ध्यान केन्द्रित करना होगा (प्रचलित उच्चारण बहुत दूर तक सहायक अवश्य ही है, यह अन स्वीकार्य है)।

इस विषय मे मतभेद—यह अनपलाप्य है कि जिस प्रकार 'अकुहविसर्जनीयाना कण्ठ' वाक्य मिलता है, उसी प्रकार यह निर्देश भी स्पष्टतः मिलता है कि कवर्ग का स्थान जिह्वामूल[3] है। यह भी ज्ञातव्य है कि कण्ठस्थानवादी भी इस मत को जानते थे। कण्ठस्थानवादी यह भी जानते थे कि कुछ पूर्वाचार्य

१—अनतिप्राचीन पूर्वाचार्य भी प्रत्यक्ष उच्चारण की अपेक्षा शास्त्रगत लक्षणवाक्य पर अधिक जोर देते हैं। अमोघानन्दिनी शिक्षा मे कहा गया है—लक्षण न त्यजेद् धीमान् सम्प्रदायोऽन्यथा भवेत्। लक्षणेन विना शिष्यः सम्प्रदायो विनाशवान्॥ (१२३), कभी-कभी इस सामान्य नियम का अपवाद भी मिलता है (लघ्वमोघानन्दिनी शिक्षा, १४)।

२—'यद्यपि वैदिकसम्प्रदाय इदानी परिभ्रष्ट.' इत्यादि नागेशभट्ट का वचन (उद्द्योत अ० ६) इस प्रसङ्ग मे द्रष्टव्य है। यह भ्रष्टता अत्यल्प है। शुक्लयजुः-माध्यन्दिन-संहिता १।२० गत 'वेष्प' पाठ भी सम्प्रदायभ्रंश के कारण कही कही 'वेष्य' बन गया है (द्र० श्री ब्रह्मदत्त जिज्ञासुकृत दयानन्दभाष्यविवरण)।

३—'जिह्वामूले तु कु. प्रोक्त' यह वचन पाणिनीय शिक्षा के सभी शाखा-भेदो मे है (द्र० कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित 'पाणिनीय शिक्षा' नामक ग्रन्थ)। क-वर्गस्तु जिह्वामूले कथित (पञ्जिका टीका, पृ० १४)। पूर्वोक्त पाणिनिवचन की व्याख्या में प्रकाशटीकाकार कहते हैं कि पाणिनि तथा अन्य आचार्यों ने क-वर्ग का स्थान जिह्वामूल कहा है (पृ० ३०)। वर्णरत्नप्रदीपिका (२५) मे भी यह मत है।

अकार-हकार' मात्र का स्थान कण्ठ है ऐसा मत भी रखते हैं।[1] जिह्वामूलवादी को भी यह ज्ञात था कि 'क'-वर्ग का उच्चारणस्थान कण्ठ है, ऐसा मानने वाले भी हैं। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न अवश्य ही उत्पन्न होता है कि क्या इन मतों में परस्पर विरोध नहीं है? दूसरा प्रश्न यह भी है कि क्यों इन आचार्यों ने एक दूसरे के मतों का खण्डन नहीं किया, और मतभेद का ही प्रदर्शन कर निवृत्त हो गए? क्या इन पृथक् मतों का कोई समन्वय है?

'वर्णोच्चारण' के विषय में शिक्षाप्रातिशाख्यव्याकरण में जो विचारपद्धति है उसको शास्त्रीय दृष्टि के अनुसार जानने से यह विवाद समाप्त हो जाता है।

वर्णोच्चारण की सम्प्रदायनियतता—प्रथम ही यह ज्ञातव्य है कि कुछ स्थलों में उच्चारण का भेद सम्प्रदायनियत रहता है अर्थात् विभिन्न सम्प्रदायों (वैदिक आचार्य-परम्परा एवं तदनुग लौकिक परम्परा) में विभिन्न उच्चारण (विभिन्न उच्चारणस्थान-हेतुक) साधु[2] माने जाते हैं। देश-कालभेद से भी विभिन्न उच्चारण साधु माने जाते हैं, अतः उच्चारण-स्थान का यदि कोई पार्थक्य भी हो जाए तो वह भी साधु ही माना जाता है। इस नियम का एक प्रसिद्ध उदाहरण ऋक्प्रातिशाख्य (१।१) की उवटव्याख्या में मिलता[3] है, जहाँ रेफ के दो स्थान (दन्तमूल और मूर्धा) कहे गए हैं और यह भी कहा गया है

१—'कण्ठ्यो अहौ' वचन पाणिनीय शिक्षा में है। ह को उरस्य वर्ण मानने का सम्प्रदाय [एकेषाम्] है (द्र० पाणिनीयशिक्षा-सूत्र १ तथा आपिशलि शिक्षासूत्र ८)।

२—शाखाभेद देशकालभेद से हुए हैं, यह मानना पड़ता है (ऐतरेयालोचन पृ० १२४ १२५)। 'अग्नि' शब्द का उच्चारण किसी शाखा में अकार घटित था (भर्तृहरिकृत महाभाष्यदीपिका पृ० १)। इस उच्चारण भेद का कारण देशकाल का यथोचित प्रभाव ही है। दन्त्य वर्ण का मूर्धन्यवत् उच्चारण भी किसी वेदशाखा में था (शब्देन्दुशेखर ३।२।२७) जो देशकालभेद से ही उत्पन्न हुआ होगा।

३—यथा तावत् शिक्षायां स्युर्मूर्धन्या ऋटुरषाः (पाणिनीय शिक्षा १७) इति सामान्येन सर्वशाखासु रेफो मूर्धन्य इत्युक्तः। तथाऽन्यस्यां शिक्षायां दन्तमूलीयस्तु (याज्ञ शिक्षा) इति रेफो दन्तमूलीय उक्तः। एवं सर्वा शिक्षा वर्णेषु स्थानकरणानुप्रदानादि सर्वासु शाखासु विदधाति न तु नियमतः कस्यां शाखायां रेफो मूर्धन्यः कस्यां दन्तमूलीय इति —— एकस्यां शाखायां दन्तमूलीयो वा अस्यां वा रेफ इत्येतदवधारितम्।

कि यह स्थानभेद विभिन्न शाखाओ मे नियत है। उसी प्रकार विवृत्तिकाल (विवृत्ति = दोनो स्वरो के मध्य मे जब कोई वर्ण नही होता, तब उन दो स्वरो का यथाक्रम उच्चारण) के विषय मे जो मतभेद हैं (मात्राकाल, अर्ध मात्राकाल या अणुमात्रा-काल), वे शाखाभेदानुसार व्यवस्थित हैं, ऐसा माना जाता है (नारदीयशिक्षा ३।४ की शोभाकरकृत टीका)। इस प्रकार के अन्य उदाहरण भी मिलते हैं। सर्वत्र शाखाभेद-व्यवस्था की बात शब्द-शास्त्रीय ग्रन्थ मे कही गई हो, ऐसी बात भी नही है, ग्रन्थ मे अनुक्त रहने पर भी सम्प्रदाय से या अन्य शास्त्र की सहायता से मतभेदो की सम्प्रदायनियतता ज्ञात होती है।[1]

अब यह सोचना चाहिए कि क-वर्गोच्चारणस्थान के विषय में जो मत-भेद मिलते हैं, कही वे सम्प्रदायनियत तो नही है, यदि ऐसी बात है तो 'कण्ठस्थान' और 'जिह्वामूलस्थान' दो पृथक् स्थान होंगे और पृथक् उच्चारण भी साधु माने जाएंगे, ऐसा नही कि कण्ठस्थान मानना अशुद्ध है और जिह्वा-मूल स्थान मानना ही शुद्ध है। हमारा प्रचलित उच्चारण इस विषय मे प्रमाण नही हो सकता, यह पहले ही कहा गया है। यह पूर्णतः सम्भव है कि कालान्तर मे सम्प्रदायनाश के कारण एक ही उच्चारण रह गया हो, पर इससे यह नही कहा जा सकता कि अन्य प्रकार का उच्चारण भ्रान्त है।

स्थाननिर्देशपरक वाक्य की सामान्यार्थकता—हमारा यह भी कहना है कि वर्णोच्चारणस्थानो के नामो का निर्देश (व्याकरणशिक्षा-प्रातिशाख्य मे) बहुत ही श्लथ भाषा मे किया गया है, अतः एक ही 'स्थान' के लिये दो पृथक् निर्देशो का प्रचलित हो जाना या सामान्यार्थक शब्द से विशेष अर्थ को कहना या वाचक के स्थान पर लक्षक शब्द का व्यवहार करना—इन शास्त्रो मे प्रायेण मिलता है। तात्पर्य यह है कि एक ही 'स्थान' को लक्ष्य कर 'कण्ठ' और 'जिह्वामूल' शब्द का प्रयोग हो सकता है, क्योकि व्याकरणादिशास्त्र कोई आयुर्वेदशास्त्र नही हैं कि शरीरावयवो के विवरण मे वे शरीरविज्ञानी की दृष्टि के अनुसार शब्दो का प्रयोग करे। हठयोगीय ग्रन्थो मे—जहाँ शरीरांशों का विवरण

१—पाणिनि के स्वरसम्बन्धी अनेक ऐसे सूत्र हैं, जिनमे विकल्प आदि का उपदेश सामान्यत. दिया गया है, पर प्रायेण वे विकल्प सम्प्रदाय में नियत हैं, यह प्रातिशाख्यादि से जाना जाता है। पाणिनि का निर्देश सामान्यार्थक होने पर भी क्वचित् उसका तात्पर्य विशेष मे होता है।

सूक्ष्मरूपेण किया गया है, वहाँ भी Anatomical और Physiological distinction पूर्वक कथन शायद ही कहीं मिलता हो तब व्याकरण ग्रन्थ में स्थाननामा के उल्लेख में विज्ञानी की तरह सावधानी रखी गई है यह नहीं कहा जा सकता। जिस समय ये लिखे गए थे उस समय ग्रन्थ केवल अध्ययन-सहायक होते थे गुरुओं के मुख से शिष्यगण (अपनी दृष्टि के अनुसार और प्रयोजन को लक्ष्यकर; उनको कण्ठ-तालु आदि स्थानों की पहचान नहीं करना था और न चिकित्सा करनी होती थी) प्रकृत उच्चारणस्थान का अपेक्षित ज्ञान प्राप्त कर लेते थे उनको उच्चारण यथावत् (गुरुओं के द्वारा) कराया जाता था। समझने-समझाने के लिये कण्ठ-तालु आदि सामान्य शब्दों का यथासम्भव प्रयोग किया जाता था न कि आजकल की तरह प्रयोग-परीक्षण के लिये। अतः एक ही स्थान को लक्ष्यकर स्थूलतः कण्ठ और सूक्ष्मतः जिह्वामूल का प्रयोग किया जा सकता है इससे उच्चारणभेद नहीं होता।

यह भी ज्ञातव्य है कि प्रयोजन के अनुसार उपदेश करना आचार्यों की साम्प्रदायिक शैली है। यदि वास्तव प्रयोजन न हो तो सर्वत्र परम सत्य न कहकर स्थूल सत्य या आपेक्षिक सत्य कहने की परिपाटी हमारी परम्परा में है। व्याकरण की प्रक्रिया की दृष्टि से चार प्रकार के बर्णोच्चारणप्रयत्न मानने पर भी कोई दोष नहीं होता, पर वास्तव उच्चारणप्रक्रिया की दृष्टि से और अधिक प्रयत्नों की सत्ता माननी पड़ती है (छाया टीका पृ २१७)।[1]

कहने का तात्पर्य यह है कि कण्ठ' और 'जिह्वामूल का कोई वस्तुगत विरोध नहीं भी हो सकता है। आजकल हम अङ्गों का जैसा परिचय देते हैं, वही पद्धति उस काल में भी थी ऐसा नहीं समझना चाहिए। अनन्तदेव कहते हैं—'मुखस्यापि मस्तकावयवत्वेन प्रसिद्धेः' (प्रतिज्ञासूत्रपरिशिष्ट में मूर्धा शब्द की व्याख्या द्रष्टव्य यहाँ मूर्धा का अर्थ मुखप्रदेश किया गया है)। क्या शरीर विज्ञानी या कोई ग्रामीण अज्ञ व्यक्ति मुख को मस्तक का अवयव समझता है? आस्य का लक्षण भाष्यकार के अनुसार 'ओष्ठ से काकलक का आरम्भ पर्यन्त' है (१।१।९)। यहाँ काकलक=ग्रीवा का उन्नत प्रदेश है (प्रदीप टीका)। क्या आयुर्वेद में या सामान्य व्यवहार में आस्य (मुख) का यही अर्थ है?

१—यद्यपि घोषाघोषाल्पप्राणमहाप्राणेति प्रयत्नचतुष्टयेनैव प्रक्रियास निर्वाहः सुकरस्तस्यापि शिक्षानुरोधेन अन्येषामुक्तिः (छाया तुल्यास्यप्रयत्नम् सूत्र पर)।

हम मुक्तकण्ठ होकर स्वीकार करते हैं कि शिक्षादि-शास्त्रगत कण्ठ मूर्धा के विवक्षित अर्थ हम सर्वत्र पूर्णतया नही समझते। त्रिरत्नभाष्य मे कहा गया है—मूर्धशब्देन वक्त्रविवरोपरिभागो विवक्ष्यते (२। ३७ तै० प्रा०)। यहा 'विवक्ष्यते' कहने का तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि इस स्थल मे मूर्धा शब्द का यह अर्थ है, अन्यत्र लोकप्रसिद्ध थोडा पृथक् अर्थ होगा। उसी प्रकार 'तालुपदेन जिह्वाया अधस्तनः प्रदेश' उच्यते' (वैदिकाभरण २। २२) कहा गया है। क्या तालु का यह अर्थ समीचीन है या शरीरविदो को अनुमत है ?

इसी प्रकार लाक्षणिक प्रयोग भी हैं। हम हठयोग के ग्रन्थ से एक उद्धरण दे रहे हैं। हठयोग प्रदीपिका १।१९ की टीका मे कहा गया है—जानुशब्देन जानुसन्निहितो जङ्घाप्रदेशो ग्राह्यः (जानु का तात्पर्य जानु के पास स्थित जङ्घा है)। मूर्धा या ब्रह्मरन्ध्र के अर्थ मे 'तालु' शब्द शान्तिपर्व (२००।२०) मे प्रयुक्त हुआ है[1]। यह दृष्टि वर्णोच्चारणस्थान-निर्देश मे भी कही-कही मिलती है।

'दन्त' एक वर्णोच्चारणस्थान है, पर व्याख्याकार कहते हैं कि दन्त का तात्पर्य दन्तमूल है (दन्तशब्देन दन्तमूलप्रदेशो विवक्षित', बालमनोरमा १।१।९)। कही-कही दन्त और दन्तमूल दो पृथक् स्थान के रूपमे परिगणित हुए हैं (याज्ञवल्क्य शिक्षा का वर्णोच्चारणस्थान प्रकरण द्र०)।

य भी ज्ञातव्य है कि टीकाग्रन्थो मे तालु आदि के जो लक्षण कहे गए हैं वे भी कुछ न कुछ अस्पष्ट हैं, वर्तमान शरीरविज्ञान मे अगलक्षणो की जो विशदता है, वह इन लक्षणो मे प्राप्तव्य नही है और उस समय इस विशदता की कुछ आवश्यकता भी नही थी, प्रत्येक गवेषक को यह स्वीकार करना चाहिए।

उपर्युक्त विचार से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्थानो की पहचान शास्त्रोक्त शब्दमात्र के अनुसार यदि की जाए तो वह बहुत कुछ अस्पष्ट-सी रहती है। उनके मतभेदो पर विचार करने से पहले इस तथ्य को जानकर तब आगे विचार करना चाहिए। पूर्वाचार्यों ने 'यत् स्पर्शन तत्स्थानम्' (अथर्वप्रातिशाख्य २।३३ तथा अन्यत्र) कहा है। ये स्थान भी स्वर और व्यञ्जनो की दृष्टि से विभिन्न प्रकार का है, यह तथ्य तैत्तिरीय प्रातिशाख्य २।३१-३३ तथा अन्यत्र स्पष्टत. स्वीकृत हुआ है। इस 'स्पर्शन' के विभाग विभिन्न दृष्टियो से किए जा सकते है, और शारीरिक कार्य समान रहने पर भी स्थान-करण-प्रयत्न के कथन मे विभिन्नता हो सकती है। यह विभिन्नता वर्गीकरण करने की शैली

१—'तालुदेशमथोद्दाल्य' की व्याख्या मे नीलकण्ठ कहते हैं—तालुदेश ब्रह्मरन्ध्रम्।

में भेद के अनुसार होती है, वस्तुतः वहाँ मतभेद नहीं होता। आधुनिक भाषावैज्ञानिकों को इस तथ्य पर ध्यान देना चाहिए।

उपर्युक्त दृष्टि को समझने के लिये कुछ उदाहरण दिए जा रहे हैं। ऋक्प्रातिशाख्य में 'जिह्वामूल' नामक कोई स्थान स्वीकृत नहीं हुआ है पर करण (स्थान में आयास करने वाला शरीरावयवविशेष) के उल्लेख में ग्रहणस्य (=जिह्वामूल) का उल्लेख है (१।१८-१९)।

स्थानभेद कहने मात्र से यहाँ वस्तुतः मतभेद या उच्चारणभेद हुआ (या दोनों में कोई मत अवश्य अशुद्ध है,) ऐसा सोचना सर्वथा असंगत नहीं है। रेफ का स्थान कहीं मूर्धा और कहीं दन्तमूल कहा गया है। यह कोई विरोधस्थल नहीं है। जब रेफ का स्थान दन्तमूल कहा जाता है (याज्ञवल्क्यशिक्षा पृ० १५४ अमरनाथशास्त्रिटीकासहित) तब 'जिह्वाग्र' उसका करण माना जाता है। टीकाकार कहते हैं कि जिह्वाग्र से दन्तमूल का स्पर्श और जिह्वामध्य से मूर्धा का स्पर्श एक ही बात है, अतः रेफ का स्थान मूर्धा भी कहा जा सकता है दन्तमूल भी।[1]

वर्गीकरण (स्थान-करण-प्रयत्न सम्बन्धी) के भेद से इस प्रकार मतभेद हो जाना स्वाभाविक है पर यहाँ वास्तव क्रिया समान ही होगी। 'ऋ' का स्थान बहुत मूर्धा माना गया है, पर याज्ञवल्क्यशिक्षा में इसका स्थान 'जिह्वामूल' माना गया है (पृ० १५४)। टीकाकार कहते हैं कि पाणिनि ने प्रक्रियालाघव के लिये (न कि मतभेद दिखाने के लिये) 'ऋ' का स्थान मूर्धा कहा है वस्तुतः इसका स्थान जिह्वामूल है और हनुमूल करण है।[2] यदि कोई

१ —'एको दन्तमूलीयो रेफः' की व्याख्या में कहा गया है—वस्तुतो जिह्वामध्यकरणेन मूर्धस्थानोक्तिः पाणिन्यादिसंमता रेफस्य न विरुध्यते यतो जिह्वाग्रेण दन्तमूले स्पृष्टे सत्यपि जिह्वामध्यस्य मूर्धनि स्थितिरिति करणभेदस्तु पाणिनेरपि ग्राह्यः।

२—अत ऋवर्णस्य जिह्वामूलीयत्वमपि पाणिनीयस्य मूर्धन्योक्त्याऽविरुद्धमेव। मूर्धन्यत्व-रवर्णस्थानस्य करणविशेषप्रदर्शनाय प्रोक्तिः, न तु स्थानद्वयेन द्विविध ऋवर्णोऽस्ति प्रतिपत्तव्या। पाणिनिना तु प्रक्रियालाघवायास्य मूर्धन्यता स्वीकृता रेफ इव यहाँ प्रक्रियालाघव शब्द पर ध्यान देना चाहिए और यह निर्णय करना चाहिए कि बहुत शास्त्रकार प्रकृत सूक्ष्म सत्य को जानते हुए भी कभी-कभी प्रक्रियालाघव (या ग्रन्थलाघव) के लिये स्थूलतर उपन्यास करते हैं ऐसे स्थलों में मतभेद की कल्पना नहीं करनी चाहिए।

हनुमूल को करण के रूप मे स्वीकार न करे तो वह 'ऋ' का स्थान मूर्धा ही कहेगा।

इन उदाहरणो से यह स्पष्ट हो जाता है कि जब वर्णो का उच्चारण स्थान भी मुख के अन्तर्गत है, उच्चारण का करण भी मुख के अन्तर्गत अंशविशेष हैं, और इन अवयवो का साक्षात् या अन्तरित परस्पर सयोग भी है, तब इन स्थानकरणो के निर्धारण मे दृष्टिभेद के कारण स्थानकरण निर्देश भी विभिन्न होगे (एक ही वर्णोच्चारणप्रयत्न के क्षेत्र मे) यद्यपि उसमे वस्तुस्थिति मे भिन्नता या मतभेद वस्तुतः नही होता।

जिस स्थान मे वर्ण की उपलब्धि होती है, वह स्थान है—यत्रस्था वर्णा उपलभ्यन्ते तत्स्थानम् (पाणिनिशिक्षासूत्र ७।७ तथा आपिशलिशिक्षासूत्र ७।३)। यह स्थानोपलब्धि दृष्टिभेद से विभिन्न प्रकार की ज्ञात हो सकती है—कोई स्थूल दृष्टि से, कोई सूक्ष्मदृष्टि से, कोई सूक्ष्मतर दृष्टि से। धोती किससे बनी है, इसका उत्तर 'सूत से बनी है' भी हो सकता है और 'रुई से बनी है' यह भी हो सकता है, और इन दो उत्तरो मे न एक से दूसरा खण्डित होता है और न पार्थक्य होता हुआ भी विरोध होता है, उसी प्रकार जितनी बारीकी से छानबीन किसी आचार्य ने वर्णोत्पत्तिस्थान के विषय मे की है उतना ही सूक्ष्म से सूक्ष्म तर उत्तर दिया गया है। हम समझते हैं कि यदि चिरकाल से सस्कृतभाषी समाज मे क-वर्ग का उच्चारण एकरूप ही रहा है तो उसका उच्चारणस्थान भी वस्तुत एक ही रहा है, पर वह स्थान वस्तुत. क्या है, इसमे अनुसन्धाता की दृष्टि के सूक्ष्मताक्रम के अनुसार मतपार्थक्य होगा—एक ही स्थान को लक्ष्यकर कण्ठ, कण्ठमूल या जिह्वामूल शब्द भाषित हो सकता है, जिसमें आचार्यों के दृष्टिप्रकर्ष का तारतम्य है, वस्तुतः विरोध नही है।

प्रसगतः यह ज्ञातव्य है कि वर्णरत्नप्रदीपिका मे क-वर्ग का करण जिह्वामूल है, यह कहा गया है (२५)। ध्यान देना चाहिए कि इवर्ण-चवर्ग तथा पवर्ग-उवर्ण के स्थान करण (करण के लिये वर्णरत्नप्रदीपिका मे कारण शब्द दिया गया है) परस्पर भिन्न हैं, पर क-वर्ग का स्थान और करण एक ही हैं, ऐसा कहा गया है, यह दृष्टि सर्वग्रन्थकारो मे एकरूप नहीं है। चूंकि स्थान और करण ये दो शरीरावयवविशेष ही हैं, और ये सब अवयव परस्पर साक्षात् या परम्परा सम्बन्ध से प्रायेण सयुक्त हैं, अत स्थानकरण-विभाजन-तत्त्व के निर्धारण में दृष्टिभेद के अनुसार स्थान-करण-निर्देश अवश्य ही पृथक्-पृथक् होगे। इस परिस्थिति मे यदि एक वर्ण का उच्चारण भिन्न-भिन्न होता है, तो स्थान

भी भिन्न भिन्न होंगे, यह कहना न्यायत: प्राप्त होता है और यदि ए वर्ण का उच्चारण समान ही है तब स्थान करण-निर्देश[1] विभिन्न प्रथ के होने पर भी वहां वस्तुत: मतभेद नहीं है यह स्वीकार्य होगा, वस्तुत: य दृष्टिभेदानुसारी प्रक्रिया भेद ही है।

यह रहस्य पूर्वाचार्यों को अनुभव है। देखा जाता है कि वे प्रा० २।३५ क-वर्ग का स्थान हनुमूल और करण (जिसके द्वारा स्थान में स्पर्श किया जात है—वे प्रा २।१४) जिह्वामूल कहा गया है जब कि अन्यत्र जिह्वामूल को स्था ही माना गया है। पवर्गोच्चारण में उत्तरोष्ठ को स्थान माना जाता है और अधरोष्ठ को करण जब कि अन्यत्र दोनों ओष्ठों को ही स्थान माना गया है। सामान्य दृष्टि से देखने मे इन सब मतों में मतभेद ज्ञात होता है पर चूंकि उच्चारण में वैलक्षण्य नहीं माना जाता अत: यही मानना उचित होगा कि स्थान और करण का पृथक-पृथक निर्धारण करने की दृष्टियाँ विभिन्न स्तर की होती हैं और परस्पर में पार्थक्य होने पर भी विरोध नहीं होता हां दृष्टिभेद से उत्कर्षापकर्ष का विचार किया ही जा सकता है यद्यपि यह मानना होगा कि स्थूलार्थक शब्दप्रयोग करने वाले आचार्य सूक्ष्म अर्थ को सिद्धान्तत: जानते थे यदि स्थानादि भेद होने पर उच्चारण में भी विलक्षणता होती हो तो स्थानभेद का कथन वस्तुत: मतभेद ही माना जायगा। चूंकि आधुनिक भाषाशास्त्री यह नहीं कहते हैं कि कण्ठवादी और जिह्वामूलवादी के अनुसार उच्चारण में भी भेद होता है अत: कण्ठ और जिह्वामूल दो पृथक मतवादों के सम्मत दो उच्चारण स्थान नहीं हैं एक ही स्थान को लक्ष्यकर ये दो शब्द व्यवहृत हुए हैं— यह निश्चयेन ज्ञातव्य है।

—

1—करण का स्वरूप भी दृष्टिभेद से भिन्न होता है यद्यपि इससे उच्चारण में विलक्षणता नहीं आती। कि पुनरस्मै भवम्, स्थाने करणं च—इस भाष्यवाक्य की व्याख्या मे कैयट मतभेद दिखाते हैं कि या तो स्पृष्टता-ईषत्स्पृष्टत्वादि करण हैं या जिह्वा के अग्र-उपाग्र-मध्य-मूलभाग करण हैं (पृ २१९)। सोचना चाहिए कि कहां स्पृष्टतारूप देहाविशेष और कहां जिह्वा रूप द्रव्यका अंगविशेष पर पृथक् पृथक वर्गीकरण के अनुसार ये दो करण माने जा सकते हैं। ऐसे मतभेदों से उच्चारणभेद नहीं होता यह ज्ञातव्य है। स्थानकरणादि के उपदेशभेद के अनुसार कहां उच्चारण में भेद होता है और कहां नहीं इसका विवेक करना आधुनिक भाषाशास्त्री का मुख्य कर्तव्य है।

त्रिंश परिच्छेद

पाणिनीय वैयाकरणों की दृष्टि में अनभिधान की सहेतुकता

सस्कृत भाषा के शब्दशास्त्र मे कितने ही ऐसे स्थल हैं, जहा यह कहा जाता है कि 'अमुक शब्द का प्रयोग सामान्यतया सिद्ध होने पर भी नही होगा, क्योकि ऐसे प्रयोग का अभिधान नही है' (अनभिधानात्)। ऐसे स्थलो पर स्वभावतः यह जिज्ञासा होती है कि अनभिधान का कारण क्या है, इसके उत्तर मे प्राय: यही उत्तर दिया जाता है कि शब्द की ऐमी ही शक्ति है कि अमुक शब्द तो निष्पन्न होता है और अमुक शब्द निष्पन्न नही होता।

हमारा दृष्टिकोण यह है कि चूंकि यह देववाणी स्वभावतः सस्कार[1] से युक्त है, अत· प्रयोगो के अनभिधानो का भी कोई न कोई कारण होना चाहिए। इस चिन्ता से प्रणोदित होकर कुछ अनभिधान स्थलो पर यह विचार किया

१—'सस्कार' के विषय मे यह स्पष्टरूप से जान लेना चाहिए कि यह संस्कृत भाषा का सहजात गुणविशेष है। असस्कृत भाषाओ मे गुणाधान कर सस्कृत भाषा बनाई नही गई है, बल्कि तथ्य यही है कि सस्कृत का सस्कार नामक गुण नष्ट होकर ही असस्कृत भाषाएँ क्रमशः बनी हैं। लोपागमवर्ण-विकारादि की सुव्यवस्था आदि गुण सहजतः इस भाषा मे है, अतः यह सस्कृत है। इस सस्कार नामक गुण का जैसा-जैसा ज्ञान होता जाएगा, वैसा-वैसा सस्कृतभाषा की दिव्यता भी प्रकटित होती जाएगी। उपादान कारण से कार्य स्थूलतर होता है, यदि असस्कृत भाषाओ का सस्कार कर संस्कृत को व्यवहृत किया गया होता तो यह भाषा अन्य भाषाओ से स्थूल होती (विशेष विचार के लिये 'सस्कृतभाषा का अनुशीलन' ग्रन्थ द्रष्टव्य है)। व्याकरणीय नियमो की उपपत्ति के लिये गुणत्रय का प्रसग करना भी उपर्युक्त दृष्टि का ज्ञापक है, यथा— एक न्याय है—'सामान्ये नपुसकम्' तथा 'लिङ्गसम्बन्धी वलावल मे नपुसक लिङ्ग वलवान् होता है'। यह नियम जड विज्ञानानुसारी है, जैसा कि कैयटाचार्य ने कहा है—व्यापितत्वात् नपुसकस्य प्राधान्यमाह। स्थितिः नपुसकम्। सा च सर्वत्र विद्यते इति स्थिति-रूपत्वेनैव स्त्रीपुसयोरपि विवक्षाया सिद्धो नपुसक-शब्द-प्रयोग. (प्रदीप १।२।६९)। इस प्रकार के हेतुपरक व्याख्यान से इस दैवी वाक् का अतिशयविशेष सिद्ध होता है।

भी भिन्न-भिन्न होंगे, यह कहना न्यायतः प्राप्त होता है और यदि वर्ण का उच्चारण समान ही है तब स्थान करण निर्देश[1] विविध के होने पर भी वहां तत्त्वतः मतभेद नहीं है, यह स्वीकार्य होगा अपितु दृष्टिभेदानुसारी प्रक्रिया भेद ही है।

यह रहस्य पूर्वाचार्यों को अनुभव है। देखा जाता है कि ते० प्रा० तास क–वर्ग का स्थान हनुमूल और करण (जिसके द्वारा स्थान में स्पर्श किया जा है–ते० प्रा २।३४) जिह्वामूल कहा गया है जब कि अन्यत्र जिह्वामूल को स्था ही माना गया है। पवर्गोच्चारण में उत्तरोष्ठ को स्थान माना जाता है अधरोष्ठ को करण जब कि अन्यत्र दोनों ओष्ठों को ही स्थान माना गया। सामान्य दृष्टि से देखने से इन सब मतों में मतभेद ज्ञात होता है पर चूंकि उच्चारण में वैलक्षण्य नहीं माना जाता अतः यही मानना उचित होगा कि स्थान और करण का पृथक्-पृथक् निर्धारण करने की दृष्टियाँ विभिन्न स्तर की होती हैं और परस्पर में पार्थक्य होने पर भी विरोध नहीं होता है, ‍ उत्कर्षापकर्ष का विचार किया ही जा सकता है यद्यपि यह मानना होगा कि स्थूलार्थक शब्दप्रयोग करने वाले आचार्य सूक्ष्म अर्थ को सिद्धान्ततः जानते थे। यदि स्थानादि भेद होने पर उच्चारण में भी विलक्षणता होती हो तो स्थानभेद का कथन वस्तुतः मतभेद ही माना जाएगा। चूंकि आधुनिक भाषाशास्त्री यह नहीं कहते हैं कि कण्ठवादी और जिह्वामूलवादी के अनुसार उच्चारण में भी भेद होता है अतः कण्ठ और जिह्वामूल दो पृथक् मतवादों के सम्मत दो उच्चारण स्थान नहीं हैं एक ही स्थान को लक्ष्यकर ये दो शब्द व्यवहृत हुए हैं–यह निश्चयेन ज्ञातव्य है।

१–करण का स्वरूप भी दृष्टिभेद से भिन्न होता है, यद्यपि इससे उच्चारण में विलक्षणता नहीं आती। कि पुनरास्ये भवम् स्थानं करणं च—इस भाष्यवाक्य की व्याख्या में कैयट मतभेद दिखाते हैं कि या तो स्पृष्टता-ईषत्स्पृष्टतादि करण है या जिह्वा के अग्र-उपाग्र-मध्य-मूलभाग करण हैं (पृ २१९)। सोचना चाहिए कि कहाँ स्पृष्टतारूप चेष्टाविशेष और कहाँ जिह्वा रूप द्रव्यका अंशविशेष पर पृथक्-पृथक् वर्गीकरण के अनुसार ये दो करण माने जा सकते हैं। ऐसे मतभेदों से उच्चारणभेद नहीं होता यह ज्ञातव्य है। स्थानकरणादि के उपदेशभेद के अनुसार कहाँ उच्चारण में भेद होता है और कहाँ नहीं इसका विवेक करना आधुनिक भाषाशास्त्री का मुख्य कर्तव्य है।

विंश परिच्छेद

पाणिनीय वैयाकरणों की दृष्टि में अनभिधान की सहेतुकता

सस्कृत भाषा के शब्दशास्त्र मे कितने ही ऐसे स्थल हैं, जहा यह कहा जाता है कि 'अमुक शब्द का प्रयोग सामान्यतया सिद्ध होने पर भी नही होगा, क्योकि ऐसे प्रयोग का अभिधान नही है' (अनभिधानात्)। ऐसे स्थलो पर स्वभावत. यह जिज्ञासा होती है कि अनभिधान का कारण क्या है, इसके उत्तर मे प्रायः यही उत्तर दिया जाता है कि शब्द की ऐमी ही शक्ति है कि अमुक शब्द तो निष्पन्न होता है और अमुक शब्द निष्पन्न नही होता।

हमारा दृष्टिकोण यह है कि चूंकि यह देववाणी स्वभावतः संस्कार[1] से युक्त है, अतः प्रयोगो के अनभिधानो का भी कोई न कोई कारण होना चाहिए। इस चिन्ता से प्रणोदित होकर कुछ अनभिधान स्थलो पर यह विचार किया

१—'सस्कार' के विषय मे यह स्पष्टरूप से जान लेना चाहिए कि यह सस्कृत भाषा का सहजात गुणविशेष है। असस्कृत भाषाओ मे गुणाधान कर सस्कृत भाषा बनाई नही गई है, बल्कि तथ्य यही है कि सस्कृत का सस्कार नामक गुण नष्ट होकर ही असस्कृत भाषाएँ क्रमशः बनी हैं। लोपागमवर्ण-विकारादि की सुव्यवस्था आदि गुण सहजतः इस भाषा मे है, अत यह सस्कृत है। इस सस्कार नामक गुण का जैसा-जैसा ज्ञान होता जाएगा, वैसा-वैसा सस्कृतभाषा की दिव्यता भी प्रकटित होती जाएगी। उपादान कारण से कार्य स्थूलतर होता है, यदि असस्कृत भाषाओ का सस्कार कर संस्कृत को व्यवहृत किया गया होता तो यह भाषा अन्य भाषाओ से स्थूल होती (विशेष विचार के लिये 'सस्कृतभाषा का अनुशीलन' ग्रन्थ द्रष्टव्य है)। व्याकरणीय नियमो की उपपत्ति के लिये गुणत्रय का प्रसग करना भी उपर्युक्त दृष्टि का ज्ञापक है, यथा—एक न्याय है—'सामान्ये नपुसकम्' तथा 'लिङ्गसम्वन्धी वलाबल मे नपुसक लिङ्ग वलवान् होता है'। यह नियम जड विज्ञानानुसारी है, जैसा कि कैयटाचार्य ने कहा है—व्यापितत्वात् नपुसकस्य प्राधान्यमाह। स्थितिः नपुसकम्। सा च सर्वत्र विद्यते इति स्थिति-रूपत्वेनैव स्त्रीपुसयोरपि विवक्षाया सिद्धो नपुसक-शब्द-प्रयोगः (प्रदीप १।२।६९)। इस प्रकार के हेतुपरक व्याख्यान से इस दैवी वाक् का अतिशयविशेष सिद्ध होता है।

गया है कि तत्-तत्-प्रत्ययविधानों का मनोवैज्ञानिक या अवैज्ञानिक (अर्थात् मानसचिन्ताप्रणाली के अनुसार या जडपदार्थ के स्वभाव के अनुसार) हेतु क्या हो सकता है। हमने पूर्वाचार्यों की सम्मति के अनुसार ही यह विचार किया है जिससे यह ज्ञात हो जाय कि यह मेरी कोई सर्वथा अभिनव सोच नहीं है बल्कि इस चिन्ता का बीज पूर्वाचार्यों की बुद्धि में भी थी। इस विचार पद्धति में हमारा कोई आग्रह नहीं है और हम विद्वानों से प्रार्थना करते हैं कि वे भी इस विषय पर निर्णय करने के लिये चेष्टा करें। यह एक प्राथमिक विचार है ऐसा जानना चाहिए।

द्विर्वचन और तरप् प्रत्यय—संस्कृत में पौनःपुन्य अर्थ के द्योतन के लिये तिङन्त पद का द्वित्व किया जाता है, जैसे पचति पचति (वह बार-बार पाक कर रहा है) और अतिशय अर्थ के द्योतन के लिये 'तरप्' प्रत्यय का व्यवहार होता है। (जैसे सुन्दर से सुन्दरतर)। वीप्सा में भी द्वित्व होता है जैसे 'वृक्षं वृक्षं सिञ्चति' अर्थात् सब वृक्षों का सेचन कर रहा है।

पर अतिशय अर्थ के साथ पौनःपुन्य या वीप्सा (जिन दोनों के लिये पद का द्वित्व किया जाता है) की विवक्षा हो तो क्रियापद का जैसा प्रयोग होता है द्रव्य शब्द का वैसा प्रयोग नहीं होता। जैसे 'पचति' इस क्रिया के साथ पौनःपुन्य और अतिशय की युगपत् विवक्षा होने पर पचति पचतितराम्' ऐसा प्रयोग होगा अर्थात् क्रियापद का ही द्वित्व होगा और एक ही बार 'तरप्' प्रत्यय होगा। विपरीत पक्ष में हम देखते हैं कि द्रव्य शब्द में ऐसा प्रयोग नहीं होता वहाँ पद का द्वित्व होता है और साथ ही 'तरप्' प्रत्यय भी दो बार प्रयुक्त होता है 'आढ्यतरः आढ्यतरः' ऐसा प्रयोग होता है— 'आढ्यआढ्यतरः' ऐसा नहीं।

क्रियाशब्द में क्यों दो बार तरप् प्रत्यय नहीं होता और द्रव्यशब्द में क्यों दो बार तरप् प्रत्यय होता है—साधारण दृष्टि से इस का कुछ भी हेतु प्रतीत नहीं होता। इस प्रकार के प्रश्नों को सुचोद्य कहा जाता है क्योंकि 'इस प्रकार का शब्दप्रयोग क्यों होता है'—ऐसा प्रश्न व्यर्थ समझा जाता है, और यदि हेतु के लिये चोद्य किया जाता है तो केवल यही उत्तर दिया जाता है कि ऐसा ही प्रयोग कर्त्तव्य है इसमें पर्यनुयोग नहीं किया जा सकता।

पर हमारा सिद्धान्त है कि संसार की अन्य भाषाओं में इस प्रकार की युक्ति भले ही चले संस्कृत में ऐसी हेय युक्ति नहीं चलेगी। जहाँ भी नियमों का व्यतिक्रम है वहाँ वह अवश्यमेव सकारण है। और बुद्धि से विचार करने पर

पता चलता है कि उपर्युक्त स्थल मे भी कुछ न कुछ मानसिक कारण था, जिससे इस प्रकार के विलक्षण प्रयोग होते थे, आकस्मिक रूप से इस प्रकार के व्यवस्थित प्रयोग नही हो गए। वह कारण निम्नलिखित प्रकार का है—

क्रियावाची पद मे (अर्थात्, यहाँ 'पचति' = पाक करता है) अतिशयार्थक तरप् प्रत्यय के बाद, पौन पुन्यार्थक द्वित्व का होना सम्भव नही है, क्योकि मानसिक चिन्ता इसके विपरीत है। किसी का प्रकर्ष (अतिशय) किसी प्रतियोगी की अपेक्षा से ही सभव है, स्वत' नही, पर किसी क्रिया का पौन:पुन्य स्वतः होता है, किसी की अपेक्षा से नही, अत. क्रिया मे पौन'पुन्यभाव अन्तरङ्ग होता है, और बहिरङ्ग से अन्तरङ्ग स्वाभाविक रूप से ही बलवान् होता है। मानवीय चिन्ता इस तथ्य का अतिक्रमण नही कर सकती, अत. क्रिया का पौन पुन्यबोधक द्वित्व ही पहले होगा, और उसके बाद प्रकर्ष द्योतक तरप् प्रत्यय। अत 'पचतितराम् पचतितराम्' ऐसा न होकर 'पचति पचतितराम्' ही होगा।

द्रव्यप्रकर्ष के उदाहरण (आढ्यतर: आढ्यतर) मे ऐसी चिन्ता नही होती। यहाँ तो जो आढ्य वस्तुत प्रकर्षयुक्त है, उसकी ही वीप्सा (पूर्णतायुक्त सम्बन्ध) होती है, वीप्सा से युक्त आढ्यो का प्रकर्ष विवक्षित नही होता। उपर्युक्त वाक्य (आढ्यतरम् आढ्यतरम् आनय) मे प्रकर्षयुक्त आढ्यो का आनयन विवक्षित है, जो आनयन सर्वतोभावेन सम्पूर्ण है। हम प्रकर्षयुक्त प्रत्येक आढ्य से पूर्ण सम्बन्ध जोडते हैं—आनयन क्रिया मे, न कि आनयन क्रिया की पूर्णता से आढ्य का सम्बन्ध स्थापित कर उस आढ्य का प्रकर्ष कहते हैं। आढ्य का प्रकर्ष उसका अपना है, उसमे जो वीप्सा है, वह आढ्य से पृथक् व्यक्ति की है, अतः आढ्य के प्रकर्ष के लिये पहले तरप् प्रत्यप होकर 'आढ्यतर' शब्द बन जाएगा, और उसके बाद वीप्सा के द्योतन के लिये 'आढ्यतर' शब्द का द्वित्व होगा जैसा कि उदाहरण में दिखाया गया है।

यह एक ही उदाहरण प्रकटित करता है कि संस्कृत की अवयवरचना कितनी वैज्ञानिक है, जिसकी तुलना शायद ही भाषान्तर से की जा सके।

धातु या तिङन्त का द्विर्वचन—द्विर्वचनसम्बन्धी एक अन्य उदाहरण से भी यह तथ्य प्रमाणित होगा, यथा .—

नित्यवीप्सयो (८।१।४) सूत्र से सुबन्त या तिङन्त पद का द्विर्वचन (नित्यता और वीप्सा अर्थ मे) विहित होता है। पाणिनीय व्याकरण का यह नियम है कि यह द्वित्व (द्विर्वचन) तिङन्त धातु का ही होगा, धातुमात्र

गया है कि तत्-तत्-प्रमभिधानों का मनोवैज्ञानिक या जड़वैज्ञानिक (अर्थात मानसचिन्ताप्रणाली के अनुसार या जड़पदार्थ के स्वभाव के अनुसार) हेतु क्या हो सकता है। हमने पूर्वाचार्यों की सम्मति के अनुसार ही यह विचार किया है जिससे यह ज्ञात हो जाय कि यह मेरी कोई सर्वथा अभिनव बोध नहीं है बल्कि इस चिन्ता का बीज पूर्वाचार्यों की बुद्धि में भी थी। इस विचार-पद्धति में हमारा कोई आग्रह नहीं है और हम विद्वानों से प्रार्थना करते हैं कि वे भी इस विषय पर निर्णय करने के लिये चेष्टा करें। यह एक प्रासंगिक विचार है ऐसा जानना चाहिए।

द्विर्वचन और तरप् प्रत्यय—संस्कृत में पौनःपुन्य अर्थ के द्योतन के लिये तिङन्त पद का द्वित्व किया जाता है जैसे 'पचति पचति' (वह बार-बार पाक कर रहा है) और अतिशय अर्थ के द्योतन के लिये तरप् प्रत्यय का व्यवहार होता है। (जैसे सुन्दर से सुन्दरतर)। वीप्सा में भी द्वित्व होता है जैसे 'वृक्षं वृक्षं सिञ्चति' अर्थात् सब वृक्षों का सेचन कर रहा है।

पर अतिशय अर्थ के साथ पौनःपुन्य या वीप्सा (जिन दोनों के लिये पद का द्वित्व किया जाता है) की विवक्षा हो तो क्रियापद का जैसा प्रयोग होता है, द्रव्य शब्द का वैसा प्रयोग नहीं होता। जैसे 'पचति' इस क्रिया के साथ पौनःपुन्य और अतिशय की युगपत् विवक्षा होने पर 'पचति पचतितराम्' ऐसा प्रयोग होगा अर्थात् क्रियापद का ही द्वित्व होगा और एक ही बार 'तरप्' प्रत्यय होगा। विपरीत पक्ष में हम देखते हैं कि द्रव्य शब्द में ऐसा प्रयोग नहीं होता वहाँ पद का द्वित्व होता है और साथ ही 'तरप्' प्रत्यय भी दो बार प्रयुक्त होता है 'आढ्यतरः आढ्यतरः' ऐसा प्रयोग होता है— 'आढ्यआढ्यतरः' ऐसा नहीं।

क्रियाशब्द में क्यों दो बार तरप् प्रत्यय नहीं होता और द्रव्यशब्द में क्यों दो बार तरप् प्रत्यय होता है—साधारण दृष्टि से इस का कुछ भी हेतु प्रतीत नहीं होता। इस प्रकार के प्रश्नों को चूडोदिघा कहा जाता है क्योंकि 'इस प्रकार का वाक्यप्रयोग क्यों होता है'—ऐसा प्रश्न व्यर्थ समझा जाता है और यदि हेतु के लिये जोर दिया जाता है तो केवल यही उत्तर दिया जाता है कि ऐसा ही प्रयोग करना है इसमें पर्यनुयोग नहीं किया जा सकता।

पर हमारा सिद्धान्त है कि संसार की अन्य भाषाओं में इस प्रकार की युक्ति भले ही न मिले संस्कृत में ऐसी हेय युक्ति नहीं बनेगी। जहाँ भी नियमों का व्यतिक्रम है वहाँ वह अवश्यमेव सकारण है। और बुद्धि से विचार करने पर

अन्वाख्यान करता है[1], अप्रयुक्त शब्द-सम्बन्धी तर्क शब्दशास्त्र करता ही नही है। 'शिष्टो मे बोध हो जाना, यही अभिधान का स्वरूप है, अतः किसी अप्रयोगार्ह शब्द का कारण ढूंढना आवश्यक नही है।

पर यह भी जानना चाहिए कि शब्द मनोभाव को अभिव्यक्त करता है, और अन्य प्रकार के शब्दो से भाषाशब्द की यही विशिष्टता है कि वह मनोभाव के अनुसार प्रवर्त्तित होता है, (यन्मनसा चिन्तयति तद्वाचा वदति) और मनोभाव के परिवर्त्तन तथा गौण-मुख्यभाव के अनुसार शब्दप्रयोग मे भी विचित्रता होती है। अत यह सिद्ध होता है कि 'प्रसुलम्भम्' प्रयोग के अनभिधान के लिये मनोवैज्ञानिक कारण अवश्य है। 'प्र' का प्राचीन अर्थ है 'आरम्भ' और 'सु' का अर्थ है 'अतिशय' या 'सौकर्य'। अत्र धातु और उपसर्ग सम्बन्धी समास का यह नियम है कि पहले धातु और उसके निकटस्थ उपसर्ग का समास होगा और इसके बाद अन्य उपसर्ग से समास होगा अर्थात् पहले 'सु+लभ्' का समास होगा और उसके बाद 'प्र' से 'सु+लभ्' का। पर ऐसा होना बोध की दृष्टि मे सम्भव नही है। क्योंकि 'सु+लभ्' का अर्थ है 'अतिशय विशिष्टलाभ' या 'सौकर्यविशिष्ट लाभ' और सातिशय लाभ तभी सम्भव है जब पहले उसका आरम्भ हो चुका हो (जिसका आरम्भ नही हुआ, उसका अतिशय या सुकरता कैसे हो सकती है?)। अत 'सु+लभ्' होने के बाद 'प्र' की आवश्यकता ही नही रह जाती, सुतरां प्र+सु+लभ् = प्रसुलम्भ प्रयोग उपपन्न नही हो सकता। पर 'सुप्रलम्भ' प्रयोग हो सकता है, क्योकि 'प्र+लम्भ' का अर्थ होता है, लाभ का आरम्भ हुआ है और आरब्ध पदार्थ के अतिशय के द्योतन के बाद मे 'सु' के साथ समास कर 'सुप्रलम्भ' प्रयोग बनाया जा सकता है। प्रकार के अन्य प्रयोगो मे भी यही हेतु दिखाई पडता है, जैसे 'सुप्रकाश' द प्रयोग तो साधु होंगे, पर 'प्रसुकाश' आदि प्रयोग साधु नही माने जाते हैं। कहा जाए कि प्र = प्रकर्ष और सु=अतिशय, अत प्रकर्ष का अतिशय दिखाने लये 'सुप्रलम्भ' प्रयोग हो सकता है, तो यह जानना चाहिए कि व्याकरण युक्त शब्दो का निर्माण नही करता है[2] और जिसका प्रयोग व्याकरण

१—लोके प्रयुज्यमानस्य साधुत्वमसाधुत्व च विचार्यते (प्रदीप २।१।१), कानां शब्दाना साध्वसाधुविवेकाय शास्त्रारम्भात् (प्रदीप ४।२।१), लोकद्धार्थाना शब्दानामिह साधुत्वान्वाख्यानात् (प्रदीप ५।२।३७)।

२—वैयाकरण वस्तुतः विद्यमान शब्दो का स्मर्ता है, जैसा कि कैयटाचार्य ने है—'शास्त्रेण करणेन आचार्यः स्मर्ता सद् विद्यमान वस्तु निमित्तत्वेन ... (प्रदीप १।१।६८)।

का नहीं होगा अर्थात् 'पचति पचति'—ऐसा होगा 'पच् पचति' इस प्रकार नहीं होगा।

यहां यह शंका की जा सकती है कि द्वित्व प्रकरण में पाणिनि ने कण्ठतः पदाधिकार नहीं कहा अतः नित्यता में विधीयमान द्वित्व धातु को ही क्यों नहीं होगा क्योंकि धातु क्रियावाची है और आभीक्ष्ण्य = पौनःपुन्य (यहां नित्यता का यही अर्थ है) क्रिया का धर्म है, अतः धातु का द्वित्व न होकर तिङन्त पद का ही द्वित्व क्यों होता है?

इसके उत्तर में आधुनिक विद्वान् केवल यही कहेंगे कि यह तो शब्दशक्ति का स्वभाव है (अर्थात् धातुद्वित्व का अभिधान नहीं है) अतः ऐसा नहीं होता। पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने से पता चलता है कि द्वित्व का यह अनभिधान न्यायमूलक है—सकारण है। विचारने से पता चलता है कि नित्यता (=आभीक्ष्ण्य) व्यवहारसिद्ध ही होती है, और क्रिया व्यवहारोपयोगिनी तब होती है जब वह साधन से अवश्य ही अन्वित होती है। यह साधनभाव तिङविभक्ति (जिससे काल आदि से क्रिया का सम्बन्ध होता है) से युक्त होने पर ही होता है अतः तिङन्त पद का ही द्विर्वचन होता है, केवल धातु का नहीं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तिङन्त धातु का जो लौकिक अर्थ है चूंकि उस अर्थ में ही द्विर्भाव सम्भव है, अतः शब्द में भी तिङन्त धातु का ही द्वित्व होता है। अतः 'जब तिङन्त पद का द्वित्व होता है तब केवल क्रियावाची धातु का भी द्वित्व क्यों नहीं होता' इस प्रश्न का युक्तियुक्त समाधान मिल जाता है और 'धातुद्वित्व का हेतुहीन अनभिधान है' ऐसा मानने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

उपसर्गों का क्रम—अष्टाध्यायी ७।१।६८ सूत्र के भाष्य में प्रसंगवश पतञ्जलि ने कहा है कि सुप्रलम्भ प्रयोग होगा पर 'प्रसुलम्भ' प्रयोग नहीं होगा। (अभ्योपसृष्टान् मा भूत् इति—प्रसुलम्भम् नैवोऽस्ति प्रयोगः। इदं तर्हि सुप्रलम्भम्)। अब विचारने की बात यह है कि यदि सु+प्र+लम्+खल् = 'सुप्रलम्भ' प्रयोग हो सकता है तो प्र+सु+लम्+खल् = 'प्रसुलम्भ' प्रयोग क्यों नहीं हो सकता? प्रथम प्रयोग में पहले 'सु' उपसर्ग है उसके बाद 'प्र' उपसर्ग और दूसरे प्रयोग में पहले 'प्र' है और उसके बाद 'सु'। क्या कारण है कि 'सु' उपसर्ग के बाद 'प्र' उपसर्ग का प्रयोग तो साधु होता है, पर 'प्र' के बाद 'सु' का नहीं? साधारण रूप से इसका यही उत्तर दिया जाता है कि ऐसे प्रयोगों का अभिधान नहीं है और व्याकरणशास्त्र भी

अन्वाख्यान करता है[१], अप्रयुक्त शब्द-सम्बन्धी तर्क शब्दशास्त्र करता ही नही है। 'शिष्टो मे बोध हो जाना, यही अभिधान का स्वरूप है, अतः किसी अप्रयोगार्ह शब्द का कारण ढूंढना आवश्यक नही है।

पर यह भी जानना चाहिए कि शब्द मनोभाव को अभिव्यक्त करता है, और अन्य प्रकार के शब्दो से भाषाशब्द की यही विशिष्टता है कि वह मनोभाव के अनुसार प्रवर्त्तित होता है, (यन्मनसा चिन्तयति तद्वाचा वदति) और मनोभाव के परिवर्त्तन तथा गौण-मुख्यभाव के अनुसार शब्दप्रयोग मे भी विचित्रता होती है। अत. यह सिद्ध होता है कि 'प्रमुलम्भम्' प्रयोग के अनभिधान के लिये मनोवैज्ञानिक कारण अवश्य है। 'प्र' का प्राचीन अर्थ है 'आरम्भ' और 'सु' का अर्थ है 'अतिशय' या 'सौकर्य'। अब धातु और उपसर्ग सम्बन्धी समास का यह नियम है कि पहले धातु और उसके निकटस्थ उपसर्ग का समास होगा और इसके बाद अन्य उपसर्ग से समास होगा अर्थात् पहले 'सु+लभ्' का समास होगा और उसके बाद 'प्र' से 'सु+लभ्' का। पर ऐसा होना बोध की दृष्टि मे सम्भव नही है। क्योकि 'सु+लभ्'' का अर्थ है 'अतिशय विशिष्टलाभ' या 'सौकर्यविशिष्ट लाभ' और सातिशय लाभ तभी सम्भव है जब पहले उसका आरम्भ हो चुका हो (जिसका आरम्भ नही हुआ, उसका अतिशय या सुकरता कैसे हो सकती है ?)। अत' 'सु+लभ्' होने के बाद 'प्र' की आवश्यकता ही नही रह जाती, सुतरां प्र+सु+लभ्=प्रमुलम्भ प्रयोग उपपन्न नही हो सकता।

पर 'सुप्रलम्भ' प्रयोग हो सकता है, क्योंकि 'प्र+लम्भ' का अर्थ होता है, जिस लाभ का आरम्भ हुआ है और आरब्ध पदार्थ के अतिशय के द्योतन के लिये बाद मे 'सु' के साथ समास कर 'सुप्रलम्भ' प्रयोग बनाया जा सकता है। इस प्रकार के अन्य प्रयोगो मे भी यही हेतु दिखाई पडता है, जैसे 'सुप्रकाश' आदि प्रयोग तो साधु होंगे, पर 'प्रसुकाश' आदि प्रयोग साधु नही माने जाते हैं। यदि कहा जाए कि प्र=प्रकर्ष और सु=अतिशय, अत प्रकर्ष का अतिशय दिखाने के लिये 'सुप्रलम्भ' प्रयोग हो सकता है, तो यह जानना चाहिए कि व्याकरण अप्रयुक्त शब्दो का निर्माण नही करता है[२] और जिसका प्रयोग व्याकरण

१—लोके प्रयुज्यमानस्य साधुत्वमसाधुत्व च विचार्यते (प्रदीप २।१।१), प्रयुक्ताना शब्दाना साध्वसाधुविवेकाय शास्त्रारम्भात् (प्रदीप ४।२।१), लोकप्रसिद्धार्थाना शब्दानामिह साधुत्वान्वाख्यानात् (प्रदीप ५।२।३७)।

२—वैयाकरण वस्तुत विद्यमान शब्दो का स्मर्ता है, जैसा कि कैयटाचार्य ने कहा है—'शास्त्रेण करणेन आचार्य स्मर्ता सद् विद्यमान वस्तु निमित्तत्वेन अन्वाचष्टे' (प्रदीप १।१।६१)।

सूत्र प्राप्त होने पर भी नहीं होता है उसका कारण यहाँ दिखाया जा रहा है। अतः उपसर्ग के अनभीष्ट अर्थों की कल्पना कर किसी प्रसिद्ध शब्द का साधुत्व नहीं दिखाया जा सकता। यदि इस विशिष्ट प्रयोग में सु का अतिशय तथा 'प्र' का प्रकर्ष अर्थ विवक्षित होता तो वैसा प्रयोग होने की सम्भावना भी पर (व्याकरणसिद्ध होने पर भी) वैसा प्रयोग न होना ज्ञापित करता है कि मानवीय चिन्ताक्रमकी असमंजसता ही 'प्रसुसम्प' प्रयोग न बनने का कारण है।

न-घटित समास—अष्टा० ६।३।१ सूत्रभाष्य में पतञ्जलि ने कहा है कि निषेधार्थक से 'नञ्' 'नतराम्' (=पूर्णरूपेण नहीं) शब्द होता है, पर 'परम्+नम्=परमन ऐसा प्रयोग नहीं होता है (यद्यपि परम+गति=परमगति आदि प्रयोग होते हैं)। यहाँ भी यह प्रश्न उपस्थित होता है कि 'नञ् (प्रतिषेधार्थक) से तर-प्रत्यय तो हो जाता है पर उसी के प्रायः समान अर्थ में परम+न= परमन का प्रयोग क्यों नहीं होता?

वस्तुतः इसका भी मनोवैज्ञानिक कारण है। यथा—केवल 'नतराम्' का प्रयोग नहीं होता क्योंकि प्रतिषेध्य के बिना प्रतिषेध का प्रयोग नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ हम 'नतराम् गमनम्' रूप एक वाक्य की कल्पना कर रहे हैं। गमन प्रतिषेध की आत्यन्तिकता का प्रतिपादन करना इस प्रयोग का लक्ष्य है। प्रतिषेध से प्रतिषेध्य का ज्ञान होने पर जिस आत्यन्तिकता रूप प्रकर्ष के लिये (चाहे वह आरोपित हो या अनारोपित) तरप् प्रत्यय का प्रयोग किया जाता है उस निषेधप्रकर्ष की प्रतीति परम्परा-सम्बन्ध से गमन में होती है जिससे शाब्दबोध में गमन की अप्रयुक्ततरता का ज्ञान होता है, जिसको हम ('नतराम्' शब्द के शब्दबोध के विषय में) संस्कृत में यों कह सकते हैं— अत्र निषेधप्रकर्षवद् गमनम्, अतः अयुक्ततरं गमनम्' इति। पक्षान्तर में यदि 'परम+न= परमन गमनम्' के प्रयोग की कथञ्चित् कल्पना भी की जाए, तो वह चिन्ताप्रणाली की दृष्टि से संगत नहीं हो सकता क्योंकि तब 'परमत्वविशिष्ट निषेधयुक्त गमन' ऐसा शाब्दबोध होगा और उससे गमन की अयुक्ततरता का ज्ञान नहीं होगा क्योंकि गमन में प्रकर्ष की साक्षात् प्रतीति नहीं होती। परम्परा-सम्बन्ध की कल्पना करना निष्प्रयोजन तथा अनुचित होगा (प्रयोजना भाव के कारण) और यही मानसिक कारण है कि 'परम-न' ऐसा प्रयोग नहीं होता। परम-न का प्रयोग क्यों होगा इसका अन्य उत्तर भी हो सकता है। 'परम' शब्द का प्राचीन अर्थ है उत्कृष्ट सम्मानित— जैसे परम व्योमन्, प्राचीन प्रयोगों से दिखाई पड़ता है।
परमात्मा परमपुरुष परमगति' आदि

'परमपाप' 'परमतिरस्कार' आदि का प्रयोग न होना भी उक्त सिद्धान्त का ज्ञापक है। अब सोचना चाहिए कि 'परम' का यह अर्थ (उत्कृष्ट=अभ्यर्हित) प्रतिषेधार्थक 'नञ्' के साथ कैसे अन्वित हो सकता है? क्योकि प्रतिषेध मे अभ्यर्हितता नही घट सकती। सुतरा परमेश्वर पद सिद्ध होने पर भी परम न प्रयोग अनुपपन्न ही रहेगा।

उपसर्ग-धातु-सम्बन्ध—धातु (क्रियावाची), उपसर्ग (क्रिया का विशेषक) तथा साधन (कर्तृत्व, कर्मत्व, सख्याबोधक प्रत्यय) का जो सम्बन्ध सस्कृत व्याकरण मे दिखाया गया है, वह भी प्रमाणित करता है कि क्रिया का स्वरूप तथा उसकी निष्पत्ति के प्रकार के विषय मे सस्कृतभाषी प्राचीन भारतीय असाधारण ज्ञान रखते थे। मन मे चिन्ता का जैसा क्रम उठता था, तदनुसार प्रयोग किया जाता था, यह निम्नलिखित विवेचन से स्पष्ट हो जाएगा।

धातु का योग पहले उपसर्ग से होगा या साधन (जिससे सख्या, काल आदि का बोध होता है, और जिससे क्रिया की निष्पत्ति होती है) से होगा, यह सस्कृत व्याकरण का एक विचार्य विषय है। इस विषय मे सूक्ष्मदर्शी पतञ्जलि का सिद्धान्त यह है कि पहले धातु का योग उपसर्ग से होगा, और उसके बाद उपसर्गयुक्त धातु का योग साधन से होगा।[1]

हम समझते हैं कि क्रिया का स्वभाव, प्रकार और क्रिया-निष्पत्तिरूप व्यापार मे जो व्यावहारिक क्रम है, उनके अनुसार ही यह सिद्धान्त भाषित हुआ है, न कि प्रयोगो की सिद्धि के लिये अपनी इच्छा से इस मत को माना गया है, अर्थात् लोक मे क्रिया-सिद्धि का जो वैज्ञानिक रहस्य है, वह इस सिद्धान्त से जाना जा सकता है। निम्नलिखित विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाएगी—

क्रिया मे विशिष्टत्व लाना उपसर्ग का कार्य है, और सामान्य या विशेष किसी प्रकार की क्रिया की सिद्धि करना साधन का कार्य है। हम लौकिक भूयोदर्शन से जानते हैं कि किसी अवान्तर व्यापारयुक्ता क्रिया की पूर्णता यदि हो गई तो पुनः उसमे विशिष्टता लाई नही जा सकती, क्योकि सिद्धि के बाद क्रिया समाप्त हो जाती है। क्रिया की पूर्णता यदि साधन से एक बार हो गई, तो वह अन्य किसी भी विशेषण के लिये अपेक्षा नही करेगी, अत साधन के साथ क्रिया के योग के बाद, विशेषण के साथ उसका योग लोक मे न होने के

१—सुट्कात् पूर्वः (६।१।१३५) सूत्र का भाष्य आलोच्य है।

सुप्र प्राप्त होने पर भी नहीं होता है उसका कारण यहाँ दिखाया जा रहा है। अब उपसर्ग के अनभीष्ट अर्थों की कल्पना कर किसी प्रसिद्ध शब्द का अशु नहीं दिखाया जा सकता। यदि इस विशिष्ट प्रयोग में 'सु' का अतिशय 'प्र' का प्रकर्ष अर्थ विवक्षित होता तो वैसा प्रयोग होने की सम्भावना पर (व्याकरणसिद्ध होने पर भी) वैसा प्रयोग न होना ज्ञापित करता है। मानवीय चिन्तात्मक असमंजसता ही 'प्रसुगम्य' प्रयोग न बनने का कारण है।

न-घटित समास—यथा १।१।१ सूत्रभाष्य में पतञ्जलि ने कहा है कि निषेधार्थक न 'नञ्' 'नतराम्' (=पूर्णरूपेण नहीं) शब्द होता है, पर 'परम+नञ्=परमन' ऐसा प्रयोग नहीं होता है (यद्यपि परम+गति=परमगति आदि प्रयोग होते हैं)। यहाँ भी यह प्रश्न उपस्थित होता है कि 'नञ' (प्रतिषेधार्थक) से तर-प्रत्यय तो हो जाता है पर उसी के प्राय: समान अर्थ में परम+नञ परमन का प्रयोग क्यों नहीं होता?

वस्तुतः इसका भी मनोवैज्ञानिक कारण है। यथा—केवल 'नतराम्' प्रयोग नहीं होता क्योंकि प्रतिषेध्य के बिना प्रतिषेध का प्रयोग नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ हम 'नतराम् गमनम्' रूप एक वाक्य की कल्पना कर रहे हैं। गमन प्रतिषेध की आत्यन्तिकता का प्रतिपादन करना इस प्रयोग का लक्ष्य है। प्रतिषेध से प्रतिषेध्य का ज्ञान होने पर जिस आत्यन्तिकता रूप प्रकर्ष के लिये (चाहे वह आरोपित हो या अनारोपित) 'तरप्' प्रत्यय का प्रयोग किया जाता है उस निषेध-प्रकर्ष की प्रतीति परम्परा-सम्बन्ध से गमन में होती है जिससे शाब्दबोध में गमन की अप्रयुक्ततरता का ज्ञान होता है, जिसको ('नतराम्' शब्द के अर्थबोध के विषय में) संस्कृत में यों कह सकते हैं—'प्रकृष्टनिषेधप्रकर्षवद् गमनम्, अत: अयुक्ततरं गमनम्' इति। पक्षान्तर में यदि 'परम+न=परमन गमनम्' के प्रयोग की कथंचित् कल्पना भी की जाए, तो वह चिन्ताप्रणाली की दृष्टि से सङ्गत नहीं हो सकता क्योंकि तब 'परमत्वविशिष्ट निषेधयुक्त गमन' ऐसा शाब्दबोध होगा और उससे गमन की अयुक्ततरता का ज्ञान नहीं होगा क्योंकि गमन में प्रकर्ष की साक्षात् प्रतीति नहीं होती। परम्परा-सम्बन्ध की कल्पना करना निष्प्रयोजन तथा अनुचित होगा (प्रयोगाभाव के कारण) और यही मानसिक कारण है कि 'परम-न' ऐसा प्रयोग नहीं होता। परम-न का प्रयोग क्यों होगा इसका अन्य उत्तर भी हो सकता है। 'परम' शब्द का प्राचीन अर्थ है उत्कृष्ट, सम्माहित—जैसे परम व्योमन्, परमात्मा, परमपुरुष, परमगति आदि प्राचीन प्रयोगों में दिखाई पड़ता है।

'परमपाप' 'परमतिरस्कार' आदि का प्रयोग न होना भी उक्त सिद्धान्त का ज्ञापक है। अब सोचना चाहिए कि 'परम' का यह अर्थ (उत्कृष्ट= अभ्यर्हित) प्रतिषेधार्थक 'नञ्' के साथ कैसे अन्वित हो सकता है? क्योकि प्रतिषेध मे अभ्यर्हितता नही घट सकती। सुतरा परमेश्वर पद सिद्ध होने पर भी परम-न प्रयोग अनुपपन्न ही रहेगा।

उपसर्ग-धातु-सम्बन्ध—धातु (क्रियावाची), उपसर्ग (क्रिया का विशेषक) तथा साधन (कर्तृत्व, कर्मत्व, सख्याबोधक प्रत्यय) का जो सम्बन्ध सस्कृत व्याकरण मे दिखाया गया है, वह भी प्रमाणित करता है कि क्रिया का स्वरूप तथा उसकी निष्पत्ति के प्रकार के विषय मे सस्कृतभाषी प्राचीन भारतीय असाधारण ज्ञान रखते थे। मन मे चिन्ता का जैसा क्रम उठता था, तदनुसार प्रयोग किया जाता था, यह निम्नलिखित विवेचन से स्पष्ट हो जाएगा।

धातु का योग पहले उपसर्ग से होगा या साधन (जिससे सख्या, काल आदि का बोध होता है, और जिससे क्रिया की निष्पत्ति होती है) से होगा, यह सस्कृत व्याकरण का एक विचार्य विषय है। इस विषय मे सूक्ष्मदर्शी पतञ्जलि का सिद्धान्त यह है कि पहले धातु का योग उपसर्ग से होगा, और उसके बाद उपसर्गयुक्त धातु का योग साधन से होगा।[1]

हम समझते हैं कि क्रिया का स्वभाव, प्रकार और क्रिया-निष्पत्तिरूप व्यापार मे जो व्यावहारिक क्रम है, उनके अनुसार ही यह सिद्धान्त भाषित हुआ है, न कि प्रयोगो की सिद्धि के लिये अपनी इच्छा से इस मत को माना गया है, अर्थात् लोक मे क्रिया-सिद्धि का जो वैज्ञानिक रहस्य है, वह इस सिद्धान्त से जाना जा सकता है। निम्नलिखित विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाएगी—

क्रिया मे विशिष्टत्व लाना उपसर्ग का कार्य है, और सामान्य या विशेष किसी प्रकार की क्रिया की सिद्धि करना साधन का कार्य है। हम लौकिक भूयोदर्शन से जानते हैं कि किसी अवान्तर व्यापारयुक्ता क्रिया की पूर्णता यदि हो गई तो पुन. उसमे विशिष्टता लाई नही जा सकती, क्योकि सिद्धि के बाद क्रिया समाप्त हो जाती है। क्रिया की पूर्णता यदि साधन से एक बार हो गई, तो वह अन्य किसी भी विशेषण के लिये अपेक्षा नही करेगी, अत साधन के साथ क्रिया के योग के बाद, विशेषण के साथ उसका योग लोक मे न होने के

१—सुट्कात् पूर्वः (६।१।१३५) सूत्र का भाष्य आलोच्य है।

पूस प्राप्त होने पर भी नहीं होता है उसका कारण यहाँ दिखाया जा रहा है। अतः उपसर्ग के अनभीष्ट अर्थों की कल्पना कर किसी प्रसिद्ध शब्द का साधुत्व नहीं दिखाया जा सकता। यदि इस विशिष्ट प्रयोग में 'सु' का अतिशय तथा 'प्र' का प्रकर्ष अर्थ विवक्षित होता तो वैसा प्रयोग होने की सम्भावना थी, पर (व्याकरणसिद्ध होने पर भी) वैसा प्रयोग न होना ज्ञापित करता है कि मानवीय चिन्ताक्रमकी असमंजसता ही 'प्रसुसम्प' प्रयोग न बनने का कारण है।

न-घटित समास—अष्टा ६।१।१ सूत्रभाष्य में पतञ्जलि ने कहा है कि निषेधार्थक न 'नञ्' 'नतराम्' (=पूर्णरूपेण नहीं) शब्द होता है, पर 'परम्+नञ्=परमन' ऐसा प्रयोग नहीं होता है (यद्यपि परम+गति-परमगति आदि प्रमाण होते हैं)। यहाँ भी यह प्रश्न उपस्थित होता है कि 'नञ्' (प्रतिषेधार्थक) से तर-प्रत्यय तो हो जाता है पर उसी के प्रायः समान अर्थ में परम+न= परमन का प्रयोग क्यों नहीं होता?

वस्तुतः इसका भी मनोवैज्ञानिक कारण है। यथा—केवल 'नतराम्' का प्रयोग नहीं होता क्योंकि प्रतिषेध्य के बिना प्रतिषेध का प्रयोग नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ हम 'नतराम् गमनम्' रूप एक वाक्य की कल्पना कर रहे हैं। गमन प्रतिषेध की आत्यन्तिकता का प्रतिपादन करना इस प्रयोग का लक्ष्य है। प्रतिषेध से प्रतिषेध्य का ज्ञान होने पर जिस आत्यन्तिकता रूप प्रकर्ष के लिये (चाहे वह आरोपित हो या अनारोपित) तरप् प्रत्यय का प्रयोग किया जाता है उस निषेधप्रकर्ष की प्रतीति परम्परा-संबन्ध से गमन में होती है जिससे शाब्दबोध में गमन की अप्रयुक्ततरता का ज्ञान होता है जिसको हम ('नतराम्' शब्द के अर्थबोध के विषय में) संस्कृत में यों कह सकते हैं—'अत्र निषेधप्रकर्षेण गमनम् अतः अयुक्ततरं गमनम्' इति। पक्षान्तर में यदि 'परम+न=परमन' गमनम् के प्रयोग का कथञ्चित् कल्पना भी की जाए, तो वह चिन्ताप्रणाली की दृष्टि से सङ्गत नहीं हो सकता क्योंकि तब 'परमत्वविशिष्ट निषेधयुक्त गमन' ऐसा शाब्दबोध होगा और उससे गमन की अयुक्ततरता का ज्ञान नहीं होगा क्योंकि गमन में प्रकर्ष की साक्षात् प्रतीति नहीं होती। परम्परा-सम्बन्ध की कल्पना करना निष्प्रयोजन तथा अनुचित होगा (प्रयोगाभाव के कारण) और यही मानसिक कारण है कि 'परम-न' ऐसा प्रयोग नहीं होता। परम-न का प्रयोग क्यों होगा इसका अन्य उत्तर भी हो सकता है। 'परम' शब्द का प्राचीन अर्थ है, उत्कृष्ट, अस्पर्शित—जैसे परम व्योमन्, परमात्मा परमपुरुष परमगति' आदि प्राचीन प्रयोगों में दिखाई पड़ता है।

'परमपाप' 'परमतिरस्कार' आदि का प्रयोग न होना भी उक्त सिद्धान्त का ज्ञापक है। अब सोचना चाहिए कि 'परम' का यह अर्थ (उत्कृष्ट= अभ्यर्हित) प्रतिषेधार्थक 'नञ्' के साथ कैसे अन्वित हो सकता है? क्योकि प्रतिषेध मे अभ्यर्हितता नही घट सकती। सुतरा परमेश्वर पद सिद्ध होने पर भी परम-न प्रयोग अनुपपन्न ही रहेगा।

उपसर्ग-धातु-सम्बन्ध—धातु (क्रियावाची), उपसर्ग (क्रिया का विशेषक) तथा साधन (कर्तृत्व, कर्मत्व, सख्यावोधक प्रत्यय) का जो सम्बन्ध सस्कृत व्याकरण मे दिखाया गया है, वह भी प्रमाणित करता है कि क्रिया का स्वरूप तथा उसकी निष्पत्ति के प्रकार के विषय मे सस्कृतभाषी प्राचीन भारतीय असाधारण ज्ञान रखते थे। मन मे चिन्ता का जैसा क्रम उठता था, तदनुसार प्रयोग किया जाता था, यह निम्नलिखित विवेचन से स्पष्ट हो जाएगा।

धातु का योग पहले उपसर्ग मे होगा या साधन (जिससे सख्या, काल आदि का बोध होता है, और जिससे क्रिया की निष्पत्ति होती है) से होगा, यह सस्कृत व्याकरण का एक विचार्य विषय है। इस विषय मे सूक्ष्मदर्शी पतञ्जलि का सिद्धान्त यह है कि पहले धातु का योग उपसर्ग से होगा, और उसके वाद उपसर्गयुक्त धातु का योग साधन से होगा।[1]

हम समझते हैं कि क्रिया का स्वभाव, प्रकार और क्रिया-निष्पत्तिरूप व्यापार मे जो व्यावहारिक क्रम है, उनके अनुसार ही यह सिद्धान्त भाषित हुआ है, न कि प्रयोगो की सिद्धि के लिये अपनी इच्छा से इस मत को माना गया है अर्थात् लोक मे क्रिया-सिद्धि का जो वैज्ञानिक रहस्य है, वह इस सिद्धान्त से जाना जा सकता है। निम्नलिखित विवेचन से यह वात स्पष्ट हो जाएगी—

क्रिया मे विशिष्टत्व लाना उपसर्ग का कार्य है, और सामान्य या विशेष किसी प्रकार की क्रिया की सिद्धि करना साधन का कार्य है। हम लौकिक भूयो-दर्शन से जानते हैं कि किसी अवान्तर व्यापारयुक्ता क्रिया की पूर्णता यदि हो गई तो पुनः उसमे विशिष्टता लाई नही जा सकती, क्योकि सिद्धि के वाद क्रिया समाप्त हो जाती है। क्रिया की पूर्णता यदि साधन से एक वार हो गई, तो वह अन्य किसी भी विशेषण के लिये अपेक्षा नही करेगी, अत. साधन के साथ क्रिया के योग के वाद, विशेषण के साथ उसका योग लोक मे न होने के

१—सुट्कात् पूर्वः (६।१।१३५) सूत्र का भाष्य आलोच्य है।

कारण, शास्त्र में भी उपसर्ग का योग अनुदिष्ट नहीं सकता। अतः व्याकरण नियम यह है कि पहले साधन के साथ धातु का योग नहीं हो सकता।

पर पहले उपसर्ग के साथ धातु के योग के बाद साधनके साथ योग होने किसी भी प्रकारसे लौकिक व्यवहार में बाधा नहीं होती क्योंकि क्रिया जो विशि स्वभाववती होती है साधन से नहीं होती प्रत्युत वह क्रिया की अपनी प्रकृति है अतः गमन साधन-बल से आगमन नहीं होता हरण साधन-बल से संहरण नहीं होता बल्कि वह एक स्वतन्त्र पदार्थ है। अतः लौकिक दृष्टान्त के अनुसार यह माना जा सकता है कि क्रिया की विशिष्टता एक स्वतन्त्र क्रिया है और वह क्रिया अपनी पूर्णता के लिये बाद में अपने साधन के साथ युक्त हो सकती है। शब्दशास्त्र की दृष्टि से धातु का योग पहले उपसर्ग से होगा और उसके बाद साधन (प्रत्यय) से तात्पर्य यह कि विशिष्ट क्रिया की निष्पत्ति साधन से होती है पर किसी भी सम्बन्धरूप क्रिया का विशेष अन्य के योग से नहीं हो सकता क्योंकि साधनसे स्वरूपलब्ध होनेके बाद किसी में विशिष्टता का अनुप्रवेश नहीं हो सकता (स्वरूप का नाश किए बिना) पर स्वरूप की पूर्णता होने के पहले किसी वस्तु में असाधारण वैशिष्ट्य लाया जा सकता है जैसे घट बन जानेके बाद उसके स्वरूप में वैशिष्ट्य नहीं लाया जा सकता पर घट बनने से पहले उसकी आकृतिमें असाधारण परिवर्तन किया जा सकता है। यह इस विषय का लौकिक दृष्टान्त है। सांख्यकारिका की टीका में वाचस्पति मिश्र ने भी इस मत की प्रतिध्वनि की है कि जो वस्तुतः नील है उसको सहस्र शिल्पी मिल कर भी पीत नहीं बना सकते।

इस प्रकार हम देखते हैं कि चूंकि इस व्यापार में क्रिया में विशिष्टता उसकी निष्पत्ति से पहले ही की जा सकती है, निष्पन्न होने के बाद नहीं अतः व्याकरण में भी धातु पहले उपसर्ग से सम्बन्धित होती है, तब प्रत्ययों से। शङ्का हो सकती है कि तब दूसरे मत की उत्पत्ति ही क्यों हुई (क्योंकि वास्तव दृष्टि से तो वह असम्भव है)? उत्तर यह है कि क्रिया नियमतः इन्द्रियग्राह्य नहीं है, क्रिया से सम्पृक्त साधन ही ग्राह्य होता है, अतः चूंकि क्रियाज्ञान साधन-सापेक्ष है इसलिये ज्ञान ही सत्ता (Knowing is being) है। इस न्याय से व्यवहार-दृष्टि से पहले साधन के साथ क्रिया का योग होता है ऐसा कहा जा सकता है। यह मत एक स्तर तक सत्य होता हुआ भी सार्वभौम नहीं है, अतः भाष्यकार ने इस मत को 'साधुमिति' कहा है, मिथ्या नहीं कहा ('नैतत् सारम्—भाष्य १।१।१३५), क्योंकि क्रियातत्त्व की दृष्टि से क्रिया और साधन पृथक पदार्थ हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि क्रिया के साथ उपसर्ग का प्राथमिक सम्बन्ध एक व्याकरणीय नियममात्र नही है, अपितु यह नियम प्राकृत व्यापारानुसारी है।

क्रियापद मे लिङ्गाभाव—संस्कृत भाषा का नियम है कि क्रियापद (तिङन्त) के साथ लिङ्ग का योग नही होता, पर नाम के साथ होता है। इसका कारण क्या है, इसके लिये एक साधारण उत्तर यह दिया जाता है कि यह 'शब्द-शक्ति-स्वभाव' है अतः इसका कोई हेतु देना सम्भव नही है। पर हम समझते हैं कि क्रिया (साध्य) और लिङ्ग का स्वरूप यदि यथार्थतः ज्ञात हो जाए, तो इस निषेध का भी समाधान हो सकेगा।

संस्कृत व्याकरण का सिद्धान्त है कि लिङ्ग सत्त्वधर्म है और क्रिया असत्त्व रूपा होती है, (असत्त्वभूतो भावश्च तिङ्पदैरभिधीयते[1]—वाक्यप्रदीय (२।१९७) अत. दोनो का एकान्त सन्निवेश होना असभव है। यह निष्कर्ष स्थूलदृष्टि के मानवो को असमीचीन मालूम पड सकता है, पर यदि कोई लिङ्ग को सत्त्वधर्म की तरह अनुभव करे (जैसा कि सस्कृतभाषी एक दिन करते थे) तो उसके लिये लिङ्ग के अनुसार क्रियापद मे भेद करना अचिन्तनीय ही होना। वस्तुतः आज लिङ्ग की सत्त्वधर्मता तथा क्रिया की असत्त्वरूपता को प्रयोग काल मे कोई भी व्यक्ति नही सोचता, अत. वह तिङन्त क्रियापद मे सत्त्वधर्मद्योतक लिङ्ग का योग करने मे दोष नही समझता। सहस्रो वर्षों के व्यवधान से चिन्ताप्रणाली मे बहुत कुछ परिवर्तन हो गया है, यह मानना ही पडेगा। लिङ्ग के प्रकृतस्वरूप की विवेचना अन्यत्र की जाएगी।[2]

सन्-णिच्-सबन्ध—पाणिनीय धातुपाठ की वृत्ति मे आचार्य क्षीरस्वामी ने कहा है कि 'णिजन्त' धातु के बाद 'सन्' प्रत्यय का प्रयोग हो सकता

१—यथा पाक एव उभयत्र नामपदस्याख्यातस्य च वाच्यः शब्दशक्तिस्वाभाव्यात् तथा पचतीत्याख्यातेन असत्त्वभूतोऽसावभिधीयते, पाक इत्यत्र नामपदेन परिनिष्ठितस्वभावः सिद्ध इति (पुण्यराजटीका)।

२—हम समझते हैं कि व्याकरणीय पदार्थों का स्वरूप जैसा जैसा अनुभवगोचर होता जाएगा, वैसा वैसा ईदृश नियमो की सार्थकता प्रतीत होती जाएगी। विशेष्य के लिङ्ग और वचन विशेषण मे भी होंगे—इस नियम के पीछे भी कोई युक्तिप्रणाली है' जो विशेष्य-विशेषण-स्वरूप को तात्कालिक मनुष्यों के अनुसार यथावत् जानने पर विज्ञात हो सकेगी। वैयाकरण यदि इस ओर ध्यान दे, तो गुहाहित एक सत्य का प्रकटीकरण हो जाएगा।

है पर 'सन्नन्त' धातु के बाद 'णिच्' प्रत्यय का प्रयोग नहीं हो सकता क्योंकि वैसा प्रयोग निष्प्रयोजन है—'स्यात् पुनः प्रकृतिः स्यन्ता सन्नन्ता णिचि सन् परा। यन्नन्ता यङ्लुगन्ता च मातोऽन्या निष्प्रयोजना' (क्षीर तरङ्गिणी चुरादि धातु)। क्षीरस्वामी ने ऐसे अनुशासन के लिये किसी प्रकार की युक्ति नहीं दी किन्तु चिन्ता करने पर ऐसे अनुशासनों के लिये भी मनोवैज्ञानिक[1] कारण का पता चलता है।

जब किसी क्रिया के लिये अपनी इच्छा होती है तब 'सन्' प्रत्यय का प्रयोग होता है (द्र० पाणिनि का सूत्र–धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा—३।१।७), जब कोई किसी को किसी कर्म में प्रेरणा देता है तब 'णिच्' प्रत्यय होता है (हेतुमति च ३।१।२६)। जब स्वतः इच्छा होती है, तब किसी को प्रेरणा देने की आवश्यकता नहीं होती अतः 'सन्' प्रत्यय (आत्मेच्छा का द्योतक) के बाद णिच् प्रत्यय (पर से प्रेरणा का द्योतक) निष्प्रयोजन हो जाता है। पर णिच् प्रत्यय के बाद सन् प्रत्यय सार्थक होता है क्योंकि किसी से प्रेरणा पाने के बाद उस क्रिया में अपनी इच्छा भी हो सकती है। अतः मानसिक असम्भवता के कारण ही सन् प्रत्यय के बाद णिच् प्रत्यय नहीं होता, ऐसा मानना चाहिए। यदि कहीं सन् प्रत्यय के बाद णिच् का प्रयोग मिल

१—संस्कृत व्याकरण में जब यह कहा जाता है कि अमुक प्रयोग का अभिधान नहीं है तब कोई न कोई लौकिक कारण दिखाने के लिये व्याख्याकार कहीं कहीं चेष्टा करते हैं। इन कारणों से भी निबन्धस्थ दृष्टि की पुष्टि होती है यथा–वार्तिककार ने कहा है–अकर्मकाद्धि असमानकर्तृकाद् वाऽनभिधानात् (३।२।७)। यहाँ अनभिधान क्यों है लौकिक अभिधान (अर्थबोध होना) में बाधा क्या है ऐसा प्रश्न हो सकता है। यदि धीर बुद्धि से आलोचना की जाए तो पता चलेगा कि इस अनभिधान में भी एक मानसिक व्यापार ही कारण है। प्रदीपकार ने स्पष्ट रूप से इस तथ्य को प्रदर्शित किया है। यथा—'इच्छायाः कर्मणा प्रकर्षं प्राप्यमिति प्रत्यासत्त्या प्रकृत्यर्थ एव कर्मत्वेनाभिधीयते ननु तद्व्यतिरिक्तमिति गमनेनेच्छतीति सन् न भवति। प्रत्यासत्त्यैव समानकर्तृकमाश्रयिष्यते इति देवदत्तस्य भोजनमिच्छतीति यथापि न भवति तथापि एतदेव न्याय्यमूलमनभिधानम्'। अभिधान के लिये मानवीय चिन्ता कारण है और चिन्ता में विरोध होने से प्रयोग नहीं होगा यह स्पष्टतः यहाँ दिखाया गया है।

जाए (और वह प्रामाणिक प्रयोग हो) तो यह जानना होगा कि वहाँ णिच् प्रत्यय अप्रवृत्त को प्रयुक्त करने के लिये नहीं, प्रत्युत प्रवृत्त का विराम न हो, इसलिये प्रयुक्त हुआ है। सुतरा ऐसा प्रयोग मिलने पर पूर्वोक्त सिद्धान्त का बाध नहीं होगा।

भाववाच्य में पुरुष-वचनप्रयोगाभाव—भाववाच्य मे उत्तम-मध्यम-पुरुष का प्रयोग क्यो नही होता, इसके लिये एक गम्भीर युक्ति का प्रयोग हेलाराज ने किया है, यथा—तदेव श्रुतिविशेषेण शब्दविशेषेणोपलक्षितौ मध्यमोत्तमौ यथायोग स्वार्थमाचक्षाते, अत कर्तृकर्मविशेषणभूत पुरुष इति पूर्वाचार्या प्राहुः, अतएव कर्तृकर्मविशेषणत्वात् पुरुषस्य भावविषयता नास्तीति तत्र लकारे मध्यमोत्तमयोरप्रयोग प्रथम एव शेषत्वात् तत्र प्रयुज्यते' (वाक्यपदीय ३ । १० । १)। हेलाराज का यह विचार व्याकरण की पारिभाषिक प्रक्रिया के आधार पर है, जो साधारण पाठको के लिये दुर्बोध है, इसलिये यहा इस युक्ति की व्याख्या नही की जा रही है। हमे केवल इतना ही कहना है कि भाववाच्य मे सस्कृत मे केवल प्रथम पुरुष का प्रयोग क्यो होता है (उत्तम-मध्यम-पुरुष का क्यो नही होता), इसका उत्तर है, यह नही कि यह निषेध अहेतुक मान लिया जाय। क्या अन्य भाषा मे भी ऐसे निषेधो का युक्तियुक्त कारण दिखाया जा सकता है ?

भाववाच्यसम्बन्धी अन्य नियम भी सहेतुक हैं। एक नियम यह है कि भाववाच्य में द्विवचन तथा बहुवचन नही होते हैं, केवल एकवचन का प्रयोग होता हैं, यह निषेध क्यो है—इसके उत्तर मे यही कहा जाता है कि अन्य वचन का अभिधान नही है।

मैं समझता हू कि इस अनभिधान का भी कुछ हेतु है, जिसकी आलोचना यहा की जा रही है।

भाववाच्य मे एकवचन ही क्यो होगा और द्वि-बहुवचन क्यो नही होंगे, इसकी युक्ति अत्यन्त सक्षेप में भट्टोजिदीक्षित ने दी है, यथा—तिङ्वाच्यभावनाया असत्त्वरूपत्वेन द्वित्वाद्यप्रतीतेर्न द्विवचनादि, किन्तु एकवचनमेव, तस्य औत्सर्गिकत्वेन सख्यानपेक्षत्वात् (सि० कौ०)। युक्ति का सरलार्थ यह है कि तिङ् प्रत्यय से जिस क्रिया (=भावना) का बोध होता है, वह असत्त्वरूप है, उस रूप में द्वित्व-बहुत्व की विवक्षा नही हो सकती। शका होगी कि तब उसमें एकवचन का ही प्रयोग क्यों होता है ? उत्तर मे वक्तव्य है कि क्रिया (चाहे वह किसी प्रकार की ही क्यो न हो) एक भावपदार्थ है, और किसी भी भाव

है, पर 'सन्नन्त' धातु के बाद 'णिच्' प्रत्यय का प्रयोग नहीं हो सकता क्योंकि वैसा प्रयोग निष्प्रयोजन है—स्यात् पुंवा प्रवृत्ति' एमन्ता सन्नन्ता णिचि एव परा। यङन्ता यङ्लुगन्ता च गातोऽन्या निष्प्रयोजना' (क्षीर तरङ्गिणी घु धातु)। क्षीरस्वामी ने ऐसे अनुशासन के लिए किसी प्रकार की युक्ति नहीं दी किन्तु चिन्ता करने पर ऐसे अनुशासनों के लिये भी मनोवैज्ञानिक[1] कारण का पता चलता है।

जब किसी क्रिया के लिये अपनी इच्छा होती है तब 'सन्' प्रत्यय का प्रयोग होता है (द्र० पाणिनि का सूत्र-धातोः समानकर्तृकादिच्छायां वा'—३।१।७), जब कोई किसी को किसी कर्म में प्रेरणा देता है तब णिच्' प्रत्यय होता है (हेतुमति च ३।१।२६)। जब स्वतः इच्छा होती है, तब किसी को प्रेरणा देने की आवश्यकता नहीं होती अतः 'सन्' प्रत्यय (आत्मेच्छा का द्योतक) के बाद णिच् प्रत्यय' (पर से प्रेरणा का द्योतक) निष्प्रयोजन हो जाता है। पर णिच् प्रत्यय के बाद सन् प्रत्यय सार्थक होता है, क्योंकि किसी से प्रेरणा पाने के बाद उस क्रिया में अपनी इच्छा भी हो सकती है। अतः मानसिक असम अवस्था के कारण ही सन् प्रत्यय के बाद णिच् प्रत्यय नहीं होता, ऐसा जानना चाहिए। यदि कहीं सन् प्रत्यय के बाद णिच् का प्रयोग मिल

१—संस्कृत व्याकरण में जब यह कहा जाता है कि अमुक प्रयोग का अभिधान नहीं है तब कोई न कोई लौकिक कारण दिखाने के लिये व्याख्याकार कहीं कहीं चेष्टा करते हैं। इन कारणों से भी निबन्धस्थ दृष्टि की पुष्टि होती है यथा—वार्तिककार ने कहा है-'अकर्मणो हि असमानकर्तृकाद् वाऽनभिधानात्' (३।२।७)। यहाँ अनभिधान क्यों है, लौकिक अभिधान (अर्थबोध होता) में बाधा क्या है ऐसा प्रश्न हो सकता है। यदि धीर बुद्धि से आलोचना की जाए तो पता चलेगा कि इस अनभिधान में भी एक मानसिक व्यापार ही कारण है। प्रदीपकार ने स्पष्ट रूप से इस तथ्य को प्रदर्शित किया है। यथा—'इच्छायाः कर्मणा प्रकर्त्यं साध्यमिति प्रत्यासत्त्या प्रकृत्यर्थ एव कर्मत्वेनाभिप्रेतं ननु तद्व्यतिरिक्तमिति गमनेनेच्छतीति सन् न भवति। प्रत्यासत्त्यैव समानकर्तृत्वमाश्रयिष्यते इति देवदत्तस्य भोजनमिच्छतीति यथापि न भविष्यति इत्येतन् न्याय्यमनभिधानाम्'। अभिधान के लिये मानसीय चिन्ता कारण है और चिन्ता में विरोध होने से प्रयोग नहीं होगा, यह स्पष्ट यहाँ दिखाया गया है।

जाए (और वह प्रामाणिक प्रयोग हो) तो यह जानना होगा कि वहाँ णिच् प्रत्यय अप्रवृत्त को प्रयुक्त करने के लिये नही, प्रत्युत प्रवृत्त का विराम न हो, इसलिये प्रयुक्त हुआ है। सुतरा ऐसा प्रयोग मिलने पर पूर्वोक्त सिद्धान्त का बाध नही होगा।

भाववाच्य में पुरुष-वचनप्रयोगाभाव—भाववाच्य मे उत्तम-मध्यम-पुरुष का प्रयोग क्यो नही होता, इसके लिये एक गम्भीर युक्ति का प्रयोग हेलाराज ने किया है, यथा—'तदेव श्रुतिविशेषेण शब्दविशेषेणोपलक्षितौ मध्यमोत्तमौ यथायोग स्वार्थमाचक्षाते, अत कर्तृकर्मविशेषणभूत पुरुष इति पूर्वाचार्या प्राहु., अतएव कर्तृकर्मविशेषणत्वात् पुरुषस्य भावविषयता नास्तीति तत्र लकारे मध्यमोत्तमयोरप्रयोग प्रथम एव शेषत्वात् तत्र प्रयुज्यते' (वाक्यपदीय ३ । १० । १)। हेलाराज का यह विचार व्याकरण की पारिभाषिक प्रक्रिया के आधार पर है, जो साधारण पाठको के लिये दुर्बोध है, इसलिये यहा इस युक्ति की व्याख्या नही की जा रही है। हमे केवल इतना ही कहना है कि भाववाच्य मे सस्कृत मे केवल प्रथम पुरुष का प्रयोग क्यो होता है (उत्तम-मध्यम-पुरुष का क्यो नही होता), इसका उत्तर है, यह नही कि यह निषेध अहेतुक मान लिया जाय। क्या अन्य भाषा मे भी ऐसे निषेधो का युक्तियुक्त कारण दिखाया जा सकता है ?

भाववाच्यसम्बन्धी अन्य नियम भी सहेतुक हैं। एक नियम यह है कि भाववाच्य में द्विवचन तथा बहुवचन नही होते हैं, केवल एकवचन का प्रयोग होता हैं, यह निषेध क्यो है—इसके उत्तर मे यही कहा जाता है कि अन्य वचन का अभिधान नही है।

मैं समझता हू कि इस अनभिधान का भी कुछ हेतु है, जिसकी आलोचना यहा की जा रही है।

भाववाच्य मे एकवचन ही क्यो होगा और द्वि-बहुवचन क्यो नही होगे, इसकी युक्ति अत्यन्त सक्षेप मे भट्टोजिदीक्षित ने दी है, यथा—तिङ्वाच्यभावनाया असत्त्वरूपत्वेन द्वित्वाद्यप्रतीतेर्न द्विवचनादि, किन्तु एकवचनमेव, तस्य औत्सर्गिकत्वेन सख्यानपेक्षत्वात् (सि० कौ०)। युक्ति का सरलार्थ यह है कि तिङ् प्रत्यय से जिस क्रिया (=भावना) का बोध होता है, वह असत्त्वरूप है, उस रूप मे द्वित्व-बहुत्व की विवक्षा नही हो सकती। शका होगी कि तब उसमे एकवचन का ही प्रयोग क्यों होता है ? उत्तर मे वक्तव्य है कि क्रिया (चाहे वह किसी प्रकार की ही क्यो न हो) एक भावपदार्थ है, और किसी भी भाव

पदार्थ के ज्ञान में संख्या का बोध मानव बुद्धि में अवश्य उत्पन्न होता है, यदि द्वित्व और बहुत्व का बोध प्रमाणान्तर से बाधित हो जाए, तो एकत्व का बोध होगा ही क्योंकि एकत्वबोध का अपलाप नहीं किया जा सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यह निषेध भी सहेतुक है केवल 'शब्दशक्ति का यह स्वभाव है' ऐसा मानकर चलने की आवश्यकता नहीं है।

एकत्रिंश परिच्छेद

छात्री शब्द का साधुत्व

छात्र के स्त्रीलिङ्ग (अध्येत्री स्त्री अर्थ मे) मे 'छात्रा' होगा या 'छात्री' यह विचारित हो रहा है।[१] दोनो पक्षो के मानने वाले अपने-अपने पक्षो की पुष्टि के लिये प्रचुर तर्क-युक्ति का व्यवहार करते है, पर कोई भी पुराण-इतिहास-स्मृति तथा उनकी प्राचीन टीकाओ से 'छात्री' या 'छात्रा' का प्रयोग उद्घृत नही करते—यह खेद का विषय है। व्याकरणानुसार यथार्थ शब्द 'छात्त्र' है (छद्+त्र) पर यहा एकतकारयुक्त प्रयोग ही किया जा रहा है।

जब प्राचीन प्रामाणिक ग्रन्थो मे 'छात्र' का प्रचुर प्रयोग है, तब अध्ययन-कारिणी के लिये उसके स्त्रीलिङ्ग रूप की सत्ता प्राचीन ग्रन्थो मे होनी चाहिए। हम 'लक्ष्यमूलत्वाद् व्याकरणस्मृते.' 'लक्ष्यमूल हि व्याकरणम्' मत को मानते हैं, अतः विवादास्पद स्थलो मे पहले प्रामाणिक प्रयोग का अन्वेषण करना चाहिए, क्योकि उसी मार्ग मे एकतरपक्षनिर्धारणात्मक समाधान है, अन्यथा केवल सूत्रविचार से विवादास्पद स्थलो मे किसी भी निश्चित परिणाम पर नही पहुँचा जा सकता।

'छात्र' के स्त्रीलिङ्ग रूप का प्रयोग ढूंढने के लिये प्रचुर परिश्रम किया गया, पर प्राचीन स्मृत्यादि ग्रन्थो मे 'छात्री' 'छात्रा' मे कोई एक भी रूप नही मिलता। किसी रूप का न मिलना विस्मयजनक है, क्योकि इस देश मे अध्ययनकारिणी स्त्रियो की कमी नही थी। चूंकि प्रयोग के बल पर निर्णय नही किया जा सकता, इसलिये पाणिनोय सम्प्रदाय के वैयाकरणो के विचारो का आधार लेकर विचार किया जा रहा है। यह विचार तभी सुप्रतिष्ठित होगा, जब प्रयोग मिल जाएगा।

'छत्रादिभ्यो णः' (४।४।६२) सूत्र से 'छात्र' बनता है (छत्र=गुरु के दोषो का आवरण करना, यह जिसका शील=स्वभाव है, वह 'छात्र' है—ऐसा कहा जाता है)। यहाँ छत्र शब्द से ण प्रत्यय हुआ है। पाणिनीय तन्त्र मे एक परिभाषा है—'ताच्छीलिके णे अणकृतानि भवन्ति' अर्थात् अण् प्रत्यय

१—प्रयोग आदि अन्य अर्थो में छात्री शब्द बन सकता हैं या नही, यह विचार यहा अप्रासङ्गिक हैं।

होने से जो कार्य होता वही कार्य ण-प्रत्यय में भी होगा। ण और अण् में स्वरादि में कुछ भी भेद नहीं होता, केवल स्त्रीप्रत्यय में भेद होता है जैसा कि 'अणि ङीप्‌प्रयात् न उत्तः' वाक्य से जाना जाता है (प्रक्रिया सर्वस्व ४।२।५७)। अत: यहाँ ण-प्रत्यय होने पर भी अण् प्रत्ययानुसार कार्य (अर्थात् स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय) होकर 'छात्री' शब्द ही होगा छात्रा' नहीं (अर्थात् टाप प्रत्यय नहीं होगा)।

परिभाषा की स्वारसिक प्रवृत्ति के कारण यही मानना युक्त है कि 'छात्री' रूप ही साधु है। इसके विरोध में जो कुछ कहा जा सकता है उसका उत्तर दिया जा रहा है—

(१) ताच्छीलिके णे अण्कृतानि भवन्ति' यह ज्ञापक सिद्ध वचन है ऐसा वचन अनित्य होता है—'ज्ञापकसिद्धं न सर्वत्र अतः 'ताच्छीलिके णे परिभाषा का बाध होकर छात्रा ही क्यों न हो? उत्तर—यदि छात्रा' प्रयोग किसी प्रामाणिक प्राचीन ग्रन्थ में मिल जाए, तभी 'ताच्छीलिके णे परिभाषा की प्रवृत्ति को रोका जा सकता है ज्ञापकसिद्धं न सर्वत्र के बल पर। 'छात्रा प्रयोग की कल्पना कर उसकी सिद्धि के लिये 'ताच्छीलिके णे परिभाषा की प्रवृत्ति को रोकने का शास्त्रसम्मत अधिकार किसी को नहीं है। सिद्ध प्रयोगों की सिद्धि के लिये ज्ञापकसिद्ध परिभाषा होती है और प्रसिद्ध प्रयोगों की सिद्धि के प्रसंग आने पर ज्ञापकसिद्धं न सर्वत्र माना जाता है अत: जबतक 'छात्रा प्रयोग प्रामाणिक प्राचीन ग्रन्थों में नहीं मिल जाए, तबतक 'ताच्छीलिके णे' परिभाषा के अनुसार छात्री प्रयोग मानने के लिये विद्वान् शास्त्रतः बाध्य है।

(२) प्रश्न होगा कि यद्यपि हम 'छात्रा यह प्रयोग न दिखा सकें पर पतञ्जलि ने ताच्छीलिके णे' परिभाषा के उदाहरण में जब कि 'चौरी' 'तापसी'—ये दो उदाहरण ही दिए हैं अत: हम अनुमान करते हैं कि उनकी दृष्टि में 'छात्री' अशुद्ध है नहीं तो वे अवश्य 'छात्री का (प्रथमोपात्त होने के कारण) उल्लेख करते।

यह युक्ति सङ्गत नहीं जान पड़ती। भाष्यकार ने सर्वत्र सूत्र-गणपाठस्थ शब्दों के क्रम के अनुसार उदाहरण नहीं दिया यह निश्चित रूप से जाना जाता है। उदाहरणार्थ रसादि (५।२।९५ गणस्थ शब्द) में अन्य मत्वर्थीय प्रत्यय होते हैं, इसके उदाहरण में पतञ्जलि ने रस रूप और स्पर्श शब्द को लिया है यद्यपि इन शब्दों के मध्य में पठित वर्ण गन्ध को छोड़ दिया है। क्या इनमें अन्य मत्व

र्थीय प्रत्यय नही होते। किञ्च उदाहरणाभाव से ही यदि 'छात्री' शब्द को अशुद्ध माना जाए तो क्या यह युक्ति-प्रणाली अन्य सूत्र-भाष्यो पर भी चरितार्थ होगी ? उदाहरण से अनेक स्थलो पर सूत्रीय शब्द का अर्थनिरूपण, एव सूत्र-प्रवृत्ति का निर्वारण आदि प्राचीन आचार्य अवश्य करते हैं (यद्यपि यह भी मानना पडता है—'न चोदाहरणमादरणीयम्'—शब्देन्दु० द्विरुक्त प्रक०पृ०४१५), पर उदाहरणाभाव से कुछ निर्णय करना (जिसके लिये अन्य स्वल्प प्रमाण भी नही है) साहसमात्र जान पडता है। उदाहरणाभाव से कुछ निर्णय करना कहाँ तक उचित है, इस पर शब्देन्दु-टीकाकार का मत दिया जा रहा है—'अस्मिन्प्रकरणे एकभिक्षी इति भाष्ये नाभिहितम् इत्यनभिधान कैयटेनोक्तम्। परन्तु प्रयोगाप्रदर्शनमात्रेण अनभिधान न युक्तमित्यनभिधाने मानान्तरमन्वेषणीयम्' (चन्द्रकला, पृ० २६ तत्पुरुषप्रकरण)।

(३) सूत्रीय विभक्ति, वचन आदि पर निर्भर करते हुए भी निश्चित परिणाम निकालनेके समय उसके समर्थक अन्य प्रमाण उपस्थित करना चाहिए(द्र०शब्देन्दु० भाग २, पृ० ५८ मे 'नामत्या.' शब्द पर विचार)। जबतक प्रयोग न दिखाया जाय, तबतक विवादास्पद स्थलो मे केवल शब्दशास्त्रीय नियमाश्रित विचार अप्रतिष्ठित होगा। ५।१।९० सूत्र मे 'षष्टिका'' यह बहुवचनान्त शब्द पढा गया है, जिससे इस शब्द की नित्यबहुवचनान्तता का अनुमान किया जा सकता है। कैयट ने कहा है कि लोक मे एकवचनान्त प्रयोग भी है, पर नागेश कहते हैं कि बहुदर्शियो को इस पर ध्यान देना चाहिए (द्र० प्रदीप-उद्योत)। इसी दृष्टि से हम कहते है कि 'ताच्छीलिके णे' परिभाषा की प्रवृत्ति को हम तभी बाधित समझ सकते हैं, जब 'छात्रा' प्रयोग प्राचीन ग्रन्थो मे मिल जाए।

(४) विपरीत पक्ष मे यह कहा जा सकता है कि प्रक्रियासर्वस्व-कार नारायणभट्ट ने (जो नागेशादि से प्राचीन हैं) 'ताच्छीलिके णे' के उदाहरण मे 'छात्री' उदाहरण दिया है (तद्धित खण्ड, पृ० ११४)। यदि वे यह समझते कि पतञ्जलि का 'छात्री' शब्द अमान्य है, तो क्या वे ऐसा करते ? इससे यह सिद्ध होता है कि एक प्राचीन शाब्दिक 'छात्री' शब्द को ही मान्य समझते हैं।

(५) कैयट ने जो कुछ कहा है, उससे भी सिद्ध होता है कि वे भी 'छात्री' रूप को साधु समझते थे। पर कैयटादि प्राचीनो के वाक्य से ऐसा जान पडता है कि वे इस ण प्रत्यय के सभी गणस्थ शब्दो मे अण् कार्य ही मानते है, अन्यथा वे 'अण् ही करना चाहिए'—ऐसा कभी न कहते, सुतरा मङ्गततर 'अण्' के

स्थान पर 'ण' कह कर सूत्रकार ने यह भी ज्ञापित किया है कि यह सूत्र प्राक्पाणिनीय व्याकरण से लिया गया है।

हमारा यह निर्णय प्रयोग-दर्शन पर निर्भर है। छत्रादिगणस्थ ण प्रत्ययान्त किसी भी शब्द का स्त्रीलिङ्ग रूप यदि आकारान्त हो तो हम कथञ्चित् 'ण' का सार्थक्य मानकर छात्रा प्रयोग को साधु मान सकते हैं और प्रयोग मिलने पर नारायण भट्ट की बात को भी असंगत कह सकते हैं। पर हमें खेद है कि आज तक हमें न 'छात्री' रूप मिला और न छात्रा रूप ही मिला।

(६) अब प्रश्न यह है कि यदि छत्रादि गण के सभी शब्दों में अण् कार्य (ङीप्) ही इष्ट है तो 'छत्रादिभ्योऽण्' ही क्यों न कह दिया गया? 'ण' का का कुछ फल तो होना चाहिए, सुतरां 'छात्रा' रूप (जो ण का फल है) क्यों नहीं सङ्गत होगा?

प्रश्न उचित है और शायद प्रतिवादी की यह सर्व प्रसिद्ध युक्ति भी है। इस पर मेरा निर्णय यह है कि 'छत्रादिभ्यो णः' पाणिनि का स्वरचित सूत्र नहीं है पाणिनि ने किसी प्राचीन व्याकरण से अविकल रूप से इसे ले लिया है। पाणिनि के कुछ सूत्र ऐसे हैं जिनमें सूत्रोपात्त शब्दों की सार्थकता नहीं होती या अन्य सूत्रों के लिये वे शब्द उपयुक्त होते हैं (जैसा कि सभी वैयाकरण जानते ही हैं)। अपने द्वारा नूतन रचित सूत्रों में यह बात संभव नहीं होता पर अन्य व्याकरण से लेने के कारण (जहां वह शब्द उस व्याकरण की प्रकृति के अनुसार सार्थक था) पाणिनि तन्त्र में सूत्रगत शब्द निरर्थक हो जाता है (पाणिनि की रचना के प्रासङ्गिक वैशिष्ट्य के कारण)। इस निर्णय के विषय में यह भी जानना चाहिए कि यदि छत्रादिगणीय ण-प्रत्ययान्त सभी शब्दों के स्त्रीलिङ्ग में ङीप् ही इष्ट हो तभी यह निर्णय सङ्गत होगा अन्यथा अण् न कहकर 'ण' कहने के कारण प्रयोगानुसार टाबन्त प्रयोग भी होगा (जिससे 'छात्रा' बनेगा) ऐसा कहना सुसंगत ही होगा।

(७) यदि ज्ञापकसिद्ध न सर्वत्र के बल पर 'ताच्छीलिके णे' परिभाषा को अनित्य मानकर 'छात्रा' रूप की सिद्धि की जाए (यद्यपि ताच्छील्य ऐसा नहीं किया जा सकता) तो यह प्रश्न होगा कि छत्रादिगण में पठित अन्य शब्दों पर भी उसका प्रभाव पड़ेगा या केवल छात्र शब्द पर ही? चौरी और तापसी रूप में किसी को सन्देह नहीं है। अन्य शब्दों के स्त्रीलिङ्ग में कौन-सा रूप प्राचीन ग्रन्थों में मिलते हैं यह देखना चाहिए। यदि अन्यान्य शब्दों में भी ङीप् ही मिले तो छात्र में भी ङीप् होने की सम्भावना दृढ़तर होगी।

(८) यह ध्यान देने की बात है कि शब्दकौस्तुभ, न्यास, पदमञ्जरी, काशिका, भाषावृत्ति, प्रक्रियाकौमुदी, प्रक्रियासर्वस्व आदि ग्रन्थो मे (जो नागेशादि से प्राचीन हैं) कही भी 'ताच्छीलिके णे' परिभाषा को अनित्य नही कहा गया। अतः जबतक 'छात्रा' का प्राचीन प्रयोग न मिल जाए, तबतक इस परिभाषा को अनित्य मानकर, 'छात्रा' प्रयोग बनाना अशास्त्रीय मार्ग का अनुसरण करना होगा।

(९) 'छात्रा' रूप का उल्लेख अत्यन्त नवीन टीकाकारो ने किया है। अनुमित होता है कि इनकी व्यवहार्य भाषा (लोकभाषा) मे 'छात्रा' का प्रचुर प्रयोग होता था। अतएव, भ्रमवश वे समझते थे कि संस्कृत मे भी यही प्रयोग साधु है। अर्वाचीन काल मे इस प्रकार के अनेक भ्रम हुए हैं और आज तो ऐसे भ्रम सुप्रतिष्ठित होते जा रहे हैं (उदाहरण देना अनावश्यक है)। नवीन वैयाकरणो की दृष्टि शब्द-सिद्धि-प्रक्रिया मे बद्धादर थी, लक्ष्य शब्दो पर उनकी दृष्टि अपेक्षाकृत कम थी, यह कोई भी व्यक्ति व्याकरणवाङ्मय का पूर्ण अवगाहन कर जान सकता है।

(१०) 'छात्र' का स्त्रीलिङ्ग रूप छात्र की तरह सुप्रचलित अवश्य रहा होगा, (चिरकाल मे स्त्रियो का अध्ययन इस देश मे प्रचलित होने के कारण), पर स्मृतिपुराणादि के किसी भी प्राचीनग्रन्थ मे यदि छात्रा या छात्री का प्रयोग न मिले तो 'इस शब्द का अनभिधान है' ऐसा भी सोचा जा सकता है। पर यह निर्णय जिस बात का सापेक्ष है, उसको हम पहले ही कह चुके हैं।

(११) यदि 'छात्री' शब्द ही संस्कृत मे साधु है, तो 'छात्रा' का प्रयोग हिन्दी मे क्यो प्रचलित हुआ, ऐसा प्रश्न हो सकता है? यहा 'सादृश्य (भाषा विज्ञान के शब्द मे Analogy) कारण प्रतीत होता है, यथा—छात्र और शिष्य पर्यायवाची हैं, और चूँकि शिष्य से शिष्या बनता है अत छात्र से छात्रा बनेगा—ऐसा भ्रम हो गया है। 'छात्रा' के संस्कार के कारण आधुनिक वैयाकरणो ने उसको ही साधु माना है, इसमें संशय नही होना चाहिए। अर्वाचीन वैयाकरणो मे शब्दसाधुत्वसम्बन्धी अल्पज्ञान विद्यमान हैं, संस्कृतभाषा के प्राचीन ग्रन्थो का स्वल्पाध्ययन ही इसका कारण है। अर्वाचीन वैयाकरणो में प्रक्रियाज्ञान का पाटव है (जो व्याकरण का बाह्य अंश है), पर वे अतिप्राचीन आचार्यो के व्याकरण ज्ञान से अपरिचित थे (क्योकि उनके ग्रन्थो मे प्राचीनतम शाब्दिको के वाक्यो के उद्धरण अत्यल्प हैं)। तथा वे शब्द स्वरूपो के नानाविध वैचित्र्य से भी परिचित नही थे, यह हम प्रमाणित कर

सकते हैं, अतः 'छात्र' के साधुत्व के विषय में उनका निर्णय कोई महत्त्व नहीं रखता।

इस प्रसंग में अन्य गूढ़ तथ्यों पर पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया जाता है। पतञ्जलि ने 'छात्र' की जो व्युत्पत्ति दी है,[1] क्या वह सांशयिक नहीं है? गुरु के दोष का आवरण = छत्र—यह छत्र शब्द का मुख्यार्थ नहीं है—यह लाक्षणिक अर्थ है। क्या छत्र का मुख्य अर्थ लेकर छात्र शब्द को व्युत्पन्न नहीं किया जा सकता जिससे गौणार्थ का आश्रय न करना पड़े?

हम यहाँ एक सुझाव उपस्थित करते हैं। ऐसा सोचा जा सकता है कि अध्येता ब्रह्मचारी (उस काल में) गुरुकुलवास के समय छत्र का वर्जन करता था[2] (और अध्ययन समाप्ति के अनन्तर स्नातक बनने के समय छत्र का धारण करता था)[3] अतः छत्र का वर्जन करना अध्येता का एक बाह्य परिचय था, जिससे 'छत्रवर्जक' इस अर्थ में छात्र शब्द बनता था। 'वर्जन' अर्थ में तद्धित वृत्ति होती है, जैसे—'व्रत का वर्जनकारी' अर्थ में 'व्रात्य' शब्द का प्रयोग (व्रतं परिहरति व्रात्यः)। अध्येता छत्रातिरिक्त अन्य पदार्थों का भी वर्जन करता था उनके अनुसार नाम क्यों नहीं पड़ा—यह पर्यनुयोग व्यर्थ है घट बनाने पर भी 'कुम्भकार' शब्द ही प्रचलित हुआ घटकार नहीं (जातिनाम के रूप में) 'विचित्रा हि शब्दवृत्तिः' यह सबको मानना ही पड़ता है।

और भी सोचा जा सकता है। कहीं ऐसा तो नहीं कि 'छात्र' शब्द स्नातक रूपी अन्तेवासी के लिये ही प्रथमतः प्रयुक्त होता था बाद में अध्येतृसामान्य में प्रयुक्त होने लगा। विशेषार्थक शब्दों का सामान्यार्थक हो जाना या सामान्यार्थक शब्दों का विशेषार्थक हो जाना शब्दशास्त्र का प्रसिद्ध तथ्य है। जो अन्तेवासी के रूपमें छत्र का वर्जन कर चुका था वह स्नातक होकर छत्र का ग्रहण करता है — (गार्हस्थ्य जीवन से पहले) इस वैशिष्ट्य के कारण स्नातक के लिये छात्र शब्द (छत्रग्रहणकारी) प्रयुक्त हो ही सकता है। पतञ्जलिप्रदर्शित काल्पनिक अर्थ (छत्र = गुरुदोषावरण) की तुलना में उपर्युक्त दो कल्पनाएँ संगततर हैं।

१—गुरोर्दोषावरणं छत्रं तच्छीलमस्य छात्रः (महाभाष्य) द्र० गणरत्न ६।३८५

२—आपस्तम्बधर्मसूत्र १।२।७।५ गौतमधर्मसूत्र २।१९ बौ ध सू १।२।२१

३—अथ स्नातकस्य (बौ ध सू १।३।१) उष्णीषं छत्रं ——— (१।३।६) (एतेऽप्यस्य भवेयुः—गोविन्दटीका)।

यदि उपर्युक्त बात मान ली जाए तो इस रहस्य का भी समाधान हो जाता है कि 'छात्र' का स्त्रीलिगरूप क्यो नही मिलता ? अध्येत्री कन्या के लिये छत्र-ग्रहण-छत्रवर्जन का कोई प्रसग ही नही हैं (द्र० धर्मसूत्र-स्मृत्यादि) अतः छात्र शब्द स्त्रीलिग मे उस काल मे प्रयुक्त नही होता था, अध्ययनकारिणी अर्थ मे अध्येत्री शब्द साधु है, क्योकि इसमे छत्रग्रहणादि लौकिक वाह्य मर्यादाओ की अपेक्षा नही होती। गुरुकुलवासादिपूर्वक नियमविशेष के अधीन रहने पर ही छत्रादि-ग्रहणवर्जन का प्रसग होता है, यो गुरुमुख से अक्षरानुपूर्वीग्रहण या स्वय पठन मे ऐसे कोई विधि-निषेध प्रवर्तित नही होते।

इस प्रसग मे 'छात्र्यादय शालायाम्' (६।२।८६) सूत्र-सिद्ध 'छात्रिशाला' शब्द पर भी विचार करना प्रासगिक होता है। सभी व्याख्याकार इस सूत्र मे ह्रस्व इकारान्त 'छात्रि' शब्द ही मानते हैं, गणपाठ भी इस मत को पुष्ट करता है। यह नही कहा जा सकता है कि 'छात्री' और 'शाला' के समास होने पर ह्रस्व होकर 'छात्रिशाला' रूप बन गया है, यहाँ ह्रस्व होने का कोई प्रसग ही नही है।

हमारी दृष्टि मे 'छात्रि' आचार्य-विशेष का नाम है। इस गण मे पठित व्याडि आदि आचार्यनामपरक शब्द भी इस मत को पुष्ट करते हैं। 'शाला' शब्द भी 'छात्रि' शब्द के आचार्यविशेषनाम होने का एक वलिष्ठ प्रमाण है। यद्यपि 'छात्र' नामक आचार्य प्रचलित ग्रन्थो मे स्मृत नही हैं, तथापि इस आचार्य की सत्ता मे कोई वाधक भी नही है। इ-प्रत्ययान्त अनेक आचार्यनाम वैदिक ग्रन्थो मे हैं, यथा—प्लाक्षि (=प्लक्ष का पुत्र, तै० आरण्यक १।७), अत. छात्रि नाम वैदिक व्यवहारसिद्ध ही है।

—०—

प्रविष्ट परिच्छेद

राष्ट्रीय शब्द की साधुता

राष्ट्रीय और राष्ट्रिय—इन दोनों शब्दों की साधुता पर वर्षों से वाद विवाद चल रहा है। हिन्दी के विद्वानों के साथ संस्कृत के विद्वान् भी इस पर अपना अभिमत प्रकाश करते आ रहे हैं। अभी तक इन शब्दों पर लोग विचार करते हैं अतः इस विषय में कुछ कहना उचित होगा। संस्कृत व्याकरण (अर्थात् पाणिनीय तन्त्र) के अनुसार शुद्ध रूप क्या होना चाहिए—यह यहाँ दिखाया जाएगा। हिन्दी-भाषा की प्रकृति के अनुसार शुद्ध रूप क्या होना चाहिए, इस पर विचार करना अप्रासंगिक है। हमारा निर्णय है कि पाणिनीयमत के अनुसार राष्ट्रीय और राष्ट्रिय—दो ही समान रूप से साधु हैं और दोनों के अर्थों में भेद भी है।

जो 'राष्ट्रीय' को असाधु समझते हैं (पाणिनीय मतानुसार) उनका कथन यह है कि पाणिनि के 'राष्ट्रावारपाराद् घखौ' (४।२।९२) सूत्र से राष्ट्र शब्द में केवल 'घ' (= इय) प्रत्यय होगा जिससे 'राष्ट्रिय' ही बनेगा। राष्ट्रीय शब्द के लिये छ प्रत्यय (= ईय) की आवश्यकता है और ४।२।९३ सूत्र इस छ प्रत्यय की प्रवृत्ति में बाधक होता है अतः 'राष्ट्रीय' बनने की संभावना नहीं रहती सुतरां 'राष्ट्रिय' ही होगा।

यदि पाणिनि की तद्धितप्रक्रिया ठीक से समझी जाय तो यह विचार अशुद्ध प्रतीत होता है, यथा—

'राष्ट्र ----' (४।२।९२) सूत्र की प्रवृत्ति तद्धित के सभी प्रकरण और अर्थों में नहीं होती एक निश्चित अवधि तक इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है और उसके बाद इस सूत्र का कार्य नहीं होता तथा इस अधिकार से बहिर्भूत अर्थों में तत्तत्स्थानीय प्रत्यय ही होते हैं (जैसे ठ घ, आदि), जो प्राचीन प्रयोगों से भी समर्थित होते हैं।

अब इस युक्ति का विशदीकरण किया जा रहा है—४।२।९१ सूत्र शेषाधिकारमें पठित है (जैसे ४।२।९२ सूत्र) और शैषिकप्रकरणपर्यन्तही ४।२।९३ सूत्र प्रयोज्य है इसके बाद नहीं। यह शैषिक प्रकरण ४।३।१३३ सूत्रपर्यन्त है अतएव इसके बाद किसी भी प्रकरण में ४।२।९३ सूत्रदर्शित प्रत्यय नहीं लगेगा—राष्ट्र शब्द से। अर्थात् 'जात' (४।३।२५) 'भव' (४।३।५३) संभूत (४।३।४१)

व्याख्यान' (४।३।६६), 'आगत' (४।३ ७४) 'प्रभवति' (४।३।८३), 'अभिजन' (४।३।९०), 'भक्ति' (४।३।९५, यहाँ काशिका में 'राष्ट्रिय' उदाहरण भी है), तस्येदम्' (४ ३।१२०, यहाँ भी 'राष्ट्रिय' काशिकास्थ उदाहरण है) इत्यादि अर्थों मे राष्ट्र से 'घ' प्रत्यय ही होगा (यदि अन्य बाधक न हो), पर ४।३।१३४ सूत्र से जो विकार आदि अन्यान्य अर्थ उक्त हुए हैं उन अर्थों मे तत् तत् प्रकरणविहित प्रत्यय ही होगे, घ' नही होगा। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि अण् आदि प्रत्यय इसके बाद भी होंगे क्योकि 'तेन दीव्यति ' (४।४।२) सूत्र पर्यन्त उन प्रत्ययो का अधिकार है (अर्थात् चतुर्थ अध्याय के तृतीयपादपर्यन्त)। ४।३।१३४ सूत्र के बाद ४।३।९३ सूत्र दर्शित 'घ' प्रत्यय की प्रवृत्ति नही होती, यह सभी व्याख्याकारो ने कहा है—'तस्य प्रकरणे तस्येति पुनर्वचन शैपिकनिवृत्त्यर्थम्, विकारावयवयो र्घादयो न भवन्ति' (काशिका ४।३।१३४)।

यही कारण है कि तद्धित की कुछ वृत्तियो मे घ-प्रत्यय न होकर 'ठक्' प्रत्यय होता है जिसमे 'राष्ट्रिक' शब्द बनता है।[1] यह शब्द 'राष्ट्र रक्षति' (४।४।३३) इस अर्थ मे 'ठक्' प्रत्यय से होता है तथा अन्यान्य अर्थों मे भी 'ठक्' की सभावना है। राष्ट्रिक शब्द का प्रयोग भी मिलता है। यहाँ सोचना चाहिए कि यदि तद्धितीय सभी वृत्तियो मे केवल 'घ' प्रत्यय ही होता तो राष्ट्रिक का प्रचुर प्रयोग क्यो मिलता, जो पाणिनीय तत्र से सुसिद्ध भी है।

जिस प्रकार शैषिकाधिकार-बहिर्भूत अर्थों में 'ठक्' से 'राष्ट्रिक' बनता है, उसी प्रकार 'छ' (=ईय) प्रत्यय से 'राष्ट्रीय' शब्द भी पाणिनितन्त्रसिद्ध नही होगा, इसमे सशय है। शैषिकाधिकार-बहिर्भूत जिन जिन अर्थों मे छ प्रत्यय होता है, यदि तद्विधायक किसी सूत्र की प्रवृत्ति राष्ट्र शब्द मे हो, तो राष्ट्रीय बनने मे कोई भी बाधा नही होगी।

उदाहरण के लिये हम कह सकते हैं कि 'तस्मै हितम्' (५।१।५) ['यह उसके लिये हित है—इस अर्थ में] सूत्र मे 'छ' (= ईय) प्रत्यय होकर 'राष्ट्रीय' शब्द ही बनेगा, जिसका अर्थ होगा–'वह कार्य या प्रतिष्ठान जो राष्ट्र के लिये हित हो।'

१—राष्ट्रिक शब्द का प्रयोग :—'राष्ट्रिकै सह तद्राष्ट्र क्षिप्रमेव विनश्यति (मनु १०।६१)। वनौषधियो मे कण्टकारि के लिये भी राष्ट्रिक शब्द है (अमर, वनौषधिवर्ग, श्लोक २०७), जिसके अर्थ मे 'राष्ट्रउपद्रव हैं इसमे' ऐसा कहा जाता है (त्रिकाण्डचिन्तामणि टीका)। हरिवश० २।१२७।२६ मे 'राष्ट्रिक' है (= राष्ट्राधिपति —नीलकण्ठ)।

[illegible] परिच्छेद

राष्ट्रीय शब्द की साधुता

राष्ट्रीय और राष्ट्रिय—इन दोनों शब्दों की साधुता पर वर्षों से वाद विवाद चल रहा है। हिन्दी के विद्वानों के साथ संस्कृत के विद्वान् भी इस पर अपना अभिमत प्रकाश करते आ रहे हैं। अभी तक इन शब्दों पर लोग विचार करते हैं अतः इस विषय में कुछ कहना उचित होगा। संस्कृत व्याकरण (अर्थात् पाणिनीय तन्त्र) के अनुसार शुद्ध रूप क्या होना चाहिए—यह यहां दिखाया जाएगा। हिन्दी भाषा की प्रकृति के अनुसार शुद्ध रूप क्या होना चाहिए इस पर विचार करना अप्रासंगिक है। हमारा निर्णय है कि पाणिनीयमत के अनुसार राष्ट्रीय और राष्ट्रिय—दो ही समान रूप से साधु हैं और दोनों के अर्थों में भेद भी है।

जो 'राष्ट्रीय' को असाधु समझते हैं (पाणिनीय मतानुसार) उनका कथन यह है कि पाणिनि के 'राष्ट्रावारपाराद् घखौ' (४।२।९३) सूत्र से राष्ट्र शब्द में केवल 'घ' (= इय) प्रत्यय होगा जिससे 'राष्ट्रिय' ही बनेगा। 'राष्ट्रीय' शब्द के लिये छ प्रत्यय (= ईय) की आवश्यकता है और ४।२।९३ सूत्र इस छ प्रत्यय की प्रवृत्ति में बाधक होता है अतः 'राष्ट्रीय' बनने की संभावना नहीं रहती सुतरां 'राष्ट्रिय' ही होगा।

यदि पाणिनि की तद्धितप्रक्रिया ठीक से समझी जाय तो यह विचार असुन्दर प्रतीत होता है, यथा—

राष्ट्र ——— (४।२।९३) सूत्र की प्रवृत्ति तद्धित के सभी प्रकरण और अर्थों में नहीं होती एक निश्चित अवधि तक इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है और उसके बाद इस सूत्र का कार्य नहीं होता तथा इस अधिकार से बहिर्भूत अर्थों में तत्तत्स्थलीय प्रत्यय ही होते हैं (जैसे ठ छ, आदि) जो प्राचीन प्रयोगों से भी समर्थित होते हैं।

अब इस युक्ति का विशदीकरण किया जा रहा है—४।२।९३ सूत्र शेष विकारमें पठित है (शेषे ४।२।९२ सूत्र) और शैषिकप्रकरणपर्यन्तही ४।२।९३ सूत्र प्रयोज्य है इसके बाद नहीं। यह शैषिक प्रकरण ४।३।१३३ सूत्रपर्यन्त है अतएव इसके बाद किसी भी प्रकरण में ४।२।९३ सूत्रदर्शित प्रत्यय नहीं लगेगा—राष्ट्र शब्द से। अर्थात् 'आगत' (४।३।७४) 'भव' (४।३।५३) 'संभूत' (४।३।४१)

प्रतिक्रमणपूर्वक कृत प्रयोग इतिहास-पुराणादि प्राचीन वाड्मय मे मिलते हैं।'

प्रसगत राष्ट्र शब्द से सम्बन्धित 'अन्ताराष्ट्रिय' 'अन्तर्राष्ट्रिय' 'अन्तर-राष्ट्रिय' इन तीन शब्दो पर भी विचार किया जा रहा है, यहाँ इन शब्दो के प्रथमाश पर विचार प्रसक्त है।

अंग्रेजो मे International शब्द के लिये इन शब्दो को रचा गया है। पता नही इस अर्थ मे प्राचीन काल मे कौन-सा शब्द था। इस शब्द का अर्थ है— 'Pertaining to nations, अथवा 'Reciprocally affecting nations' (अनुनाडेल कृत Concise English Dictionary द्रष्टव्य) सस्कृ भाषा मे जो 'अन्तर्' शब्द है, उसका यह अर्थ नही है, सुतरा अन्तर् शब्द का प्रयोग करना ही व्यर्थ है। अन्तर् अव्यय है, और अव्यय अनेकार्थ होता है इसलिये अन्तर् का प्रागदर्शित अर्थ मे प्रयोग हो सकता है, यह कहना भी उचित नही है, क्योकि कही भी अन्तर् शब्द के इस अर्थ के सदृश अर्थ मे भी प्रयोग मिलता नही है। 'अन्तर्' शब्द भी प्रागुक्त अर्थ को नही कहता, सुतरा इस काकदन्तपरीक्षा से विरत होना उचित है।

प्रश्न होगा कि क्या 'pertaining to' इस अर्थ मे सस्कृत मे कोई शब्द नही है? उत्तर—है, और वह है 'प्रति' उपसर्ग। सक्षेप मे हमारा तात्पर्य यह है कि हम 'राष्ट्र राष्ट्र प्रति' इस विग्रह के अनुसार अव्ययीभाव समास मे 'प्रतिराष्ट्रम्' यह पद बना सकते हैं (जैसे—अर्थम् अर्थं प्रति 'प्रत्यर्थम्')।

१—मूल बात यह है कि राष्ट्र शब्द से छ (=ईय) प्रत्यय का दर्शन यदि प्रामाणिक ग्रथो में कही मिल जाए, तो 'पाणिनि से स्मृत है या नही' यह विचार व्यर्थ है, क्योकि पाणिनि से अस्मृत सहस्रो साधु शब्द हैं, यदि कही भी राष्ट्रीय का प्रयोग न मिले तो इसका प्रयोग सस्कृत मे न करना ही अच्छा होगा और तब यह मान लेना चाहिए कि 'राष्ट्रिय' या 'राष्ट्रक' से ही सभी तद्धितीय वृत्तियो का बोध होता था। पर राजनीतिसम्बन्धी सस्कृत ग्रथो का आज यादृश अभाव है, उससे यह कहना साहसमात्र है कि राष्ट्रीय शब्द का प्रयोग सस्कृत में नही था। इसके साथ यह भी जानना चाहिए कि 'इय' प्रत्यय यदि अन्य तद्धितीय प्रत्ययो का बाधक ही होता, तो 'राष्ट्रिक' (इकप्रत्यय) का प्रयोग क्यों होता? अतएव नि:संशय होकर हम 'राष्ट्रीय' का प्रयोग कर सकते हैं।

इस हित-अर्थ में कभी भी 'घ' प्रत्यय नहीं होगा, यह स्पष्ट जान लेना चाहिए और यह हित अर्थ चूंकि शैषिक प्रकरण में नहीं है अतः शैषिक प्रकरणस्थ किसी भी अर्थ में 'राष्ट्रीय' नहीं बनेगा, केवल 'राष्ट्रिय' होगा। उसी प्रकार 'राष्ट्र इसका हो या इसमें हो' इस अर्थ में ५।१।१६ सूत्र से घ होकर 'राष्ट्रीय' बनेगा। तदर्थ यदि अभिधान हो तो तदर्हति (५।१।६३) सूत्र से 'राष्ट्रमर्हति' इस अर्थ में यथाविहित प्रत्यय (ठञ्, यत्, अण् इत्यादि में प्रयोगानुसार कोई एक) होगा और यह प्रत्यय अवश्यमेव ४।२।९३ सूत्र वर्णित घ प्रत्यय नहीं होगा क्योंकि ५।१।६३ सूत्र शैषिकाधिकार से बहिर्भूत है।

जिस प्रकार 'राष्ट्रिय' का प्रयोग मिलता है, उसी प्रकार 'राष्ट्रीय' का प्रयोग भी मिलता है या नहीं, यह प्रश्न हो सकता है। उत्तर में वक्तव्य है कि राजनीति से सम्बन्धित ग्रन्थों में इसका प्रयोग है या नहीं देखना चाहिए (ऐसे प्राचीन ग्रंथ अब नहीं मिलते) पर पुराण में एक स्थल पर 'राष्ट्रीय' का प्रयोग मिला है—'त्वद्राष्ट्रीयैर्जनैःसर्वैः कारयेमान् शुभावहान्' (स्कन्दपुराण वैष्णव खण्ड वैशाखमासमाहात्म्य ११।७७)। द्र॰ मुग्ध तत्त्वबोधिनीटीका ४३३ सू॰।

एक बात और तद्धित वृत्तियों के विषय में कहनी है। पतञ्जलि ने कहा है—'अभिधानलक्षणाः कृत्तद्धितसमासाः' (भाष्य ३।२।२९) जिसके स्पष्टीकरण में कहा जाता है—'कृत्तद्धितसमासानामभिधानं नियामकम्, अभिधानं स्वनभिधानं तदभिधानसूचकम्'। तात्पर्य यह है कि सूत्र की प्रवृत्ति होने मात्र से ही तद्धित प्रत्यय नहीं हो जाते उसके लिये अभिधान चाहिए। यथा—पाणिनि ने कहा है 'तत आगतः' (४।३।७४) पर सर्वत्र इस सूत्र का कार्य नहीं होता। 'शुल्कशाला से आगत' इस अर्थ में ४।३।७४ सूत्र विहित कार्य होगा पर 'वृक्षमूल से आगत' इस अर्थ में यह सूत्र नहीं लगेगा (क्योंकि अभिधान नहीं है), यद्यपि सूत्र में इस प्रकार के किसी बाधक तत्त्व का उल्लेख नहीं है। हमने जितने अर्थों में तद्धित प्रत्यय होने की संभावना कही है, वे अभिधान होने से ही होंगे अन्यथा नहीं होंगे यह विवेच्य है। यह भी ज्ञातव्य है कि अभिधान का ज्ञान भी दुष्कर है अतएव सहसा 'राष्ट्रीय शब्द हित अर्थ में नहीं होगा' ऐसा नहीं कहना चाहिए, (अब क्वचित् प्रयोग भी मिल गया है)। तद्धित के विषय में यह भी जानना चाहिए कि कितनी ही ऐसी तद्धितवृत्तियाँ हैं जिनका उल्लेख पाणिनि ने नहीं किया तथा पाणिनि-वर्णित नियम का

प्रतिक्रमणपूर्वक कृत प्रयोग इतिहास-पुराणादि प्राचीन वाङ्मय मे मिलते हैं।[1]

प्रसगत राष्ट्र शब्द से सम्बन्धित 'अन्ताराष्ट्रिय' 'अन्तर्राष्ट्रिय' 'अन्तर-राष्ट्रिय' इन तीन शब्दो पर भी विचार किया जा रहा है, यहाँ इन शब्दो के प्रथमाश पर विचार प्रसक्त है।

अंग्रेजो मे International शब्द के लिये इन शब्दो को रचा गया है। पता नही इस अर्थ मे प्राचीन काल मे कौन-सा शब्द था। इस शब्द का अर्थ है— 'Pertaining to nations, अथवा 'Reciprocally affecting nations' (अनूनाडेल कृत Concise English Dictionary द्रष्टव्य) सस्कृ भाषा मे जो 'अन्तर्' शब्द है, उसका यह अर्थ नही है, सुतरा अन्तर् शब्द का प्रयोग करना ही व्यर्थ है। अन्तर् अव्यय है, और अव्यय अनेकार्थ होता है इसलिये अन्तर् का प्रागुदर्शित अर्थ मे प्रयोग हो सकता है, यह कहना भी उचित नही है, क्योकि कही भी अन्तर् शब्द के इस अर्थ के सदृश अर्थ मे भी प्रयोग मिलता नही है। 'अन्तर्' शब्द भी प्रागुक्त अर्थ को नही कहता, सुतरा इस काकदन्तपरीक्षा से विरत होना उचित है।

प्रश्न होगा कि क्या 'pertaining to' इस अर्थ मे सस्कृत मे कोई शब्द नही है ? उत्तर—है, और वह है 'प्रति' उपसर्ग। सक्षेप मे हमारा तात्पर्य यह है कि हम 'राष्ट्र राष्ट्र प्रति' इस विग्रह के अनुसार अव्ययीभाव समास मे 'प्रतिराष्ट्रम्' यह पद वना सकते हैं (जैसे—अर्थम् अर्थं प्रति 'प्रत्यर्थम्')।

१—मूल बात यह है कि राष्ट्र शब्द से छ (=ईय) प्रत्यय का दर्शन यदि प्रामाणिक ग्रथो मे कही मिल जाए, तो 'पाणिनि से स्मृत है या नही' यह विचार व्यर्थ है, क्योकि पाणिनि से अस्मृत सहस्रो साधु शब्द हैं, यदि कही भी राष्ट्रीय का प्रयोग न मिले तो इसका प्रयोग सस्कृत मे न करना ही अच्छा होगा और तब यह मान लेना चाहिए कि 'राष्ट्रिय' या 'राष्ट्रक' से ही सभी तद्धितीय वृत्तियो का वोध होता था। पर राजनीतिसम्बन्धी सस्कृत ग्रथों का आज यादृश अभाव है, उससे यह कहना साहसमात्र है कि राष्ट्रीय शब्द का प्रयोग सस्कृत में नही था। इसके साथ यह भी जानना चाहिए कि 'इय' प्रत्यय यदि अन्य तद्धितीय प्रत्ययो का वाधक ही होता, तो 'राष्ट्रिक' (इकप्रत्यय) का प्रयोग क्यों होता ? अतएव नि:संशय होकर हम 'राष्ट्रीय' का प्रयोग कर सकते हैं।

इस 'प्रतिराष्ट्र' शब्द से 'तत्र भवः' (४.३.५३) इस सूत्र से 'छ' प्रत्यय कर (या यदि अन्य प्रत्यय ठीक हो तो उसका प्रयोग कर) 'प्रतिराष्ट्रीय शब्द' बनाया जा सकता है जिसका अर्थबोध भी सुकर होगा तथा अन्तर् शब्द के साथ समास करने से जो क्लिष्ट सन्धि कार्य उत्पन्न होता है (हिन्दी में) वह भी नहीं रहेगा। 'तत्र भव' की प्रवृत्ति में यदि आपत्ति हो तो 'तस्येदम्' (४।३।१२०) प्रकरण में विहित उचित प्रत्यय का आश्रय लिया जा सकता है।

राष्ट्रं राष्ट्रं प्रति' = प्रतिराष्ट्रम्'—यह अव्ययम्— (२।१।६) सूत्रान्तर्गत यथार्थ शब्द के अर्थ में (= वीप्सा) समास है। वीप्सा (= कृत्स्नता) में द्वित्व होता है जैसे वृक्षं वृक्षं सिञ्चति (नित्यवीप्सयो' ८।१।४ का उदाहरण)। वृक्षम का अर्थ है 'कृत्स्नं वृक्षम्' अर्थात् किसी विवक्षित वाटिका के सभी वृक्ष (बाल मनोरमा ८।१।४)। उसी प्रकार राष्ट्रं राष्ट्रं प्रति (= प्रतिराष्ट्रम्) का अर्थ होगा—भूमण्डलस्थ सभी राष्ट्र।

इस वीप्सा-अर्थ में यदि आपत्ति हो तो 'प्रति' के साथ 'लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये' (२।१।१४) सूत्र से भी प्रतिराष्ट्र' बन सकता है। इस अव्ययीभाव समास में 'प्रति' का अर्थ है— लक्ष्यलक्षणभाव एवं आभिमुख्य' (तत्त्वबोधिनी) *जिससे 'प्रतिराष्ट्रम्' का अर्थ होगा—'राष्ट्रमत्यम् राष्ट्राभिमुखं' च' जो वस्तुतः* pertaining to nations का अर्थ पूर्णतः देता है। द्वि-बहु की आवश्यकता होने पर हम 'राष्ट्रान् प्रति = प्रतिराष्ट्रम्' भी बना सकते हैं जैसे प्रत्यक्ष शब्द मे देखा जाता है (अक्षिणी प्रति = अक्ष्णोरभिमुखम्)।

अब इस प्रतिराष्ट्र शब्द से तत्रभवः (४।३।५३) या 'तस्येदम्' (४।३।१२०) प्रकरण का कोई भी *उचित प्रत्यय लगा कर 'प्रतिराष्ट्रिय' आदि शब्द बनाया* जा सकता है। कौन प्रत्यय संगत होगा, इसका विचार कठिन नहीं है और जहाँ तक मेरा मत है, हिन्दी की प्रकृति के अनुसार 'प्रतिराष्ट्रीय' शब्द ही ठीक रहेगा। ('प्रति' से विरोध की भावना होना सर्वत्र आवश्यक नहीं है)।

यदि ठक् प्रत्यय (= ठक्) लगाने की इच्छा हो तो प्रतिराष्ट्रिक' भी हो सकता है। *यहाँ एक संशय उठता है कि प्रातिराष्ट्रिक होगा या प्रतिराष्ट्रिक ?*

१—यहाँ अन्तरराष्ट्रीय या अन्ताराष्ट्रीय व्याख्यान्तर्गत 'अन्तर्' या 'अन्तरा' या 'अन्तर' शब्द की अनुपपन्नता में ही मेरी विवक्षा है और जिस विन्ताधारा का परिचय *यहाँ दिया गया है तदनुसार अन्य समीचीन शब्द भी विद्वान् बना* सकते हैं। (अन्ताराष्ट्रिमध्ये—नागरक १।१४)।

इस विषय मे अत्यन्त सक्षेप मे मेरा विचार यही है कि जहाँ पाणिनि-व्याकरण का स्पष्ट निर्देश उपलब्ध नही है (या पाणिनि को यथावत् मानने का आग्रह नही है) वहा केवल उत्तर पद की वृद्धि करना ही पर्याप्त होगा, पूर्वोत्तरपदो मे वृद्धि करने का कुछ भी प्रयोजन नही है। इसका प्रबल हेतु यह है कि सस्कृत मे भी ऐसे स्थानो मे जहाँ पाणिनि का स्पष्ट निर्देश नही मिलता, वहाँ उत्तरपद-वृद्धि की ओर अधिक झुकाव दिखाई पडता है जैसा कि निम्नोक्त उदाहरणो से प्रमाणित होगा —

'गुरुलघु' शब्द से अण् प्रत्यय करने पर आदि स्वर या द्वितीयपद का आदि स्वर—इन दोनो म किसी एक की वृद्धि होगी, या दोनो स्वरो मे वृद्धि होगी—इस विषय मे पाणिनि की स्पष्ट व्यवस्था नही मिलती, पर 'गुरुलाघव' का ही प्रयोग मिलता है—'भवन्तमेवात्र गुरुलाघव पृच्छामि' (शकुन्तला), 'काशकृत्स्न गुरुलाघवम्' इत्यादि स्थलो मे। यहाँ स्पष्टत उत्तरपद के आदि स्वर की वृद्धि हुई है और इसीलिये परवर्ती व्याकरणो का अनुशासन भी परपद के आदि स्वर की वृद्धि के पक्ष में है (गुरुलघ्वादेरुत्तरपदस्य)। इसी प्रकार 'पितृ-पितामह' शब्द के बाद अण् प्रत्यय करने से किसकी वृद्धि होगी, यह सशय रहता है, क्योकि पाणिनि का स्पष्ट अनुशासन नही मिलता, पर प्रयोग 'पितृपैतामही' ही मिलता है (पितृपैतामही गुर्वीमुद्वहन्ति धुर सदा—महाभारत, अनुशासन अ० १५१।८) अतएव यह कहा जा सकता है कि जहाँ व्याकरण का स्पष्ट अनुशासन नहीं मिलता, वहाँ यदि उत्तरपद की ही वृद्धि की जाए, तो क्षति नही है, इस दृष्टि से हम प्रतिराष्ट्रिय या प्रतिराष्ट्रीय शब्द को साधु समझते हैं—अब 'विद्वासः प्रमाणम्'।

त्रयोविंश परिच्छेद

पाणिनि के शब्दार्थ-ज्ञापक-कौशल

आचार्य पाणिनि की अष्टाध्यायी में ग्रन्थरचना की कला अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गई है। इस ग्रन्थ की रचना में आचार्य ने अनेक सूक्ष्म एवं विचित्र कौशलों का प्रयोग किया है। स्वयं भाष्यकार ने कहा है कि पाणिनि विचित्र शैली प्रिय थे[1]। *आचार्य ने इस ग्रन्थ के प्रणयन में शाब्दिकलाघव* (अर्थात् बहुत कम शब्दों से अधिक से अधिक शब्दों का बोधन) की रीति अपनाई है। अत्यधिक शाब्दिक लाघव करने की चेष्टा करने के कारण कहीं-कहीं शब्दार्थ में अस्पष्टता, असमञ्जसता आदि दोष होने की सम्भावना होती है। इन दोषों के निराकरण के लिये पाणिनि ने ऐसे कौशल आविष्कृत किए हैं जिनसे शब्दार्थ ज्ञान में कोई बाधा नहीं होती है। जहाँ विवक्षित अर्थ का बोधन संक्षेप रूपसे होना असम्भव मालूम पड़ता है वहाँ भी यथार्थ शब्दार्थ का बोध हो जाता है। व्याकरण वाङ्मय में इन कौशलों की असाधारण महिमा है तथा साहित्य रसिकों के लिये भी इन कौशलों का ज्ञान अपरिहार्य है। इस निबन्ध में उन अर्थनियामक कौशलों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।[2]

१—एवमर्थं अल्पापि आचार्यश्चित्रयति क्वचित्यर्थान् आदिशति क्वचित्सेति (भाष्य १।१।१९)। कैयट कहते है—अनेक-मार्गमाश्रयतीत्यर्थः। अनेकमार्गाश्रयण ही विचित्रशैलीप्रियता है।

२—भर्तृहरि के श्लोक हैं—संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता। अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य संनिधिः। सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः। शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः॥ (वाक्यपदीय २।३१७–३१८)। व्याख्याकार पुण्यराज ने दिखाया है कि संयोग आदि के द्वारा सांशयिक स्थलों पर शब्द का विवक्षित तात्पर्य किस प्रकार निर्णीत होता है यथा—सवाद् प्र (१।३।५१) सूत्रोक्त 'पवातु 'गॄ निगरणे' है न कि 'गृ उपदेशे' (अव उपसर्ग के संयोग के कारण)। भुजोऽनवने (१।३।६६) सूत्र में विप्रयोग के कारण कौटिल्यार्थक भुज धातु का ग्रहण नहीं होगा तथैव विपराभ्यां जेः (१।३।१९) सूत्र में साहचर्य बल से उपसर्ग 'परा' का ग्रहण होगा पराश्च विशेषण का नहीं। सामर्थ्यबल से प्रथमानिर्दिष्टं समास (१।१।४३) सूत्र में समास का अर्थ 'समासार्थ शास्त्र' होगा इत्यादि।

वहुवचन का प्रयोग —सूत्रकार ने वहुवचन के वल से कई स्थलो पर अभीष्ट अर्थ का ज्ञापन किया है। 'मद्रेभ्योऽञ्' (४।२।१०९) सूत्र इसका एक उदाहरण है। मद्र शब्द भद्रवाची भी होता है, जनपदवाची भी। पाणिनि ने वहुवचन का प्रयोग इसलिये किया है कि जनपदवाची का ही ग्रहण हो, भद्र-पर्यायवाची का ग्रहण न हो। 'स्वाङ्गेभ्यः प्रसृते' (५।२।६६) सूत्र मे भी इस शैली का आश्रय लिया गया है। व्याख्याकार कहते हैं कि पाणिनि के द्वारा स्वाङ्गपद का वहुवचन मे व्यवहार ज्ञापित करता है कि यहाँ यह शब्द केवल स्वाङ्गवाची ही नही है, प्रत्युत 'स्वाङ्गसमुदायवाची' भी है। तथैव 'पूर्वैः कृतम्' (४।४।१३३) सूत्र मे पूर्वशब्द का वहुवचन ज्ञापित करता है कि यहाँ पूर्व शब्द का अर्थ 'पूर्वपुरुप' है। इस प्रकार हम देखते हैं कि पाणिनि ने एक विशेष अर्थ मे व्यवहार करने के लिये किसी शब्द का 'वहुवचन' मे प्रयोग किया है।

यह भी ज्ञातव्य है कि अष्टाध्यायी मे अनेकत्र अर्थप्राधान्यवोधक वहुवचन का प्रयोग किया गया है, यह पूर्वव्याख्यान से जाना जाता है, यथा—अर्थ-प्राधान्यवोधकस्य वहुवचनस्य (प्रौ० मनो०, अजन्त० पृ० २९४), न च तिसृभ्य इति वहुवचननिर्देशात् तिस्रर्थप्राधान्ये एवाय स्वर' (स्वरसिद्धान्त चन्द्रिका ६।१।१६६)। वहुवचननिर्देश से पर्याय का भी ग्रहण किया गया है (सि० कौ० ७।३।१८), कभी कभी वहुवचन अविवक्षित भी होता है (काशिका ६।१।३६)। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि वहुवचन द्वारा अर्थ और क्वचित् शब्द का भी नियमन किया गया है। सामान्यार्थक शब्द का विशेषार्थ मे ग्रहण भी वहुवचन से ज्ञापित होता है जैसा कि ५।१।१३५ सूत्र मे देखा जाता है। यहा ऋत्विग्वाची होत्रा शब्द वहुवचन मे प्रयुक्त हुआ है, जब कि एकवचन मे ही प्रयोग होना चाहिए था। वहुवचन के कारण ऋत्विग्-विशेप का ग्रहण होता है।

शब्दों का साहचर्य—शब्दो के परस्पर साहचर्य से भी पाणिनि ने अनुक्त अर्थों का ज्ञापन किया है। यथा—पाणिनि का सूत्र है 'पूर्वकालैकसर्वजरत्-पुराणनवकेवला. .. '(२।१।४९)। इस सूत्र मे जो 'नव' शब्द है, उसके दो अर्थ होते हैं—'नूतन' और 'नौ' सख्या। कौन अर्थ यहा युक्त है, इसके उत्तर मे सहेतुक उत्तर दिया जाता है कि चूंकि नव शब्द पुराण शब्द के साथ पठित हुआ है, इसलिये यहाँ नव शब्द का अर्थ 'नूतन' ही लिया जाएगा,

संख्याविशेष नहीं। तथैव 'पणपादमाषशताद् यत्' (५।१।३४) सूत्र में पण और माष शब्द के साहचर्य से पाद शब्द परिमाणविशेषवाची ही माना जाएगा, चरणवाची नहीं (इह सूत्रे पणमाषसाहचर्यात् पादशब्दोऽपि परिमाणविशेषवाची गृह्यते—बालमनोरमा)।

उत्तरसूत्रगत शब्द के अर्थविशेषज्ञापन में पूर्वसूत्रोक्त शब्द भी सहायक होता है। ४।३।९ सूत्र में अभिजन शब्द है जिसका अर्थ है—पूर्वबान्धव (अभिजनशब्देन पूर्वे बान्धवा उच्यन्ते—प्रदीप द्र० देवबोध सभा १६।१५), पर ४।३।८९ सूत्रगत निवास शब्द के साहचर्य से 'पूर्वपुरुषवासभूमि' रूप अर्थ ही ग्राह्य होता है पूर्वबान्धव नहीं (निवाससाहचर्यात्तु अभिजनो देशो गृह्यते न तु पूर्वे बान्धवाः—प्रदीप)।

साहचर्य बल से अर्थज्ञापन करना अष्टाध्यायी में सर्वत्र दृष्ट होता है। व्याख्याकार कहते हैं कि १।३।१ सूत्रगत वा के साहचर्य से असत्त्ववाची भूशब्द का ग्रहण होगा। तथैव २।२।१८ सूत्र में गत्यादि के साहचर्य से कुत्सितार्थक कु-शब्द का ही ग्रहण होगा पृथिवीवाची कु शब्द का नहीं इत्यादि। साहचर्यबल से शब्दगत अर्थ के बहुविध नियमन अष्टाध्यायी में दृष्ट होते हैं, जिसपर अन्यत्र विचार किया गया है[1]।

निपातनसिद्धि—विशिष्ट अर्थ के द्योतन के लिये निपातन सूत्रों की रचना भी की गई है। जहाँ पाणिनि ने किसी पद का निपातन से सिद्ध किया है वहाँ प्रायः वह पद किसी विशिष्ट अर्थ का वाचक होता है[2] (निपातन का अन्य प्रयोजन भी है)। जैसे—७।१।६९ में आम्यक्षब्द निपातित हुआ है, अतः अन्यसहायक अर्थ में ही इसका प्रयोग होगा परिपालनीय अर्थ में नहीं। तथैव ५।१।९० सूत्र में षाष्टिका शब्द निपातित हुआ है जिसके कारण धान्यविशेष में ही इसका प्रयोग होगा मुद्गों में नहीं (यद्यपि उनमें भी षष्टिरात्रपाक्यत्व है) इत्यादि। निपातनहेतुक अर्थनियमन के अनेक उदाहरण लेखान्तर में द्रष्टव्य हैं[3]।

१—पाणिनीयतन्त्रे साहचर्यबलम् (संस्कृतम् २०।५।४९)।

२—निपातनस्य रूढ्यर्थत्वात् (धातुवृत्ति मनु उपयमे धातु) निपातनं रूढ्यर्थम् (न्यास ७।३।१८ ७।१।६९) निपातनसामर्थ्यात् अर्थविशेषे वृत्तिः (न्यास ७।१।१२)।

३—इसी ग्रन्थ का षष्ठ परिच्छेद।

पूर्वोपात्तपदस्थापन—कही कही सूत्रकार ने विशिष्टार्थ के ज्ञापन के लिये पूर्व सूत्र से अनुवृत्त पद का पुनः प्रयोग किया है। यह पुनः कथन ही प्रमाणित करता है कि सूत्रकार ने इस द्विरुक्त शब्द को किसी विशिष्ट अर्थ मे प्रयुक्त किया है। इसका एक विशिष्ट उदाहरण 'देवताद्वन्द्वे च' (६।३।२६) मे दृष्ट होता है। इस सूत्र मे पूर्वसूत्र से (आनङ् ऋतो द्वन्द्वे, ६।३।२५) द्वन्द्व पद की अनुवृत्ति आती है, अतः पुन. ६।३।२६ मे द्वन्द्व पद का ग्रहण कर पाणिनि ज्ञापित करते हैं कि इस सूत्र मे द्वन्द्व-पद से साधारण साहचर्य का नही, प्रत्युत प्रसिद्ध साहचर्य (अर्थात् वेद मे सहभावेन निर्दिष्ट, जैसे इन्द्रा-वरुण, ब्रह्मप्रजापति इत्यादि) का ही ग्रहण होगा[1]। शब्द-लाघव के साथ अर्थ नियमन का यह कौशल सूत्रकार की महती बुद्धि का ज्ञापक है।

विशिष्ट शब्दों का संयोजन—कही सूत्रकार विशिष्टार्थ के ज्ञापन के लिये उस शब्द के साथ 'आख्या' 'नाम' आदि कुछ शब्दो का भी प्रयोग करते हैं। यह अधिकशब्दप्रयोग ही ज्ञापन करता है कि यहाँ प्रयुक्त शब्द किसी विशेष अर्थ मे व्यवहृत हुआ है। एक उदाहरण लीजिए—'प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च' (१।३।२३) सूत्र मे स्थेय शब्द ही पर्याप्त था, 'स्थेयाख्य' कहने की कुछ भी आवश्यकता नही थी। पर सूत्रकार ने 'आख्या' शब्द का जो प्रयोग किया है, उसका कारण काशिकाकार के अनुसार यह है—'विवादपदनिर्णेता लोके स्थेय इति प्रसिद्धः, तस्य प्रतिपत्त्यर्थमाख्याग्रहणम्' अर्थात् 'आख्या' शब्द का प्रयोग कर पाणिनि यह ज्ञापित करना चाहते है कि स्थेय का अर्थ अन्य कुछ न होकर उपर्युक्त 'विवादपदनिर्णेता' रूप ही है।

'आख्या' शब्द से रूढ्यर्थबोध करने का एक उदाहरण सायण ने भी दिया है। कर्मण्यग्न्याख्यायाम् (३।२।९२) सूत्रोक्त आख्या शब्द रूढ्यर्थक है, यह उनका कहना है—आख्याग्रहण रूढ्यर्थम्, श्येनाग्न्यर्थं इष्टकाचय श्येनचित्-शब्देन उच्यते (स्वादि॰ चिञ् धातु)। यहाँ अग्न्याख्य = 'अग्न्याधारस्थल-विशेष की आख्या' है।

उसी प्रकार 'वैयाकरणाख्यायां चतुर्थ्याः' (६।३।७) सूत्रगत आख्या शब्द के कारण वैयाकरणसंव्यवहारसिद्धता ज्ञापित हुई है (आख्याशब्देन संव्यवहार-मात्रमुच्यते इत्यर्थः—प्रदीप, आख्या = प्रतिपादन = व्यवहार)।

१—द्वन्द्व इति वर्तमाने पुनर्द्वन्द्वग्रहणस्यैतत् प्रयोजन लोकवेदयोर्यो द्वन्द्वस्तस्य यथा स्यात (भाष्य)।

'वचन' शब्द भी अर्थविशेष का ज्ञापक है। सूत्र है–मावचनाच्च (३।३।११)। कैयट कहते हैं *वचनग्रहणेन लोकप्रसिद्ध वाचकमवयम्यते* (प्रदीप)।

एकप्रकरण में एकाधिक स्थलों पर पाठ करना —कोई पद यदि उसी प्रकरण में दो स्थल पर पठित है (एक कार्य के लिये) तब एक स्थल में उस पद की शक्ति किसी विशेष अर्थ में है यह पाणिनि की एक शैली है। 'विभाषा हविरपूपादिभ्य' (५।१।४) सूत्र इसका एक उदाहरण है। यहां जो हविष् शब्द है वह हविर्विशेष का वाची है हविःसामान्य का नहीं। इसका कारण यह है कि पाणिनि ने इस हविष् शब्द का इसी प्रकरण में अन्यत्र (५।१।२) पढ़ा है अतः ५।१।४ सूत्र पर पुनः उसका पाठ करने से वह शब्द सामान्यार्थक न होकर विशेषार्थक हो गया है।[1] शब्द की द्विरावृत्ति से इस प्रकार का अर्थ नियमन अन्य शास्त्र में भी दृष्ट होता है।

समास का प्रकरण—कहीं कहीं समास-योग्य स्थल पर समास न कर *पाणिनि ने विशेष अर्थ का ज्ञापन किया है। यदि कौशल अन्यशास्त्र में भी* चरितार्थ हो जाए तो अनेक स्थलों पर गूढ अर्थों का भी ज्ञान हो जाएगा। 'संख्याया गुणस्य निमाने मयट्' (५।२।४७) सूत्र इस कौशल का एक उदाहरण है। यहाँ लाघव के लिये ('गुणस्य निमाने' के स्थान में) 'गुणनिमाने' पद का प्रयोग किया जा सकता था पर पाणिनि ने ऐसा समासयुक्त पाठ न कर ज्ञापित किया है कि यहां गुण का एकत्व विवक्षित है अर्थात् द्वित्वादि संख्याविशिष्ट गुण होने पर इस सूत्र का प्रयोग नहीं होगा[2]—निमाणविशेषणे

१—*गवादिगणे हविःशब्दस्य पाठात् स्वरूपग्रहणाच्च विभाषा हविरित्यत्र* हविर्विशेषवाचिग्रहणम् (प्रदीप ५।१।२)।

२—*पाणिनि का यह एक ऐसा नियम है जिसके द्वारा अन्य शास्त्र के* शब्द प्रयोग पर विचार करने से नवीन अर्थ की प्रतीति हो सकती है। एक उदाहरण दिया जा रहा है। योगदर्शन में सूत्र है—'तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा' (२।२१)। यहाँ पर 'दृश्यात्मा' कहा जा सकता था (जिससे लाघव भी होता जो सूत्र का एक मौलिक गुण है) पर ऐसा नहीं कहा गया क्योंकि दृश्य (सांख्ययोग के मतानुसार) एक है जिसके द्योतन के लिये पतञ्जलि ने समास न कर एकवचनान्त पद को पृथक् रखा है।

गुणस्येत्यत्र एकत्व विवक्षितम् , तेनेह न—त्रयो यवाना भागा निमानमन-योरुदश्विद्भागयोरिति (बृहच् शब्देन्दु० पृ० १४६२)। वस्तुतः जहाँ सख्या विवक्षित है वहाँ सख्यारक्षार्थ समास नही किया जाता, इस दृष्टि से अन्यान्य असमस्त स्थलो का अध्ययन कर गूढ अर्थों का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

पर्यायशब्द—कभी-कभी पर्यायशब्द के एकत्र प्रयोग से भी शब्द का विशिष्ट अर्थ ज्ञापित होता है। सूत्र है—मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च (३।२।१८८)। मति और बुद्धि एकार्थक है, अत व्याख्याकार कहते हैं कि यहाँ मति का अर्थ 'इच्छा' है—मतिरिहेच्छा बुद्धे पृथगुपादानात् (सि० कौ०)।

क्रतुयज्ञेभ्यश्च (४।३।६८) सूत्र भी इस रीति का एक उदाहरण है। क्रतु और यज्ञ पर्यायवाची है, अत. दोनो का उपादान एक सूत्र मे व्यर्थ है, पर यह उभयग्रहण अर्थविशेषद्योतनार्थ है ऐसा व्याख्याकार कहते हैं—सोमसाध्येषु यागेषु एतौ प्रसिद्धौ, तत्र अन्यतरोपादानेन सिद्धे उभयोरुपादानसामर्थ्यात् असोमका अपीह गृह्यन्ते। असोमक यज्ञ भी ४।३।६८ सूत्र मे गृहीत हो, इसलिये दोनो सोमसाध्ययागवाची शब्द सूत्र मे प्रयुक्त हुए हैं।

पर्यायरीति से मिलता-जुलता एक अन्य उपाय का उदाहरण दिया जा रहा है। सूत्र है—प्रीतौ च (६।२।१६)। इस सूत्र से पूर्ववर्ती सूत्र है 'सुखप्रिययोर्हिते' (६।२।१५)। सुख और प्रिय प्रीति से अव्यभिचारी (पृथक् नही रहनेवाला) हैं, अत 'प्रीतौ च' सूत्र की कोई आवश्यकता नही है। परन्तु सूत्रकार ने पुन. प्रीति शब्द का जो ग्रहण किया, उससे ज्ञापित होता है कि यहाँ प्रीति का अर्थ है—अतिशय प्रीति (काशिका)। एक शब्द के अर्थ का, उसकी पराकाष्ठा मे किस कौशल से व्यवहार किया जा सकता है, यह पाणिनि ने यहाँ प्रदर्शित किया है।

अधिकशब्दप्रयोग—कही-कही सूत्रकार ने अधिक शब्दो का प्रयोग कर भी किसी शब्द का विशेष अर्थ दिखाया है। 'दिक्शब्दा ग्रामजनपदाख्यानचानराटेषु' (६।२।१०३) सूत्र इसका एक उदाहरण है। यत' व्याकरण शब्दसम्बन्धी शास्त्र है, अत केवल 'दिक्' कहना ही पर्याप्त था, 'दिक्शब्द' कहने का कुछ भी प्रयोजन नही था, फिर भी सूत्र मे जो 'शब्द' शब्द का प्रयोग किया गया, उसका कारण यही है कि 'कालवाची दिक्' शब्द का भी ग्रहण हो, केवल 'देश-वाची' का ग्रहण न हो। यह एक असामान्य कौशल है कि अधिक शब्द का प्रयोग

करने से अधिक अर्थ का अवबोधन होता है। 'शब्दाधिक्यादर्थाधिक्यम्' यह एक प्रसिद्ध नियम है। यह एक नियम ही प्रमाणित करता है कि संस्कृत भाषा के प्राचीन ग्रन्थों के यथार्थ ज्ञान के लिये भाषाप्रकृति का कितना व्यापक परिज्ञान अपेक्षित है। प्राचीन आचार्यों के शब्दप्रयोग की सूक्ष्मता का परिचय रखना अत्यन्त आवश्यक है।

६।२।१०३ सूत्रसदृश अन्य उदाहरण ५।३।२७ सूत्र में दृष्ट होता है। यहाँ भी 'दिक्शब्द' शब्द प्रयुक्त हुआ है। कैयट कहते हैं—दिशां शब्दाः दिक्शब्दाः ये स्वया दिशो वाचका पूर्वादयस्ते गृह्यन्ते न तु ऐन्द्रादयो यौगिकाः (प्रदीप)। 'शब्द' शब्द से यह विशिष्ट तथ्य ज्ञापित होता है (शब्दग्रहण सामर्थ्यमस्याह—उद्द्योत)। यह वस्तुतः अर्थनियमन नहीं है पर ६।२।१३ सूत्रीय विषय की पूर्णता के लिये यहाँ उदाहृत हुआ है।

दम्—'''मर्यादावचन (८।१।१५) सूत्रोक्त मर्यादा–वचन शब्द भी इस नियम का एक उदाहरण है। केवल मर्यादा न कहकर जो मर्यादावचन कहा गया इसके लिये जिनेन्द्र कहते हैं—वचनग्रहणं शब्दोपात्तायां मर्यादायां यथा स्यात्, अर्थ-प्रकरणादिना गम्यमानायां मा भूत् (न्यास)—शब्दोपात्तमर्यादा के बोध होने पर ही ८।१।१५ सूत्रीय कार्य होगा प्रकरणादिगम्य मर्यादा में नहीं होगा—यह अर्थ वचनग्रहण से ज्ञापित हुआ है।

इति का प्रयाग—विवक्षानुसार प्रयोग के साक्षात् ज्ञापन के लिये सूत्रकार की एक अतिप्रिय शैली है। वह है—'इति' शब्द का प्रयोग। तद्धित तथा समास में इस कौशल के कई उदाहरण हैं। यथा—'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् (५।२।९४) सूत्र। 'इति' शब्द ज्ञापन करता है कि केवल साधारण अस्तित्व मात्र होने पर ही मतुप् प्रत्यय नहीं होता प्रत्युत बहुत्व प्रशंसा, नित्ययोग आदि गम्यमान होने पर ही 'मतुप् होगा। 'इति' शब्द के बल से पाणिनि ने यहाँ 'अस्तित्व' का नियमन किया है यथा—केवल यव रहने पर ही किसी को 'यवमान्' नहीं कहा जाएगा या रूपमात्र होने पर ही किसी को रूपवान् नहीं कहा जाएगा प्रत्युत जिसके पास अधिक यव है या प्रशस्तरूप जिसमें है उसको ही यथाक्रम 'यवमान् या 'रूपवान् कहा जाएगा यद्यपि यह साक्षात् अर्थनियमन नहीं है प्रत्युत विवक्षा नियमन है तथापि विवक्षा अर्थ विशेष ही है ऐसा समझ कर यह उदाहरण उपन्यस्त हुआ है।

तदस्य तदस्मिन् स्यादिति (५।१।१६) सूत्र गत 'इति' शब्द भी विवक्षा-ज्ञापक है—इतिशब्दो लौकिकी विवक्षामनुसारयति', अर्थात् शिष्टप्रयोगगत विवक्षा की प्रकृति को जानकर ही ५।१।१६ सूत्र का प्रयोग करना चाहिए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अष्टाध्यायी के अनुशीलन मे पूर्वाचार्यप्रसिद्ध एक ऐसी गूढ शैली का परिचय प्राप्त हो जाता है, जिसकी उपादेयता अर्थज्ञान के लिये अपावारग है। अनुसन्धान करने पर अन्य शैलियों का ज्ञान भी हो सकता है, यह ज्ञातव्य है।

चतुर्विंश परिच्छेद

पाणिनीय सम्प्रदाय की दृष्टि में लोकप्रामाण्यवाद

शब्दार्थसम्बन्ध की नित्यता—वैयाकरणों का सिद्धान्त है कि पाणिनि ने शब्दार्थसम्बन्ध को सिद्ध मानकर सूत्रों की रचना की है। इससे यह ध्वनित होता है कि व्याकरण शब्द बनाता नहीं है वह लोकव्यवहृत शब्दों का अन्वाख्यान-मात्र करता है। लोक में जिस शब्द की जो शक्ति नहीं है व्याकरण के सहस्र सूत्र भी उस अर्थ को स्फुटित नहीं कर सकते—इस सिद्धान्त को महावैयाकरण हरिदीक्षित ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—नह्यविद्यमानास्या शक्ते रेकस्येपणाशसहस्रेणापि प्रतिपादयितुमशक्यत्वात् (शब्दरत्न १।२।६५)। शब्दार्थ-सम्बन्ध में यदि लोक का प्रामाण्य है तो शास्त्र का सार्थक्य क्या है ? इसका उत्तर वार्तिककार ने दिया है—'शास्त्रेण धर्मनियमः क्रियते' (पस्पशा)। इस वाक्य से यह भी ध्वनित होता है कि शब्दार्थ-सम्बन्ध के क्षेत्र में यदि नियामिका शक्ति किसी की है तो वह 'लोक' की है शास्त्र की नहीं।

लोकसिद्ध शब्द ही व्याकरणशास्त्र का विषय है। इसका प्रमाण 'यथा लक्षणमप्रयुक्ते' यह वचन है। किसी भी अज्ञात प्रयोग के सम्बन्ध में विचार करते समय पतञ्जलि इसी परिभाषा का आश्रय लेते हैं और इसी के बल पर निश्चित करते हैं कि अमुक प्रयोग होगा या नहीं। इस वचन की व्याख्या में कैयट ने कहा है—नैव वा लक्षणमप्रयुक्ते प्रवर्तते प्रयुक्तानामेव लक्षणेनान्वाख्यानात् (प्रदीप १।१।२१) अर्थात् लोक में अप्रयुक्त शब्द की सिद्धि के लिये व्याकरण का सूत्र प्रवर्तित नहीं होता, क्योंकि लोक-प्रयुक्त शब्दों का ही सूत्रों से अन्वाख्यान किया जाता है। नागेश ने स्पष्ट कहा है कि 'अप्रयुक्ते लक्षणाभावस्यैव योग्यता न तु लक्षणस्य' अर्थात् लोक में अप्रयुक्त शब्दों की सिद्धि के लिये व्याकरण का नियम लगता ही नहीं है और यही व्याकरण की महिमा है। इससे यह सिद्ध होता है कि लोक में अप्रयुक्त शब्दों की सिद्धि में सूत्र को घटाना काकदन्तपरीक्षा की तरह व्यर्थ है क्योंकि व्याकरण कभी भी अप्रसिद्ध शब्दों का निर्माण नहीं करता।

व्याकरणानुमत शब्दान्वाख्यान—व्याकरण-शास्त्र का स्वरूप क्या है—इस विषय में वार्तिककार ने कहा है— सदन्वाख्यानत्वात् शास्त्रस्य (१।१।६१) अर्थात् जिस प्रकार चक्षु विद्यमान रूप को देखता है, रूप को उत्पन्न नहीं करता

उसी प्रकार व्याकरण भी विद्यमान शब्दो के विषय मे ज्ञापन करता है–किस भाषा मे कौन-सी वर्णानुपूर्वी साधु है, कौन-सी असाधु है, अथवा किस अर्थ मे कौन पद साधु है, कौन असाधु है, इत्यादि, 'अमुक शब्द का अमुक अर्थ निश्चित किया जाता है'–ऐसा निर्देश करने का अधिकार व्याकरण को नही है। वस्तुत लक्षण (व्युत्पादक सूत्र) बनाना व्याकरण का विषय है, लक्ष्य बनाना नही। व्याकरण मे लक्षण की प्रधानता है, इसे दुर्गाचार्य ने भी माना है।

व्याकरण का जो दूसरा लक्षण है, 'लक्ष्यलक्षणे व्याकरणम्' वह भी यही प्रमाणित करता है कि यह शास्त्र लक्ष्य (प्रयुक्त शब्दो) का अतिक्रमण नही कर सकता है।

लोकप्रामाण्यस्वरूप—लोक-प्रामाण्य के विषय मे काशिकाकार ने कहा है—'शब्दैरर्थाभिधान स्वाभाविकम् , न पारिभाषिकमशक्यत्वात् लोकत एव अर्थावगतेः' (१।२।५६)। भाष्यकार ने भी बार-बार कहा है—'स्वाभाविक-मर्थाभिधानम् (२।१।१)। शब्दार्थ-सम्बन्ध मे किसी भी प्रकार का नियोग व्याकरण से साध्य नही है। वह केवल लोक-साध्य है, यह आचार्यो ने प्रमाणित किया है। पतञ्जलि ने स्पष्ट शब्दो मे कहा है—स्वभावत एतेषा शब्दाना-मेतेषु अर्थेषु अभिनिविष्ठाना निमित्तत्वेनान्वाख्यान क्रियते' (२।१।१)। इस वाक्य से प्रमाणित होता है कि लोकद्वारा नियमित अर्थों मे प्रयुक्त शब्दो का अन्वाख्यान व्याकरण करता है।

अर्थाभिधान की स्वाभाविकता (लोकसिद्धता)—इस सिद्धान्त को न मानने पर जो असामञ्जस्य उत्पन्न होंगे, उनका विस्तृत विचार २।१।१ सूत्र के भाष्य मे पतञ्जलि ने किया है। तथा यह भी प्रमाणित किया गया है कि व्याकरण द्वारा अर्थाभिधान सम्भव ही नही है। आजकल के प्रत्येक शब्दतत्त्वविश्लेषक को यह अश ध्यानपूर्वक पढना चाहिए। कैयट ने इस प्रसग का निम्न शब्दो मे उपसहार किया है—'तस्माद् वृद्धव्यवहारादेव शब्दार्थसम्बन्धव्युत्पत्तिरनिच्छ-ताऽपि युक्तिवशादेष्टव्येत्यर्थ.'। इस वाक्य से यह ध्वनित होता है कि शायद कुछ लोग उपर्युक्त सिद्धान्त का विरोध भी करते थे, जिनको लक्ष्यकर कैयट ने 'अनिच्छताऽपि' पद का व्यवहार किया है।

अभिधान का बल—शब्दार्थसम्बन्ध की लोकसिद्धता के विषय मे कई ज्ञातव्य तथ्य हैं। यथा—भाष्यकार ने कहा है 'अभिधानलक्षणा कृत् तद्धित-समासा'' अर्थात् कृत्, तद्धित और समास सूत्रो का प्रयोग पूर्णरूपेण अभिधान के अनुसार ही होता है, अर्थात् प्राप्ति होने पर भी सूत्र प्रवर्तित नही होगा,

यदि उस शब्द से उस अर्थ की प्रसिद्धि लोक में न हो। पतञ्जलि ने उदाहरण देकर समझाया है कि पाणिनि के 'तत आगतः' (४।३।७४) सूत्र के अनुसार 'वृक्षमूलाद् आगतः' इस अर्थ में 'वार्क्षमूलः' पद की सिद्धि होनी चाहिए, परन्तु इसलिये सिद्धि नहीं होती कि इस अर्थ में इस शब्द की लोकप्रसिद्धि नहीं है (४।३।२५)। व्याकरण के सूत्रों में कहीं-कहीं अर्थनिर्देश उपलब्ध होता है पर यह मानना चाहिए कि ऐसे शब्दों से अर्थ नियमन नहीं होता—यह वैयाकरण कहते हैं। पाणिनि-सूत्रदर्शित अर्थनिर्देश के कारण के विषय में कैयट ने कहा है—'अर्थकरेण विशिष्टे एवार्थेऽपवादा यथा स्युरित्येवमर्था अर्थनिर्देशा' (प्रदीप ४।१।२५) अर्थात् उत्सर्गापवाद के प्रयोग में प्रयोक्ता कहीं गलती न करें—इस लिये आचार्यसूत्रकृत् पाणिनि ने सूत्रों में अर्थ-निर्देश किया है। यदि कहीं पर पाणिनिसूत्रों के पदों के अन्वयादि में सन्देह हो जाए तो मादृश विश्लेषण से लोकानुसारी पद की सिद्धि होगी तादृश विश्लेषण ही मान्य होगा। इसका एक उदाहरण ५।२।१७ सूत्र के प्रदीप में है। यहां कैयट लिखते हैं—'लोकप्रसिद्धार्थानां शब्दानामिह साधुत्वान्वाख्यानात्, लोके च नानाऽऽस्य पृथग्भावाभिधायित्वात् 'नसह' इति प्रकृत्यर्थनिर्देशः'। पाणिनि के सूत्रों में 'न सह' शब्द पठित है यह प्रत्ययार्थ है, या प्रकृत्यर्थ इसमें सन्देह था। लोकप्रामाण्य के आश्रय मानकर उत्तर दिया गया कि 'न सह' प्रकृत्यर्थ है—प्रत्ययार्थ नहीं। पाणिनि के सत्रार्थ में कितने ही ऐसे सांशयिक स्थल हैं, जिनका उत्तर लोकप्रामाण्य के आश्रय से सरलता से दिया जा सकता है जहाँ शास्त्राश्रयमात्र से निश्चित निर्णय करना असम्भव जान पड़ता है।

अभिधान के बल से भाष्यकार ने अनेक स्थलों में अनिष्ट प्रयोगों का वारण किया है, जो सूत्र के व्याख्यानमात्र से सम्भव नहीं है। यथा—'पञ्चभिर्भुक्तमस्य' इस अर्थ में बहुव्रीहि समास क्यों नहीं होता? भाष्यकार ने उत्तर दिया है—'अनभिधानात्' (२।२।२४)। इस स्थल पर पतञ्जलि ने अभिधान की महिमा को दिखाया है यथा—'तत्रावश्यम् अनभिधानमाश्रयितव्यम्। क्रियमाणेऽपि परिगणने यत्राभिधानं न भवति तत्र न बहुव्रीहिः यथा पञ्च भुक्तवन्तोऽस्येति'। लौकिक अर्थ का द्योतन प्रत्यय से यदि संभव हो तभी सूत्र विहित प्रत्यय होगा अन्यथा नहीं। इसी युक्ति के बल पर सर्वदा अनिष्ट प्रयोगों का वारण किया जाता है। इस विषय में कैयट का निम्न सन्दर्भ अवलोकनीय है—'तत्प्रतीनां शब्दानां योऽर्थः स एव यदि लौकिके प्रयोगे प्रत्यये नाभिधीयते तदा प्रत्ययो भवति नान्यथा। प्रयुक्तानां शब्दानां साधुत्वा-

विवेकाय शास्त्रारम्भात् (४।२।१)। शास्त्र और लोक का सम्बन्ध इस वाक्य से स्पष्ट दिखाया गया है। इस प्रसग मे यह भी ज्ञातव्य है कि शास्त्र मे जिसे 'शब्द शक्ति' कहा जाता है, वह भी शास्त्रारम्भक या शास्त्र से नियन्त्रित नही है, अपितु वह प्रयोगानुसारिणी है,जैसा कि कैयट ने कहा है–"सर्वत्र चात्र शब्दशक्तिः प्रयोगानुसारिणी प्रमाणम्" (प्रदीप ६।३।४६)। व्यवहार ही शब्दशक्तिग्रह मे सर्वप्रधान है, यह सिद्धान्त वैयाकरण सम्प्रदाय मे निर्विवाद है (द्र० शक्ति-ग्राहकशिरोमणे व्यवहारस्य तुल्यत्वात्––लघुमञ्जूषा)।

प्रयोगव्यवस्था लोकापेक्ष है––इसको मान लेने पर भी विप्रतिपत्ति रहती है कि यदि लोक मे ही मतभेद हो जाए, तो क्या होगा ? सस्कृतभाषा के व्याकरण-ग्रन्थो में इस प्रकार का विचार प्रायेण नही है, एक स्थल मे ऐसी शका का उत्तर दिया गया है कि 'प्रचुरलोकापेक्षया व्यवस्था होती है' (प्रदीप २।१।१५)।

लोकशक्ति की महत्ता––शास्त्र लोक-शक्ति को हटाकर कोई नियमन नहीं कर सकता, लोक के अनुसार ही शब्दशास्त्र को चलना पडता है, यह न्याय वैयाकरण निकाय मे पूर्णरूपेण आदृत है। परिभाषा भी है—'नहि अनिष्टार्था शास्त्रप्रक्लृप्ति' अर्थात् व्याकरण के सूत्रो से अनिष्ट प्रयोगो को नही बनाना चाहिए। अनिष्ट प्रयोग = लोक मे असिद्ध प्रयोग। ठीक यही बात योगविभाग के विषय मे कही जाती है। कभी-कभी कुछ सिद्ध प्रयोगो की निष्पत्ति के लिये सूत्रावयवो को इतस्ततः विच्छिन्न करके व्याख्या की जाती है (जहाँ सूत्रो के सरल अर्थ से उन प्रयोगो की सिद्धि नही होती), परन्तु इस विभागयुक्त व्याख्यान से ऐसे शब्दो की भी सिद्धि होने लगती है, जो लोकसिद्ध नही हैं। इस उभय-तस्पाशा रज्जु से बचने के लिये उत्तर दिया जाता है कि 'योगविभाग इष्ट-सिद्धयर्थ' अर्थात् लोकसिद्ध शब्दो की सिद्धि के लिये ही योगविभाग (=सूत्रो के शब्दो का इतस्तत विच्छेद) उचित है, पर उससे अनिष्ट शब्दो की सिद्धि नही करनी चाहिए। व्याकरण शास्त्र की यह लोकापेक्षिता कैयट के निम्न वाक्य मे भली भाँति प्रकाशित हुई है––'नहि वाक्योपमर्दनेन समास क्रियते लौकिके प्रयोगे द्वयोरपि नित्यत्वात्। अन्वाख्यानमात्र तु शास्त्रेण क्रियते' (२।२।२५), अर्थात्, यत लोक मे समास और विग्रह दोनो समान रूप से प्रयुक्त होते हैं, अत. वाक्यप्रवृत्ति का उन्मूलन कर समास की प्रवृत्ति नही हो सकती।

लोक मे केवल अर्थ-नियमन ही नही, प्रत्युत लोक-व्यवहार से 'शब्द-

निवेश भी होता है [द्रष्टव्य भाष्यवचन— कारणाद् द्रव्ये शब्द-निवेश' पर कैयट की व्याख्या 'शब्दार्थाविसायहेतु' लोकव्यवहारोऽत्र कारणत्वेन विवक्षित (२।२।२९)]। पतञ्जलि ने जिस रूप से इस वाक्य को लिखा है उससे मालूम पड़ता है कि यह एक प्रचलित प्रामाणिक है। केवल शब्द निवेश ही नहीं, एक शब्द का पर्यायान्तराभिधायित्व भी लोकव्यवहारसम्य है—यह भी इसी स्थल पर कैयट ने कहा है। शब्दनिवेश में लोक-व्यवहार ही हेतु है ऐसा वार्तिककार का भी मत है जैसा कि उन्होंने कहा है—'दर्शनं वै हेतुः' । (यहाँ पर दर्शन का अर्थ है—लोकव्यवहार—प्रदीप) ।

अप्रयुक्त शब्द निर्माण की असम्भवता—हम पहले यह कह चुके हैं कि 'यथालक्षणम् अप्रयुक्ते' इस परिभाषा के अनुसार वैयाकरण लोकप्रयुक्त शब्दों का ही अन्वाख्यान करते हैं। इस परिभाषा की दो व्याख्याएँ हैं जिनसे वैयाकरणों की दो धाराओं का पता चलता है। प्रथम—जिसका प्रयोग उपलब्ध नहीं होता व्याकरण के अनुसार उसका संस्कार करना चाहिए। यह मत लक्ष्यैकचक्षुष्क वैयाकरणों का है। द्वितीय—जो प्रयोग (शब्द) अप्रयुक्त है उसमें व्याकरण का सूत्र प्रवर्तित नहीं होता है (प्रदीप २।४।२४)। यह मत लक्ष्यैकचक्षुष्क वैयाकरणों का है। इनमें से दूसरा अर्थ ही पतञ्जलि का सम्मत है—क्योंकि उन्होंने लक्ष्य के अनुसार सूत्रसामर्थ्य पर विचार किया है (द्र० भाष्य, रसादिभ्यश्च ५।२।९५ आदि सूत्रों पर)। मालूम पड़ता है कि जब संस्कृत भाषा प्रचलित थी, तब दूसरा मत स्वीकृत था पर जब संस्कृत-भाषा अप्रचलित हो गई तब भाषा के शरीर में विकृति न आ जाए, इसलिये प्रथम मत का प्रचलन हुआ। यह बात सत्य है क्योंकि वैयाकरण कहते हैं—'प्रयोगमूलत्वाद् व्याकरणस्मृतेः' (प्रदीप १।१।१६) अर्थात् व्याकरणशास्त्र का मूल है 'प्रयोग' = लोकसिद्ध शब्द।

व्याकरणशास्त्र में कितने ही ऐसे स्थल हैं, जहाँ पर किसी एक विशेष प्रकार के प्रयोगों का होना या न होना व्याकरण से निर्णय होता है। ऐसे स्थलों पर सबको मानना पड़ता है कि प्रयोगानुसार ही सूत्रों की व्याख्या करनी चाहिए। पाणिनि का 'गणपाठ' लोक-प्रामाण्य का एक स्पष्ट उदाहरण है। अधिकांश गणपाठ आकृतिगण हैं अर्थात् अन्य समान कार्यभाक् शब्दों का भी निवेश उस गण में हो सकता है। पर किन शब्दों का अन्तर्भाव करना चाहिए, यह व्याकरण से निर्णीत नहीं हो सकता। लोकप्रयुक्त शब्द के अनुसार ही गणपाठीय शब्दों का संकलन उचित है—यह मत भी लोकप्रामाण्य की

सर्वशीर्षता का द्योतक है। इस विषय का विशिष्ट उदाहरण १।३।१५ के व्याख्यानभूत उद्द्योत मे है। कैयट ने यहाँ वार्तिकस्थ 'हसादीनाम्' पद का अर्थ किया है—'हसिप्रकाराणा शब्दक्रियाणाम्'। इस पर नागेशभट्ट कहते हैं—'अशब्दहासे भवति न वेति बहुदर्शिनो विचारयन्तु'। जो बहुदर्शी होगा, अर्थात् अधिक लोकसिद्ध प्रयोगो का ज्ञान रखेगा, वही वार्त्तिकस्थ 'हसादीनाम्' का विवक्षितार्थ जान सकेगा। सूत्र-वार्त्तिकादि का अर्थ प्रयोगानुसार ही होना चाहिए, यह बात इसमे ध्वनित होती है।

शब्द की विषयनियतता—जिस प्रकार शब्दार्थ-सम्बन्ध लोकसिद्ध है, उसी प्रकार शब्द का विषय भी नियत है। उपसर्ग आदि भी कचित् नियत-विषय होते हैं—जिसमे शब्द की लोकसिद्धता सुदृढरूप मे प्रमाणित होती है। पाणिनि ने कहा है—'अवाद् ग्र' (१।३।५१), गॄ धातु से 'गिरति' तथा 'गृणाति' इन दोनो का ग्रहण हो सकता है अतएव 'अवाद् गिरतेः' ऐसा कहना चाहिए, जिससे 'गृणाति' का ग्रहण न हो—ऐसा वार्त्तिककार ने कहा है। इसके उत्तर मे भाष्यकार कहते हैं—'न वक्तव्यम् प्रयोगाभावात् × × न चावपूर्वस्य गृणातेः प्रयोगोऽस्ति' अर्थात् यत अव+गृणाति का प्रयोग लोक मे नही है, अत पाणिनि ने निःसङ्कोच हो कर सन्दिग्ध 'ग्र' पद का व्यवहार किया (लाघव के लिये), क्योकि वे जानते थे कि सूत्र से यद्यपि 'अव+गृणाति' का भी ग्रहण हो सकता है, तथापि ग्रहण नही होगा, क्योकि लोक मे ऐसा प्रयोग नही होता है। व्याकरणसूत्रो की रचनापद्धति मे भी लोक का कितना प्रभाव रहता है—यह इसमे प्रमाणित होता है।

वस्तुत व्याकरण से शब्दसाम्राज्य का पूर्ण विश्लेषण सम्भव नही है। कृत् आदि के प्रयोगो मे कितने ही ऐसे लौकिक शब्द मिलते हैं, जिनके लिये अष्टाध्यायी मे अनुशासन नही है, यद्यपि उन प्रयोगो को साधु मानना पडता है। ऐसे स्थलो के लिये प्रत्यय आदि का अन्वेषण करना चाहिए—ऐसा ही व्याख्याकारो ने कहा है (द्र० प्रदीप १।४।२ आदि)। जिस प्रकार शब्द-सिद्धि के विषय मे यह बात घटती है, उसी प्रकार अर्थ-सिद्धि के विषय मे भी जानना चाहिए। कैयट ने स्पष्टतया कहा है—'शास्त्रेऽनुपात्तोऽप्यर्थः प्रयोगादेव व्यवस्थाप्यते' (१।४।२१)। लोकशक्ति की महिमा इससे अधिक और क्या हो सकती है?

लोक का तात्पर्य—उपर्युक्त सन्दर्भ से जो बात स्पष्ट होती है वह यह है—'लोके स्वार्थे प्रयुज्यमानाना शब्दाना साधुत्वमात्रमनेन शास्त्रेण प्रतिपाद्यते,

न तु अर्थे नियोगः क्रियते अर्थात् लोक में अपने अर्थ में प्रयुक्त शब्दों का अन्वाख्यान व्याकरण में किया जाता है न कि 'अमुक शब्द का प्रयोग अमुक अर्थ में होना चाहिए'—इस प्रकार का नियोग (५।१।१९०)। इस पर यह प्रश्न उठ सकता है कि लोक किसे कहते हैं ? उपर्युक्त वाक्य की व्याख्या में नागेश ने कहा है— शिष्टलोकव्यवहारकाले (उद्द्योत)। पतञ्जलि के अनुसार शिष्ट—आर्यावर्त्त के निवासी लोभादिहीन ब्राह्मण (द्र भाष्य ६।३।१ ९)। इससे यह प्रमाणित होता है कि जो भाषा जिस स्थान का है, उस स्थान के शिष्ट भाषाविद् निवासी ही उस भाषा के प्रयोग में प्रमाण हैं। लोक के लक्षण में एक कारिका भी मिलती है यथा—'लोक्यते येन शब्दार्थो लोकस्तेन स उच्यते व्यवहारोऽथवा वृद्धव्यवहृत् परम्परा' (उद्द्योत ४।१।३) अर्थात् शब्द के अर्थ का अवलोकन जिससे होता है उसका नाम 'लोक' है। यह लोक दो प्रकार का है—व्यवहार और व्यवहारकारिया की परम्परा। व्याकरण के व्याख्याकारों ने यह भी बार बार कहा है कि 'लोक' से अशिक्षित जनता नहीं प्रत्युत 'शिष्टलोक' विवक्षित है। शब्द-व्यवहार यद्यपि आपामर-साधारण है तथापि विशेष की उपस्थिति में प्रामाण्याप्रामाण्य के निर्णय के लिए शिष्टों की ही अपेक्षा है। यह सत्य आज भी समानरूपेण स्वीकार्य है। यद्यपि शिष्टों के विश्लेषणयोग्य शब्द केवल शिष्टों की ही सम्पत्ति नहीं है वह सर्वलोकसाधारण है। शिष्टों का स्वतः प्रामाण्य है या नहीं, शिष्टों का प्रामाण्य किस प्रकार का है इत्यादि विषयों की आलोचना व्याख्यानग्रन्थों में बहुलमात्रा में है।

वस्तुतः वैयाकरण को जिस प्रकार वाक्योगवित् कहा जाता है,(आध्यात्मिक दृष्टि से) उसी प्रकार उनको कभी-कभी 'शब्दमर्यादानुसारी' भी कहा जाता है (उद्द्योत ३।१।२१) क्योंकि वे शब्द का अनुसरण करते हैं, वे अवश्य ही उसके निर्माता नहीं हैं, प्रत्युत तदनुसार शास्त्र-संस्कार करते हैं। अतः यह सिद्ध होता है कि वैयाकरणों का कार्य है सिद्ध शब्दों का विश्लेषण करना न कि असिद्ध शब्दों को बनाना।

पतञ्जलि की व्योमकुक्ति से भी यही बात प्रमाणित होती है। कई स्थलों पर उन्होंने कहा है—'नैपोऽस्ति प्रयोगः' (६।३।१) और तदनुसार सुझाव किया है। यदि व्याकरण से प्रयोग बनता तो कभी भी पतञ्जलि— 'नैपोऽस्ति प्रयोगः' कहने का साहस नहीं करते। लोक की इतनी प्रधानता देखकर ही शायद कोई वामोदक व्याकरण की निरर्थकता का स्थापन करते थे। वे कहते थे 'वेदान्नो वैदिकाः शब्दाः सिद्धा लोकाच्च लौकिकाः, अनर्थकं व्याकरणमिति'

(पस्पशा)। पर यह बात ठीक नहीं है, व्याकरण की अपनी सार्थकता है, जिसका प्रतिपादन यथास्थान किया गया है।

कार्यशब्दवाद—हम कह चुके हैं कि 'शब्द व्याकरण से निष्पाद्य है' ऐसा भी एक मत था, कार्यशब्दवादी ही इस मत के प्रख्यापक थे—ऐसा ज्ञात होता है। इन लोगो के अनुसार शब्दार्थसम्बन्ध का नियामक शास्त्र है (उद्द्योत ३।४।६७), इनके अनुसार प्रत्यय आदि नियोगत. कर्तृत्व आदि के द्योतक हैं, तथा प्रकृति प्रत्यय आदि विभाग भी सर्वथा अवास्तव नही है। इनके दर्शन के विषय मे कहा गया है—घटादिरूपकार्यवत् शब्दा अपि कार्या इति बुद्धया पठन्ति' (उद्द्योत २।१।६८)। इनके अनुसार व्याकरण का लक्षण है—'अपूर्वशब्दनिष्पादनद्वारा अर्थविशेषसम्बन्धनिष्पादकम्'। पतञ्जलि ने इस कार्यशब्दवाद का खण्डन किया है, जो कि सर्वदा उचित ही है।[1]

लोक की यदि इतनी प्रधानता है, तो व्याकरणशास्त्र की आवश्यकता ही क्या है—इस युक्त शका का उत्तर भिन्न-भिन्न दृष्टियो से दिया जा सकता है। यह मानना ही पड़ेगा कि जब सस्कृत भाषा जीवित थी, तब व्याकरण का जो प्रयोजन था, वह बाद मे (जब सस्कृत भाषा जीवित भाषा नही रही) ठीक वैसा नही रहा। प्राचीन लोग कहते थे कि 'शास्त्रेण धर्मनियमः क्रियते' अर्थात् शास्त्रपूर्वक प्रयोग करने से अभ्युदय होता है'। वस्तुत. व्याकरणशास्त्र धर्मोपदेशन है (भाष्य ६।१।८४)-ऐसा पतञ्जलि ने स्पष्टत. कहा है। व्याकरणशास्त्र की प्रवृत्ति प्राचीनो की दृष्टि मे ठीक कैसी है—यह कैयट के निम्नोक्त वाक्य से ज्ञात होता है—'साधुभिर्भाषितव्यमिति धर्मनियमोऽनेन क्रियत इति—अर्थप्रतिपादनाय प्रयुज्यमानेषु सर्वेष्वेव शब्देषु इद शास्त्रमन्वाख्यानाय प्रवर्तते' (प्रदीप ६।१।८४)।

१—कार्यशब्दवाद तथा नित्यशब्दवाद व्याकरण शास्त्र के दो मौलिकदर्शन हैं—इन मतो का विस्तृत विश्लेषण निबन्धान्तरसाध्य है, अतः इस विषय को यहीं छोड दिया जाता है।

पञ्चविंश परिच्छेद

अष्टाध्यायी के ज्ञानसम्बद्ध शब्द

अष्टाध्यायी में कुछ ऐसे सूत्र हैं जिनमें ज्ञानसंबन्धी निर्देश मिलते हैं। इन निर्देशों का तात्पर्य क्या है यह यहाँ विचारित हो रहा है। यद्यपि अष्टाध्यायी कोई दर्शनग्रन्थ नहीं है तथापि ज्ञान के साथ शब्द का नियत संबन्ध होने के कारण व्याकरणसूत्र में कहीं न कहीं ज्ञान का प्रसंग आ जाना स्वाभाविक ही है। ज्ञानसंबद्ध शब्दों का अभिप्राय निश्चितरूप से जानना आवश्यक है अन्यथा हम अनुपयुक्त स्थल में सूत्र का प्रयोग कर सकते हैं यह ज्ञातव्य है।

पहले ही यह ज्ञातव्य है कि पाणिनि के ग्रन्थों की सामग्री पूर्वतन स्रोतों से समाहृत हुई है जिन स्रोतों का यथावत् ज्ञान हम लोगों के पास नहीं है। पाणिनि के सूत्रों में एक ही शब्द किञ्चित् विभिन्न अर्थों में व्यवहृत मिलते हैं एकही शब्द पारिभाषिक और अपारिभाषिक अर्थ में अनेकत्र प्रयुक्त हुए हैं[1] अतः शब्दों के अर्थनिर्धारण में भ्रान्तियों का होना स्वाभाविक है। ज्ञानसंबद्ध शब्द पर भी यही बात चरितार्थ होती है। कश्चित् ज्ञानपरक साक्षात् चर्चा भी व्याकरणग्रन्थों में उपलब्ध होती है जैसा कि १।४।२९ भाष्य में पतञ्जलि के वाक्य से जाना जाता है (अथवा ज्योतिर्वत् ज्ञानानि भवन्ति)।[2] "ज्ञान की शब्दरूपापत्ति भाष्यसंगत पक्ष है यह कैयट ने कहा है (ज्ञानस्य शब्दरूपापत्ति रिति दर्शनं भाष्यकारस्य)।

विचार की सुविधा के लिये हम ज्ञानपरक शब्दों का वर्गीकरण शब्द की मूल प्रकृति (धातु) के अनुसार करेंगे। चूंकि अष्टाध्यायी कोई दार्शनिक-विचारपरायण ग्रन्थ नहीं है, अतः विषयानुसार विभाग करना व्यर्थ है। ज्ञान

१—वैदिक चरणशब्द पाणिनि के कुछ सूत्रों में 'शाखा' अर्थ में और कुछ सूत्रों में 'शाखाध्येता' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है (२।४।३ ४।३।८६ ४।३।९३ की विभिन्न व्याख्याएँ द्र०)। उसीप्रकार अमनुष्य शब्द २।४।२३ में रक्षःपिशाचादि का वाचकही और ३।२।५३ में निर्जीवपदार्थ का वाचक।

२—यथा ज्वालात्मकं ज्योतिरविच्छेदेन उत्पद्यमानं सादृश्यात् तत्त्वेनाध्यवसीयमानं सन्ततं तथैव उपाध्यायवचनानि भिन्नानि भिन्नशब्दरूपतामापद्यमानानि सन्ततान्युच्यन्ते (प्रदीप)।

म्बद्ध शब्द जिन धातुओं से निष्पन्न हुए हैं, उन धातुओं को लेकर विचार करना ही उचित जचता है। ज्ञानसम्बद्ध शब्द निम्नोक्त धातुओं से निष्पन्न हुए हैं—ज्ञा, विद्, बुध्, मन्, दृश, दिश्, लुच्, चर्, सिध्, शिक्ष आदि, इसके अतिरिक्त वे सूत्र भी यहाँ विचारित हुए हैं जिनसे ज्ञानसम्बन्धी कोई न कोई विचार निर्गलित होता हो।

हमने सर्वत्र पूर्व व्याख्यानों की सहायता से पाणिनिव्यवहृत शब्दों का अर्थ दिखाया है और कुछ स्थलों पर पूर्वव्याख्यान की आलोचना भी की है। इस विषय में अन्यान्य वैयाकरण सम्प्रदायों का क्या मत है, यह एक अवश्य ज्ञातव्य विषय है, जिसके लिये अधिकारी विद्वानों को चेष्टा करनी चाहिए।

ज्ञाधातु—ज्ञा-धातु-घटित सर्वमुख्य शब्द है—ज्ञान, इसका प्रयोग १।३।३६ सूत्र में है। अर्थ है—प्रमेयनिश्चय (काशिका)। १।३।४७ सूत्र में भी ज्ञान शब्द है, इस अर्थ में वदधातु आत्मनेपदी होता है। 'केवल प्रमेयनिश्चय रूप ज्ञान' नहीं, बल्कि 'ज्ञानपूर्वक व्यवहार' एतत्-सूत्रोक्त 'ज्ञान' का तात्पर्य है। इस सूत्र के ज्ञान' के उदाहरण-भूत 'शास्त्र वदते' वाक्य की व्याख्या में कहा गया है—शास्त्रे वदते इति। विषयसप्तमी, व्यवहरतीत्यर्थः। व्यवहारश्च ज्ञानं विना न सम्भवतीति ज्ञानमार्थिकम्, ज्ञात्वा व्यवहरतीति फलितम् (बालमनोरमा)। इसमें व्यवहार और ज्ञान का परस्पर सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। ज्ञानपूर्वक कर्म करने से कर्म सफल होता है—ज्ञानवानेव कर्माणि कुर्वन् सर्वत्र सिध्यति (शान्ति० २३८।१)।

सम्+ज्ञा का प्रयोग २।३।१२ सूत्र में है यहाँ 'सम्यग् ज्ञान' में ही तात्पर्य है—सजानीते सम्यग् जानीते इत्यर्थः (तत्त्वबोधिनी)।

उपज्ञोपक्रमं (२।४।२) सूत्र में उपज्ञा शब्द है। इस सूत्र के 'पाणिन्युपज्ञं व्याकरणम्' रूप उदाहरण की व्याख्या से उपज्ञा का स्वरूप समझ में आ जाता है। पाणिनि की जो निजी सूझ है, (उनकी निजी चिन्ता का जो फल है, जिस अंश में पूर्वाचार्यों से उनकी भिन्नता है) वह उपज्ञा है। पाणिनि का व्याकरण अकालक (कालपरिभाषाशून्य) है,[1] पूर्वव्याकरणों में कालसम्बन्धी

[1]—पाणिन्युपज्ञमकालकं व्याकरणम्। उपज्ञायते इत्युपज्ञा प्रथमज्ञानम्। कालपरिभाषाशून्यं व्याकरणं पाणिनिना प्रथमं ज्ञातमित्यर्थः (धातुवृत्ति, ज्ञा अवबोधने धातु पर)। काशिकाकार भी यही कहते हैं—पाणिन्युपज्ञमकालकं व्याकरणम्। पाणिनेरुपज्ञानेन प्रथमतः प्रणीतमकालकं व्याकरणम् (२।४।२१; काशिका के किसी किसी संस्करण में यह वाक्य अशुद्धरूप में मुद्रित हुआ है)।

परिभाषाएं थीं पर उन परिभाषाओं की लोकगम्यता (अष्टा० १।२।५७) को देखकर पाणिनि ने उनका त्याग किया—यह उनकी उपज्ञा का फल है। ५।४।२१ काशिका में उपज्ञान पद उपज्ञा के लिये प्रयुक्त हुआ है।

पाणिनि का सूत्र है उपज्ञाते (४।३।११५) जिसमें उपज्ञान रूप एक ज्ञान विशेष का परिचय मिलता है। इसका अर्थ है—विनोपदेशेन ज्ञातमुपज्ञातम् (काशिका) अर्थात् उपज्ञान वह ज्ञान है जो उपदेश के बिना उत्पन्न होता है। काशिका में ४।३।११५ का उदाहरण है—पाणिनिना उपज्ञातं पाणिनीयम् अर्थात् पाणिनि का शास्त्र उपदेश के बिना रचित हुआ है। पर 'प्रोक्त' अष्टाध्यायी के विषय में ऐसा कहना उचित नहीं है विशेष कर जब कि पाणिनि ने पूर्वाचार्यों का अनुसरण किया है जैसा कि व्याख्याकारगण दिखाते हैं। संभवतः अष्टाध्यायी की रचना में पाणिनि की स्वोपज्ञ कुछ बातें हैं जिनको लक्ष्य कर ऐसा कहा गया है। इस दृष्टि से उपज्ञा और उपज्ञान एक ही है।

४।३।११६ पर काशिकाकार कहते हैं—विद्यमानमेव ज्ञातमुपज्ञातम्। इससे उपज्ञान का स्वरूप बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है पर यह 'उपज्ञान' और पूर्वोक्त 'अनोपदेशिक ज्ञान' सर्वथा समान नहीं हो सकता। कुछ विद्वान् उपज्ञात = प्रथमज्ञात कहते हैं (बालमनोरमा ४। ३। ११५) पर तब २।४।२१ सूत्रोक्त 'उपज्ञा' और यह 'उपज्ञान' एक ही वस्तु हो जाते हैं जिससे उपज्ञान का विवक्षित अर्थ विचारणीय हो जाता है[1]। अनोपदेशिक ज्ञान को विद्यमान वस्तु का ज्ञान कहा जा सकता है इस दृष्टि से कि किसी के हृदय में जो 'अनोपदेशिक ज्ञान' उत्पन्न होता है वह स्वमहिमा में विद्यमान ही है उसका विषय भी स्वप्रतिष्ठ है ऐसा योगशास्त्र के आचार्य कहते हैं[2] पर अष्टाध्यायी में यह तथ्य प्रयोमाहृ है या नहीं यह विचार्य है।

ज्ञा धातु का एक विचित्र प्रयोग ज्ञोऽविदर्थस्य (२।३।५१) में दृष्ट होता है। इसका उदाहरण है—सर्पिषो जानीते। इसकी विभिन्न व्याख्याओं से

१—४।३।११५ सूत्र में जहाँ वासुदेव दीक्षित 'उपज्ञातं प्रथमं ज्ञातम्' कहते हैं, वहाँ अमरेन्द्र 'विनोपदेशेन ज्ञातम्' यही मानते हैं। अमर में उपज्ञा ज्ञान माद्यम् कहा गया है (२।७।१३)।

२—अनोपदेशिक ज्ञान का उल्लेख योगविद्या में है पातञ्जलयोगसूत्र ३।५४ में अनोपदेशिक ज्ञान का प्रसंग है पर यही ज्ञान इस सूत्र में लक्षित हुआ है या नहीं यह विचारणीय है।

'अविदर्थ ज्ञा' धातु (ऐसा ज्ञा धातु जिसका अर्थ वेदन नहीं है) का अर्थ जाना जाता है, यथा—अनेकार्थत्वाद् धातूना प्रवृत्तिरिह ज्ञोऽर्थः अथवा भ्रान्त्या सर्वमुदकादिक सर्पीरूपेण प्रतिपद्यते इति मिथ्याज्ञान वा ज्ञोऽर्थः (प्रसाद टीका), ज्ञानपूर्विकाया प्रवृत्तौ जानातेर्लक्षणा (तत्त्वबोधिनी), सर्पि.सम्बन्धिनी प्रवृत्तिरित्यर्थ, जानाते' प्रवृत्तौ लक्षणेत्याहु (बृहच् शब्देन्दु पृ ९२२)[1] ।

पूर्वोक्त वचनो म मिथ्याज्ञान और ज्ञानपूर्विका प्रवृत्ति (ज्ञा धातु का लाक्षणिक प्रयोग) रूप दो अर्थ ज्ञात होते है। मिथ्याज्ञान का स्वरूप स्पष्ट ही है—अतद्रूपप्रतिष्ठ ज्ञान (एक मे अन्य का ज्ञान) को मिथ्याज्ञान कहते है।

सज्ञा शब्द 'सम्यग् ज्ञान' के अर्थ मे 'तदशिष्य सज्ञाप्रमाणत्वात्' (१।२।५३) सूत्र मे प्रयुक्त हुआ है, जैसा कि भाष्यकार के वचन से ज्ञात होता है (सज्ञान सज्ञा)। यह सज्ञाशब्द भाव मे अङ्प्रत्यय से निष्पन्न हुआ है, अत इसका अर्थ अवगम, सप्रत्यय है (द्र० प्रदीप-उद्द्योत)।

अज्ञाते (५।३।७३) सूत्र मे अज्ञान नामक एक ज्ञानभेद का उल्लेख है। 'अज्ञात' अश्वः = अश्वक ' य- अत्रत्य उदाहरण है। यहाँ अज्ञातत्व क्या है, इस पर काशिकाकार कहते हैं—स्वेन रूपेण ज्ञाते पदार्थे विशेषरूपेण अज्ञाते प्रत्यय-विधानमेतत्। कस्यायमश्व इति स्वस्वामिसम्बन्धेन अज्ञातेऽश्वे प्रत्यय। जब कोई पदार्थ पदार्थसामान्य रूप से ज्ञात होता है, पर विशेष रूप से अज्ञात रहता है, तब वह 'एक प्रकार का अज्ञान' का उदाहरण होता है। विशेष रूपेण न जानना रूप अज्ञान अनेक प्रकार का हो सकता है, जैसा कि काशिका-कार कहते हैं—एवमन्यत्रापि यथायोगम् अज्ञातता विज्ञेया।

प्रज्ञ शब्द ५।४।३८ सूत्र मे है (प्रज्ञ एव प्राज्ञ —स्वार्थ मे अण)। प्रज्ञ' = प्रजानाति। प्रज्ञा शब्द प्रज्ञाश्रद्धार्चाभ्यो ण (५।२।१०१) मे है। व्याकरणग्रन्थ मे प्रज्ञा का स्वरूप विवृत नही हुआ है,[2] प्रज्ञा का स्वरूप 'व्यवहार की सफलता

१—ज्ञान-प्रवृत्ति-कर्मादि के विषय मे यह भारतवचन सारवान् है—ज्ञानपूर्वा भवेल् लिप्सा लिप्सापूर्वाऽभिसधिता। अभिसन्धिपूर्वक कर्म कर्ममूल तत फलम् (शान्ति० २०६।६)।

२—पूर्वाचार्यों ने प्रज्ञा और ज्ञान का पृथक्करण किया है। जीवरथ के वर्णन मे 'प्रज्ञानाभि' 'ज्ञानसारथि' रूप दो पृथक् शब्दरूपकालङ्कार मे प्रयुक्त हुए हैं (२३६।११)। इसी प्रकार अन्य एक रूपकालङ्कार मे 'प्रज्ञा ज्ञाना-श्रय तृप्तितोयम्' कहा गया है (अश्व २७।१५)।

की संपादक बुद्धि या 'हिताहितज्ञानकारिणी बुद्धि' है[1] कभी-कभी प्रज्ञा या प्रज्ञान आत्मज्ञान का वाचक भी होता है पर अष्टाध्यायीगत 'प्रज्ञा' शब्द प्रथमोक्त अर्थ का वाचक ही प्रतीत होता है।

विद्धातु—इस धातु से निष्पन्न 'वेदना' शब्द सुखादिभ्यः कर्तृवेदनायाम् (३।१।१८) में प्रयुक्त हुआ है। यहाँ वेदना का अर्थ है—अनुभव या अन्तर्बोध जिसे हम ऐन्द्रिक ज्ञान भी कह सकते हैं (वेदयते अनुभवति—अमरल० ८।४४५)। वेदना का प्रकृतिभूत विद्धातु चुरादि गणीय है जिसका अर्थ चेतना है (विद चेतनाख्याननिवासेषु १।१२४ क्षीर)। चेतना = अन्तःकरण की सुखान्वियुक्त वृत्ति है जैसा कि शान्तिपर्व में कहा गया है—तत्र विज्ञाय संयुक्ता त्रिविधा चेतना ध्रुवा। सुखदु:खेति यामाहुरदुःखामसुखेति च (२१९।११) यहाँ वेदना और चेतना समार्थक हैं।[2]

विद से निष्पन्न विन्दुशब्द ३।२।१६९ में है—जिसका अर्थ है—वेदनशील। यह विद् अदादिगणीय ज्ञानार्थक है। तच्छील-तद्धर्मादि अर्थ में इसी विद धातु से विदुर शब्द बनता है (३।२।१६२)। यह विद्धातु भी अदादिगणीय है (द्र काशिका)।

३।१।९९ सूत्र में संज्ञा अर्थ में विद्+क्यप् प्रत्यय में विद्यापद की सिद्धि की गई है। यह विद्याशब्द करण में निष्पन्न है (विदन्ति अनया इति विद्या) इस अर्थ में विद्या = शास्त्र है।

कुछ व्याख्याकार (यथा स्वामी दयानन्द) विद्याशब्द को भाव में व्युत्पन्न समझते हैं। इनके अनुसार ३।३।९८ सूत्रीय भाव शब्द का अनुवृत्ति इस सूत्र में आती है जिससे विद्या का अर्थ होगा—वेदन (द्र दयानन्दकृत अष्टाध्यायी वृत्ति—भाव इत्यनुवर्तते)। द्र विद्या = विज्ञान दुर्ग १।२ क०]।

१—प्रज्ञाप्रसादमारुह्य मन्दबुद्धीनवेक्षते (शान्ति १७।२), प्रज्ञया मानसं दुःखं हन्यात् (शान्ति ५।१) इत्यादि वाक्यों से ऐसा ही जाना जाता है।

२—त्रिविधा वेदना चैव सर्वसत्त्वेषु दृश्यते २९। सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति भारत। सुखस्पर्शः सत्त्वगुणो दुःखस्पर्शो रजोगुणः। तमोगुणेन संयुक्तो भवतोऽव्यावहारिकौ ॥ शान्ति १९४।१ ॥ सात्त्विको राजसश्चापि तामसश्चापि ते त्रयः। [त्रिधा वेदना चैव प्रसूता सर्वसाधना (शान्ति २१९।२५)।

विद्यायोनिसबन्ध ४।३।१७७ मे है। विद्यासबन्ध का अर्थ है—विद्याकृत-सबन्ध, जैसे आचार्य, उपाध्याय आदि। ज्ञानाधिगम के क्षेत्र मे इस विद्यासबन्ध की महती आवश्यकता है।

इस प्रसग मे 'तदधीते तद्वेद' (४।२।५९) सूत्रीय विद्धातु के अर्थ पर विचार करना चाहिए। यहाँ अध्ययन से वेदन को पृथक् माना गया है। अध्ययन= गुरुमुख से अक्षरानुपूर्वी का ग्रहण एव वेदन=अर्थज्ञान, ऐसा वासुदेवदीक्षित कहते हैं (बालमनो०)। यह अर्थ नागेशादि को अनुमत है—शब्दपाठोऽध्ययन तदर्थज्ञान वेदनम् (शब्देन्दु०)। चिरकाल से ही ज्ञानाधिगम की ये दो पद्धतिया प्रसिद्ध रही हैं।

बुध्धातु—बुध्धातु निष्पन्न बुद्धिशब्द १।४।५२, ३।२।१८८ मे है। सूत्र १।४।५२ मे बुद्धि का अर्थ ज्ञानसामान्य है (सूत्रे ज्ञान सामान्यार्थानामेव ग्रहणम्—सि० कौ०)।

इस बुध् धातु से निष्पादित सबोधन शब्द २।३।४७ सूत्र मे प्रयुक्त हुआ है, जिसका अर्थ है—'अभिमुखीकृत्य ज्ञापनम्'। व्याख्याकारगण ठीक ही कहते हैं कि 'सम्यग् बोधनमेव सबोधनम् समित्युपसर्गलात्'।

मन्धातु—इस धातु से निष्पन्न मति शब्द ४।४।६० सूत्र मे प्रयुक्त हुआ है। यहाँ मति का अर्थ है—निश्चित धारणा, स्थिर विश्वास। 'अस्तीति मतिर्यस्य स आस्तिक', इस वाक्य मे मति का अर्थ ज्ञान-सामान्य नही हो सकता, बल्कि उपर्युक्त अर्थ ही सगत होगा। मति का अर्थ मनन करने पर वह और अधिक सगत होता है। आत्ममान शब्द ३।२।८३ मे है, जिसका अर्थ है—आत्मनो मननम् (काशिका)।

समति शब्द ८।१।८ मे प्रयुक्त है। समति का अर्थ यहा 'पूजा' है। पूजा का तात्पर्य है--प्रशसायुक्त मनोभाव रखना, जैसा कि उदाहरणो से जाना जाता है। गणरत्न० में 'सगता मतिर्यस्यासौ समति' कहा गया हो (७।३।९३)।

समानन शब्द १।३।३६ मे है। यहा भी समानन का अर्थ 'पूजन' है, पर इस पूजा का सबन्ध ज्ञान से है, जैसा कि 'नयते चार्वी लोकायते' इस उदाहरण की व्याख्या से जाना जाता है—'चार्वी तत्सबन्धादाचार्योऽपि चार्वी स लोकायते शास्त्रे पदार्थान् नयते, उपपत्तिभि स्थिरीकृत्य शिष्येभ्य' प्रापयति, ते युक्तिभि सस्थाप्यमाना सम्मानिताः पूजिता भवन्ति' (काशिका)।

४।४।९७ सूत्रद्वारा मतकरण अर्थ में मत्यशब्द निष्पन्न होता है। टीकाकारो के अनुसार मत्य का अर्थ ज्ञानजननसाधन तथा ज्ञानजननक्रिया—ये दो हैं।

१।३।१७ सूत्र में विमति शब्द है। काशिकाकार कहते हैं—विमतिर्नाना मतिः, शोभे विवदन्ते गेहे विवदन्ते विमतिपतिता विचित्रं भावन्ते इत्यर्थः। यह विमति संशय मात्र नहीं है। वर्धमान भी कहते हैं—विविधा मतिर्यस्यासौ विमति (गणरत्न ७।३६१)।

दृशधातु—इस धातु से निष्पन्न 'अदर्शन' शब्द 'अदर्शन लोप' सूत्र में प्रयुक्त हुआ है (१।१।६)। यहाँ यत् शब्द का प्रकरण है अतः अदर्शन का अर्थ है—अनुपलब्धि अर्थात् दर्शन = उपलब्धि है। चूँकि दृश्धातु इन्द्रियव्यापार का अभिधायक होता है (यथा सांख्य में दृष्ट प्रमाण = प्रत्यक्षप्रमाण—दृष्टमनुमान-माप्तवचनम्—सांख्यकारिका) इसलिये यह अर्थ संगत ही है। उच्चारण अर्थ में दर्शन का प्रयोग पूर्वमीमांसा १।१।१८ में है। अप्रमाण के अर्थ में अदर्शन का प्रयोग १।२।५५ में है (द्र काशिका)—योगप्रमाणे च तदभावेऽदर्शनं स्यात्, यहाँ अदर्शन = अप्रयोग ही है।

४।२।६ सूत्र (यथामुक्तसंयुक्तस्य दर्शन का) में दर्शन (पु) = आदर्श आदि है। अत ज्ञानविचार के साथ इस दर्शन का कोई सम्बन्ध नहीं है।

साक्षाद् द्रष्टरि संज्ञायाम् (५।२।९१) सूत्र से 'साक्षाद् दर्शन' रूप ज्ञान का परिचय प्राप्त होता है। कर्म में अपने को व्याप्रियमाण न कर कर्म को देखना ही यह दर्शन है जैसा कि बालमनोरमा में कहा गया है—'य कर्मणि स्वयं न व्याप्रियते किन्तु कर्म क्रियमाणं पश्यति सोऽयं साक्षीत्युच्यते। लौकिक साक्षी का ही पारमार्थिक रूप अध्यात्मशास्त्र में है जहाँ निर्विकार चित् को लक्ष्यकर 'साक्षी' पद प्रयुक्त हुआ है।

दर्शनवाचक पश्य[1] शब्द (दृश् से पश्य शब्द निष्पन्न है—भाव में) ८।१।२५ सूत्र में है। सूत्र में आलोचन (चक्षुर्विज्ञान) शब्द है अत पश्य का अर्थ ज्ञानसामान्य है (दर्शनं पश्य तच्चेह ज्ञानमात्रम् अदर्शन लोप इत्यत्र यथा, न तु चाक्षुषज्ञानमेव अनालोचने इति निर्देशात्—तत्त्वबोधिनी ८।१।२५)। दृश्धातु कभी-कभी ज्ञानविषयस्वापतिभासवृत्ति होने के कारण अज्ञानार्थक होता है जैसा कि ३।२।६ की टीका मे कहा गया है—इमिमर्थं पश्यन्ति जना, स इमार्थं पश्यति। ज्ञानविषयो भवतीत्यर्थात् अज्ञानार्थाविति तु संगच्छते।

१—दर्शन और अदर्शन के अर्थ से क्रमश पश्य और अपश्य का प्रयोग कपिलासूरि संवादगत इस श्लोक में मिलता है—पश्य पश्यति पश्यन्तमपश्यन्तं च पश्यति। अपश्यस्त्वापश्यत्वात् पश्यापश्यौ न पश्यति।

तत्र दृशेर्ज्ञानविषयत्वापत्तिमात्रवृत्तित्वेऽपि विषयीकरणावृत्तित्वात् (तत्त्वबो०)। वासुदेव दीक्षित कहते हैं—दृशेरत्र विषयात्वापत्तिमात्र-वृत्तित्वादज्ञानार्थता इति त्यदादिषु दृशे —इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम्।

दिश् धातु—इस धातु से निष्पन्न उपदेश शब्द १।३।२, ७।२।६२, ८।४।१४ आदि सूत्रो मे प्रयुक्त हुआ है। अन्यो से जो सुना जाता है, वह उपदेश है, इस उपदेश से श्रोता मे शाब्दबोध उत्पन्न होता है, अत उपदेश एक ज्ञानकरण (=आगम नामक प्रमाण) ही है। आगम प्रमाण के विवरण में उप+दिश धातु का प्रयोग १।७ व्यासभाष्य मे है।

व्याकरण मे उपदेश=शास्त्रवाक्य और खिल पाठ है (काशिकादि द्र०)। जो परार्थ प्रय ग होता है, वह उपदेश है—उपदेश परार्थ प्रयोग, स्वयमेव तु यदा बुद्ध्या परामृशति तदा नास्त्युपदेश (काशिका १।४।७०)। मूल आम्नाय उपदेश के माध्यम म ही लोक म प्रवर्तित हुआ था, यह पूर्वाचार्यों ने कहा है—साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवु तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सप्रादु (निरुक्त १।२० ख०)। १।३।२ भाष्य मे प्रत्यक्ष आख्यान को उपदेश कहा गया है, अर्थात् इन्द्रियगोचर अर्थ का जो आख्यान है वह उपदेग है (प्रदीप)। कभी-कभी गुण से विवरण करना भी उपदेशपदवाच्य होता है जैसा कि यही दिखाया गया है।

दिष्ट शब्द (दिश् + क्त) ४।४।१०० सूत्र मे है। काशिका के अनुसार दिष्ट अर्थ है—प्रमाणानुगा मति (=प्रमाण के अनुसार चलने वाली मति)। अन्य व्याख्याकार दिष्ट=दैव कहते हैं। काशिकोक्त अर्थ मे कई प्राचीन प्रयोग ज्ञात नही है[1]। भीष्मपर्व मे दो स्थलो पर दिष्ट शब्द है, जहाँ उसका अर्थ दैव ही है (देवबोध टीका ४९।२, ९२।१९)।

लुच धातु—इस धातु मे निष्पन्न अनालोचन शब्द (नञ् + आलोचन) ३।२।६० और ८।१।२ मे है। टीकाकारो ने आलोचन को चाक्षुपज्ञान कहा है,

---

१—यच्च प्रमाणानुगता मतिर्दिष्टा, सास्येति विग्रहेऽप्यय प्रयोग', प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टग्रहणादिति, तन्न, दैव दिष्टमिति कोशविरोधेन त्वदुक्तार्थककोशानुपलम्भेन च, तत्सत्वे मानाभावात्। यत्तु अर्शआद्यचि दिष्टशब्द साधु, सूत्रे टावन्तेन समाहारद्वन्द्व इति, तन्न, तावताऽपि प्रमाणानुगतेत्यर्थालाभात्, दिष्टमित्यस्य मति र्दैष्टिक इति भाष्यविरोधाच्च (बृहच् शब्देन्दु पृ० १३८३–१३८४)।

आलोचनं चक्षुर्विज्ञानम् (काशिका ८।१।२८), आलोचनमिह चक्षुर्ज्ञानमात्र-मभिप्रेतम् (न्यास ३।२।६ मुद्रितपाठ मनालोचनम् है जो अशुद्ध है)। आलोचन = चक्षुर्विज्ञान—इस विषय में धातुवृत्ति का यह सन्दर्भ अवलोकनीय है—मेह निशामनं ज्ञानमात्र किन्तु चक्षुःसाधनं ज्ञानम् । अम सम आलोचने इत्यस्य हीदं रूपम् आलोचनं च चक्षुर्विज्ञाने प्रसिद्धम्, निशामनं चक्षुर्विज्ञानमिति स्थितम (भ्वादि १३५ सू०)। चक्षुर्विज्ञानवाची आलोचन शब्द आधुनिक नहीं है शान्तिपर्व में चक्षुरालोचनायैव वाक्य है (१८४।११)।

चरच तु—पाणिनि का सूत्र है—विचार्यमाणानाम् (८।२।९७)। इससे विचार नामक एक ज्ञानभेद का पता लगता है। विचार का स्वरूप नागेशभट्ट ने इस प्रकार दिखाया है— कोटिद्वयस्पृग् विज्ञानम् ।' इस विचायमाण शब्द पर यह कारिका प्रसिद्ध है—

> कोटिद्वयस्पृग् विज्ञानं विचार इति कथ्यते ।
> विचार्यमाणस्तज्ज्ञानविषयीभूत उच्यते ॥

मुधातु—१।३।१५४ सूत्र में सम्भावन शब्द प्रयुक्त हुआ है जिसका अर्थ है—योग्यताध्यवसाय । कोई कोई 'अस्तित्वाध्यवसाय' अर्थ का प्रयोग करते हैं।

ख्याधातु—आख्याता शब्द १।४।२९ में है (आख्यातोपयोगे)। जिससे ज्ञान प्राप्त हो जो आख्यान करे वह आख्याता है। यह सूत्र ज्ञानाधिगम-सम्बन्धी एक तथ्य को दिखाता है।

इस सूत्र के भाष्य में पतञ्जलि ने कहा है —'ज्योतिर्वज् ज्ञानानि भवन्ति । ज्योति जिस प्रकार निर्गत होकर अन्धकार को दूर कर ज्ञेय बाह्य वस्तु को प्रकाशित करती है, ज्ञान भी उसी प्रकार विषय को प्रकाशित करता है—इस सादृश्य से ही यह वाक्य कहा गया है।

ख्या' धातु जात अनुपाख्यशब्द (प्रश्न ४।१।८) विचार्य है। उपाख्यायते प्रतीयते इस अर्थ में उपाख्य = प्रत्यक्ष है। अतः 'अनुपाख्य' का अर्थ होगा—अनुमेय (उपाख्यं प्रत्यक्षं तद्भिन्नेऽनुमेये—अन्वेषु)। अनुमानप्रमाण गम्य को अनुमेय कहा जाता है। यह यद्यपि 'ज्ञान' नहीं है पर अनुमितिरूप ज्ञान से सम्बद्ध है।

दर्शनग्रन्थों में भी विशिष्ट अर्थों में अनुपाख्य शब्द व्यवहृत हुआ है (द्र० कुसुमाञ्जलि १।५)।

सिध् धातु--सिध्यतेरपारलौकिके (६।१।४९) सूत्र की व्याख्या मे कैयट कहते हैं—सिध्यति तापसः आविर्भूतज्ञानलक्षणप्रकाशो भवतीत्यर्थः। तप ज्ञान का उत्पादन किस रूप से करता है—इस पर नागेश कहते हैं—तपो हि चान्द्रायणादिकमनुष्ठीयमानम् अनुष्ठातुर्विवेकविषयज्ञानातिशयमुत्पादयतीत्यर्थः (उद्द्योत)।[1]

शिक्ष धातु—शिक्षेर्जिज्ञासायामाम् (१।३।२१ वा०) का उदाहरण है—विद्यासु शिक्षते, धनुषि शिक्षते। यहाँ यह प्रश्न है कि सन्नन्त शक् धातु का रूप 'शिक्ष' है या 'शिक्ष विद्योपादाने' का रूप है। यदि प्रथम पक्ष माना जाए तो शकधातु जिज्ञासाविषयक होगा—इह तु जिज्ञासाविषयः शकिर्गृह्यते, विद्या जिज्ञासितु घटते इत्यर्थ (प्रदीप)। यही पक्ष सगततर जँचता है।

युज् धातु—युज् धातु घटित उपयोग शब्द १।४।२९ मे है, जिसका अर्थ है—नियमपूर्वक विद्याग्रहण (उपयोगशब्दस्यैवायमर्थो नियमपूर्वक विद्याग्रहणम्–प्रदीप)। यह ज्ञानाधिगमसम्बन्धी एक विशिष्ट शब्द है। धातु-पाठगत युज् समाधौ (दिवादि) धातु भी ज्ञान का पराकाष्ठा-रूप समाधि (चित्तवृत्तिनिरोध = समाधि = योग--यह धातुवृत्तिकार कहते है) का वाचक है—यह इस प्रसङ्ग मे स्मार्य है।

ज्ञान के सम्बन्ध मे कुछ तथ्य आचार्यकरण (१।३।३६), 'सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्था' आदि वाक्यो से भी ज्ञात होते हैं, सक्षेपार्थ जिनका सग्रह यहाँ नही किया गया है। प्रत्यक्ष, परोक्ष आदि शब्द भी इस प्रसङ्ग मे विचार्य हैं, पर पूर्वोक्त कारण से इनका सङ्कलन भी नही किया गया है।

१—यह सिद्धान्त योगशास्त्रानुमोदित है। योगाङ्ग (तप नियमरूप योगाङ्ग है) के अनुष्ठान से अशुद्धि के क्षय होने पर ज्ञान की दीप्ति होती है—यह पतञ्जलि कहते हैं (२।२८)। तप के अनुष्ठान से अशुद्धिरूप आवरणमल नष्ट होता है (व्यासभाष्य २।४३) यह मत भी इस सिद्धान्त का ज्ञापक है। अशुद्धि का नाश तप के विना नही होता (व्यासभाष्य २।१), अत. नागेश का वाक्य उचित ही है।

षड्विंश परिच्छेद

अष्टाध्यायी-वर्णित कर्तृत्व-भेद

यद्यपि शब्दों के अन्वाख्यान के लिये ही पाणिनि की अष्टाध्यायी प्रणीत हुई है तथापि प्रसंगतः लौकिक विषय और व्यवहारसम्बन्धी विवरण भी इस स्वल्पकाय ग्रन्थ में मिल जाता है। इस निबन्ध में कर्तृत्व से संबद्ध अष्टाध्यायी प्रोक्त विवरण का एक संग्रह प्रस्तुत किया जा रहा है।

सब लौकिक व्यवहारों में कर्ता ही प्रधान होता है। पाणिनि के पारिभाषिक कर्ता में भी यह लक्षण चरितार्थ होता है क्योंकि 'स्वतन्त्रः कर्ता' (१।४।५४) सूत्र की व्याख्या में काशिकाकारादि ने एक स्वर से कहा है कि 'स्वतन्त्र इति प्रधानभूत उच्यते' (काशिका) 'यत् कारकं प्रधानभूतं विवक्षितम्'। इह सर्वेषु साधनेषु सन्निहितेषु कर्ता प्रवर्तयिता भवति' भाष्योक्त इस वचन से कर्ता का सर्वकारक-नायकत्व ज्ञात होता है।

कर्तृत्व के भेद—कर्ता के लक्षण से यह भी ज्ञात होता है कि उसमें अनेक स्वगत भेद हैं, अर्थात् अनेक प्रकार का कर्तृत्व[1] हो सकता है। इसका कारण यह है कि क्रिया की सिद्धि में जो स्वतन्त्र है, वह कर्ता कहलाता है। 'अतः' क्रिया की प्रवृत्ति से और साधनसंबद्ध अन्तरङ्ग बहिरङ्गदृष्टि से क्रिया की सिद्धि और स्वातन्त्र्य के स्वरूप में विभिन्नता आ जाती है। देखा जाता है कि काष्ठच्छेदन रूप क्रिया का स्वरूप कर्ता के उद्देश्य की भिन्नता से विभिन्न प्रकार का होता है यथा—इन्धन के लिये और नौकानिर्माण के लिये काष्ठछेदन की क्रिया में भेद होता है। इस प्रकार क्रियानिष्पादन में भिन्नता होने से उससे लक्षित कर्तृत्व में भी भेद सिद्ध होता है। साधन आदि की भिन्नता से भी भेद उत्पन्न होता है। पाणिनि ने कर्तृत्व के जिन भेदों का संग्रह किया है उनमें से कतिपय विशिष्ट स्वरूपों का उपन्यास किया जा रहा है—

शिल्पी कर्ता—शिल्पिनि ष्वुन् (३।१।१४५) सूत्र में एक कर्तृ-विशेष का उल्लेख है जिसको 'शिल्पी कर्ता' कहा जा सकता है। कर्तृत्वसामान्य से इसका

१—कर्तृत्व का सामान्य लक्षण यह है—'धातूपात्तक्रिये नित्यं कारके कर्तृतेष्यते' (वाक्यपदीय) द्र. इसी ग्रन्थ का अष्टम परिच्छेद।

भेद उदाहरण और लक्षण से स्पष्ट हो जाता है। शिल्प = 'अभ्यासपूर्वक क्रियासु कौशल शिल्पम्' (प्रदीप ४।१।५५)। एकही क्रिया को बहुश. करने से क्रियासिद्धि मे पटुता उत्पन्न हो जाती है, उस विशेष गुण से अन्वित कर्ता साधारणकर्ता से भिन्न ही होता है। साधारण व्यक्ति की वस्त्रवयन क्रिया और तन्तुवाय की वस्त्रवयनक्रिया की प्रकृति मे स्पष्ट भेद है, और उससे क्रियासिद्धि मे भी भेद होगा, अत शिल्पी रूपकर्ता और सामान्यकर्ता मे भेद सिद्ध हुआ। वर्तमानकाल मे भी Skilled और Unskilled Labour नाम से यह भेद प्रख्यात है।

शीली कर्त्ता—ताच्छील्यवयोवचन (३।२।१२९), सूत्र मे एक विशिष्ट कर्ता का उल्लेख है, जिसे हम 'शीलीकर्ता' कह सकते हैं। शील = स्वभाव = 'फलमनपेक्ष्य प्रवर्तनम्'। जो कर्त्ता स्वभावतः (फल की अपेक्षा न कर) प्रवृत्त होता है ऐसा कर्ता इस सूत्र मे लक्षित हुआ है। सामान्य कर्ता फलेच्छु होकर ही प्रवृत्त होता है, परन्तु शीली कर्ता' सदा "फलनिरपेक्ष तत्र प्रवर्तते" (काशिका)। क्रियासम्पादन के उद्देश्य मे भेद होने से सामान्य कर्ता और 'शीली कर्ता' मे भेद भी अवश्य स्वीकार्य होगा। गीता के 'कर्मण्येवाधिकारस्ते ' वाक्य मे लक्षित कर्ता एतादृश कर्ता है।

धर्मी कर्ता—आक्वेस्तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु (३।२।१३४) सूत्र मे जो 'तद्धर्म' पद है, उससे 'धर्मी कर्ता' नामधेय एक विशिष्ट कर्ता का परिचय मिलता है। जब कर्ता क्रिया मे स्वभावत. प्रवर्तमान नही होता, अपितु धार्मिक दृष्टि से प्रवृत्त होता है, तब वह कर्ता इस स्थल का उदाहरण है। उपनयन में मुण्डन करने से लौकिक कोई फल नही होता, न ही वह कर्म पिपासानिवृत्त्यर्थ जलाहरण की तरह स्वाभाविक है, तथापि कर्ता किसी कारणविशेष से उस क्रिया मे प्रवृत्त होता है, अत यह कर्ता सामान्तकर्ता से विलक्षण स्वभावयुक्त होगा। कोई कहते हैं कि जिस जाति के लिये जो शास्त्रानुमोदितविशेषकर्म नियत हो (यथा क्षत्रियो के लिये युद्ध में नरहत्या), उस धर्मक्रियाकारी को 'धर्मी कर्ता कहा जाएगा। साधारण दृष्टि से नरहत्या अधर्म है, परन्तु युद्ध क्रिया मे संलिप्त क्षत्रिय को धार्मिक कहा जाता है, अतः युद्धकालिक नरहत्यारूप क्रियाकारी क्षत्रिय का कर्तृत्व साधारण नरहत्याकारी के कर्तृत्व से पृथक् है, अत यह भी एक विशिष्ट कर्तृत्व का स्थल है, ऐसा मानना होगा। एक ही क्रिया को धर्म्यदृष्टि तथा सामान्यदृष्टि से करने से, उस काल में कर्ता के मनोभाव मे विभिन्नता आ जाती है, इसको सभी अनुभव कर सकते हैं। फल मे भेद होने पर कर्ता के मन मे भी भेद की सत्ता माननी

चाहिए। कथित उदाहरण में भी फल भेद है, यथा—क्षत्रियों का स्वर्गलाभ और अन्यों का नरकलाभ। धार्मिकदृष्टि से क्रिया करने से चित्तशुद्धि रूप फल मिलता है जो सामान्य कर्ता में दृष्ट नहीं होता।

साधुकारी कर्ता—पूर्वोक्त सूत्र से अन्य एक कर्तृविशेष का भी परिचय मिलता है जिसको हम साधुकारी कर्ता कह सकते हैं। साधुकारी = सम्यक् रूप से करने वाला, अतः असम्यक् रूप से करने वाले कर्ता से इसका भेद है जो प्रत्यक्षगम्य है। शङ्का हो सकती है कि 'शिल्पी' और साधुकारी समान ही हैं, परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने से भेद प्रतीत होगा—अर्थात् शिल्पी तो साधुकारी हो सकते हैं परन्तु साधुकारी सदा शिल्पी ही होगा—ऐसा नहीं कहा जा सकता। ३।२।१४९ में समभिहार शब्द है जिसका अर्थ साधुकारित्व है (समभिहार-ग्रहणेनात्र साधुकारित्व लक्ष्यते (काशिका)। अतः समभिहारी कर्ता और साधुकारी कर्ता एक ही हैं।

आनुलोम्यवान् कर्ता—कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु (३।२।२०) सूत्र में 'आनुलोम्यवान् कर्ता' रूप एक कर्तृविशेष का उल्लेख है। आनुलोम्य = अनुलोमता = अनुकूलता आराध्यचित्तानुवर्तनम्' (तत्त्वबोधिनी)। कर्ता की ऐसी भी क्रिया है जो उसका शील या स्वभाव नहीं है, उसका निजी कोई प्रयोजनविशेष भी नहीं है परन्तु वह अपने इष्ट व्यक्ति के लिये ही (उसकी प्रीति के लिये ही) क्रिया में प्रवृत्त होता है। प्रभु की प्रीति के लिये भक्तों की भजन आदि क्रिया इस स्थल का सर्वजनविदित उदाहरण है। शील आदि से इस क्रिया में भेद है क्योंकि आराध्य की प्रीति हो—ऐसी कामना उसके मन में रहती है। आराध्यचित्तानुवर्तन सर्वदा धर्म के अन्तर्गत भी नहीं हो सकता है जैसे दसपति के आज्ञानुसार दस्यु का अपहरणक्रिया में धर्मभाव नहीं होता है। अपने लिए करना और दूसरों के लिये करना—लोक में सभी क्रियाओं का ऐसा भेद विद्यमान है वही यहाँ ज्ञापित हुआ है। क्रियासम्पादन के स्वभाव में भेद होने से कर्ता में भी भेद सिद्ध हुआ।

हेतुकर्ता—इसी सूत्र में हेतुकर्ता नाम के एक कर्तृविशेष का भी उल्लेख है—जैसे 'शोककरी कन्या'। कन्या शोक का उत्पादन नहीं करती जिस प्रकार कुम्भकार घट का उत्पादन करता है, परन्तु कन्या को देखने से जनक के हृदय में शोक उत्पन्न होता है। शोकोत्पादन में कन्या का हेतुरूप कर्तृत्व है। यह एक विशेष प्रकार का कर्तृत्व है यह लोक से विज्ञेय है।

हेतुमति च (३।१।२६) सूत्र से 'हेतुमान् कर्ता' का परिचय मिलता है, जिसका यथार्थ नाम होगा—'प्रयोजक कर्ता'। जब कर्ता की क्रिया अन्य की प्रयोजिका होती है, तब वह इस स्थल का विषय होता है। हेतुकर्त्ता से इसमे भेद है। हेतुकर्त्ता म क्रिया विवक्षित नही होती है, परन्तु प्रयोजक कर्ता का लक्षण ही है—'अन्यव्यापार का अनुकूल व्यापारवान्'। प्रेरणात्मिका क्रिया का कर्ता सामान्य कर्त्ता से भिन्न होता है, और प्रेरणा मे शिल्प, धर्म, शील का होना अनिवार्य नही है, अत प्रेरक कर्त्ता सामान्य कर्ता से एक विशिष्ट कर्ता है।

सशक्ति कर्ता—शक्तौ हस्तिकपाटयो. (३।२।५४) सूत्र मे भी 'शक्तिमान्' रूप एक कर्तृविशेष का उल्लेख मिलता है। क्रियासम्पादन मे जिसका सामर्थ्य प्रचुर (अर्थात् प्रयोजन से अतिरिक्त) है, उसका क्रियासम्पादन और साधारण कर्ता के क्रियासम्पादन मे भेद है। प्रक्रियाकौमुदी की प्रसादटीका के अनुसार यहाँ शक्तिपद से अन्य सहाय-निरपेक्षता का ग्रहण होता है। जो कर्ता अन्य सहाय निरपेक्ष होकर क्रिया की सिद्धि करता है, वह वस्तुत एक विशिष्ट कर्ता है। यद्यपि सभी प्रकार के कर्ता मे ही क्रियासिद्धि के लिये उपयुक्त सामर्थ्य है ही, तथापि जो कर्ता लघुतम प्रयोग से गुरुतरसिद्धि को लाता है, वह एक असामान्य कर्ता है, यही इस सूत्र से ज्ञापित होता है।

उपमान-कर्ता—कर्तर्युपमाने (३।२।७९) सूत्र से जिस कर्तृ विशेष का ज्ञापन होता है उसे 'उपमान कर्ता' कहा जा सकता है। उपमान कर्ता वह कर्ता है, जिसकी क्रिया स्वमेधा से उद्भावित नही है, स्वोपयोगी भी नही है, अपितु दूसरो की क्रिया का सदसद्विचारशून्य अन्धानुकरण मात्र है। वस्तुत यह कर्ता सामान्य कर्ता से सम्पूर्ण पृथक् जातीय है, जैसा इस सूत्र का 'उष्ट्र-क्रोशी' 'ध्वाङ्क्षरावी' (ऊँट और कौवे के समान शब्द करने वाला) आदि उदाहरणो से स्पष्ट होता है।

अकृच्छ्री कर्ता—इङ्धार्यो. शत्रकृच्छ्रिणि (३।२।१३०) सूत्र मे 'अकृच्छ्री कर्ता' नामक एक कर्तृविशेष का परिचय मिलता है, इस कर्ता को क्रिया-निष्पत्ति के लिय कष्ट का अनुभव नही करना पडता, अर्थात् जिसका क्रिया-सम्पादन सुखसाध्य होता है। क्रिया को सुखसाध्य बनाना एक साधारण काम नही है, साधारण कर्ता को तो सर्वजातीय क्रियाओ की सिद्धि आयासपूर्वक ही करनी पडती है, अत जिस कर्ता का क्रियासम्पादन सुखमय हो, वह अवश्य ही एक विशिष्ट कर्ता होगा।

अष्टाध्यायी में इसके अतिरिक्त भी अनेक विशिष्ट प्रकार के कर्ताओं का उल्लेख मिलता है—जैसे सुविमाम् कर्ता आदि। इस संक्षिप्त निबन्ध में विशिष्ट कतिपय उदाहरणों का ही संकलन किया है। उपर्युक्त उदाहरणों के मनोवैज्ञानिक अध्ययन से यह भी पता चलता है कि व्याकरणशास्त्र से केवल शब्दसाधुत्व का ज्ञान नहीं होता प्रत्युत 'लौकिक व्यवहार में किस प्रकार का मनोभाव काम करता है इसका भी स्पष्ट ज्ञान हो जाता है।

सप्तविंश परिच्छेद

अष्टाध्यायी प्रोक्त क्रियाभेद एवं उत्पत्ति

क्रियाभेदो पर विचार करने से पहले यह ज्ञातव्य है कि 'क्रिया' का लक्षण क्या है, उसकी उत्पत्ति कैसे होती है, इत्यादि, इन विषयों पर पाणिनि सर्वथा मौन है। उनका मनोभाव यह है कि यह विषय सर्वथा लोकगम्य है, और लोकव्यवहार से ही इन विषयो का निर्णय करना चाहिए। इसी दृष्टि से यहाँ, भेदो के लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं (दार्शनिक दृष्टि पर ध्यान न देकर)। निबन्ध मे सक्षिप्तता लाने के लिये कुछ ही उदाहरण दिए गए हैं, व्याख्यानग्रन्थो के अनुसार ये उदाहरण सकलित किए गए हैं। अनेक स्थलो पर केवल उदाहरण को देखकर ही लक्षण का परिज्ञान हो सकता है। आवश्यकतानुसार पूर्वाचार्यों के लक्षण भी दिए गए हैं।[1]

क्रिया-समभिहार—क्रियासमभिहारे यङ् (३।१।२१) सूत्र मे 'समभिहार' रूप क्रिया की एक अवस्था वर्णित है। समभिहार के दो अर्थ है—'बार-बार होना' तथा 'अति तीव्रता' (पौन पुन्य भृशार्थो वा क्रियासमभिहार —काशिका)। (भृशार्थ = प्रकर्षातिशय)। शङ्का होगी कि क्रिया निश्चय ही अवयवभूत व्यापारो की समष्टि है और प्रत्येक क्रिया क्षणव्यापिनी है (तत्त्वत), अत क्रिया का स्वरूप सदैव एक रूप ही रहेगा, उसमे प्रकर्ष (= भृशता) कैसे सम्भव हो सकता है? पतञ्जलि ने इस प्रश्न का उत्तर दिया है। यथा—यद्यप्येका सामान्यक्रिया, अवयव क्रियास्तु बह्व्य × × × ता कश्चित् कार्त्स्न्येन करोति, कश्चित् अकार्त्स्न्येन तत्र य कार्त्स्न्येन करोति स उच्यते पापच्यत

१—अनेक स्थलो पर सूत्रकार ने पूर्वाचार्य व्यवहृत शब्द (पूर्वाचार्यदर्शित अर्थ मे) ग्रहण किया है। ऐसे शब्द पूर्व व्याकरण सप्रदायो मे प्रसिद्ध थे, अतः सूत्रकार ने उनका अर्थनिर्देशकरना व्यर्थ समझा। वक्ष्यमाण 'क्रियासातत्य' शब्द इस तथ्य का एक उदाहरण है। न्यासकार कहते हैं—सातत्यशब्द पूर्वाचार्यलक्षणप्रसिद्धमुच्चारयता पूर्वाचार्यलक्षणमपि आश्रितम् (६।१।१४४)। पूर्वाचार्यों के ग्रन्थ आज अप्राप्य हैं, अत ईदृश शब्दो के अर्थज्ञान मे कही विपर्यास हो ही सकता है।

इति। अर्थात् एक क्रिया की अनेक अवान्तर क्रिया होती है, और उन सब अवान्तर क्रियाओं को कोई जब पूर्णतः करेगा (एक का भी परित्याग नहीं करेगा) तब वह क्रिया मुख्य होगी और जब अपूर्ण रूप से किया जाएगा तब मुख्य नहीं होगी। इसी अर्थ को और भी स्पष्ट रूप से विट्ठल ने कहा है—'एक प्रधानक्रियाया अधिश्रयणादिक्रियाया साकल्येन सम्पत्तिः—(प्रसादटीका), अर्थात् पाकक्रिया के अन्तर्गत क्रियाओं को पूर्णतः करने से क्रिया मुख्य होती है। कैयट ने यह भी दिखाया है कि यह समभिहार मुख्य नहीं है क्योंकि क्रिया अमूर्त है और वह युगपत्काल भाविनी भी नहीं है[1]। यही कारण है कि विट्ठलने सूत्रार्थ के प्रसंग में 'फलातिरेको वा' भी कहा है अर्थात् जहाँ फल का आधिक्य हो वहाँ क्रिया को मुख्य समझना चाहिए क्योंकि यदि क्रिया में मुख्यता न हो तो फल का अतिरेक नहीं हो सकता।

क्रिया-पौनःपुन्य—यह समभिहार का दूसरा अर्थ है। इसके प्रसंग में विट्ठल ने कहा है—'प्रधानक्रियायां पचनादिकायां क्रियान्तर व्यवधानेन आवृत्ति पौनःपुन्यम् (प्रसादटीका), अर्थात् व्यवधान के साथ एक ही क्रिया जब बार बार की जाती है तब वह पौनःपुन्य होता है।

क्रियासातत्य—क्रिया की सातत्यता अर्थात् अविच्छेद से होते रहना। 'अपरस्परा क्रियासातत्ये (६।१।१४४) सूत्र में इस शब्द का प्रयोग है। 'अपरस्परा गच्छन्ति' का अर्थ होगा 'अविच्छेदेन गच्छन्ति' अर्थात् गमन क्रिया में कोई विच्छेद नहीं है।

पौनःपुन्य और सातत्य में भेद यह है कि पौनःपुन्य में व्यवधान के बाद आवृत्ति होती है और सातत्य में अविच्छेद रूप से क्रिया का प्रवाह चलता है।

क्रियाव्यतिहार—कर्तरि कर्मव्यतिहारे (१।३।१४) सूत्र में क्रिया के इस भेद का उल्लेख है। यद्यपि सूत्रकार ने कर्मव्यतिहार कहा है तथापि यहाँ कर्म—

१—इह समभिहारो नाम मूर्तस्यानेकस्य एककालस्य भवति धातुवाच्या तु क्रिया एकैव युगपदेकेन धातुना अनेकस्या अभिधानात्। सा च निवृत्तभेदा साध्यैकरूपभावत्वात् धातुना प्रत्याय्यते। अधिश्रयणादीनां च क्रमजन्मत्वात् युगपत्सत्त्वाभावाच्च क्रियासमभिहारो न संभवति मुख्यस्य समभिहारस्येह अभावात् गौण आश्रीयते। बुद्धिगतत्वानेकत्वसाधर्म्यात्क्रियाया पौनःपुन्येना मुख्यमानप्रधानक्रियाविषयो वेदितव्यः (प्रदीप ३।१।२२)।

क्रिया ही है, जैसा कि कैयट ने युक्ति से समझाया है[1]। व्यतिहार = विनिमय (काशिका) अर्थात् एक का योग्य कार्य अन्य से करना, जैसे-'व्यतिलुनीते' क्रिया का अर्थ होगा—'शूद्रयोग्य शस्यादिकर्तन ब्राह्मण करते हैं'। शंका हो सकती है कि क्रिया तो साध्यैकस्वभाववती होती है और क्षणमात्र-व्यापिनी भी, अतः व्यतिहार कैसे हो सकता है ? उत्तर मे वक्तव्य है कि यहाँ क्रियाव्यतिहार से साध्य-साधनभाव का व्यत्यास विवक्षित है, अत वह उपपन्न होता है, जैसा कि कैयटाचार्य ने कहा है—क्रियाणां साध्यैकस्वभावत्वात् कथं व्यतिहार इति चेत् ? योग्यतावशाद् अस्येयं क्रिया साध्या अस्या इयं साधनमिति निर्ज्ञाते साध्यसाधनभावे यो व्यत्यास स क्रिया व्यतिहार' (प्रदीप)।

क्रियाव्यतिहार की अन्य व्याख्या भी है। वह है—'परस्परकरणम्'। उदाहरण के साथ कैयट ने यह समझाया है, यथा—'परस्परकरणमपि क्रियाव्यतिहार, यथा सम्प्रहरन्ते राजान, अत्र एकैव क्रिया सचारिणीव लक्ष्यते' (प्रदीप) अर्थात् परस्पर-करण भी क्रियाव्यतिहार है, जैसे—अनेक राजा परस्पर प्रहार कर रहे हैं। यहाँ प्रहार रूप एक ही क्रिया सचारिणी होकर चलती है। यहाँ एक का कार्य दूसरा करता है, यह बोध नही होता और मालूम पडता है कि एक ही किया हो रही है।

लक्षणरूप क्रियाः—लक्षण-हेत्वो क्रियायाः (३।२।१२६) सूत्र में इस भेद का उल्लेख है। कभी-कभी क्रिया अर्थविशेष की सूचिका होती है। उदाहरण यथा—'शयाना भुञ्जते यवनाः' (यवन सोते हुए भोजन करते हैं)। यहाँ भोजनकालीन शयनक्रिया यह सूचित करती है कि भोक्ता यवन है, अतः यहाँ क्रिया 'परिचायिका' है।

लक्षणात्मिका क्रिया के विषय मे व्याख्याकारो ने यह कहा है कि क्रिया कभी-कभी क्रियान्तर का भी ज्ञापक होती है, और कभी-कभी कारक का भी। जब कहा जाएगा 'तिष्ठन् मूत्रयति' (=खडा होकर लघुशंका कर रहा है) तब स्थितिक्रिया मूत्रक्रिया को परिचायक होती है। बहुसंख्यक लघुशंकाकारियो में कौन देवदत्त है, इस प्रश्न के उत्तर मे 'य तिष्ठन् मूत्रयति' जब कहा जाता है तब स्थाधातुवाच्य क्रिया मूत्रक्रिया का लक्षण होती है (प्रदीप)। यहाँ यह भी जानना चाहिए कि कभी कभी एक कर्ता के साथ दोनो क्रियायो का कथन होने

१—क्रियाया' साध्यत्वात् प्रधान्यात् क्रिययाप्तुमिष्टतमत्वात् कर्मग्रहणात् क्रियाव्यतिहारोऽत्र गृह्यते, क्रियाया धातुवाच्यत्वाद् अन्तरङ्गत्वात् (प्रदीप)।

भाव है वे दो क्रिया एक दूसरे का लक्षण नहीं भी हो सकती हैं और वे कर्त्ता का ही लक्षण बनती हैं—यह व्याख्याग्रन्थों में स्पष्ट दिखाया गया है।

कभी-कभी लक्षण का अर्थ ज्ञापक न होकर तत्त्वाख्यान (=स्वभावाख्यान) ही होता है और पाणिनि को यह लक्षण भी इष्ट है। वस्तुतः क्रिया जिस प्रकार क्रिया की ज्ञापिका होती है, इसी प्रकार स्वभाव निर्देशपरक भी होती है। इस सूत्र में यह अर्थ भी लिया जा सकता है।

हेत्वात्मक क्रिया—३।२।१२६ सूत्रोक्त एक क्रिया अन्य क्रिया का हेतु भी होती है, जैसे—'अर्जयन् वसति' (=अर्जन के लिए रहता है)। इस सूत्र में हेतु का अर्थ फल भी है कारण भी है (हेतु फल च-सि की)। अर्जयन् वसति में अर्जन रूप फल के प्रति वास हेतु है और जब 'हरिं पश्यन् मुच्यते' (=हरि को देखकर मुक्त होता है) कहा जाता है तब हरि-दर्शनक्रिया मुक्ति क्रिया का कारण बनती है।

क्रियाप्रबन्ध—इसका उल्लेख 'नामवत्तनवत् क्रियाप्रबन्ध-सामीप्ययोः' (३।३।१३५) सूत्र में है। क्रियाप्रबन्ध=क्रिया का सातत्य अर्थात् अनुष्ठान का त्याग न करना जैसे—'यावज्जीवं सुखमन्नम् अदात्' इस वाक्य में अन्नदान रूप क्रिया का सातत्यानुष्ठान प्रतिपादित होता है। यहाँ का सातत्य पूर्वोक्त सातत्य से भिन्न है क्योंकि यहाँ के सातत्य का अर्थ है—'उस क्रिया का परित्याग न करना' न कि 'सतत उसको करते रहना' अन्नदानक्रिया अविच्छेद से नहीं चल सकती यह स्पष्ट है।

क्रिया-सामीप्य—३।३।१३५ सूत्र में ही इस भेद का उल्लेख है। सामीप्य=तुल्यजातीय क्रिया से अव्यवधान जैसे—यदि यह कहा जाए 'येयं पौर्णमासी अतिक्रान्ता तस्याम् अग्नीन् आधीत' (यह जो पौर्णमासी अतिक्रान्त हुई, उसमें अग्नियों का आधान उसने किया था) तो यहाँ क्रिया का सामीप्य प्रतीत होता है यद्यपि यहाँ पौर्णमासी के बाद कृष्णपक्ष आने से कुछ अहोरात्र की स्थिति होने के कारण व्यवधान होता है पर यह व्यवधान सजातीय पदार्थ का नहीं है अतः यहाँ क्रिया का सामीप्य है (पौर्णमास्या उपरि कृष्णपक्षे कतिपयाहोरात्रे व्यवधानेऽपि सामीप्यमस्त्येव पौर्णमास्यन्तरेण सजातीयेन व्यवधानाभावात्—बालमनो)।

क्रियातिपत्ति—इसका उल्लेख 'लिङ्‌निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ' (३।३।१३९) सूत्र में है (क्रियातिपत्ति=कुतश्चिद्वैगुण्यात् क्रियाया अनिष्पत्ति—तत्त्वबोध) अर्थात् किसी निमित्त से क्रिया की निष्पत्ति न होना, जैसे—सुवृष्टि-

श्चेत् अभविष्यत् तदा सुभिक्षमभविष्यत्' (=यदि सुवृष्टि होगी, तो सुभिक्ष होगा) इस वाक्य मे वृष्टिसापेक्षता के कारण भिक्षा मिलने की क्रिया की अनिष्पत्ति कही गई है। क्रियातिपत्ति मे साधनातिपत्ति भी सगृहीत है, क्योकि फलत साधनातिपत्ति क्रियातिपत्ति मे ही आ जाती है—जैसा कि भाष्यकार ने स्पष्टतया प्रतिपादित किया है।

क्रियार्था क्रिया--क्रिया का यह भेद 'क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिन' (२।३।१४) सूत्र से विज्ञात होता है। क्रियार्था क्रिया=क्रिया के लिये क्रिया' जैसे 'फलेभ्यो याति' वाक्य मे 'फलाहरण क्रिया' के लिये 'गमनक्रिया' विवक्षित है। शका होगी कि यहाँ तो गमन-क्रिया फल के लिये हैं, अतः वह 'क्रियार्था क्रिया' कैसे हुई ? उत्तर यह है कि पूर्वोक्त वाक्य में गमनक्रिया वस्तुत आहरण क्रिया के लिये ही है, और आहरण का कर्म फल है, अत यह वस्तुतः 'क्रियार्था क्रिया' ही है।

क्रियाभ्यावृत्ति—इसका उल्लेख 'सख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच्' (५।४।१७) सूत्र मे है। इसका अर्थ है—'क्रिया का जन्म'। अत यहाँ 'क्रिया-जन्म की गणना' रूप एक तथ्य प्राप्त होता है। इस सूत्र मे यह शका होती है कि सख्या-शब्दो की ही तो गणना मे वृत्ति होती है, अत सूत्र मे सख्या शब्द का पृथक् उल्लेख क्यों किया गया? दूसरी शका यह है कि अभ्यावृत्ति तो क्रिया की ही होती है, क्योकि क्रिया का विषय साध्यार्थ है। द्रव्य और गुण तो सिद्ध भाव है और जहां द्रव्य और गुण का पुन पुन. जन्म कहा जाता है (जैसे 'पुनः पुनः स्थूलः' इत्यादि वाक्यो म) वहाँ भी अस्तित्व क्रिया की बार-बार उत्पत्ति विवक्षित होती है, अत' 'क्रियाभ्यावृत्ति' कहने की सार्थकता क्या है ?

पहले प्रश्न के उत्तर मे वक्तव्य है कि कही-कही निश्चित सख्या के अभाव मे भी अभ्यावृत्ति होती है, जैसे—'भूरिवारान् भुङ्क्ते' इस वाक्य मे भूरि=बहु और वार='समभिव्याहृत क्रिया पर्याप्तकाल' है, अत. वाक्य का अर्थ होगा—बहुकाल मे व्याप्त भोजन क्रिया, अर्थात् यहाँ भोजनबहुत्व का बोध होता है, क्योकि वार शब्द गणनावाची नही है और भूरि शब्द भी सख्यावाची नही है[1]।

१-बहुवारान् भुङ्क्ते इति भूरिशब्दो बहुशब्दपर्याय'। वारशब्दस्तु समभिव्याहृतक्रियापर्याप्ते काले वर्तते। कालाध्वनोरत्यन्तसयोगे इति द्वितीया। बहुकालेषु कार्त्स्न्येन व्याप्ता भोजनक्रियेत्यर्थ.। भोजनबहुत्व तु अर्थाद् गम्यते। तथा च वार-शब्दोऽय न गणनवाची। भूरिशब्दोऽपि न सख्याशब्देन गृह्यते, बहुगणवतुडति संख्या, इत्यत्र बहुग्रहणेन तत्पर्यायस्य असख्यात्वबोधनात् (बालमनोरमा ५।४।१७)।

इस प्रकार संख्यायोग जहाँ न होगा वहाँ यह सूत्र प्रवृत्त न हो जाए, इसलिये गणन और संख्या शब्द का एकत्र प्रयोग किया गया है।

दूसरे प्रश्न के उत्तर में वक्तव्य यह है कि अभ्यावृत्ति क्रिया की ही होने पर भी इस सूत्र में क्रियाग्रहण व्यर्थ नहीं है क्योंकि उत्तर सूत्रों में क्रिया पद की आवश्यकता है, इसलिये सूत्रकार ने यहाँ 'क्रिया' शब्द का उल्लेख कर दिया है। यह समाधान टीकाकारों ने दिया है पर इसमें संदेह का अवकाश है।

इसके अतिरिक्त अन्य अनेक गौण क्रियापदों का उल्लेख भी अष्टाध्यायी में मिलता है पर संक्षेपार्थ उनका उल्लेख यहाँ नहीं किया गया है।

अब 'उत्पत्ति'[1] के विषय में पाणिनीय सामग्री का संकलन किया जा रहा है। पहले ही यह जानना चाहिए कि शाब्दिकों का दृष्टिकोण तात्त्विक नहीं होता प्रत्युत सर्वथा लौकिक होता है अतः उनके व्याकरण में लौकिक दृष्टि रहती है और इसको मान कर ही हम यहाँ विचार करेंगे। पाणिनि का विचार लौकिक दृष्टि का अनुवाद मात्र है—ऐसा आचार्यों ने कहा है[2] यद्यपि पाणिनि ने उत्पत्ति, कार्य-कारण आदि के लक्षण नहीं दिए हैं, तथापि उनके सूत्रों के उदाहरणों से उनका मत स्पष्ट हो जाता है। उदाहरण से औपयिक स्थलों में सूत्र का विवक्षित अर्थ जानना चाहिए—यह सर्वाचार्यसंमत रीति है।

जन्म के विषय में पाणिनि का प्रसिद्ध सूत्र है—तत्र जातः (४।३।२५)।[3] इस सूत्र से यह भी ध्वनित होता है कि जन्म के लिये कोई आश्रय चाहिए जिसमें कार्यद्रव्य की उत्पत्ति हो। यह आश्रय विभिन्न प्रकार का हो सकता है

१—जन्म (= आविर्भाव = उत्पत्ति) सम्बन्धी दार्शनिक विवेचन के लिये वाक्यपदीय ३।८।२१—२७ विशेषतः द्रष्टव्य है।

२—ननु कोऽयस्य अकारणत्वात् कारणे च कार्यस्य सम्भवात् कथमर्थानुपपत्तिः ? नैष दोषः। लोकप्रसिद्धार्थवाच एवं स्यात्, न हि कार्यविस्तारी लोकः कार्यकारणयोः सम्बन्धविपर्ययेक्षाम् आधाराधेयभावम् च विगणयति किन्तर्हि प्रकृतिविकारभावम् ...लौकिकोऽर्थो विकारे प्रत्ययविधानेन शास्त्रेणानुसृतत्वात् युक्तिपूर्वको भवतीत्यर्थः (प्रदीप ४।३।४२)। लोके हि यदस्मात् जायते तत् ततो निर्गच्छतीत्युच्यते लोकप्रसिद्धयनुसारेण शब्दप्रयोगः प्रवर्ततां तु तथा भवतु अन्यथा वा (पदमञ्जरी १।४।१)।

३—प्रसूत का उद्भव 'जन्म' है—प्रसूतप्रादुर्भावो जनिः (तत्त्वबो १।४।३१)।

कोई देश मे जात होता है, कोई किसी काल मे उत्पन्न होता है (४।३।२६-२७), कोई किसी नक्षत्र मे उत्पन्न होता है (४।३।३४)। मिट्टी मे जैसे घट उत्पन्न होता है, वैसा सम्बन्ध यहाँ नही है' परन्तु देशादि अन्य सम्बन्धो की अपेक्षा से जहाँ उत्पत्ति होती है, वह इस सूत्र से लक्षित है।

जन्मसम्बन्धी दूसरा सूत्र है—'तत्र भव" (४।३।५३)। भव और जात के अर्थ मे कुछ भेद हैं, अन्यथा एक ही अर्थ मे दो सूत्र बनाने की आवश्यकता नही थी। इन दोनो अर्थों के अनुसार शब्द प्रयोग मे भी भेद होता है, जैसे 'प्रावृषि भव' (वर्षाकाल मे उद्भूत) इस अर्थ मे 'प्रावृषेण्य' रूप बनता है, और 'प्रावृषि जात' इस अर्थ मे 'प्रावृषिक.' रूप होता है (भाष्य ४।३।२५), अत जात और भव म भेद है—यह स्पष्ट है। टीकाकारो ने यहाँ भव शब्द को सत्तार्थक माना है[1]। इस भावार्थ मे जितने शब्द निष्पन्न होते हैं, उनके अध्ययन से भव का अर्थ विज्ञात होता है। दिश्य, ग्रैवेय, वाह्य आदि जितने शब्द भावार्थ मे निष्पन्न होते हैं, उनसे यही ध्वनित होता है कि यहाँ प्रकृति-विकृति भाव विवक्षित नही है, जब करणसम्बन्ध, अधिकरणसम्बन्ध या अन्य सम्बन्धो मे किसी एक पदार्थ की सत्ता अन्य पदार्थ का अधीन होती है, तब वहाँ जिस प्रकार की उत्पत्ति होती है, वही 'भव' शब्द का अर्थ है[2]।

भव शब्द से सम्बन्धित सभूत शब्द भी अष्टाध्यायी मे मिलता हैं। सूत्र है—'सभूते' (४।३।४१)। इस सूत्र का प्रचलित उदाहरण है—स्रौघ्न (स्रुघ्ने सभवति), जिसकी व्याख्या मे विट्ठल ने कहा है—यस्तु सुघ्ने सभाव्यते, स्रुघ्न प्रमाणाच्च नातिरिच्यते स एवमुच्यते' (प्रसाद टीका ४।३।४१) अर्थात् जिसकी सभावना (सभव) स्रुघ्न मे है, या जिसका परिमाण स्रुघ्न के परिमाण से अधिक नही है, वह स्रौघ्न कहलाता है क्रिया मे योग्यता होना संभावना का

१—यद्यपि भूधातुरुत्पत्तौ अपि वर्तते तथापीह सत्तार्थ एव गृह्यते, तत्र जात इति पृथग्ग्रहणात् (शब्दकौ० ४।३।५३)।

२—जन्म और अस्तित्व (सत्ता) के परस्पर सम्बन्ध के विषय मे निरुक्त-भाष्यकार दुर्ग का यह वाक्य द्रष्टव्य है—तत्रैव सति जनिशब्दवाच्ये भावविकारे अस्तेरप्यर्थोऽस्ति विद्यमानता। किं कारणम् ? न ह्यविद्यमानो जायते, अपि च कारणात्मनि भावे सर्व एते भावविकारा सन्ति, सर्वार्थप्रसवशक्तित्वात् तस्य। यथा पृथिव्या घटादयो भावविकारा। ते तु द्वारद्वारिभावेन विशेषात्मलाभ प्राप्नुवन्ति तद् यथा जनिद्वारेण अस्तिः --- (१।२ ख०)।

लक्षण है जिससे यह अर्थ होगा कि जिसकी उत्पत्ति कुम्भ में निश्चित है वह कौम्भ कहलाएगा। काशिकाकार ने भी संभवत्यवस्मिन् कहा है, जो संभावना का समर्थक है।

'आधारपरिमाण से आधेय का अनतिरेक' का अर्थ[1] है—कार्य-कारण का आधेय आधार भाव (कार्य कारण का आधेय होता है)। संभव का यह अर्थ पाणिनि को मान्य था जिसके कारण उन्होंने 'कोशाड् ढञ्' (४।३।४२) यह सूत्र सम्भव प्रकरण में पढ़ा था। इस सूत्र से कौशेय शब्द बनता है, जिसका अर्थ है—कोशे संभवति। कोश एक कृमि-विशेष है जिसके सूत्रों से जो वस्त्र बनता है, वह कौशेय वस्त्र कहलाता है। यहाँ तत्त्वतः सत्कार्यवाद[2] की दृष्टि से कार्य में वस्त्र है और इस दृष्टि से सम्भूत के इस अर्थ में कौशेय-शब्द-निष्पादक सूत्र की संगति होती है। यहाँ का आधाराधेयभाव उत्पत्ति-क्रिया-सापेक्ष है अतः 'घट में जल है' ऐसे अर्थ में इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती।

भव के प्रसंग में 'प्रायभवः (४।३।३९) सूत्र भी आलोच्य है। इस सूत्र की व्याख्या में भाष्यकार ने कहा है कि भवार्थ में प्रायभव गतार्थ हो जाता है अतः 'प्रायभवः' सूत्र की आवश्यकता नहीं है। पर यह दृष्टिकोण सबको मान्य नहीं है। काशिका में इन दोनों के अर्थों में भेद दिखाया गया है—'प्रायग्रहणं साकल्यस्य किञ्चिन्न्यूनतामाह' अर्थात् पूर्णता की दृष्टि से 'तत्र भव' सूत्र और न्यूनता की दृष्टि से 'प्रायभव' सूत्र पृथक्-पृथक् चरितार्थ हैं। यह न्यूनता अनेक प्रकार की हो सकती है जैसा कि किसी की दृष्टि के अनुसार ज्ञानेन्द्र सरस्वती ने कहा है—'कादाचित्कभवनाश्रयः प्रायभवः तेन तत्र भव इत्यनेन न गतार्थ' इत्याहुः (तत्त्वबोधिनी) दोनों अर्थों में जो भेद था उसका स्पष्टीकरण कैयट ने किया है—'यस्तत्र कदाचिद् भवति कदाचिन् न भवति स तत्र भव इति भाक्तः स प्रायभवः यस्य तु नियतः आधाराधेयभावः (प्रदीप ४।३।३९)। भाष्यकार ने इस मत का खण्डन कर यह दिखाया है कि व्यवहारतः इन दोनों में कोई भेद नहीं है।

१—कुम्भ तत्रत्याधाराधेयभावलक्षणमृद्धि आधेयस्य आधारात् परिमाणानतिरेकश्च इत्यर्थद्वयमपि विवक्षितम्। (बालमनोरमा ४।३।४१)।

२—कौशेयमिति। वस्त्रविशेषे यौगिकरूढोऽयम्। कोशे सम्भवस्तु सत्कार्यवादाभिप्रायेण (तत्त्वबोधिनी ४।३।४२)।

३—न्यासकार भी मानते हैं कि चूंकि 'तत्र भव' में भव का अर्थ नित्य भव नहीं हो सकता अतः प्रायभवः का अन्तर्भाव 'तत्रभवः' में हो ही जाता है।

भव और सभव[1] के प्रसग मे पाणिनि का प्रभव शब्द भी आलोच्य है। इस विषय मे पाणिनि के दो सूत्र हैं--'भुव प्रभव' (१।४।३१) तथा 'प्रभवति' (४।३।८३)। प्रभव शब्द का अर्थ यद्यपि उत्पत्तिस्थान है तथापि १।४।३१ मे इसका अर्थ 'प्रथम प्रकाशस्थान'[2] ही है, यदि यह न माना जाए, तो इस सूत्र के उदाहरण (=हिमवतो गङ्गा प्रभवति) की सगति नही होती ऐसा व्याख्याकार कहते[3] हैं। उनके अनुसार गङ्गा का प्रथम दर्शन हिमालय मे होता है और इसीलिये न गङ्गा की प्रकृति हिमालय है और न हिमालय मे गगा निकलती है (बालमनोरमा)। प्रभव='अन्यत' सिद्धस्य प्रथममुपलम्भ.' (तत्त्वबोधिनी)। इस तरह प्रभव शब्द यद्यपि जन्मस्थानवाची नहीं होता, परन्तु जन्मस्थान से इसकी असाधारण निकटता है, यह स्पष्ट विज्ञात होता है।

उत्पत्ति-परक विचार मे 'धान्याना भवने क्षेत्रे खञ्' (५।२।१) सूत्र भी आलोच्य है। उत्पत्तिवाची भूधातु मे भवन शब्द बना है, जिसका अर्थ है—उत्पत्तिस्थान। सूत्रगत 'क्षेत्र' पद ज्ञापित करता है कि भूधातु उत्पत्तिवाची है, अन्यथा 'यत्र विद्यते तद् भवनम्' इस व्युत्पत्ति से गृहकुसूल आदि आधार-सामान्य का ग्रहण होता (द्र० तत्त्वबोधिनी।

अब हम उन सूत्रो की आलोचना करेगे, जहाँ प्रकृति विकृत-भाव के साथ उत्पत्ति का प्रसंग आया है। पाणिनि ने कण्ठत' प्रकृति, विकृति, विकार आदि शब्द कहे हैं और दर्शन शास्त्र मे इन सूत्रो का लक्षण भी है। प्रकृति = उपादान कारण, विकार या विकृति=कार्य, 'विकारो नाम प्रकृतेरवस्थान्तरम्' (प्रसादटीका ४।३।१३४)।

पाणिनि ने एक सूत्र मे कार्यकारण भाव का उल्लेख किया है—तदर्थं विकृते प्रकृतौ (५।१।१२)। यहाँ उस प्रकृति का उल्लेख है, जो विकृत्यर्थ

---

१ – अभिव्यक्त के अर्थ मे सभव शब्द का प्रयोग गीता मे है। श्लोक है--'सत्त्वं रजस्तम इति गुणा प्रकृतिसभवा' (१४।५)। इसकी व्याख्या में श्रीधर स्वामी ने कहा है--प्रकृते सकाशात् पृथकत्वेन अभिव्यक्ताः'। यह अर्थ पाणिनि सूत्र मे चरितार्थ होता है या नही—यह विचारणीय है।

२—प्रभवतीत्यस्य उत्पद्यते इत्यर्थे तु असङ्गति गङ्गायास्तत्र अनुत्पत्तेः (बालमनोरमा)। ४।३।८३ की व्याख्या मे न्यासकार कहते हैं कि 'प्र' का अर्थ प्रथम और भूधातु का अर्थ उपलब्धि है।

३—नहि हिमवान् गङ्गाया कारणम्, सा हि अन्येभ्य एव कारणेभ्य उत्पन्ना, हिमवति तु केवल प्रथमत उपलभ्यते इति (न्यास १।४।३१)।

(=कार्य के लिये) है। सूत्र का तात्पर्य यह है कि विकृत्यर्थ प्रकृति यदि गम्यमान हो, तो विकृति वाचक शब्द से तद्धित प्रत्यय होता है जैसे जो काष्ठ अङ्गार के लिये है उसको अङ्गारीय' कहा जाएगा। यहाँ प्रकृति (काष्ठ) का विकार अङ्गार है अतः अङ्गार से प्रत्यय होता है।

इस सूत्र में एक द्रष्टव्य बात है। कभी-कभी दो पदार्थों में एक को अन्य की प्रकृति माना जाता है पर दूसरे को उसकी विकृति नहीं माना जाता। विट्ठल ने यह तथ्य उद्घाटित किया है यथा—'कूप उदकस्य प्रकृतिः न तूदकं कूपस्य विकृतिः। इस विषय में उन्होंने जो युक्ति दी है वह लक्षणीय है— समानस्वभावयोः समानसन्तानवर्तिनोरेव प्रकृतिविकारभावः (प्रसाद टीका ५।१।१२) अर्थात् कार्य और कारण में[1] स्वभाव की एकता तथा समान सन्तान वर्तिता होनी चाहिए।

उपादानकारण से सम्बद्ध दूसरा प्रसिद्ध सूत्र है— जनिकर्तुः प्रकृतिः' (१।४।३०)। सूत्र का अर्थ यह है कि जायमान की प्रकृति की अपादान संज्ञा होती है। इस सूत्र की व्याख्या में टीकाकारों ने कार्यकारणसंबंध पर कुछ विचार किया है, जिसका सार नीचे दिया जा रहा है—

भाष्यकार ने जिस पक्ष का अवलम्बन कर इस सूत्र का प्रत्याख्यान किया है उससे सूचित होता है कि 'कारण से कार्य अपक्रान्त होता है—यह मत उन्होंने माना है जैसे 'वृक्ष से उत्पन्न फल' में 'वृक्ष से अपक्रान्त फल' ऐसा बोध होता है। पर पाणिनि ने जिस दृष्टि से इस सूत्र को लिखा है उस दृष्टि से कारण से कार्य का अपक्रम ध्वनित नहीं होता। यहाँ पाणिनि ने वैशेषिक दर्शन के अनुसार कारण-कार्यसम्बन्ध को कहा है ऐसा किसी किसी व्याख्याकार का मत है (वैशेषिकदर्शने परमाण्वादिसमवेतं कारणेभ्यः पृथग् देशं कार्यमुपलब्धे इति नास्ति कार्यस्यापक्रमः (प्रदीप)। कोई यह भी कहता है कि पाणिनि ने यहाँ सांख्यमतानुसार कार्य-कारण-स्वभाव को माना है जिसके अनुसार

१—समानस्वभावयोः समानसन्तानवर्तिनोरेव हि प्रकृतिविकृतिभावो यथा प्रासादेष्टकादीनाम्। न तु यत्र कस्मिंश्चदुच्यतेऽन्यामीनां दिनकरणानाम् उत्पत्ति दर्शनात् प्रधानमित्यादानामदजनातीयत्वप्रसंग इति तद्युक्तम्। कस्मात्, अभिप्राया नवबोधनात्। नैवं यः यो यस्य विकारः स तज्जातीय इति किन्तु हि यो यज्जातीयः स तस्य विकार इति (न्यायवार्तिक १५ की टिप्पणी)।

आविर्भाव-तिरोभाव-लक्षणक जन्म-नाश-रूप परिणाम के स्वीकार करने से कार्य का कारण से अपक्रम सिद्ध नही होता। एक अन्य मत यह भी है कि यहाँ का प्रकृति शब्द 'हेतु' का वाचक है, पर यह सङ्गत नही जान पडता[1]। यह सूत्र यह भी कहता है कि प्रकृति कार्य का कर्ता होता है।

इस सूत्र के प्रत्याख्यान मे पतञ्जलि ने यह पक्ष भी माना है कि कार्य कारण से पृथक् होता है (अन्याश्च अनाश्च प्रादुर्भवन्ति)। कार्य और कारण का भेद-दर्शन एक प्रसिद्ध मत है।

विकार और प्रकृति मे अभेद विवक्षा कर भी पाणिनि ने एक सूत्र रचा है। पाणिनि का सूत्र है—'कृभ्वस्तियोगे सपद्यकर्तरि च्वि' (५।४।५०)। यहाँ अभूततद्भाव विवक्षित है—यह वार्त्तिककार का मत है। इसकी व्याख्या मे वासुदेव दीक्षित ने कहा है—'यत्र प्रकृतिस्वरूपमविकाररूपमापद्यमान विकारा-भेदेन विवक्ष्यते तत्रैवायं प्रत्यय' (वालमनोरमा) अर्थात् जहाँ प्रकृति का स्वरूप ही विकार (कार्य) का रूप प्राप्त होता है और विकार के साथ उसका अभेद विवक्षित होता है, वहो तद्धित प्रत्यय होता है। जब हम 'अकृष्णः कृष्ण सपद्यते' कहते हैं, तव यह लक्षण पूर्णत. चरितार्थ होता है। कैयट कहते हैं—च्विप्रत्ययश्च यदा प्रकृतिविकाररूपतामापद्यमाना विवक्ष्यते तदोत्पद्यते, परिणामविषयत्वात् च्विप्रत्ययस्य (६।३।४६)। जब धर्मी अपने स्वरूप से अप्रच्युत रहता है और उसके पूर्व धर्म क स्थान पर नया धर्म उत्पन्न होता है, तव वहाँ 'परिणाम' पद प्रयुक्त होता है[2]।

उत्पादित के अर्थ मे निर्मित शब्द का प्रयोग 'छन्दसो निर्मिते' (४।४।९३) सूत्र मे मिलता है। यहाँ छन्द = इच्छा है, और 'इच्छाकृत' इस अर्थ में

१—१।४।३० सूत्रगत 'प्रकृति' शब्द उपादान एव निमित्त कारणवाचक है, ऐसा पदमञ्जरी और न्यास मे स्पष्टतया कहा गया है। न्यासकार का वाक्य उद्धृत किया जा रहा—द्विविध हि कारण मुपादानकारण सहकारिकारण च। तत्र यत् कार्येणाभिन्नदेश तदुपादानकारणम्, यथा घटस्य मृत्पिण्ड। सहकारि-कारण यत् कार्येण भिन्नदेशम्, यथा तस्यैव दण्डचक्रादि.। तत्र असति प्रकृति-ग्रहणे प्रत्यासत्तेरुपादानकारणस्यैव भवति। भट्टोजि आदि भी प्रकृति से द्विविध कारण लेते हैं।

२—जहद् धर्मान्तर पूर्वमुपादत्ते यदा परम्।
तत्त्वादप्रच्युतो धर्मी परिणाम स उच्यते॥

छन्दस्य शब्द बनता है। निर्मित के अर्थ में उरस्य और औरस शब्द निष्पन्न होते हैं, जैसे औरस पुत्र (काशिका ४।४।९४)। यहाँ करण सम्बन्ध में निर्माण अर्थ लिया गया है, कर्ता के अर्थ में नहीं—यह ध्यान देने योग्य है।

जात शब्द की तरह संजात शब्द भी अष्टाध्यायी में है—'तदस्य सजातं तारकादिभ्य इतच् (५।२।३६)। संजात का कोई विशिष्ट लक्षण नहीं दिया गया अतः जात से संजात में क्या भेद है—यह स्पष्ट नहीं है। तारकित, (आकाश) पुष्पित फलित (वृक्ष) आदि उदाहरणों से पता चलता है कि उत्पत्ति के साथ 'अधिकता' या पूर्णता' विवक्षित होने से संजात होता है, जैसे पुष्पित = बहुत पुष्पों से भरा हुआ तारकित = तारकाओं से भरा हुआ इत्यादि। पर यह *निर्णय* अभी संशयास्पद है।

परिजात शब्द सस्येन परिजातः (५।२।६८) सूत्र में पठित है—परिजात = परितः जातः (तत्त्वबो)। विट्ठल के अनुसार जिसकी विशद व्याख्या है—परितो गुणैः पूर्णं आकारः शुद्ध इत्यर्थः (प्रसाद टीका)। यहाँ सस्य = गुण है जिससे इस सूत्र से निष्पन्न 'सस्यक' का अर्थ होगा 'शोभनगुणयुक्त'। काशिकाकार ने विशदतर व्याख्या की है—यो गुणैः सम्बद्धो जायते यस्य किंचिदपि वैगुण्यं नास्ति'।

प्रादुर्भाव शब्द २।१।६ में है जिसका अर्थ प्रकाशन है। प्रादुर्भाव अर्थ में समास होने से 'इतिपाणिनि' शब्द निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है—'पाणिनिशब्दो लोके प्रकाशते'। यह भी उत्पत्ति में कथंचित् गर्भित हो सकता है। कृत और उदय शब्द भी इस प्रसङ्ग में विचार्य हैं। पाणिनि ने रचित के अर्थ में 'कृत' शब्द का प्रयोग भी किया है। कृते ग्रन्थे (४।३।११६) सूत्र को काशिकावृत्ति में कहा गया है—'उत्पादितः कृतम्'। उत्पादित का अर्थ रचित है।

उदय' भी जन्म ही है और इस अर्थ में उद्गमन शब्द का प्रयोग 'आङ उद्गमने (१।३।४०) सूत्र में मिलता है (एवं च उद्गमनमत्रोदय एवेति बोध्यम्—उद्द्योत)।

विजायते (३।२।१२, अर्थ विमुञ्चति) आदि विशिष्ट उत्पत्ति-क्रियाओं का उल्लेख भी मिलता है संक्षेपार्थ जिनका परित्याग कर दिया गया है।

अष्टात्रिंश परिच्छेद

सौत्रशब्दगत-बहुवचन से ज्ञापित अर्थ

यह प्रसिद्ध है कि बहुत्व के ज्ञापन के लिये बहुवचन का प्रयोग किया जाता है, जैसा कि 'बहुषु बहुवचनम्' (१।४।२१) सूत्र से जाना जाता है। सूत्रगत बहु का अर्थ बहुत्व है[1]।

सामान्यतया बहुवचन का अभिप्राय ऐसा होने पर भी अन्य अर्थों मे भी बहुवचन का प्रयोग सूत्रकार ने किया है। पाणिनि-सूत्रगत बहुवचनान्त शब्दो के अध्ययन से ये अर्थ परिज्ञात होते हैं। संस्कृत भाषा के अध्येता के लिये इन अर्थों का ज्ञान आवश्यक है, जिससे प्राचीन ग्रन्थकारो का तात्पर्य सम्यक्रूप से ज्ञात हो जाए[2]।

यह भी ज्ञातव्य है कि सर्वत्र बहुवचन किसी न किसी गूढ अर्थ का ज्ञापक ही है—ऐसी प्रतिज्ञा पूर्वाचार्यो ने नही की है। कुछ स्थलो पर शब्दसंस्कार के लिये ही बहुवचन का प्रयोग किया गया है, कार्यविशेष की सिद्धि के लिये नही, जैसा कि कैयट ने अनुदात्तानाम् (१।२।३९) शब्दगत बहुवचन की व्याख्या के प्रसग मे कहा है—शब्दसंस्कारार्थमेवात्र बहुत्वं विवक्ष्यते, नतु कार्यसिद्ध्यर्थम् (प्रदीप)।

१—यदि सूत्र मे बहु का अर्थ बहुत्व है तो 'बहु' शब्द मे बहुवचन का प्रयोग कैसे हुआ, इसके उत्तर मे कहा जाता है कि 'बहुत्वसंख्याधार द्रव्यगत बहुत्व का बहुत्वगुण मे आरोप कर' बहुवचन किया गया है। कैयट ने ठीक ही कहा है—आश्रयगतं बहुत्वं बहुत्वे गुणे आरोप्य निर्देशः कृतः। तस्यैतत् प्रयोजनं भिन्नवस्त्वाधारस्य बहुत्वस्य संख्यारूपस्य ग्रहणं यथा स्यात्, एकाश्रयवर्तिनो वैपुल्य-रूपस्य मा भूत् (प्रदीप १।४।२१)।

२—जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनम्… (१।२।५८ से ६० सूत्र पर्यन्त) इत्यादि सूत्रो में बहुवचन-प्रयोग के जो नियम कण्ठतः उक्त हुए हैं, वे इस निबन्ध के विचार्य विषय नही हैं।

सर्वत्र बहुवचन गूढाभिप्राय का ज्ञापक नहीं है—इसके लिये 'सूत्रे सिद्धं वचनमतन्त्रम्'[1] यह परिभाषा भी द्रष्टव्य है (परिभाषावृत्ति ११७)। व्याख्याकार गण अनेक सूत्रीय शब्दों के बहुवचन की व्याख्या के प्रसंग में 'बहुवचनमतन्त्रम्' (बहुवचन की विवक्षा नहीं है) ऐसा कहते ही हैं, जैसा कि हम 'कुस्तुम्बुरूणि (६।१।१४३) वर्चस्काः (५।१।१९०) आदि सूत्रों में देखते हैं। बहुवचन की तन्त्रता-अतन्त्रता व्याख्यान से या प्रयोगदर्शन से विज्ञात होती है—यह ज्ञातव्य है[2]।

बहुवचन का एक वैशिष्ट्य द्रष्टव्य है यह है सन्देहस्थल में (जहाँ संख्या का ज्ञान निश्चित नहीं है) बहुवचन का प्रयोग करना। पाणिनीय संप्रदाय में एक परिभाषा भी है—'सन्देहे बहुवचनं प्रयोक्तव्यम्' जिसकी व्याख्या में सीरदेव ने संगत रूप से ही कहा है—युक्तमेवैतद् व्याप्तिन्यायेन बहुवचननिर्देशेन सर्वसंख्यानामनुप्रवेशात् (१२२ परिभाषा)। पूर्वोक्त सिद्धान्त कभी-कभी अनिश्चितार्थे बहुवचन प्रयुज्यते वाक्य से भी अभिहित होता है।

गुरुत्वज्ञापनार्थ बहुवचन—गुरुत्व के ज्ञापन के लिये (आदरभाव प्रकटनार्थ) बहुवचन का प्रयोग करना चाहिए, ऐसा प्राचीन अनुशासन है यद्यपि पूर्वाचार्यनाम के ग्रहण करने के समय ब्रह्मसूत्र मीमांसासूत्र, सांख्यसूत्र आदि ग्रन्थों में यह रीति नहीं दृष्ट होती। आचार्याणाम् (७।३।४९) सूत्र में यह रीति दृष्ट होती है। 'आचार्याणाम्' पद के बहुवचन की उपपत्ति के लिये हरदत्त कहते हैं—आचार्यस्य पाणिनेः आचार्यः स्वाचार्यः गुरुत्वाद् बहुवचनम्।

'पूजार्थक बहुवचन' पूर्वाचार्यानुमोदित है। दुर्ग कहते हैं—एकस्या एव पूजार्थं बहुवचनम् (निरुक्त १।६ पर)।

१—तन्त्र प्रधान। भाष्यस्थ 'नात्र बहुवचनेन निर्देशस्तन्त्रम्' वाक्य की व्याख्या में कैयट कहते हैं—तन्त्रशब्दोऽत्र प्रधानवाची। नागेश कहते हैं—विवक्षित तत्त्वलक्षणं प्राधान्यम्।

२—इस अतन्त्रता का हेतु क्या है—इस पर पुरुषोत्तम का विचार बहुत ही सारवान् प्रतीत होता है। यथा—शास्त्रं हि लक्ष्यपरायणं सूचकमात्रं स्वगुर्वागम्य बहुलक्ष्यप्रतिपत्त्यर्थम्। न वाक्यमन्ये नियताः प्रवर्तन्ते। तस्य लक्ष्यपरत्वाद् सिद्धमात्रं वचनमग्रन्थं न मुख्यार्थसिद्धयर्थं प्रवर्तते। यतो येन हि येनाऽपि सिद्धम् तत्र तेन अस्य तन्त्रमिदमन्यथा न तस्य तन्त्रता अतन्त्रता। (सूत्रे सिद्धंवचनमतन्त्रम् परिभाषा की व्याख्या—११७)।

वैशिष्ट्यज्ञापक बहुवचन—रक्षोयातूना हननी (४।४।१२१) सूत्रगत बहुवचन इसका उदाहरण है। द्विवचन के स्थान पर बहुवचन करने का हेतु यह है कि यह वैदिक पदार्थ बहुसख्यक रक्षः और यातुओ का हननी (=हननकरणी भूता) होता है। बहुसख्यक रक्ष आदि का हनन करने से अधिक बलवत्ता सिद्ध होती है, जिससे उसकी स्तुति होती है—बहुवचनान्ताद् विधान स्तुत्यर्थम्, बहूना तेषा हननेन हि स्तुतिर्भवति।

बहुवचनान्तता का ज्ञापन—बहुवचनान्त मे निर्देश करने का एक सामान्य प्रयोजन यह होता है कि वह शब्द बहुवचन मे ही प्रयुक्त हो—यह नियम ज्ञापित हो जाए। नित्य बहुवचनान्तताज्ञापन की यह रीति 'वर्षाभ्यष्ठक्' (४।३।१८) सूत्र में दृष्ट होती है। तृतीय ऋतुवाचक वर्षाशब्द नित्य बहुवचनान्त है—यह बहुवचनान्त वर्षाशब्द से ज्ञापित होता है,[1] अन्यथा बहुवचन के प्रयोग की कोई आवश्यकता नहीं है। सूत्रकार का यह निर्देश लिङ्गानुशासन से भी समर्थित होता है (अप् सुमन-समा-सिकता-वर्षाणा बहुत्वम्)।[2]

बहुवचन होनेपर 'बहुवचनान्त शब्द का ही ग्रहण होने की सम्भावना' बहुत्र रहती है, जैसा कि कैयट के इस शकावचन से ज्ञात होता है—बहुवचनार्थग्रहणे सति पर्यायार्थं वा स्याद् बहुवचनान्तसमासविधानार्थं वा (प्रदीप २।१।४०)।

विशिष्टार्थज्ञापन—एक विवक्षित विशिष्ट अर्थ के ज्ञापन के लिये बहुवचन का प्रयोग करना पाणिनि की एक शैली है। सूत्र है—पूर्वै कृतम् (४।४।१३३)। काशिकाकार कहते हैं—पूर्वैरिति बहुवचनान्तेन पूर्वपुरुषा उच्यन्ते। स्वाङ्गेभ्यः प्रसृते (५।२।६६) सूत्र मे भी इस शैली का उदाहरण मिलता है। यहाँ बहुवचन

१—तृतीयर्तौ वर्षाशब्दो नित्य बहुवचनान्त. (बालमनो०)।

२—यह ज्ञातव्य है कि अप्, सुमन आदि शब्द एक निश्चित अर्थ मे ही बहुवचनान्त होते हैं, योग के बल पर अर्थान्तर करने से बहुवचनान्तता अप्रयोज्य हो जाती है। वासुदेव एकवचनान्त 'सुमनाः' शब्द पर कहते हैं—यद्यपि स्त्रियाम् इत्यधिकारे 'अप्-सुमनस्-समा-सिकता-वर्षाणा बहुत्व च' इति लिङ्गानुशासनसूत्रे सुमन शब्दस्य नित्य बहुवचनं विहित तथापि देवादिपर्याय-(रु)विषयम्। सु शोभन मनो यस्येति सुमना इति बहुव्रीहिर्यौगिक इति भाव (बालमनोरमा ३।१।१२)। सिकता शब्द एकवचन में भी प्रयुक्त होता है।

सर्वत्र बहुवचन गुरुाभिप्राय का ज्ञापक नहीं है—इसके लिये 'सूत्रे लिङ्गवचनमतन्त्रम्'[1] यह परिभाषा भी द्रष्टव्य है (परिभाषावृत्ति ११७)। व्याख्याकारगण अनेक तृतीय शास्त्रों के बहुवचन की व्याख्या के प्रसंग में 'बहुवचनमतन्त्रम्' (बहुवचन की विवक्षा नहीं है) ऐसा कहते ही हैं, जैसा कि हम 'कुस्तुम्बुरुणि' (६।१।१४३) पांड्राः (२।१।९) आदि सूत्रों में देखते हैं। बहुवचन की तन्त्रता अतन्त्रता व्याख्यान से या प्रयोगदर्शन से विज्ञात होती है—यह मन्तव्य है[2]।

बहुवचन का एक विशिष्ट द्रष्टव्य है, वह है सन्देहस्थल में (जहाँ संख्या का ज्ञान निश्चित नहीं है) बहुवचन का प्रयोग करना। पाणिनीय संप्रदाय में एक परिभाषा भी है—सन्देहे बहुवचनं प्रयोक्तव्यम्, जिसकी व्याख्या में सीरदेव ने संगत रूप से ही कहा है—पुरुषमवेदं व्याप्तिन्यायेन बहुवचननिर्देशेन सर्ववचनानामनुग्रहः (१२२ परिभाषा)। पूर्वोक्त सिद्धान्त कभी-कभी 'अनिर्ज्ञातेऽर्थे बहुवचनं प्रयुज्यते' वाक्य से भी अभिव्यक्त होता है।

गुरुत्वज्ञापनार्थ बहुवचन—गुरुत्व के ज्ञापन के लिये (महात्म्य-प्रकटनार्थ) बहुवचन का प्रयोग करना चाहिए, ऐसा प्राचीन अनुशासन है, यद्यपि पूर्वाचार्यनाम के ग्रहण करने के समय ब्रह्मसूत्र मीमांसासूत्र सांख्यसूत्र आदि ग्रन्थों में यह शैली नहीं दृष्ट होती। आदाचार्याणाम् (७।३।४९) सूत्र में यह शैली दृष्ट होती है। 'आचार्याणाम्' पद के बहुवचन की उपपत्ति के लिये हरदत्त कहते हैं—आचार्यस्य पाणिनेः मे आचार्याः स इहाचार्याः गुरुत्वात् बहुवचनम्।

पूजार्थक बहुवचन पूर्वाचार्यानुमोदित है। दुर्ग कहते हैं—एकस्मा एव पूजार्थं बहुवचनम् (निरुक्त १।५ का)।

१—तत्र प्रधाने भाष्यस्थ 'नात्र बहुवचनेन निर्देशस्तन्त्रम्' वाक्य की व्याख्या में कैयट कहते हैं—तन्त्रशब्दोऽत्र प्रधानवाची; नागेश कहते हैं—विवक्षितत्वलक्षणं प्राधान्यम्।

२—इस अतन्त्रता का हेतु क्या है—इस पर पुरुषोत्तम का विचार बहुत ही सारवान् प्रतीत होता है, यथा—शास्त्रं हि लक्ष्यपराधीनं सूत्रकमात्रं वस्तुसंज्ञावबोधनकामरूप्यते। न चावश्यं लक्ष्ये सर्वत्र प्रवर्तते। तस्य लक्ष्यपरत्वात् लिङ्गलक्षणं वचनलक्षणं च सूत्रेषु किञ्चित्करं न प्रवर्तते। ततो येन केनचित् लिङ्गेन वचनेन च निर्देशः कर्तव्यो न तस्य तन्त्रताऽपेक्षिता। (सूत्रे लिङ्गवचनमतन्त्रम् परिभाषा की व्याख्या—११७)।

वैशिष्ट्यज्ञापक बहुवचन—रक्षोयातूना हननी (४।४।१२१) सूत्रगत बहुवचन इसका उदाहरण है। द्विवचन के स्थान पर बहुवचन करने का हेतु यह है कि यह वैदिक पदार्थ बहुसख्यक रक्षः और यातुओ का हननी (=हननकरणीभूता) होता है। बहुसख्यक रक्ष' आदि का हनन करने से अधिक बलवत्ता सिद्ध होती है, जिससे उसकी स्तुति होती है—बहुवचनान्ताद् विधान स्तुत्यर्थम्, बहूना तेषा हननेन हि स्तुतिर्भवति।

बहुवचनान्तताका ज्ञापन—बहुवचनान्त मे निर्देश करने का एक सामान्य प्रयोजन यह होता है कि वह शब्द बहुवचन मे ही प्रयुक्त हो—यह नियम ज्ञापित हो जाए। नित्य बहुवचनान्तताज्ञापन की यह रीति 'वर्षाभ्यष्ठक्' (४।३।१८) सूत्र में दृष्ट होती है। तृतीय ऋतुवाचक वर्षाशब्द नित्य बहुवचनान्त है—यह बहुवचनान्त वर्षाशब्द से ज्ञापित होता है,[1] अन्यथा बहुवचन के प्रयोग की कोई आवश्यकता नहीं है। सूत्रकार का यह निर्देश लिङ्गानुशासन से भी समर्थित होता है (अप् सुमन-समा-सिकता-वर्षाणा बहुत्वम्)।[2]

बहुवचन होनेपर 'बहुवचनान्त शब्द का ही ग्रहण होने की सम्भावना' बहुत्र रहती है, जैसा कि कैयट के इस शकावचन से ज्ञात होता है—बहुवचनार्थग्रहणे सति पर्यायार्थं वा स्याद् बहुवचनान्तसमासविधानार्थं वा (प्रदीप २।१।४०)।

विशिष्टार्थज्ञापन—एक विवक्षित विशिष्ट अर्थ के ज्ञापन के लिये बहुवचन का प्रयोग करना पाणिनि की एक शैली है। सूत्र है—पूर्वै कृतम् (४।४।१३३)। काशिकाकार कहते हैं—पूर्वैरिति बहुवचनान्तेन पूर्वपुरुषा उच्यन्ते। स्वाङ्गेभ्यः प्रसृते (५।२।६६) सूत्र मे भी इस शैली का उदाहरण मिलता है। यहाँ बहुवचन

१—तृतीयर्तौ वर्षाशब्दो नित्य बहुवचनान्त. (बालमनो०)।

२—यह ज्ञातव्य है कि अप्, सुमन आदि शब्द एक निश्चित अर्थ मे ही बहुवचनान्त होते हैं, योग के बल पर अर्थान्तर करने से बहुवचनान्तता अप्रयोज्य हो जाती है। वासुदेव एकवचनान्त 'सुमनाः' शब्द पर कहते हैं—यद्यपि स्त्रियाम् इत्यधिकारे 'अप्-सुमनस्-समा-सिकता-वर्षाणा बहुत्व च' इति लिङ्गानुशासनसूत्रे सुमन. शब्दस्य नित्य बहुवचनं विहित तथापि देवादिपर्याय-(हविषयम्। सु शोभन मनो यस्येति सुमना इति बहुव्रीहिर्यौगिक इति भाव: इबालमनोरमा ३।१।१२)। सिकता शब्द एकवचन में भी प्रयुक्त होता है।

का प्रयोग कर सूत्रकार यह ज्ञापन करना चाहते हैं कि यहाँ स्वाङ्ग से स्वाङ्ग समुदाय का भी ग्रहण करना चाहिए—बहुवचनं स्वाङ्गसमुदायार्थमपि यथा स्यात्। स्वाङ्ग मानकर जिस प्रकार 'केशाक' प्रयोग ४।२।६१ सूत्र से निष्पन्न होता है, उसी प्रकार स्वाङ्गसमुदाय मानकर 'केशनखक' प्रयोग भी निष्पन्न होगा।

अर्थग्रहण—बहुवचन के द्वारा कभी कभी यह ज्ञापित होता है कि शब्द का स्वरूप आदि का ग्रहण न होकर उसके वाच्य अर्थ का ग्रहण होगा। यह शैली महत्त्वपूर्ण है अतः उदाहरणों से इसका स्पष्टीकरण किया जा रहा है—

पाणिनि का सूत्र है—नदीभिश्च (२।१।२)। क्या इस सूत्र में नदी का तात्पर्य नदी इस शब्द से है (शब्दप्रधान व्याकरण में ऐसा होना सर्वथा स्वाभाविक है), अथवा पाणिनि द्वारा परिभाषित नदी संज्ञा (यूस्त्र्याख्यौ नदी १।४।३) से है अथवा नदी शब्द के पर्यायों (सरित् तटिनी आदि) से है, अथवा गोदावरी आदि नदीविशेष से है। पूर्वाचार्यों का निर्णय है कि यहाँ बहुवचन के ग्रहण से नदी का तात्पर्य नदीवाचक शब्द और नदीविशेष से ही है[1] (जिससे यथाक्रम पञ्चनदम् और सप्तगोदावरम् उदाहरण निष्पन्न होते हैं)

अर्थग्रहण का दूसरा उदाहरण कालाः (२।१। ८) सूत्र है। ऐसे सूत्रों में बहुवचन से शब्दस्वरूप का निरसन किया जाता है और तद्वाचक शब्दों (मास आदि) का ही ग्रहण इष्ट होता है, जैसा कि इसी सूत्र पर कहा गया है—बहुवचननिर्देशः स्वरूपनिरासार्थः कालवाचिनो द्वितीयान्ताः क्तान्तेन वा समस्यन्ते (तत्त्वबोधिनी)।

शब्दस्वरूपनिरसनपूर्वक तदर्थवाची शब्दों का ग्रहण करने के उदाहरण अष्टाध्यायी में प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। सूत्र है—आयस्थानेभ्यः (४।३।७५)। आयस्थान में बहुवचन होने के कारण आयस्थानवाची कोई भी शब्द (यथा शुल्कशाला आकर, आपण आदि) गृहीत होगा पर 'आयस्थान यह शब्द गृहीत नहीं होगा।

कालेभ्यो भववत् (४।२।३४) सूत्र में भी बहुवचनान्त काल का अर्थ है— कालवाची शब्द = कालविशेष वाची शब्द – मास, प्रावृट् आदि।

१— अत्र नदीशब्देन नदीसंज्ञाविशेषस्य नदीवाचकानां च ग्रहणमिति संज्ञा संज्ञाएतेऽभाष्ये स्पष्टम्, एतेन पञ्चनदं सप्तगोदावरम् इत्यादि सिद्ध्यति (बाल मनोरमा) स्वरूपस्य संज्ञायाश्च नेह ग्रहणं बहुवचननिर्देशात् किं तु अर्थस्य न च तस्य समासः सम्भवति अतस्तत्पर्यायाभिधानं समासः, ते च न केवलं विशेष शब्दा एव किंतु सामान्यशब्दा अपि (तत्त्व)।

जातरूपेभ्य परिमाणे (४।३।१५३) सूत्र भी इस प्रसग मे द्रष्टव्य है। 'जातरूप' शब्द के बहुवचन होने के कारण जातरूपवाची हाटक, तपनीय (स्वर्णवाचक) आदि शब्द इस सूत्र मे गृहीत होंगे—बहुवचननिर्देशात् तद्वाचिनः सर्वे गृह्यन्ते।

अर्थप्राधान्यज्ञापन—बहुवचन की अर्थप्राधान्यज्ञापकता प्रसिद्ध है। 'अर्थ-प्राधान्यबोधकस्य बहुवचनस्य' यह वाक्य पूर्वाचार्यों ने बार-बार कहा है (प्रौढ-मनोरमा, अजन्त० पृ० २९४)। बहुवचनस्थल मे अर्थप्राधान्यबोधकता है या नही—इस पर शका भी की गई है। तिसृभ्यो जस. (६।१।६६) सूत्रीय तिसृ-शब्दगत बहुवचन पर यही स्थिति है—न च तिसृभ्य इति बहुवचननिर्देशात् तिस्रर्थप्राधान्ये एवाय स्वर. • (द्र० स्वरसिद्धान्तचन्द्रिका)।

इस शैली का एक उदाहरण 'षड्भ्यो लुक्' (७।१।२२) सूत्र मे दृष्ट होता है। यहां यदि षष्शब्द मे बहुवचन न किया जाता और 'षषो लुक्' ऐसा ही सूत्र-शरीर होता, तो भी इष्ट प्रयोग सिद्ध हो सकता था, तथापि सूत्रकार ने जो बहु वचन का प्रयोग किया, उसका तात्पर्य यह है कि षट्रूप अर्थ का प्राधान्य जहा हो वही ७।१।२२ सूत्रीय कार्य हो—बहुवचननिर्देशोऽर्थप्राधान्यसूचनार्थ (प्रौढमनोरमा), षट्शब्देन षट्सज्ञक शब्दः तदर्थसख्याश्रय श्चेत्युभयमपि विवक्षितम् (शब्दरत्न)। यही कारण है कि बहुव्रीहिसमास मे ७।१।२२ सूत्र की प्रवृत्ति नही होती।

पर्यायशब्द का ग्रहण—कही-कही बहुवचन से यह ज्ञापित किया जाता है कि शब्द के पर्यायो का भी ग्रहण इष्ट है। अनेक सूत्रो मे यह शैली दिखाई पडती है, यथा—

१ जे प्रोष्ठपदानाम् (७।३।१८), भट्टोजि कहते हैं—बहुवचननिर्देशात् पर्यायोऽपि गृह्यते (सि० कौ०)। इस नियम से 'भद्रपद' शब्द का भी ग्रहण प्रोष्ठपद शब्द से होता है।

अनुक्त-अर्थ का संग्रह—अनुक्त अर्थो का सग्रह करने के लिये भी सूत्रो मे बहुवचन का प्रयोग किया गया है। पाणिनि का अधिकारसूत्र है—कृत्याः (३।१।९५)। यहाँ 'कृत्य' ऐसा एकवचन करने पर भी कोई दोष नही होता जैसा कि एतत्सदृश अन्य सूत्रो में देखा जाता है (प्रत्ययः आदि सूत्र द्र०)।

१—पर्याय द्योतन के लिये २।३।७२ गत तुल्यार्थैः पद स्थल भी द्रष्टव्य हैं (तुल्यैरिति बहुवचनादेव पर्यायवचने सिद्धो—बालमनोरमा)।

का प्रयोग कर सूत्रकार यह ज्ञापन करना चाहते हैं कि यहाँ स्वाङ्ग से स्वाङ्ग-समुदाय का भी ग्रहण करना चाहिए—बहुवचनं स्वाङ्गसमुदायादपि यथा स्यात्। स्वाङ्ग मानकर जिस प्रकार 'केशाः' प्रयोग ४।२।६१ सूत्र से निष्पन्न होता है, उसी प्रकार स्वाङ्गसमुदाय मानकर 'केशानशाः' प्रयोग भी निष्पन्न होगा।

अर्थग्रहण—बहुवचन के द्वारा कभी कभी यह ज्ञापित होता है कि शब्द का स्वरूप आदि का ग्रहण न होकर उसके वाच्य अर्थ का ग्रहण होगा। यह ऐसी महत्त्वपूर्ण है अतः उदाहरणों से इसका स्पष्टीकरण किया जा रहा है—

पाणिनि का सूत्र है—नदीभिश्च (२।१।२०)। क्या इस सूत्र में नदी का तात्पर्य 'नदी' इस शब्द से है (शब्दप्रधान व्याकरण में ऐसा होना सर्वथा स्वाभाविक है) अथवा पाणिनि द्वारा परिभाषित नदी संज्ञा (यूस्त्र्याख्यौ नदी १।४।३) से है अथवा नदी शब्द के पर्यायों (सरित्, तटिनी आदि) से है, अथवा गोदावरी आदि नदीविशेष से है। पूर्वाचार्यों का निर्णय है कि यहाँ बहुवचन के ग्रहण से 'नदी' का तात्पर्य नदीवाचक शब्द और नदीविशेष से ही है[1] (जिससे यथाक्रम पञ्चनदम् और सप्तगोदावरम् उदाहरण निष्पन्न होते हैं)।

अर्थग्रहण का दूसरा उदाहरण 'कालाः (२।१।२८) सूत्र है। ऐसे सूत्रों में बहुवचन से शब्दस्वरूप का निरसन किया जाता है और तद्वाचक शब्दों (मास आदि) का ही ग्रहण इष्ट होता है, जैसा कि इसी सूत्र पर कहा गया है—'बहुवचननिर्देशः स्वरूपनिरासार्थः' कालवाचिनो द्वितीयान्ता' क्तान्तेन वा समस्यन्ते (तत्त्वबोधिनी)।

शब्दस्वरूपनिरसनपूर्वक तदर्थवाची शब्दों का ग्रहण करने के उदाहरण अष्टाध्यायी में प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। सूत्र है—'आयस्थानेभ्यः' (४।३।७५)। आयस्थान में बहुवचन होने के कारण आयस्थानवाची कोई भी शब्द (यथा शुल्कशाला आकर, आपण आदि) गृहीत होगा पर 'आयस्थान' यह शब्द गृहीत नहीं होगा।

कालेभ्यो भववत् (४।२।३४) सूत्र में भी बहुवचनान्त काल का अर्थ है—कालवाची शब्द = कालविशेष वाची शब्द = मास, प्रावृट् आदि।

१—अत्र नदीशब्देन नदीशब्दविशेषस्य नदीवाचकानां च ग्रहणमिति संख्या संज्ञासूत्रे भाष्ये स्पष्टम्, एतेन पञ्चनदं सप्तगोदावरम् इत्यादि सिद्ध्यति (बाल मनोरमा)। स्वरूपस्य संज्ञायाश्च नेह ग्रहणं बहुवचननिर्देशात् किं तु अर्थस्य न च तस्य समासः सम्भवति अतस्तद्वाचिनामयं समासः, ते च न केवलं विशेष-वाचका एव किन्तु सामान्यशब्दा अपि (तत्त्व)।

जातरूपेभ्य परिमाणे (४।३।१५३) सूत्र भी इस प्रसग मे द्रष्टव्य है। 'जातरूप' शब्द के बहुवचन होने के कारण जातरूपवाची हाटक, तपनीय (स्वर्णवाचक) आदि शब्द इस सूत्र मे गृहीत होगे—बहुवचननिर्देशात् तद्वाचिन· सर्वे गृह्यन्ते।

अर्थप्राधान्यज्ञापन—बहुवचन की अर्थप्राधान्यज्ञापकता प्रसिद्ध है। 'अर्थ-प्राधान्यबोधकस्य बहुवचनस्य' यह वाक्य पूर्वाचार्यो ने बार-बार कहा है (प्रौढ-मनोरमा, अजन्त० पृ० २९४)। बहुवचनस्थल मे अर्थप्राधान्यबोधकता है या नही—इस पर शका भी की गई है। तिसृभ्यो जस. (६।१।६६) सूत्रीय तिसृ-शब्दगत बहुवचन पर यही स्थिति है—न च तिसृभ्य इति बहुवचननिर्देशात् तिस्रर्थप्राधान्ये एवाय स्वर ·· (द्र० स्वरसिद्धान्तचन्द्रिका)।

इस शैली का एक उदाहरण 'षड्भ्यो लुक्' (७।१।२२) सूत्र मे दृष्ट होता है। यहां यदि षष्शब्द मे बहुवचन न किया जाता और 'षषो लुक्' ऐसा ही सूत्र-शरीर होता, तो भी इष्ट प्रयोग सिद्ध हो सकता था, तथापि सूत्रकार ने जो बहु वचन का प्रयोग किया, उसका तात्पर्य यह है कि षट्रूप अर्थ का प्राधान्य जहा हो वही ७।१।२२ सूत्रीय कार्य हो—बहुवचननिर्देशोऽर्थप्राधान्यसूचनार्थ (प्रौढमनोरमा), षट्शब्देन षट्सज्ञक शब्द' तदर्थसख्याश्रय श्चेत्युभयमपि विवक्षितम् (शब्दरत्न)। यही कारण है कि बहुव्रीहिसमास मे ७।१।२२ सूत्र की प्रवृत्ति नही होती।

पर्यायशब्द का ग्रहण—कही-कही बहुवचन से यह ज्ञापित किया जाता है कि शब्द के पर्यायो का भी ग्रहण इष्ट है। अनेक सूत्रो मे यह शैली दिखाई पडती है, यथा—

१ जे प्रोष्ठपदानाम् (७।३।१८), भट्टोजि कहते हैं—बहुवचननिर्देशात् पर्यायोऽपि गृह्यते (सि० कौ०)। इस नियम से 'भद्रपद' शब्द का भी ग्रहण प्रोष्ठपद शब्द से होता है।

अनुक्त-अर्थ का संग्रह—अनुक्त अर्थों का सग्रह करने के लिये भी सूत्रो मे बहुवचन का प्रयोग किया गया है। पाणिनि का अधिकारसूत्र है—कृत्याः (३।१।९५)। यहां 'कृत्य' ऐसा एकवचन करने पर भी कोई दोष नही होता जैसा कि एतत्सदृश अन्य सूत्रो मे देखा जाता है (प्रत्ययः आदि सूत्र द्र०)।

१—पर्याय द्योतन के लिये २।३।७२ गत तुल्यार्थैः पद स्थल भी द्रष्टव्य हैं (तुल्यैरिति बहुवचनादेव पर्यायवचने सिद्धो—बालमनोरमा)।

यह बहुवचन अनुक्त प्रत्ययों के संग्रह करने के लिये किया गया है—ऐसा व्याख्याकार कहते हैं—भव प्रत्यय इत्यादिश्च कृत्य इत्यधिकारेणापीष्टसिद्धे बहुवचनमनुक्तप्रत्ययसमुच्चयार्थम् (तत्त्व)।

भेदाभिप्राय का ज्ञापन—इस शैली का उदाहरण स्वल्प है। कृत्यैर्ऋणे (२।१।४३) सूत्र में बहुवचनान्त कृत्य शब्द इसका उदाहरण है। यहाँ कृत्यसंज्ञक सभी प्रत्यय गृहीत नहीं होंगे (तव्य आदि) यत् आदि प्रत्यय ही गृहीत होंगे इस भेदपूर्वक निर्देश के लिये कृत्य शब्द में बहुवचन किया गया है। यही कारण है कि 'मासेदेयम्' में तत्पुरुष समास हो जाता है पर 'मासे दातव्यम्' में समास नहीं होता यद्यपि 'दातव्यम्' भी कृत्यप्रत्ययान्त है।

अन्तर्गतावयवबहुत्व-ज्ञापन—इसका प्रसिद्ध उदाहरण 'ग्रीवाभ्योऽण् च (४।३।५७) सूत्र में दृष्ट होता है। 'ग्रीवाशब्द से अण् प्रत्यय के विधान' में ग्रीवाशब्द में बहुवचन का प्रयोग करने की कोई आवश्यकता नहीं है पर उद्भूतावयवविवक्षा (प्रत्येक अवयव के प्रकटन की विवक्षा) से बहुवचन किया गया है। ज्ञानेन्द्र कहते हैं—ग्रीवाशब्दो धमनीसंघाते वर्तते तत्र उद्भूतावयवसंघातविवक्षया सूत्रे बहुवचनम्। तिरोहितावयवसंघातविवक्षायां त्वेकवचनान्तादपि प्रत्ययो स्त एव (तत्त्व)। अन्यान्य व्याख्याकार का भी यही मत है।[१]

गणनिर्देश—किसी शब्द का बहुवचन में प्रयोग कर गणपाठविशेष का ज्ञापन करना (उस शब्द का गण के आदि में रखकर) सूत्रकार की प्रसिद्ध शैली है। शब्द का बहुवचन किस गणपाठ का ज्ञापन कर सकता है—इस विषय में शास्त्र में कोई विधिवाक्य नहीं मिलता पर सभी व्याख्याकारों ने इस रीति को प्रामाणिक रूप से स्वीकार किया है। सूत्र है—सप्तमी शौण्डैः (२।१।४०) यहाँ शौण्ड शब्द में जो बहुवचन है, उससे शौण्डादिगण (शौण्ड धूर्त कितव व्याड निपुण आदि शब्दों का पाठ इसमें है) को लक्षित किया गया है—बहुवचननिर्देशात् शौण्डादिभिरिति विज्ञायते (भाष्य)। यह कैसे सम्भव होता है इसके लिये कैयट ने युक्ति भी दी है कि जिस प्रकार छत्रियों (छत्रधारियों) के साहचर्य के कारण अछत्रियों पर छत्रित्व का आरोप कर 'छत्रिणो यान्ति' प्रयोग किया जाता है जिससे छत्रि-अच्छत्रियों का ग्रहण होता है उसी प्रकार धूर्त आदि शब्दों का शौण्डादिगण में पाठ होने के कारण धूर्त आदि शब्दों में शौण्ड शब्दस्वरूप का आरोप कर तथा शौण्ड पद से शौण्डशब्द का ग्रहण कर (अजहल्लक्षणा के बल पर) शौण्डादिगणस्थ

१—ग्रीवाशब्दो धमनीवचनस्तासां बहुत्वाद् बहुवचनं कृतम् (काशिका)।

शब्दों का बोध किया जाता है (धूर्तादीना साहचर्याद आरोपितशौण्डशब्द-रूपाणां शौण्डशब्दस्य च शौण्डशब्देनाभिधानाद् यथा छत्रिणो गच्छन्तीति भावः—प्रदीप)।

अर्धर्चा' पुंसि च (२।४।३१) सूत्र मे जो वहुवचन है, वह भी गणपाठ का ज्ञापक है। कैयट कहते है—यथा अर्धर्चा' पुंसि चेति गोमयादीनामर्धर्चे-शब्देन, तथा च वहुवचन कृतम् (६।१।१०२)।

अर्थगतवहुत्व का शब्द मे आरोप—अर्थगत बहुत्व का आरोप वाचक शब्द मे कर उसमे बहुवचन किया गया है—ऐसा भी देखा जाता है। तिसृभ्यो जस' (६।१।१६६) मे तिसृशब्द मे जो बहुवचन है, वह इस पद्धति का ही उदाहरण है। 'त्रि' रूप अर्थ में जो बहुत्व है, उसका आरोप त्रिशब्द मे कर यह बहुवचनान्त शब्द प्रयुक्त हुआ है—ऐसा कैयट कहते हैं—अर्थगत बहुत्व शब्दे आरोप्य वहुवचननिर्देश ।

'अर्थगत बहुत्व का शब्द मे समारोपण' का एक उदाहरण ६।३।१०९ सूत्र के 'धासु वा' वार्त्तिक मे भी मिल जाता है। भाष्यकार कहते हैं कि नानाधि-करणवाची जो 'धा' शब्द है, उसीका ग्रहण वार्त्तिक मे इष्ट है, अन्य अर्थ का बोधक 'धा' का ग्रहण अनिष्ट है, यही कारण है कि 'षोढा' पद होता है, पर 'धा' का अर्थ जब धारणकारी (दधाति) होगा तब उत्व नही होगा—'षड्धा' रूप निष्पन्न होगा। यहाँ कैयट ने कहा है—अर्थगत बहुत्व शब्दे समारोप्य धासु इति बहुवचननिर्देशः क्रियते' (प्रदीप)।

पाणिनीय वैयाकरणो ने बहुवचन-सम्बन्धी सूक्ष्म विचार भी किया है। नित्यवीप्सयो' (८।१।४) सूत्रानुसार वीप्सा (व्याप्तुमिच्छा वीप्सा, व्याप्ति-प्रतिपादनेच्छा) में 'वृक्षं वृक्षं सिञ्चति' प्रयोग होता है। यहाँ यह शङ्का की गई है कि 'वृक्षं वृक्षम्' कहने पर बहु का भान होता है, अत. बहुवचन क्यो न हो ? उत्तर दिया गया है कि बहु का भान होने पर भी बहुत्वसंख्या का भान नही होता, प्रत्येकवृक्ष-निष्ठ एकत्व ही भासमान रहता है, अतः बहुवचन नही होता।[1]

१—वृक्षं वृक्षमित्यादौ बहुवचनं तु न, वस्तुतस्तत्र बहुत्व सत्त्वेऽपि अभानात्। प्रत्येकनिष्ठमेकत्वमेव हि तत्र भासते (बृहच्छब्देन्दु० ८।१।४, प्रौढमनोरमा भी द्र०)।

——

एकत्रिंश परिच्छेद

काशिकोक्त कुछ उदाहरणों का तात्पर्य

[१]

सतृणम्—अष्टाध्यायी के 'अव्ययं विभक्ति (२।१।६) सूत्रगत 'साकल्य' के उदाहरण में काशिका में सतृणम् अभ्यवहरति (तिङन्त पद उदाहरण के अर्थ की स्पष्टता के लिये उपन्यस्त हुआ है प्रकृत उदाहरण 'सतृणम्' है)[1] शब्द दिया गया है। साकल्य का अर्थ है—'अशेषता' अर्थात् तृण का भी न छोड़ कर', जिससे 'सतृणमभ्यवहरति' का अर्थ होगा—'तृण को भी न छोड़ कर खाता है (अभि+अव+हृ धातु का अर्थ है खाना)।

'सतृणम्' का अवयवार्थ यद्यपि ऐसा ही है पर काशिकाकार कहते हैं—'नहि किञ्चिदभ्यवहार्यं परित्यजतीत्ययमर्थोऽधिकार्थवचनेन प्रतिपाद्यते अर्थात् 'खाने योग्य कुछ भी नहीं छोड़ता' यह अर्थ अधिकार्थवचन से प्रतिपादित होता है। तात्पर्य यह है कि तृण को भी खा गया है इसकी ध्वनि यह है कि— जो भी खाने के लिये दिया गया उस सबको खा लेता है'। जो भी खाने के लिये दिया गया वह खाद्य हो या न हो उसे यदि कोई पूर्णतः खाता है तो वहाँ उस व्यक्ति की निन्दा (या दृष्टिभेद से प्रशंसा) का भाव आता है। इस *तथ्य को दिखाने के लिये काशिकाकार ने 'अधिकार्थवचन'* पद का समावेश किया है। यह अधिकार्थवचन क्या है इसका स्पष्टीकरण काशिका में अन्यत्र किया गया है—स्तुतिनिन्दाप्रयुक्तमध्यारोपितार्थवचनम् अधिकार्थवचनम् (२।१।३३) जैसे श्वलेह्य कूप (कुत्ता के द्वारा लेहनयोग्य कुआँ) कहने से यह प्रतीत होता है कि कूप अत्यन्त छोटा है। कूप का यह छोटापन कूप की निन्दा है। दृष्टिभेद से यह शब्द प्रशंसा का भी बोधक हो सकता है कि यह कूप इतना अगभीर होते हुए भी जल देता है। चाहे प्रकृत स्थिति में निन्दा का भाव हो या प्रशंसा का पर इतना तो निश्चित है कि वाच्यार्थ के साथ स्तुति या निन्दा की ध्वनि अवश्य है। इसी प्रकार सतृणम्' में भी स्तुति या निन्दा की ध्वनि अवश्य ही है क्योंकि प्राचीन व्याख्यान के अनुसार यहाँ भी अधिकार्थवचन है।

१—कातन्त्र में भी 'सतृणमभ्यवहरति' उदाहरण है (चतुष्क २७२ दुर्गटीका)।

पूर्वाचार्यों के अनुसार 'सतृणम् अभ्यवहरति' का तात्पर्य होता है—'खाद्या-खाद्यविवेक न कर सब कुछ खा लेना'। इसका तात्पर्य केवल तृणभक्षण से नही है, केवल भक्षण से भी नही है, बल्कि 'जो मिले उसका कुछ भी न छोडना' यह तात्पर्य है। भट्टोजि ने ठीक ही कहा है—'न किञ्चित् परित्यजतीत्यर्थः, न त्वत्र तृणभक्षणे तात्पर्यम्' (शब्दकौस्तुभ)। शब्दरत्नकार भी कहते हैं—'यस्तृणानि भक्षयेत् स कथमन्यत् परित्यजेत्'—जो तृण ऐसे अखाद्य को भी मिले तो खा लेता है, वह अन्य पदार्थ कैसे छोड सकता है—यह 'सर्वग्रहण-मनोवृत्ति' ही 'सतृणम्' उदाहरण का तात्पर्य है, अविवेकपूर्वक सब कुछ जो ग्रहण करता है, उसकी निन्दा के लिये 'सतृणम् अभ्यवहरति' प्रयोग होता है।

प्रश्न यह उठता है कि 'ग्राह्य-त्याज्य बोध न रख कर अविवेकपूर्वक सब कुछ ग्रहण करना' रूप मनोवृत्ति का प्रकृत लक्ष्य स्थल क्या है? काशिकाकार जब 'अधिकार्थवचन' के अनुप्रवेश की बात करते हैं, तब इस अर्थ मे 'सतृणम्' का कही कोई निश्चित व्यवहार अवश्य होता होगा। कई व्याख्यान ग्रन्थो मे जब 'सतृणम्' उदाहरण है, तब यह मूर्धाभिषिक्त उदाहरण है,[1] यह भी कहना सङ्गत ही है। हम समझते हैं कि अधिकार्थवचन की सत्ता के कारण 'सतृणम्' का कोई निश्चित प्रयोग स्थल था। यह स्थल क्या है, यह विचार्य है।

अनुसधान से ज्ञात होता है कि सतृणाभ्यवहारी शब्द अलकारशास्त्र मे चिरकाल से प्रसिद्ध है, जिसका प्रयोग उस कवि के लिये किया जाता है जो अविवेकपूर्वक सर्वप्रकार के अलकारादि का साकल्येन प्रयोग करता है, यह नही सोचता कि कहाँ किस अलकार-छन्द आदि का प्रयोग करना सगत होता है। काव्यालकार सूत्र मे वामन ने इस मनोवृत्ति का स्पष्ट चित्रण किया है[2]। राजशेखर ने काव्यमीमासा मे इस अर्थ मे सतृणाभ्यवहारिता का विशद

१—मूर्धाभिषिक्त उदाहरण वह है जो सभी वृत्तिग्रन्थो मे उदाहृत किया जाता है—कैयट ने ऐसा ही कहा है (प्रदीप १।१।५७)।

२—अरोचकिन सतृणाभ्यवहारिणश्च कवय। इह खलु द्वये कवय. सभवन्ति-अरोचकिन सतृणाभ्यवहारिणश्चेति। अरोचकि-सतृणाभ्यवहार-शब्दौ गौणार्थौ। कोऽसावर्थ. ? विवेकित्वम् अविवेकित्व चेति—इत्यादि सन्दर्भ (१।२।-१)।

विवेचन किया है[1]। रुय्यक[2] ने भी इस प्रवृत्ति का वर्णन किया है। अलंकार शास्त्र के इन तीन आचार्यों के द्वारा 'सतृणाभ्यवहारी कवि' का जो लक्षण दिया गया है, उसमें 'साकल्यग्रहण'—कुछ भी न छोड़ना—अविवेकपूर्वक सब कुछ ग्रहण का भाव स्पष्ट है। ऐसे कवि काव्यघटक तत्त्वों को अविवेकपूर्वक सर्वत्र लाने की चेष्टा करते थे चाहे उससे कविता में चारुता हो या न हो।

रुय्यक ने अलङ्कारसर्वस्व में सतृणाभ्यवहारी कवि के उदाहरण में चित्रय नामक कवि का उल्लेख किया है और यह कहा है कि ऐसे कवि श्लेष चित्र-यमक के निरन्तर प्रयोग करते रहते हैं (पृ० १२०)। काव्यालङ्कार के लिये तृण की तरह हेय शब्दालङ्कारों को जो कवि अविचारपूर्वक प्रयुक्त करता है और अविवेकपूर्वक सर्वत्र सभी व्यञ्जनार्थहीन अलंकारों का प्रयोग करना उचित समझता है वह 'सतृणाभ्यवहारी कवि' कहलाता है और हमारी दृष्टि में काशिकोक्त 'सतृणम्' (अभ्यवहरति) का लक्ष्य एतादृश कविकर्म ही है। किसी की तुच्छता प्रदर्शित करने के लिये 'न त्वां तृणं मन्ये' प्रयोग संस्कृतभाषा में प्रचलित है। केन उपनिषद् में भी शक्तिपरीक्षणार्थ तृण को जलाने के लिये या तृण को लेने के लिये ही कहा गया है (तृतीय खण्ड)। अतः उपर्युक्त धारणा हमारे समाज में चिरकाल से विद्यमान रही है यह प्रमाणित होता है।

उपर्युक्त विचार से यह स्पष्ट होता है कि 'सतृणम्' का तात्पर्य है—'अत्यन्त तुच्छ तत्त्वों को भी न छोड़ना'। यह भी ज्ञात होता है कि उपर्युक्त निकृष्ट कवि कर्म के लिये ही यह प्रयोग होता था क्योंकि सतृणम् का प्रयोग अन्य तात्पर्य में दृष्ट नहीं होता। इसमें जो निन्दा का भाव (अविचारपूर्वकत्व) अनुस्यूत है वह भी पूर्वोक्त कविकर्म में सम्यक् चरितार्थ होता है।

प्राचीन विशिष्ट उदाहरणों का इस प्रकार विशिष्ट अर्थ होना सर्वथा सङ्गत है। इसी स्थल में काशिका में 'साग्नि' उदाहरण है जिसका (अध्ययी-

---

१—सतृणाभ्यवहारिता सर्वसाधारणी। तथाहि—व्युत्पित्सोः कौतुकिनः सर्वस्य प्रथमं सा। प्रतिभाविवेकविकलता हि न गुणागुणयोर्विभागसूत्रं पातयति ततो बहु त्यजति बहु च गृह्णाति (पृ० १४)।

२—अलंकारसर्वस्व के प्रथम प्रकरण में चार प्रकार के कवियों की गणना है—सत्कवि विदग्धकवि अरोचकिकवि और सतृणाभ्यवहारि कवि। इसमें प्रकरण में इन कवियों का विश्लेषण है। सतृणाभ्यवहारि-कवि गौड़ीरीति को अपनाता है और श्लेष-चित्र-यमकों का बहुल प्रयोग करता है।

भाव समास के अनुसार) साम्प्रदायिक अर्थ है—'अग्निपर्यन्त' (=अन्त मे अग्नि के लेकर), 'अग्नि' का प्रकृत तात्पर्य है—अग्नि ग्रन्थ पर्यन्त=शतपथ ब्राह्मणगत अग्नि-चयन पर्यन्त (शतपथ ब्राह्मण काण्ड ६ से ९ तक का नाम 'अग्नि' है, क्योंकि उसका विषय अग्निचयन है)। यहाँ जिस प्रकार सामान्य अग्नि शब्द का तात्पर्य 'शतपथ ब्राह्मण का एक निश्चित प्रकरण' होता है, उसी प्रकार 'सतृणम्' का तात्पर्य भी उपर्युक्त कविकर्म है, ऐसा कहना अनुचित नही है, विशेष कर उस परिस्थिति मे जब कि अन्य अर्थ मे इस शब्द का कोई शिष्ट प्रयोग मिलता नहीं है।

प्रसगत यह भी ज्ञातव्य है कि काशिका मे जो 'सतृणम् अभ्यवहरति' उदाहरण है, वही सगत है, सिद्धान्तकौमुदीगत 'सतृणम् अत्ति' उदाहरण व्याकरण की दृष्टि से सगत होता हुआ भी परम्परागत प्रयोग की दृष्टि से असगत है, क्योंकि अलकारशास्त्रों में सर्वत्र 'अभ्यवहार' शब्द ही प्रयुक्त हुआ है, अद आदि धातुघटित कोई भी शब्द प्रयुक्त नही हुआ[1]।

एक प्रश्न यह उठ सकता है कि यदि 'सतृणम्' का ऐसा विशिष्ट तात्पर्य है, तो 'साकल्य' का जो दूसरा उदाहरण 'सबुसम्' है, क्या उसका भी कोई विशिष्ट तात्पर्य है? अभी हम इसका उत्तर नही दे सकते।

[२]

लाकृति—६।१।७७ सूत्र के उदाहरण मे 'लाकृति' (लृ+आकृति) शब्द दिया गया है। यह लाकृति उदाहरण कातन्त्र आदि अन्यान्य व्याकरणो मे भी मिलता है (इसी नियम के प्रसग है), अत ज्ञात होता है कि यह मूर्घाभिषिक्त प्राचीन उदाहरण है।

यह विचारना चाहिए कि 'लृ के बाद अच् परे रहने का उदाहरण' देने के प्रसग मे लृ+आकृति=लाकृति (यणादेश कर) दिया गया है। प्रश्न है कि यहाँ लृ+इति=लिति या लृ+उच्चारण=लुच्चारण इत्यादि अन्य कोई उदाहरण भी सरलता से दिया जा सकता था—लाकृतिरूप

१—यह द्रष्टव्य है कि २।१।६ सूत्र के उदाहरण में 'सतृणम्' उदाहरण 'अभ्यवहरति' क्रिया के साथ है, जब कि कुछ अन्य सौत्र पदो के उदाहरणमात्र पठित हुए है। जहाँ इस प्रकार का एक निश्चित वाक्य उद्धृत होता है, वहाँ उसका कोई निश्चित तात्पर्य होगा—ऐसी सभावना होती है। वह निश्चित तात्पर्य क्या हो सकता है—यह दिखाने की चेष्टा यहाँ की गई है।

विवेचन किया है[1]। रुय्यक[2] ने भी इस प्रवृत्ति का वर्णन किया है। अलं शास्त्र के इन तीन आचार्यों के द्वारा 'सतृणाभ्यवहारी कवि' का जो लक्षण गया है उसमें 'साकल्यग्रहण' = कुछ भी न छोड़ना = अविवेकपूर्वक सब ग्रहण का भाव स्पष्ट है। ऐसे कवि काव्यघटक तत्वों को अविवेकपूर्वक खाने की चेष्टा करते थे, चाहे उससे कविता में चारुता हो या न हो।

रुय्यक ने अलङ्कारसर्वस्व में सतृणाभ्यवहारी कवि के उदाहरण में शिव नामक कवि का उल्लेख किया है और यह कहा है कि ऐसे कवि श्लेष वि यमक के निरन्तर प्रयोग करते रहते हैं (पृ १२०)। काव्योत्कर्ष के लिये की तरह हेय शब्दालङ्कारों को जो कवि अविचारपूर्वक प्रयुक्त करता है अविवेकपूर्वक सर्वत्र सभी व्यङ्ग्यार्थहीन अलंकारों का प्रयोग करना उ समझता है वह सतृणाभ्यवहारी कवि' कहलाता है और हमारी दृष्टि काशिकोक्त सतृणम् (अभ्यवहरति) का लक्ष्य एतादृश कविकर्म ही है कि की तुच्छता प्रदर्शित करने के लिये 'न त्वां तृणं मन्ये' प्रयोग संस्कृतभाषा प्रचलित है। केन उपनिषद् में भी शक्तिपरीक्षणार्थ तृण को जलाने के लिये तृण को लेने के लिये ही कहा गया है (तृतीय खण्ड)। अतः उपर्युक्त धार हमारे समाज में चिरकाल से विद्यमान रही है यह प्रमाणित होता है।

उपर्युक्त विचार से यह स्पष्ट होता है कि 'सतृणम्' का तात्पर्य है—'अल्प तुच्छ तत्वों को भी न छोड़ना। यह भी ज्ञात होता है कि उपर्युक्त नि कवि कर्म के लिये ही यह प्रयोग होता था क्योंकि सतृणम्' का प्रयोग अ तात्पर्य में दृष्ट नहीं होता। इसमें जो निन्दा का भाव (अविकार्यवचन अनुस्यूत है वह भी पूर्वोक्त कविकर्म में सम्यक चरितार्थ होता है।

प्राचीन विशिष्ट उदाहरणों का इस प्रकार विशिष्ट अर्थ होना सर्वथ सङ्गत है। इसी स्थल में काशिका में 'साग्नि' उदाहरण है जिसका (अभ्यव

१—सतृणाभ्यवहारिता सर्वसाधारणी। तथाहि-व्युत्पित्सोः कौतुकि सर्वस्य प्रथमं सा। प्रतिमाविवेकविकलता हि न गुणागुणयोर्विभागसूत्रे पातयति ततो बहु त्यजति बहु च गृह्णाति (पृ १४)।

२—अलङ्कारसर्वस्व के प्रथम प्रकरण में चार प्रकार के कवियों की गणना है—उत्कर्षक विदग्धकवि अरोचकिकवि और सतृणाभ्यवहारि-कवि। प्रथम प्रकरण में इन कवियों का विश्लेषण है। सतृणाभ्यवहारि-कवि गौडीरीति को अपनाता है और श्लेष-विन-यमकों का बहुत प्रयोग करता है।

भाव समास के अनुसार) साम्प्रदायिक अर्थ है—'अग्निपर्यन्त' (=अन्त मे अग्नि के लेकर), 'अग्नि' का प्रकृत तात्पर्य है—अग्नि ग्रन्थ पर्यन्त=शतपथ ब्राह्मणगत अग्नि-चयन पर्यन्त (शतपथ ब्राह्मण काण्ड ६ से ९ तक का नाम 'अग्नि' है, क्योकि उसका विषय अग्निचयन है)। यहाँ जिस प्रकार सामान्य अग्नि शब्द का तात्पर्य 'शतपथ ब्राह्मण का एक निश्चित प्रकरण' होता है, उसी प्रकार 'सतृणम्' का तात्पर्य भी उपर्युक्त कविकर्म है, ऐसा कहना अनुचित नही है, विशेष कर इस परिस्थिति मे जब कि अन्य अर्थ मे इस शब्द का कोई शिष्ट प्रयोग मिलता नहीं है।

प्रसगत यह भी ज्ञातव्य है कि काशिका मे जो 'सतृणम् अभ्यवहरति' उदाहरण है, वही सगत है, सिद्धान्तकौमुदीगत 'सतृणम् अत्ति' उदाहरण व्याकरण की दृष्टि मे सगत होता हुआ भी परम्परागत प्रयोग की दृष्टि से असगत है, क्योकि अलकारशास्त्रो मे सर्वत्र 'अभ्यवहार' शब्द ही प्रयुक्त हुआ है, अद् आदि धातुघटित कोई भी शब्द प्रयुक्त नही हुआ[1]।

एक प्रश्न यह उठ सकता है कि यदि 'सतृणम्' का ऐसा विशिष्ट तात्पर्य है, तो 'साकल्य' का जो दूसरा उदाहरण 'सबुसम्' है, क्या उसका भी कोई विशिष्ट तात्पर्य है? अभी हम इसका उत्तर नही दे सकते।

[२]

लाकृति—६।१।७७ सूत्र के उदाहरण मे 'लाकृति' (लृ+आकृति) शब्द दिया गया है। यह लाकृति उदाहरण कातन्त्र आदि अन्यान्य व्याकरणो मे भी मिलता है (इसी नियम के प्रसग है), अत ज्ञात होता है कि यह मूर्धाभिषिक्त प्राचीन उदाहरण है।

यह विचारना चाहिए कि 'लृ के बाद अच् परे रहने का उदाहरण' देने के प्रसग मे लृ+आकृति=लाकृति (यणादेश कर) दिया गया है। प्रश्न है कि यहाँ लृ+इति=लिति या लृ+उच्चारण=लुच्चारण इत्यादि अन्य कोई उदाहरण भी सरलता से दिया जा सकता था—लाकृतिरूप

१—यह द्रष्टव्य है कि २।१।६ सूत्र के उदाहरण मे 'सतृणम्' उदाहरण 'अभ्यवहरति' क्रिया के साथ है, जब कि कुछ अन्य सौत्र पदो के उदाहरणमात्र पठित हुए हैं। जहाँ इस प्रकार का एक निश्चित वाक्य उद्धृत होता है, वहाँ उसका कोई निश्चित तात्पर्य होगा—ऐसी सभावना होती है। वह निश्चित तात्पर्य क्या हो सकता है—यह दिखाने की चेष्टा यहाँ की गई है।

७।३।११२ सूत्र 'उपज्ञान' से सम्बन्ध रखता है और ६।२।१४ सूत्र 'उपज्ञा' से इन दोनों शब्दों के अर्थों के विषय में पहले आलोचना की गई है (द्र० २ परिच्छेद)।

'गुरुलाघव' शब्द के अर्थ पर पं युधिष्ठिर मीमांसक कहते हैं—'काशकृत्स्न अपने संक्षिप्त शास्त्र का प्रवचन करते समय शब्दों के गौरव (=लोक में प्रयोग और लाघव (लोक में अप्रयोग) को मुख्यता दी (सं० व्या० शा० इ० भाग १ पृ० १२ । मीमांसक जी का तात्पर्य है कि काशकृत्स्न ने लोक में अप्रसिद्ध अनेक शब्दों को छोड़ दिया।

डा वासुदेवशरण अग्रवाल भी कहते हैं—काशिका में उल्लेख है कि आपिशलि के व्याकरण में गुरु और लघु सम्बन्धी नियमों का विशेषरूप से प्रतिपादन किया गया था—आपिशलस्युपज्ञं गुरुलाघवम् (६।२।१४)। संभव है कि पाणिनि के ह्रस्वदीर्घप्रकरणों में आपिशलि की सामग्री का उपयोग किया गया है (पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ १५४)।

उपर्युक्त दो अर्थ कहाँ तक युक्तिसंगत हैं, यह विचारित हो रहा है। आपिशलि और काशकृत्स्न से इस लेख का कोई तात्पर्य नहीं है, 'गुरुलाघव' शब्द का अर्थ क्या है यही विचार्य है।

मीमांसकजी ने गौरव-लाघवशब्दों का जो अर्थ दिखाया है, वह काल्पनिक ही है। वर्णित अर्थों में गौरव आदि शब्द पूर्वाचार्यों द्वारा कहीं प्रयुक्त हुए हों यह ज्ञात नहीं है। किञ्च जो ही व्याकरण बनाएगा वह प्रचलितता-अप्रचलितता पर ध्यान अवश्य रखेगा क्योंकि व्याकरण एक स्मृति है और स्मृति सदैव कालावच्छिन्न ही होगी। चिरकाल से प्रचलित सभी शब्दों के सब रहस्य कदापि किसी के द्वारा विज्ञात नहीं हो सकते आचार्य रहस्यान्वेषण की ओर बहुत दूर तक सफल चेष्टा ही कर सकते हैं। अतः 'प्रचलन-अप्रचलन पर दृष्टि देना' किसी आचार्य की उपज्ञा नहीं हो सकता, वह तो सभी को अपनी पद्धति के अनुसार करना ही है।

डा० अग्रवालदर्शित अर्थ में यह विप्रतिपत्ति है कि 'गुरुलघुसम्बन्धी नियमों का विशेषरूप से प्रतिपादन' रूप अर्थ गुरुलाघव शब्द का नहीं हो सकता। गुरुलघु का अर्थ 'गुरुलघुसम्बन्धी नियम' है यह कैसे जाना जा सकता है? इस लाक्षणिक प्रयोग का हेतु क्या है?

डा० अग्रवाल गुरु-लघु का अर्थ 'ह्रस्व-दीर्घ' समझते हैं (संभावना के रूप में)। पर यह संभावना भी उपपन्न नहीं होती क्योंकि ह्रस्व-दीर्घ और लघु-गुरु

एक पदार्थ नही हैं। ह्रस्व=एकमात्रिक अच्, दीर्घ=द्विमात्रिक अच्, पर लघु या गुरु कोई 'अक्षर' ही (स्वरयुक्त व्यञ्जन) होगा—इसी अर्थ मे लघु-गुरु का मुख्य प्रयोग है। पाणिनि के 'ह्रस्व लघु' (१।४।१०), 'सयोगे गुरु' (१।४।११) और 'दीर्घं च' (१।४।१२) सूत्रो की व्याख्याओं से यही जाना जाता है[1]। जो गुरु है वह सदैव दीर्घ ही होगा—ऐसी बात नहीं है, पिष्टक में 'पि' (इकार) ह्रस्व है, पर गुरु है। छन्द शास्त्र मे लघु-गुरु के जितने लक्षण हैं, उन पर ध्यान देने से ह्रस्व दीर्घ म उनका भेद स्पष्ट होगा।

'पाणिनि का ह्रस्वदीर्घ प्रकरण' ऐसा अग्रवालजी कहते हैं। जिस प्रकार प्रत्यय,कारक, समास,इट्, टित्‌कित्, सहिता, प्रकृतिभाव आदि म सबद्ध प्रकरण हैं, उसी प्रकार क्या ह्रस्वदीर्घपरक कोई व्यवस्थित प्रकरण अष्टाध्यायी मे है? अष्टाध्यायी मे गुरु-लघु सम्बन्धी कोई व्यवस्थित प्रकरण भी नही है, अत. अष्टाध्यायी के मूलभूत आपिशालि व्याकरण मे भा एतत्-सम्बन्धी व्यवस्थित प्रकरण था, यह कहना भी असिद्ध है, जबतक न प्रत्यक्ष प्रमाण से ऐसा सिद्ध हो जाए। यह भी विचार्य है कि यदि गुरु-लघु=ह्रस्व दीर्घ हैं, तो गुरु-लघु के बाद अण् प्रत्यय कर 'गुरुलाघवम्' बनाने का क्या आवश्यकता है (ह्रस्वदार्घ 'रूप अर्थ में)? 'आपिशच्युपज्ञ गुरुलघु' भी तो कहा जा सकता है।

जब पूर्वोक्त दो अर्थ उपपन्न नही हुए, तब यह विचार्य होता है कि 'गुरु-लाघवम्'का अर्थ क्या है? यह आचार्यविशेष का उपज्ञानभूत है,यह भूलना नही चाहिए, अत. यह रचना या विचार से सम्बद्ध शैली या रीति विशेप का लक्षण करता है, अत 'गौरव-लाघव परक विचार' ही यहाँ विवक्षित अर्थ होगा, पर वह विचार किस प्रकार का है, इसका परिज्ञान ग्रथदर्शन के बिना नही हो सकता। गौरव लाघव शब्ददृष्टि से भी होता है, अर्थदृष्टि से भी, अन्य दृष्टि से भी। न्याय-शास्त्रगत 'फलमुख गौरव' आदि परक विचार गौरव लाघव-विचार के उदाहरण हैं।

उपर्युक्त अर्थों मे 'गुरुलाघव' शब्द का प्रचुर प्रयोग है। कौटल्य कहते हैं—पुरुषं चापराध च देशकालौ समीक्ष्य च। उत्तमाधम-मध्यत्व प्रदेष्टा दण्डकर्मणि (अर्थशास्त्र ४।१०), कठ० १।२।२ गत 'श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सपरीत्य विविनक्ति धीरः' मन्त्र की व्याख्या मे शकराचार्य कहते हैं—'मनसाऽऽलोच्य

१—ह्रस्वमक्षर लघूच्यते (भाषावृत्ति १।४।१०, द्र० प्र० सर्वस्क १।४।१०)।

उदाहरण ही सर्वत्र क्यों दिया गया ! निश्चयेन 'साकृति' शब्द में कुछ विशिष्टता होगी जिसके कारण अन्यान्य व्याकरणों में भी यह उदाहृत हुआ है।

हम समझते हैं कि प्रारम्भ में कुछ विशिष्टता के कारण ही यह उदाहरण मूर्धाभिषिक्त के रूप में सम्मानित हुआ था। बाद में गतानुगतिकन्यायेन यह उपन्यस्त हो रहा है। 'साकृति' को लेकर निम्नोक्त उद्भट श्लोक इस शब्द की विचित्रता को ख्यापित करता है—

> स्वभावेन हि यः शुद्धो द्व्यादिगुणान्वितोऽपि सः ।
> न जहाति निजं भावं संख्यासु साकृतिर्यथा ॥

तात्पर्य यह है कि जो स्वभाव से शुद्ध है वह चाहे दो-गुना तीन-गुना आदि बढ़ जाए, पर वह अपने धर्म को नहीं छोड़ता जैसा कि साकृति (स की तरह आकृति वाली) संख्या (अर्थात् नौ संख्या) को गुना करने पर देखा जाता है, अर्थात् ९×२=१८ और पुनः १+८=९ ही है, तथैव ९×४=३६ ३+६=९ तथैव ९×४=४८ ४+८=९ इसी प्रकार ९×९=८१ ८+१=९।

प्रश्न होगा कि साकृति में नौ संख्या का क्या सादृश्य है ? उत्तर यह है कि प्रचलित देवनागरी लिपि में भले ही कोई सादृश्य न दृष्टिगोचर हो पर भारत में ऐसी लिपि है (और थी) जिसमें स वर्ण की लिपि और नौ संख्या की लिपि अत्यन्त सदृश हैं (प्रचलित बंगला लिपि या पूर्वभारतीय अन्य लिपियों में यह सादृश्य दर्शनीय है)। जिस वैयाकरण ने 'साकृति' उदाहरण दिया था निश्चयेन उसकी व्यवहार्य लिपि में ९ संख्या और स वर्ण की लिपि अत्यन्त सदृश थी और इस चमत्कार के कारण ही यह 'साकृति' उदाहरण मूर्धाभिषिक्त उदाहरण का पद पा गया था। लोक में जो उदाहरण बहुलमात्रा में (तथा विभिन्न सम्प्रदायों में भी) व्यवहृत होता है उसके मूल में इस प्रकार की कोई बात अवश्य होनी चाहिए।

हमारी दृष्टि में यह उदाहरण मूलतः उस व्याकरण का है जिसके वृत्तिकार की लिपि में ऐसा सादृश्य था। वह कौन सम्प्रदाय हो सकता है यह गवेषणीय है। यह ध्यान देने की वस्तु है कि 'साकृति' का अर्थ तत्पुरुष-समास मानकर किया जा सकता है, बहुव्रीहि मानकर भी पर विभिन्न सम्प्रदायों में बहुव्रीहिसमास ही माना गया है (सकारस्येवाकृतिर्यस्येति विग्रहः—सान्यवृत्ति १४ सूत्र की पञ्जिका टीका), जिससे पूर्वोक्त गूढ़ तात्पर्य ही ज्ञापित होता है। तत्पुरुष मानकर अर्थ करने पर भी सन्धिकार्य की दृष्टि से कोई हानि नहीं है तथापि बहुव्रीहि

मानने की प्रवृत्ति ज्ञापित करती है कि परम्परा मे 'लाकृति' का पूर्वोक्त गूढ अर्थ प्रचलित था। 'बहुव्रीहिसमास यह है' यहा तथ्य पाणिनीय सम्प्रदाय को भी ज्ञात था, यही कारण है कि वासुदेव कहते हैं—लृवर्णस्य आकृतिरिव आकृतिर्यस्येति (बालमनोरमा)। ऋवर्णपरक सन्धि दिखाने के समय भी 'राकृति' दिखाया जा सकता था, पर केवल 'लृ' के विषय मे ही 'आकृति' युत उदाहरण देना निश्चयेन 'लाकृति' के किसी गूढ तात्पर्य का विज्ञापक है।

यह भी द्रष्टव्य है कि सभी आचार्य 'लाकृति' ही कहते हैं, लाकार (लृ+ आकार) इत्यादि समार्थक अन्य शब्द नही देते। 'लाकार' भी ६।१।७७ का सगत उदाहरण हो सकता है। इसमे यह सिद्ध होता है कि 'लाकृति' यही आनुपूर्वी प्रसिद्ध हो गई थी, अत समार्थक शब्दान्तर देने की प्रवृत्ति किसी को नही हुई। ध्यान देना चाहिए कि पूर्वोक्त श्लोक मे 'लाकृति के स्थान पर 'लाकार' पढने से छन्दोदोष होगा, अत यह श्लोक या एतत् सदृश कोई वचन इस उदाहरण के मूल मे अवश्य है, यह स्वीकार्य है।

बहुव्रीहि समासपक्ष मे लृवर्ण से भिन्न किसी पदार्थ को यह शब्द अवश्य ही लक्ष्य करेगा, लृवर्णाकृति और किसी वर्ण की नही है, अत' उपर्युक्त अर्थ में ही इस उदाहरण का तात्पर्य स्वीकार्य है—विशेषकर जब इस सादृश्य मे एक चमत्कारजनक कथन भी उपलब्ध होता हैं।

[३]

गुरुलाघवम्—काशकृत्स्न गुरुलाघवम् (काशिका ४।३।११५)या आपिशल्युपज्ञं गुरुलाघवम् (काशिका ६।२।१४)–ये दो उदाहरण काशिका में मुद्रितरूपेण मिलते हैं। इन उदाहरणो के पाठ मे कुछ भेद मिलता है[1] जिसका निर्णय हस्तलेख के विना नही हो सकता। यहाँ उदाहरणवाक्य के पूर्वांश पर विचार करना नही है (और उसी मे पाठवैलक्षण्य है), यहाँ हम यह मानकर चल रहे हैं कि चाहें आपिशलि हो, चाहे काशकृत्स्न, इन दोनो मे से किसी के व्याकरण को लक्ष्यकर 'गुरुलाघवम्' यह विशेषण (स्वरूपनिर्देशक) दिया गया है। इन दोनो के किसी का व्याकरण पूर्णतया नही मिलता, इन दोनो के व्याकरण के जो भी वचन उद्धृत मिलते हैं, उनमे व्याकरणरचना की प्रकृति का विशद ज्ञान भी नही होता—यह पहले ही ज्ञातव्य है।

१—द्र० स० व्या० शा० इ० भाग ४, पृ० ११९, १३६।

५।१।११५ सूत्र 'उपज्ञात' से सम्बन्ध रखता है और ६।२।१४ सूत्र 'उपज्ञा'से। इन दोनों शब्दों के अर्थों के विषय में पहले आलोचना की गई है (इ० ७९ वाँ परिच्छेद)।

'गुरुलाघव' शब्द के अर्थ पर पं युधिष्ठिर मीमांसक कहते हैं—'काशकृत्स्न ने अपने संक्षिप्त धातु का प्रवचन करते समय शब्दों के गौरव (=लोक में प्रयोग) और लाघव (लोक में अप्रयोग) को मुख्यता दी' (सं० व्या० शा० इ० भाग १ पृ० १२ । मीमांसक जी का तात्पर्य है कि काशकृत्स्न ने लोक में अप्रसिद्ध अनेक शब्दों को छोड़ दिया।

डा वासुदेवशरण अग्रवाल जी कहते हैं—काशिका में उल्लेख है कि आपिशलि के व्याकरण में गुरु और लघु सम्बन्धी नियमों का विशेषरूप से प्रतिपादन किया गया था—आपिशल्युपज्ञं गुरुलाघवम् (६।२।१४)। संभव है कि पाणिनि के ह्रस्वदीर्घप्रकरणों मे आपिशलि की सामग्री का उपयोग किया गया है (पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ ३१४)।

उपर्युक्त दो अर्थ कहाँ तक युक्तिसंगत हैं, यह विचारित हो रहा है। आपिशलि और काशकृत्स्न से इस लेख का कोई तात्पर्य नहीं है 'गुरुलाघव' शब्द का अर्थ क्या है यही विचार्य है।

मीमांसकजी ने गौरव-लाघवशब्दों का जो अर्थ दिखाया है वह काल्पनिक ही है। वर्णित अर्थों में गौरव आदि शब्द पूर्वाचार्यों द्वारा कहीं प्रयुक्त हुए हों यह बात नहीं है। किंच जो ही व्याकरण बनाएगा वह प्रचलितता-अप्रचलितता पर ध्यान अवश्य रखेगा क्योंकि व्याकरण एक स्मृति है और स्मृति सदैव कालावच्छिन्न ही होगी। चिरकाल से प्रचलित सभी शब्दों के सब रहस्य कदापि किसी के द्वारा विज्ञात नहीं हो सकते आचार्य रहस्यान्वेषण की ओर बहुत दूर तक सफल चेष्टा ही कर सकते हैं। अतः 'प्रचलन अप्रचलन पर दृष्टि देना' किसी आचार्य की 'उपज्ञा' नहीं हो सकता यह तो सभी को अपनी पद्धति के अनुसार करना ही है।

डा अग्रवालवर्णित अर्थ में यह विप्रतिपत्ति है कि 'गुरुलघुसम्बन्धी नियमों का विशेषरूप से प्रतिपादन' रूप अर्थ 'गुरुलाघव' शब्द का नहीं हो सकता। गुरुलघु का अर्थ 'गुरुलघुसम्बन्धी नियम' है यह कैसे जाना जा सकता है? इस लाक्षणिक प्रयोग का हेतु क्या है?

डा अग्रवाल गुरु-लघु का अर्थ 'ह्रस्व-दीर्घ' समझते हैं (संभावना के रूप में)। पर यह संभावना भी उपपन्न नहीं होती क्योंकि ह्रस्व-दीर्घ और लघु-गुरु

एक पदार्थ नही हैं। ह्रस्व=एकमात्रिक अच्, दीर्घ=द्विमात्रिक अच्, पर लघु या गुरु कोई 'अक्षर' ही (स्वरयुक्त व्यञ्जन) होगा—इसी अर्थ मे लघु-गुरु का मुख्य प्रयोग है। पाणिनि के 'ह्रस्व लघु' (१।४।१०), 'सयोगे गुरु' (१।४।११) और 'दीर्घं च' (१।४।१२) सूत्रो की व्याख्याओ से यही जाना जाता है[1]। जो गुरु है वह सदैव दीर्घ ही होगा—ऐसी बात नही है, पिष्टक मे 'पि' (इकार) ह्रस्व है, पर गुरु है। छन्द शास्त्र मे लघु-गुरु के जितने लक्षण हैं, उन पर ध्यान देने से ह्रस्व दीर्घ से उनका भेद स्पष्ट होगा।

'पाणिनि का ह्रस्वदीर्घ-प्रकरण' ऐसा अग्रवालजी कहते हैं। जिस प्रकार प्रत्यय,कारक, समास,इट्, ङित्कित्, सहिता, प्रकृतिभाव आदि से सबद्ध प्रकरण हैं, उसी प्रकार क्या ह्रस्वदीर्घपरक कोई व्यवस्थित प्रकरण अष्टाध्यायी मे है? अष्टाध्यायी मे गुरु-लघु-सम्बन्धी कोई व्यवस्थित प्रकरण भी नही है, अतः अष्टाध्यायी के मूलभूत आपिशालि व्याकरण मे भी एतत्-सम्बन्धी व्यवस्थित प्रकरण था, यह कहना भी असिद्ध है, जबतक न प्रत्यक्ष प्रमाण से ऐसा सिद्ध हो जाए। यह भी विचार्य है कि यदि गुरु-लघु=ह्रस्व दीर्घ हैं, तो गुरु-लघु के बाद अण् प्रत्यय कर 'गुरुलाघवम्' बनाने की क्या आवश्यकता है (ह्रस्वदीर्घ 'रूप अर्थ में)? 'आपिशच्युपज्ञ गुरुलघु' भी तो कहा जा सकता है।

जब पूर्वोक्त दो अर्थ उपपन्न नही हुए, तब यह विचार्य होता है कि 'गुरु-लाघवम्'का अर्थ क्या है? यह आचार्यविशेष का उपज्ञानभूत है,यह भूलना नही चाहिए, अतः यह रचना या विचार से सम्बद्ध शैली या रीति विशेष का लक्षण करता है, अत 'गौरव-लाघव-परक विचार' ही यहाँ विवक्षित अर्थ होगा, पर वह विचार किस प्रकार का है, इसका परिज्ञान ग्रथदर्शन के विना नही हो सकता। गौरव लाघव शब्ददृष्टि से भी होता है, अर्थदृष्टि से भी, अन्य दृष्टि से भी। न्याय-शास्त्रगत 'फलमुख गौरव' आदि परक विचार गौरव लाघव-विचार के उदाहरण हैं।

उपर्युक्त अर्थों मे 'गुरुलाघव' शब्द का प्रचुर प्रयोग है। कौटल्य कहते हैं—पुरुषं चापराध च देशकालौ समीक्ष्य च। उत्तमाधम-मध्यत्व प्रदेष्टा दण्डकर्मणि (अर्थशास्त्र ४।१०), कठ० १।२।२ गत 'श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सपरीत्य विविनक्ति धीर' मन्त्र की व्याख्या मे शकराचार्य कहते हैं—'मनसाऽऽलोच्य

१—ह्रस्वमक्षर लघूच्यते (भाषावृत्ति १।४।१०, द्र० प्र० सर्वस्व १।४।१०)।

गुरुलाघवं विविनक्ति पृथक्करोति धीरो धीमान्'। शाकुन्तलगत 'भवन्तमेवात्र गुरुलाघवं पृच्छामि' वाक्य भी इस प्रसंग में स्मरणीय है।[1]

गौरवलाघवतत्त्व विचारविशेष से सम्बन्ध रखता है, अतः यह 'उपज्ञा' हो सकता है; ह्रस्वदीर्घ से उपज्ञा का कोई भी सम्बन्ध नहीं है। आपिशलि या काशकृत्स्न में से किसी ने व्याकरणरचना में गौरव-लाघव सम्बन्धी दृष्टि अपनाई थी। लाघव के बिना भी व्याकरण बनाया जा सकता है, यही कारण है कि भाष्यकार कभी-कभी 'लघ्वर्थम्' कहकर यह दिखाना चाहते हैं कि पाणिनि का अमुक निर्देश लाघव-संपादनार्थ है। संभवतः प्रतिपद-पाठरीति के बाद लाघव-गौरव-विचारपूर्वक सूत्रप्रणयन आरम्भ हुआ था। यह लाघवविचार शब्द, अर्थ, प्रक्रिया और चिन्तनपद्धति—इन चारों में हो सकता है। आपिशलि या काशकृत्स्न ने जो लाघव-विचार शुरू किया था, वह कीदृश था यह अज्ञात है[2]।

१—न गुरुलाघवस्याभासितत्वात् (हरिदत्त दीपिका)। अन्यापि लोके गुरुलाघवं प्रत्यनादरात् अन्यमपि प्रयुङ्क्ते (प्रसाद २।३।२० पृ० पाणिनीयमत-दर्पणवाक्य); अपशब्दे च गुरुलाघवमविमृश्यमित्यदोषः (प्रसाद १।४।२४)।

२—इससे ज्ञात होता है कि आपिशलि व्याकरण में भी अपचार्थक सूत्र थे। पुण्डरीक विद्यासागर ने कातन्त्रप्रदीप में लिखा है—आपिशलीयमते ह्रस्वो लाघवम् अपचार्थमिति पुरुषोत्तमः (कारक २१९)।

त्रिंश परिच्छेद

भाष्यादि के कुछ पाठों की समीक्षा

[१]

तृज्वत् क्रोष्टु (७।१।९५) सूत्र के भाष्य का पाठ है—एव तर्हि न चापर निमित्त संज्ञा च प्रत्ययलक्षणेन। हमारी दृष्टि मे यह पाठ प्रामादिक है, प्रकृत पाठ होगा—'एव तर्हि न—चापर निमित्त च सज्ञा प्रत्ययलक्षणा'। इस विषय मे निम्नोक्त युक्तिया द्रष्टव्य हैं—

(क) 'न चापरम् . ' वाक्य को एक पूर्ण वार्त्तिक समझना चाहिए, यही कारण है कि इसका व्याख्यानभूत भाष्य पठित हुआ है—न चापर निमित्तमाश्रीयते · ·। अत इसको वार्त्तिकरूप से मानना ही उचित होगा।

(ख) अब विचारना चाहिए कि यह श्लोकवार्त्तिक है या गद्यवार्त्तिक। हमारी दृष्टि में यह श्लोकवार्त्तिक है, यह वाक्य पूर्ववार्त्तिकोक्त दोष के समाधान के लिये है, अत दोष और तत्समाधानपरक यह वचन यदि एककर्तृक हो तो यह स्वाभाविक ही है (दोष और तत्समाधान-प्रदर्शक श्लोकवार्त्तिक महाभाष्य मे बहुत्र मिलते हैं)।

(ग) अब देखना चाहिए कि दोषप्रदर्शक वार्त्तिक (तेनैव भात्रन चेत् स्यात् अनिष्टोऽपि प्रसज्यते) यदि अनुष्टुप् मे रचित हो तो समाधानपरक वार्त्तिक (जो उसका अर्धांश है) भी अनुष्टुप् मे ही रचित होगा—इसमें कोई सशय नही है।

ध्यान से देखने से ज्ञात होता है कि 'न चापरम् ' इत्यादि वाक्य अनुष्टुप् छन्द मे ही रचित हुआ था। 'प्रत्ययलक्षणेन' इस पद के स्थान पर 'प्रत्ययलक्षणा' ऐसा पाठान्तर मिलता है, अत यदि 'चकार' का व्यत्यासमात्र कर दिया जाय तो 'सज्ञा प्रत्ययलक्षणा' ऐसा चतुर्थचरण का पाठ सगतरूप से ही उद्भूत होगा। च-कार को तृतीय चरण मे पढ़ना चाहिए, जिससे 'न चापर निमित्त च' ऐसा तृतीय चरण का पाठ निश्चित हो जाए।

यदि प्रश्न हो कि एक ही श्लोकचरण मे (न चापर निमित्त च) दो चकारो का पाठ क्यो किया गया? उत्तर यह है कि वृत्त की रक्षा के लिये ऐसा किया गया है। वस्तुतः शास्त्रीय नियम के अनुसार चकार का पाठ सज्ञाशब्द के बाद

होना चाहिए (अर्थात् 'संज्ञा च प्रत्ययलक्षणा—ऐसा पाठ होना चाहिए) क्योंकि यहाँ संज्ञा का समुच्चय भाष्यकार को इष्ट है जैसा कि भाष्यकार कहते हैं—अङ्गसंज्ञा च भवति प्रत्ययलक्षणेन। पर छन्दोदोष के परिहार के लिये चकार को अस्थान में पढ़ा गया है। वृत्तरक्षार्थ च एव आदि का इस प्रकार का अस्थान में पाठ सर्वत्र देखा जाता है। यह भी ज्ञातव्य है कि 'न चापरम्' का एक पाठान्तर 'न वा परम्' के रूप में मिलता है यह पाठ निश्चयेन पक्षान्तर का सूचक है। यदि इस पाठ को ही मूल पाठ मान लिया जाए तो 'एक श्लोकचरण में दो चकारों का पाठ क्यों किया गया यह प्रश्न उठता ही नहीं है।

यदि 'न चापरं निमित्तं च संज्ञा प्रत्ययलक्षणा' यही मूल पाठ है तो प्रामादिक पाठ का उद्भव ही क्यों हुआ? इस प्रश्न के उत्तर में हमारा कहना यह है—भाष्यकार ने व्याख्या की है—अङ्गसंज्ञा च भवति प्रत्ययलक्षणेन अतएव कालान्तर में किसी ने यह सोचा कि लक्षित वार्तिक में भी वार्तिककार ने 'प्रत्ययलक्षणेन' ऐसा पद अवश्य ही पढ़ा होगा देखा भी जाता है कि वार्तिकोक्त शब्दों को ही भाष्यकार बहुलतया स्वव्याख्या में ले लेते हैं। इस चिन्ताधारा से ही बाद में भ्रमवश वार्तिक में भी 'प्रत्ययलक्षणेन' ऐसा पाठ चिन्तित हुआ, जिससे श्लोकवार्तिक का श्लोकत्व ही नष्ट हो गया (अक्षराधिक्य होने के कारण)। इस प्रकार 'निमित्तं च संज्ञा प्रत्ययलक्षणा' ऐसा वार्तिकशरीर बन जाने पर किसी ने चकार को संज्ञा के बाद रखा, क्योंकि यहाँ संज्ञा का समुच्चय अभीष्ट है। जिसका समुच्चय इष्ट हो उसके बाद चकार को रखने की रीति प्रसिद्ध ही है। इस प्रकार 'न चापरम्' इत्यादि श्लोकवार्तिक अपभ्रंश रूप से पठित हुआ है।

[२]

अचः कर्तृयकि (६।१।१९५) सूत्रभाष्य में कहा गया है—"यकि स्वरे उपसंख्यानम् कर्तव्यम् स्तीर्यते स्वयमेव'। हमारी दृष्टि में यह पाठ अशुद्ध है क्योंकि इस सूत्र में उदात्त का वैकल्पिक विधान किया गया है अतः स्वरभेद-प्रदर्शन के लिये एक उदाहरण को दो बार पढ़ना आवश्यक है। इसी सूत्र के भाष्य में 'उपदेशे अजादीनाम्' वार्तिक के उदाहरण में 'लूयते स्वयमेव' उदाहरण दो बार पढ़ा गया है (स्वरभेद-प्रदर्शन के लिये)। इस सूत्र के भाष्य के अन्त में समाधानवार्तिक के उदाहरण में भाष्यकार ने 'चीयते स्वयमेव' उदाहरण को

दो वार पढा है, अतः हमारा अनुमान है कि 'यंकि रपर ...' वार्तिक का उदाहरण भी दो वार पढा गया होगा। उपसहार मे यदि पतञ्जलि 'स्तीर्यते स्वयमेव' वाक्य को दो वार पढ सकते है (स्वरवैकल्पिकत्व-प्रदर्शन के लिये) तो उपक्रम मे भी ऐसा ही किया गया होगा—ऐसा सहजत. अनुमित होता है।

किसी-किमी सस्करण मे उपक्रम मे 'स्तीर्यते स्वयमेव, जीर्यते स्वयमेव' ऐसा पाठ मिलता है, पर द्वितीय उदाहरण 'जीर्यते' ऐसा यहाँ नही हो सकता, क्योंकि स्वरवैकल्पिकत्वप्रदर्शन के समय उदाहरण मे परिवर्तन करना अन्याय्य है। 'जीर्यते' यह अशुद्ध उदाहरण ही ज्ञापित करता है कि यहाँ कोई शुद्ध उदाहरण था, वह शुद्ध उदाहरण 'स्तीर्यते' ही हो सकता है, यह भी स्पष्ट ही है।

[३]

कर्मवत् कर्मणा तुल्यक्रियः (३।१।८०) सूत्र के निर्णयसागरमुद्रित भाष्य मे यह वाक्य है—तथा कर्मदृष्टश्चेत् समानधातो। तथा कर्मदृष्टश्चेत् समानधाताविति वक्तव्यम् (पृ० ११७)। कीलहर्न सस्करण मे पाठ है—तथा कर्म दृष्टश्चेत् । निर्णयसागर के पाठ मे जहाँ 'कर्मदृष्ट' ऐसा समस्त पद है, वहा कीलहर्न सस्करण मे 'कर्म दृष्ट' ऐसा दो पृथक् पद हैं।

सामान्यदृष्टि से जान पडता है कि 'कर्मदृष्ट' पाठ सगत ही है, यह पद 'कर्ता' का विशेषण है, अतः कोई अनुपपत्ति नही होती (कर्मणा दृष्टः=कमदृष्ट)। पर धीर बुद्धि से विचारने पर ज्ञात होगा कि क्या कर्मकर्तृवाच्य मे कर्ता कर्म द्वारा दृष्ट होता है?

वात वस्तुतः यह है कि यहां कर्म एक पृथक् पद है, तदनुसार अर्थ होगा—कर्ता कर्म (=कर्मरूप) यदि दृष्ट, तर्हि कर्मवद्भावो भवति—कर्ता यदि कर्मरूपेण दृष्ट हो तभी कर्मवद्भाव होता है। 'कुसूल स्वयमेव भिद्यते' वाक्य मे यह वात पूर्णतया घटती है, यह स्वीकार्य है। कैयट भी ऐसा ही कहते हैं, अत कर्म को पृथक्पद मानना कैयट को भी अनुमत है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि कीलहर्न संमत पाठ ही सगत है।

[४]

पाणिनिकालीन भारतवर्ष (पृ० ३३७) ग्रन्थ मे यह सन्दर्भ है—घु = उत्तरपद (। भाष्य ७।२।३), श्लोकवार्तिक ३,—किमिद घोरिति, उत्तरपदस्येति, और भी भाष्य ६।४।१४९,[1] सूत्र ७।१।२१ के भाष्य मे अघु को अनुत्तरपद

१—ग्रन्थ मे मुद्रित पाठ ६।४।१६ है, पर प्रकृत आकरस्थल ६।४।१४९ है।

कहा गया है। कीलहर्न का सुझाव था कि घु का शुद्ध पाठ 'घु' होना चाहिए (इण्डियन एन्टिक्वेरी १६।१०६)।

'घु के स्थान पर घु का सुझाव कहाँ तक युक्तिसङ्गत है—यह विचार्य है।

सूत्र ७।३।१ का श्लोकवार्तिक यह है—'यम वृद्धि र्यामावे' तमेवावम ची हि सा'। यहाँ 'घो।' के स्थान पर कहीं-कहीं 'घो' पाठान्तर मिलता है। पर यदि हम घो के स्थान पर घो' का पाठ करें तो एक मिथ्या छन्दोदोष होगा—घो पाठ कर देने से 'म गुरु हो जाएगा और 'सर्वत्र लघु पञ्चमम्' इस नियम का उल्लङ्घन होगा।

हम जानते हैं कि कुछ ऐसे भी अनुष्टुप्-भेद हैं [१] जिनमें यह नियम माना नहीं जाता [२] पर जिस अनुष्टुप् प्रकार में यह श्लोक लिखा गया है उसमें द्वितीय चरण के पञ्चम अक्षर को लघु होना ही होगा। महाभाष्य में नवाक्षर चरणात्मक अनुष्टुप् प्रयुक्त हुआ है [३] (जो शास्त्रसिद्ध है) पर यहाँ पञ्चम अक्षर को गुरु करने के लिये कोई भी वैकल्पिक मत उपलब्ध नहीं है।

यदि पाठकों को यह संशय हो कि क्या छन्द के बल पर पाठ का निर्णय करना कोई शास्त्रसम्मत मार्ग है तो उत्तर यह है कि पूर्वाचार्यों ने स्वयं ही ऐसा किया है। पाणिनि के आकर्षात् छल् (४।४।९) सूत्र का एक पाठान्तर[४]

१—अनुष्टुप् १२ प्रकार का है—वक्त्र, पथ्यावक्त्र विपरीतपथ्यावक्त्र चपलावक्त्र विपुलावक्त्र इत्यादि।

म-विपुलावक्त्र और र-विपुलावक्त्र आदि कुछ अनुष्टुपों में पञ्चम अक्षर गुरु नहीं होता (पिङ्गलछन्द सूत्र ५।१९ की हलायुधवृत्ति वृत्तरत्नाकर २।८८) म-विपुलावक्त्र के विवरण में विभिन्न छन्द शास्त्रविद् आचार्यों में मतभेद हैं, पर पञ्चम अक्षर की लघुता में सभी एकमत हैं।

३—महाभाष्य में एक श्लोकवार्तिक है—'प्रधानकर्मण्याख्येये ——।' इसका प्रथम चरण नवाक्षर है। अन्यत्र भी ऐसा उदाहरण मिलता है। पुराणों में कई नवाक्षरचरण हैं—'जनमेजयस्य राजर्षे' '' '। यह कोई दोष नहीं है। मात्रावृत्ति (पृ ३२९) में 'भागवृत्ति के मत से नवाक्षरवृत्तभेद भी शास्त्रसिद्ध है' यह दिखाया गया है।

४—द्र सारस्वती सुषमा में प्रकाशित मेरा लेख—'पाणिनीयसूत्रपाठान्तर-सङ्कलनम् (८।१)।

मिलता है—आकषात् ष्ठल्। पूर्वाचार्यों ने स्वय ही कहा है कि 'आकषात् ष्ठल्' यह पाठभेद भ्रष्ट है, क्योकि 'आकर्षात् पर्पादि ठगधिकारे" रूप एक श्लोकवार्त्तिक मिलता है, यदि इस श्लोकवार्त्तिक में 'आकर्षात्' के स्थान पर 'आकषात्' पाठ किया जाए तो छन्दोभग होगा, अत 'आकषात्' रूप सूत्रपाठ मान्य नही है।[1]

उपर्युक्त विचार के अनुसार हम यह कह सकते हैं कि कम से कम श्लोक-वार्त्तिककार ने स्वय 'घो' पाठ ही रखा था, 'द्योः' पाठ नही। इससे यह सिद्ध हुआ कि ७।३।३ मे 'घु' पाठ ही उचित है, 'द्यु' नही।

यह पूर्णत' सम्भव है कि अन्य किसी श्लोकवार्तिक मे उत्तर पद के लिये 'द्यु' यह पारिभाषिक शब्द प्रयुक्त हुआ हो। सभी श्लोकवार्त्तिक एक आचार्य कृत नही हैं, सभी गद्य-वार्त्तिक भी एक आचार्य-कृत नही हैं,[2] अत. अन्य किसी आचार्य ने यदि उत्तरपद के लिये 'द्यु' शब्द रखा हो तो कोई विचित्र बात नहीं है। स्वय पाणिनि ने एक ही शब्द को अष्टाध्यायी मे पारिभाषिक और अपारिभाषिक के रूप मे व्यवहृत किया है।[3] पारिभाषिक शब्दो मे एतादृश वैचित्र्य सर्वत्र रहता है, क्योकि इन शब्दो के निर्माण मे तत्तत् ग्रन्थो के रचयिता स्वतन्त्र बुद्धि से भी कार्य कर सकते हैं। पाणिनि ने स्वय 'घु' शब्द को एक अन्य पारिभाषिक अर्थ मे व्यवहृत किया है (दाधा ध्वदाप्—१।१।२०)। इस 'घु' शब्द को अन्य आचार्य 'उत्तर पद' के अर्थ मे भी व्यवहृत कर सकते हैं, तथा अन्य आचार्य इस अर्थ मे द्यु' शब्द भी प्रयुक्त कर सकते हैं। यहाँ तक कि एक ही आचार्य एक ही ग्रन्थ में एकाधिक पारिभाषिक शब्द एक ही अर्थ मे प्रयुक्त करते हैं—पाणिनि भी एक ही अर्थ मे आङ्–टा, जस्–जसि इत्यादि दो-दो शब्दो का व्यवहार करते हैं, अत. ऐसी कोई अनिवार्यता उत्पन्न नही हो सकती जिसके लिये 'घु' को 'द्यु' बनाना ही पडे (जब तक इसके लिये कोई स्पष्ट प्रमाण न मिले।)

१—ज्ञानेन्द्र सरस्वती कहते है—एतच्च कषखष इत्यादि दण्डके माधवेनोपन्यस्तम्। किन्तु आकर्षात् पर्पादि इति वार्त्तिकस्य अननुगुणम्। तत्र हि नीरेफपाठे वृत्तावसगतिप्रसगात् (तत्त्वबोधिनी ४।४।९)।

२—द्र० सस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, भाग १, अध्याय ८।

३—'गुण' शब्द का व्यवहार पारिभाषिक और अपारिभाषिक—दोनो अर्थों में अष्टाध्यायी में है, उसी प्रकार स्वाङ्ग शब्द भी। पाणिनि ने अमनुष्य शब्द का प्रयोग रक्ष-पिशाचादि कई अर्थों मे किया है। शब्दो का इस प्रकार

अब हम ६।४।१४९ सूत्रगत वार्तिक पर विचार करते हैं। यहाँ 'चोमोषो उन्तिवविस्य' श्लोकवार्तिक है कैयट कहते हैं—'घ-शब्देन उत्तरपदं पूर्वाचार्यप्रसिद्धयोच्यते' (प्रदीप)। यहाँ घु-पाठ के स्थान पर 'घु' करने की आवश्यकता नहीं है और यह प्रतीत होता है कि यह अन्य किसी आचार्य का श्लोकवार्तिक है जिसमें उत्तरपद के लिये 'घु' यह पारिभाषिक शब्द रखा था। पर यह भी ज्ञातव्य है कि यहाँ भी 'घो' के स्थान पर 'घो' यह पाठान्तर मिलता है (भाष्य में भी प्रदीप में भी—निर्णयसागर संस्क० द्रष्टव्य) अतः ऐसी कल्पना की ही जा सकती है कि 'घु' पाठ ही लिपिसाम्य के कारण 'घु' हो गया है। यदि यहाँ घो के स्थान पर 'घो' पाठ किया जाए तो कोई छन्दोदोष नहीं होता यह ज्ञातव्य है।

हम इस पक्षको युक्ततर समझते हैं कि मूल में 'घु' पाठ हो था और बाद में कारणविशेष से 'घु' को 'घु' बना दिया गया। वह कारण यह है—जैनेन्द्र व्याकरण में समासगत उत्तर पद को 'घ' माना गया है (१।३।१०४ समासे ययुत्तरपदं तद् घुसंज्ञं भवति (जैनेन्द्र व्याकरण महावृत्ति)। इस प्रकार हो सकता है कि अन्य प्राचीन सम्प्रदायों में भी उत्तरपद के लिये 'घु' संज्ञा का प्रचलन था जिसके कारण पाणिनीय सम्प्रदाय में स्वीकृत 'घु' को भी भ्रम से 'घु' माना गया था (लिपिसाम्य भी इस भ्रम का कारण हो सकता है)। घु-पाठी शायद यह भी समझते थे कि चूंकि पाणिनीय तन्त्र में घु संज्ञा अन्य अर्थ के लिये नियत है (द्र अष्टा १।१।२) अतः उस 'घु' शब्द का पुनः 'उत्तर पद' के अर्थ में प्रयोग नहीं हो सकता। पर यह दृष्टि असङ्गत है क्योंकि श्लोक-वार्तिककार पाणिनिव्यवहृत पारिभाषिक शब्द को अन्य अर्थ में प्रयुक्त कर सकते हैं जैसा कि पहले कहा गया है।

अष्टा० ७।१।२१ के श्लोकवार्तिक में 'घो' के स्थान पर 'घो' पाठान्तर मिलता है यह भी उपर्युक्त भ्रम के कारण ही है यहाँ 'घो' को 'घो' मानने की कुछ भी आवश्यकता नहीं है।

[५]

वावावीनाम्—सारस्वतीसुषमा के ज्येष्ठ २ १ में श्रीकांति मिश्रमहोदय का एक लेख प्रकाशित हुआ है। जिस में यह प्रतिपादित किया गया है कि सिद्धान्त

विचित्र प्रयोग सकारण है। अत विभिन्न स्रोतों से पाणिनीय सामग्री सङ्कलित हुई है अतः तत्तत् संप्रदायों में असंकीर्ण रूप से व्यवहृत शब्द पाणिनितन्त्र में संकीर्ण हो गए हैं, लेखान्तर में यह विषय विवृत हुआ है।

कौमुदी मे पठित 'वाचादीनामुभावुदात्तौ' (८३) यह फिट् सूत्रपाठ अशुद्ध है और शुद्ध पाठ 'वावादीना उभावुदात्तौ' ही है। इस प्रमाणीकरण के लिये श्री भिक्षुजी ने जो प्रयास किया है, वह स्तुत्य है।

पर यह पूरा प्रयत्न व्यर्थ है, क्योकि हम गुरुपरम्परा से 'वावादीना' ही पढते आये हैं, 'वाचादीना' रूप पाठान्तर है—ऐसा हमारे सम्प्रदाय मे ज्ञात नही है, प्रतीत होता है कि ग्रन्थसपादक के प्रमाद से सिद्धान्तकौमुदीगत सूत्र का पाठ भ्रष्ट हो गया है। शब्देन्दुशेखर मे नागेशभट्ट ने 'वावादीना' पाठ की ही व्याख्या की है, प्रक्रियाकौमुदी (पृष्ठ ७५३) मे 'वावादीनामुभावुदात्तौ' ही पाठ मुद्रित हुआ है।

इस विषय मे इतना और जानना चाहिए कि शब्देन्दुशेखर मे 'वावादीना-मुभौ' इतना ही सूत्र हैं, 'उदात्तौ' यह पद अनुवृत्ति के रूप मे आया है।

[६]

नान्तः पादम् और प्रकृत्यान्त.पादम्—६।१।११५ सूत्र का पाठ 'प्रकृत्यान्तः पादमव्यपरे है या 'नान्त.पादमव्यपरे'—इसपर पूर्वाचार्यों मे मतभेद है, जिसका समाधान अपेक्षित है। कई पूर्वाचार्यों ने 'नान्त पादम्' पाठ का निर्देश किया है[1]। शब्दकौस्तुभ (१।१।३) आदि मे भी यह पाठभेद निर्दिष्ट हुआ हैं।

पूर्वापर विचार कर हम समझते हैं कि प्रकृत (पाणिनिसमत) पाठ'प्रकृत्यान्त.-पादम्'है, न कि 'नान्त पादम् '। वार्त्तिककार ने ही 'नान्तः पादम्' ऐसा कहा है। इस विषय मे निम्नोक्ति युक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

जो कहते हैं कि 'नान्त पादम्' ही सूत्र है उनका कहना है कि एतत्-सूत्र-सम्बद्ध वार्त्तिको (अर्थात् नान्त पादमिति सर्वप्रतिषेध [2] और नान्त.पादमिति सर्वप्रतिषेधश्चेदतिप्रसग.) का आरम्भ ही ऐसा है कि उससे सूत्र का पाठ 'नान्तःपादम्' ही सिद्ध होता है। यदि 'नान्त.पादम्' ऐसा पाठ न होता—

१—काशिका मे 'प्रकृत्या .' पाठ हैं और साथ ही कहा गया है—केचिदिद सूत्र नान्त पादमव्यपरे इति पठन्ति, ते सहितायामिह (६।१।७२) यदुच्यते तस्य सर्वस्य प्रतिषेध वर्णयन्ति।

२—'नान्त पादमिति सर्वप्रतिषेध.' को वार्त्तिक मानना सगत ही है। यदि ऐसा न माना जाए तो 'नान्त पादमिति सर्वस्याय प्रतिषेध ' रूप भाष्यव्याख्या-पंक्ति का कोई सार्थक्य नही रहता।

(प्रकृत्याश्चः पादम् पाठ होता) तो वार्तिककार सहज रूप से 'प्रकृत्येति सर्व-प्रतिषेधः'—ऐसा कह सकते थे ।

उत्तर में वक्तव्य है कि वार्तिककार निश्चित ही जानते थे कि सूत्रपाठ का यह प्रकरण प्रकृतिभाव से संबद्ध है यही कारण है कि उन्होंने 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' (६।१।१२५) सूत्र के वार्तिक में 'तत्र तस्मिन् प्रकृतिभावार्थं' ऐसा कहा है ।[1] यदि वार्तिककार 'नास्य' पादम्' के रूप में ही ६।१।१२५ सूत्र को जानते तो वे 'प्रकृतिभाव' रूप एक नूतन विशिष्ट शब्द (६।१।१२५ सूत्र द्वारा कृत) का प्रवर्तन नहीं करते ।

इस समाधान पर प्रश्न हो सकता है कि यदि वार्तिककार ने 'प्रकृत्यान्तः पादम्' पाठ को ही सूत्र रूप में देखा था तो उन्होंने 'नास्त्यपादम्' के रूप में सूत्र का निर्देश अपने वार्तिक में क्यों किया ? हमारा कहना है कि अनेक स्थलों में सूत्रव्याख्यान, सूत्रोल्लेख आदि में वार्तिककार सूत्रगत शब्दों का यथावत् उल्लेख नहीं करते हैं । अतः सन्देहास्पद स्थलों में वार्तिकमात्र से सूत्रपाठ का निर्णय नहीं करना चाहिए । उदाहरणार्थ—जिस सूत्र में 'विभाषा' शब्द है, वार्तिककार उसके निर्देश में 'वा' शब्द का प्रयोग करते हैं[2] जिस सूत्र में 'संप्रसारण' शब्द है उसके निर्देश में वे 'प्रसारण' शब्द का प्रयोग करते हैं, सूत्र में जहां 'अन्यतरस्याम्' है वहां सूत्रनिर्देशक वार्तिक में 'वा' है (६।१।१८८) ।

वार्तिककार चूंकि स्वयं ही 'प्रकृतिभाव' शब्द का व्यवहार करते हैं (६।१।१२५) इसलिये सहजरूप से ही निश्चित किया जा सकता है कि यह प्रकरण प्रकृतिभाव से ही सम्बद्ध है और विचार्यमाण ६।१।११५ सूत्र (एक अवान्तर प्रकरण के प्रारम्भिक सूत्र होने के कारण) में अवश्य ही 'प्रकृत्या' (अर्थात् प्रकृतिभाव) शब्द था । यतः ११५ सूत्र में प्रकृत्या का

१—सु० अचग्रहणं किमर्थम् ? अचि प्रकृतिभावो यथा स्यात् (भाष्य ६।१।१२५) ।

२—६।१।१८८ सूत्र में ६।१।१८७ सूत्र से 'अन्यतरस्याम्' पद की अनुवृत्ति आती है और काशिकाकार ने ६।१।१८८ की व्याख्या में 'अन्यतरस्याम् आदि रुदात्तो भवति' कहा भी है । पर इस सूत्र के वार्तिक में 'स्वपादीनां वावचनात्' ——— ऐसा कहा गया है जहाँ स्वपादीनाम् अन्यतरस्यां वचनात् ऐसा कहना उचित होता ।

व्यावहारिक अर्थ 'सन्निकार्य का निषेध' ही है, अत. निषेधपरक रूप में ११५ सूत्र को निर्दिष्ट करने मे कात्यायन ने कोई दोष नही देखा।

अब यह प्रश्न उठता है कि यदि सूत्र निषेधरूप न होकर विधिरूप मे है तो क्यो पतञ्जलि ने सूत्रविचार का आरम्भ निषेधप्रदर्शन मे किया है ('कस्यायं प्रतिषेध' कहकर), सूत्र निषेधप्रदर्शक नही है, क्योकि प्रकृत्या = स्वभावेन विद्यमानता है (यही प्रकृतिभाव है)। हमारा उत्तर है कि महाभाष्य का साक्षात् व्याख्येय मूल (जिसका आश्रय कर भाष्य प्रणीत हुआ है) पाणिनि का सूत्र नही है, वल्कि वार्त्तिक है, जैसा कि हरदत्त ने कहा है—प्राक्षेपसमाधानपरो ग्रन्थो भाष्यम्, तदिह कात्यायनप्रणीताना वाक्याना पतञ्जलिप्रणीत विवरणम्[1] (पदमञ्जरी)। चूकि वार्त्तिकशब्द को लेकर भाष्यकार को चलना है, अतः उन्होंने 'नान्त ' रूप पाठ के अनुरूप भाष्य का आक्षेपवाक्य कहा है (वार्त्तिक मे 'न' है, अत उनको 'प्रतिषेध' कहना पडा है)।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि भाष्यकार निश्चयेन जानते थे कि यह प्रकरण 'प्रकृतिभाव' प्रकरण है और ६।१।११५ सूत्र में 'प्रकृत्या' शब्द है (न कि सूत्र सन्धिनिषेधप्रदर्शक निषेधमूलक है)। यही कारण है कि 'इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च' (६।१।१२१) के भाष्य मे उन्होने कहा है—किमर्थश्चकार· ? प्रकृत्येत्येतद् अनुकृष्यते। 'अनुकृष्यते' शब्द निःसशयरूपेण सिद्ध करता है कि इससे पूर्व 'प्रकृत्या' पदघटित कोई सूत्र था, अत. ६।१।११५ सूत्र मे 'प्रकृत्या' शब्द है, यह निश्चित है।

इस प्रसङ्ग में यह भी विचार्य है कि पाठभेद के इतने महत्त्वपूर्णस्थल मे कैयट सर्वथा मौन हैं। अत्यन्त साधारण स्थलो मे भी कैयट पाठान्तर दिखाते हैं, अत यह मानना होगा कि कैयट के पास पाठभेदसम्बन्धी कोई सूचना नही थी। अब सोचना चाहिए कि यदि 'नान्त.' रूप पाठ को कैयट जानते तो 'प्रकृत्या इत्येतद् अनुकृष्यते' पर वे मौन न रहकर अवश्य ही कुछ विचार करते, अत यहा सोचना सङ्गत है कि कैयट की दृष्टि मे सूत्रपाठ 'प्रकृत्यान्त. पादमव्यपरे' ही था।[2]

१—यही कारण है कि भाष्यकार को विवरणकार भी कहा जाता है—भाष्यकारो विवरणकारत्वात् (प्रदीप)।

२—प्रकृतिभाव का व्यावहारिक रूप एतत्-प्रकरणोक्त सन्धिकार्य का

हम यह समझते हैं कि वार्तिककार का वाक्य (विधिपरक सूत्र में निषेधपरक वार्तिक का उपस्थापन) ही इस प्रकार के पाठभेद का जनक है। वस्तुतः 'प्रकृत्यान्तः पादम्' पाठ को मानने पर भाष्यवाक्यों की सङ्गति में कोई बाधा नहीं होती [१]।

[७]

स्वमोर्नपुंसकात् (७।१।२३) के भाष्य का प्रथम वार्तिक है—स्वमोर्लुक् त्यदादिभ्यश्च। उसके बाद यह वार्तिक पठित हुआ है—'ह्रस्वे ह्रस्वे न लुम् भवेत्।

हम समझते हैं कि यहाँ एक ही श्लोकवार्तिक का पूर्वार्ध है जो किञ्चित् भ्रष्ट हो गया है। इसका प्रकृत पाठ होगा—स्वमोर्लुक् च त्यदादीनां ह्रस्वे ह्रस्वे न लुम् भवेत्। इस विषय में निम्नोक्त युक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

अष्टम्य औत् (७।१।२१) सूत्र में दो श्लोकवार्तिक हैं। उनमें द्वितीय श्लोकवार्तिक का जो उत्तरार्ध है (स्वमोर्लुक् च त्यदादीनाम्) उसका कोई प्रयोजन ७।१।२१ सूत्र में नहीं है जैसा कि कैयट ने कहा है—स्वमोरिति उत्तरसूत्रोपस्थाप्यमानार्थग्रहः। वस्तुतः इस वाक्य का उपयोग ७।१।२३ सूत्र में ही है।

अब सोचना चाहिए कि यदि 'स्वमोर्लुक् च त्यदादीनाम्' वाक्य का उपयोग ७।१।२३ में ही हो तो वहाँ इसी वचन का पाठ इस रूप से ही होना चाहिए—'स्वमोर्लुक् त्यदादिभ्यश्च इस प्रकार भिन्न रूप से पाठ करने की कुछ भी आवश्यकता नहीं है। देखा जाता है कि ७।१।२१ सूत्रभाष्य में इस वचन के उत्तरार्ध का जो पाठ है वही अविकृत रूप से ७।१।२३ में पठित हुआ है

प्रतिषेध ही है, अतः ६।१।११५ भाष्य के प्रारम्भ में 'नान्तः पादम्' यह वाक्य देखकर भी कैयट को 'प्रकृत्यान्तःपादम्' सूत्र के किसी पाठान्तर की सत्ता की सम्भावना प्रतीत नहीं हुई—यह स्पष्ट है।

१—'नान्तःपादम्' यह वाक्य वार्तिक ही हो सकता है सूत्र नहीं क्योंकि भाष्य में इस वाक्य की वैसी ही व्याख्या की गई है जैसी व्याख्या वार्तिकों की की जाती है।

(कृते ह्रस्वे न लुग् भवेत्)। अत. यह अनुमान करना सर्वथा सगत ही होगा कि प्रथम चरण का पाठ भी 'स्त्रमोलुंक् च त्यदादीनाम्' ऐसा ही होना चाहिए। ऐसा पाठ मानने पर अनुष्टुप् का एक अर्ध पूर्ण हो जाता है तथा अर्थ भी समीचीन ही होता है—यह ज्ञातव्य है।

श्लोकवार्त्तिक के पाठ मे (७।१।२३ में) जो भ्र श हुआ है, उसका कारण भाष्यकार का 'स्वमोलुंक् त्यदादिभ्यश्चेति वक्तव्यम्'—यह वाक्य है। इस वाक्य को देखकर किसी को यह भ्रम हुआ होगा कि व्याख्येय वार्त्तिक भी इस प्रकार का ही होगा, क्योंकि भाष्य-शब्दानुसार वार्त्तिक होता है। पर यहाँ चूंकि वाक्य का श्लोकवार्त्तिकत्व बलवत् प्रमाण से सिद्ध है, अतः यहाँ विचारित पाठ ही सगत है।

[८]

हेलाराजीय टीका का एक भ्रष्ट पाठ—वाक्यपदीय तृतीयकाण्ड, जातिसमुद्देश ३४ कारिका की व्याख्या मे हेलाराज लिखते हैं—सा च उदयव्ययरहित-त्वात् नित्या सत्प्रत्ययस्य सर्वदानुवृत्तेः। एते सत्तामात्रस्यात्मनो महतः षड् विशेषपरिणामा' यत् तत् पर विशेषेभ्यो लिङ्गमात्र महतत्त्वं तस्मिन्नेते सत्तामात्रे महत्यस्मिन् अवस्थाय यत् तन्निःसत्तासत्त निःसदसद् अव्यक्तमलिङ्गं तस्मिन् प्रतियन्तीत्येव साख्ये बुद्धितत्त्व महच्छब्दवाच्यमाद्यं जगत्कारण निर्दिष्टम् (पृ ४२, सुब्रह्मण्य अय्यारसम्पादित सस्क०)।

यहाँ 'षड् विशेष परिणामाः' पाठ अशुद्ध है, समीचीन पाठ है—'षड् अविशेषपरिणामा'। महदात्मा के छह अविशेष परिणाम साख्यशास्त्र मे स्वीकृत हुए हैं—पञ्चतन्मात्र और अस्मिता (इन्द्रियोपादानभूत, यह अहकार या षष्ठ अविशेष भी कहलाता है)। इस स्थल के दो पाठान्तर भी टिप्पणी में सगृहीत हुए हैं (यद् विशेषा' परि, षद्भिशेषपरिणामाः), पर ये दो भी अत्यन्त भ्रष्ट हैं।

हेलाराजोक्त सन्दर्भ व्यासभाष्य में इसी आनुपूर्वी में मिल जाता है (ईषत् पाठवैलक्षण्य सहित)। पाठकों के ध्यानाकर्षणार्थ हम अपेक्षित भाष्यगत वाक्य उद्धृत कर रहे हैं—एते सत्तामात्रस्यात्मनो महत षडविशेषपरिणामा. ... ... तस्मिन्नेते सत्तामात्रे महत्यस्मिन् अवस्थाय (२।१९)।

हम यह समझते हैं कि वार्तिककार का आशय (विधिपरक सूत्र में निषेधपरक वार्तिक का उपस्थापन) ही इस प्रकार के पाठभेद का जनक है। वस्तुतः 'प्रकृत्यान्तःपादम्' पाठ को मानने पर भाष्यवाक्यों की सङ्गति में कोई बाधा नहीं होती [१]।

[७]

स्वमोर्नपुंसकात् (७।१।२३) के भाष्य का प्रथम वार्तिक है—स्वमोलु क् त्यदादिभ्यश्च। उसके बाद यह वार्तिक पठित हुआ है—'कृते कृते न लुग् भवेत्।

हम समझते हैं कि यहाँ एक ही श्लोकवार्तिक का पूर्वार्ध है जो किञ्चित् भ्रष्ट हो गया है। इसका प्रकृत पाठ होगा—स्वमोलु क च त्यदादीनां कृते कृते न लुग् भवेत्। इस विषय में निम्नोक्त युक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

अष्टाभ्य औश् (७।१।२१) सूत्र में दो श्लोकवार्तिक हैं। उनमें द्वितीय श्लोकवार्तिक का जो उत्तरार्ध है (स्वमोलु क च त्यदादीनाम्) उसका कोई प्रयोजन ७।१।२१ सूत्र में नहीं है जैसा कि कैयट ने कहा है—स्वमोरिति उत्तरसूत्रोपस्थाप्यमानाभ्यसंग्रहः। वस्तुतः इस वाक्य का उपयोग ७।१।२३ सूत्र में ही है।

अब सोचना चाहिए कि यदि 'स्वमोलु क् च त्यदादीनाम्' वाक्य का उपयोग ७।१।२३ में ही हो तो वहाँ इसी वचन का पाठ इस रूप से ही होना चाहिए—'स्वमोर्लु क् त्यदादिभ्यश्च' इस प्रकार भिन्न रूप से पाठ करने की कुछ भी आवश्यकता नहीं है। देखा जाता है कि ७।१।२१ सूत्रभाष्य में इस वचन के उत्तरार्ध का जो पाठ है वही अविकृत रूप से ७।१।२३ में पठित हुआ है

प्रतिषेध ही है अतः ६।१।११५ भाष्य के आरम्भ में 'मान्तःपादम्' यह वाक्य देखकर भी कैयट को 'प्रकृत्यान्तःपादम्' सूत्र के किसी पाठान्तर की सत्ता की सम्भावना प्रतीत नहीं हुई—यह स्पष्ट है।

१— मान्तःपादम् यह वाक्य वार्तिक ही हो सकता है, सूत्र नहीं क्योंकि भाष्य में इस वाक्य की वैसी ही व्याख्या की गई है जैसी व्याख्या वार्तिकों की की जाती है।

(कृते ह्यत्वे न लुग् भवेत्)। अतः यह अनुमान करना सर्वथा सगत ही होगा कि प्रथम चरण का पाठ भी 'त्वमोर्लुक् च त्यदादीनाम्' ऐसा ही होना चाहिए। ऐसा पाठ मानने पर अनुष्टुप् का एक अर्ध पूर्ण हो जाता है तथा अर्थ भी समीचीन ही होता है—यह ज्ञातव्य है।

श्लोकवार्त्तिक के पाठ मे (७।१।२३ में) जो भ्रश हुआ है, उसका कारण भाष्यकार का 'त्वमोर्लुक् त्यदादिभ्यश्चेति वक्तव्यम्'—यह वाक्य है। इस वाक्य को देखकर किसी को यह भ्रम हुआ होगा कि व्याख्येय वार्त्तिक भी इस प्रकार का ही होगा, क्योकि भाष्य-शब्दानुसार वार्त्तिक होता है। पर यहाँ चूंकि वाक्य का श्लोकवार्त्तिकत्व बलवत् प्रमाण से सिद्ध है, अतः यहाँ विचारित पाठ ही सगत है।

[८]

हेलाराजीय टीका का एक भ्रष्ट पाठ—वाक्यपदीय तृतीयकाण्ड, जातिसमुद्देश ३४ कारिका की व्याख्या मे हेलाराज लिखते हैं—सा च उदयव्ययरहितत्वात् नित्या सत्प्रत्ययस्य सर्वदानुवृत्ते.। एते सत्तामात्रस्यात्मनो महतः षड् विशेषपरिणामा यत् तत् पर विशेषेभ्यो लिङ्गमात्र महत्तत्त्व तस्मिन्नेते सत्तामात्रे महत्यस्मिन् अवस्थाय यत् तन्निःसत्तासत्त नि.सदसद् अव्यक्तमलिङ्गं तस्मिन् प्रतियन्तीत्येव साख्ये बुद्धितत्त्व महच्छब्दवाच्यमाद्यं जगत्कारणं निर्दिष्टम् (पृ ४२, सुब्रह्मण्य अय्यारसम्पादित संस्क०)।

यहाँ 'षड् विशेष परिणामा' पाठ अशुद्ध है, समीचीन पाठ है—'षड् अविशेषपरिणामा'। महदात्मा के छह अविशेष परिणाम साख्यशास्त्र में स्वीकृत हुए हैं—पञ्चतन्मात्र और अस्मिता (इन्द्रियोपादानभूत, यह अहकार या षष्ठ अविशेष भी कहलाता है)। इस स्थल के दो पाठान्तर भी टिप्पणी में सगृहीत हुए हैं (यद् विशेषा परि, षद्मिशेषपरिणामाः), पर ये दो भी अत्यन्त भ्रष्ट हैं।

हेलाराजोक्त सन्दर्भ व्यासभाष्य में इसी आनुपूर्वी में मिल जाता है (ईषत् पाठवैलक्षण्य सहित)। पाठको के ध्यानाकर्षणार्थ हम अपेक्षित भाष्यगत वाक्य उद्धृत कर रहे है—एते सत्तामात्रस्यात्मनो महत षडविशेषपरिणामा. ...... तस्मिन्नेते सत्तामात्रे महत्यस्मिन् अवस्थाय (२।१९)।

[९]

वाक्यपदीय (२।३६६) का पाठ है—दुष्यायामनुनिष्पत्तौ ध्ये-ग्रा-धा इत्युदाहृतम् । न हृष्यादिष्वयमतो धातवो ढेषु दर्शादिवत् स्मृताः ॥ यह श्लोक कैयट कृत प्रदीप टीका (५।१।८४) में उद्धृत है जहां पूर्वार्ध का पाठ है—धे-ध-सो इत्युदाहृतम् ।

यह आश्चर्य का विषय है कि उद्धरण देते समय न कैयट ने और न प्रदीप-व्याख्याकार नागेश ने पाठान्तर का कोई उल्लेख किया, नागेश ने 'धे-ध-सो' का चित-यज्ञ-सोम रूप संक्षिप्त शब्दों का उल्लेख भी कर दिया है। वाक्यपदीय-व्याख्याकार पुण्यराज का संमत पाठ 'ध्ये-द्रा-धा' ही है, क्योंकि उन्होंने 'ध्येद्रादिषु न व्याख्या' ऐसा कहा है।

—

एकत्रिंश परिच्छेद

आचार्यनाम एवं विभाषा-वा-घटित सूत्रों का तात्पर्य

यह बात असन्दिग्ध है कि अष्टाध्यायी की रचना से पहले व्याकरणशास्त्र की सर्वांगीण आलोचना हुई थी और यह भी एक प्रमाणित सत्य है कि आचार्य पाणिनि ने प्राचीन आचार्यों के ग्रन्थो से सामग्री का यथेच्छ चयन किया है।

इस निबन्ध मे पाणिनिस्मृत पूर्वाचार्यमतसबधी कुछ प्रश्नो को लेकर एक संक्षिप्त आलोचना की जा रही है।

पाणिनिकर्त्तृक आचार्यनामस्मरण—इस विषय मे कई प्रश्न विचारणीय हैं। यथा—पाणिनि ने जिन आचार्यों के नाम लिए है, उनसे भी प्राचीन अनेक प्रसिद्ध आचार्य थे, जिनके नाम उन्होने छोड दिए, इस वर्जन का कारण क्या हो सकता है? क्या उन सबो के मत पाणिनिसस्मृत आचार्यो के ग्रथो में सङ्गृहीत हो चुके थे, इसी लिये सूत्रकार ने इन्द्र आदि आचार्यों के नामो का स्मरण नही किया? क्या यह भी हो सकता है कि पाणिनि के समय अतिप्राचीन इन्द्रादि-आचार्यों द्वारा परिगृहीत विशिष्ट प्रयोगो का प्रचलन नही था, इसलिये उनकी दृष्टि मे आचार्यों का नाम लेने की कोई सार्थकता नही थी? इसके साथ यह भी विचार्य है कि पाणिनि पर प्राचीन आचार्यो का ऋण कितना है, अर्थात् उन्होने प्राचीन आचार्यों के सिद्धान्तो के कितने अश का ग्रहण किया तथा कितने का बहिष्कार किया—यह भी विचारणीय है।

सूत्रस्मृत आचार्य नामो का विश्लेषण—अष्टाध्यायी मे जिन आचार्यनामों का उल्लेख है, उनके स्वरूप के विषय में कुछ आलोचना आवश्यक है। ६।२।३५ सूत्रोक्त 'आपिशलि' नाम तथा अन्य कतिपय नाम अपत्यप्रत्ययान्त हैं। १।२।२५ सूत्रगत काश्यप नाम 'गोत्रप्रत्ययान्त' है (गोत्र और अपत्य में भेद है)। ७।१।१४ में प्रयुक्त 'गालव' नाम की प्रकृति क्या है, यह कहना कठिन है। यह गलु भी हो सकता है, गलव भी। शाकटायन का नाम कई स्थलो पर है (३।४।१११, ८।३।१८, ८।४।५० सूत्रो में)। अष्टाध्यायी के नडादिगण मे शकट शब्द है, तदनुसार शाकटायन के पूर्वपुरुष का नाम शकट रहा होगा। परन्तु भाष्यकार ने ३।३।१ सूत्र के भाष्य में शाकटायन को शकट का तोक=

पुष्प कहा है। यह हो सकता है कि भाष्यकार ने तोक शब्द का गौण अर्थ में प्रयोग किया हो, क्योंकि निघण्टु ग्रन्थ (२।२) में तोक शब्द अपत्य-सामान्यवाची के रूप में पठित है। आचार्य सेनक का नाम ५।४।११२ सूत्र में है। इस नाम के शाब्दिक विश्लेषण के विषय में कुछ प्रामाणिक ज्ञातव्य नहीं है। आचार्य स्फोटायन का स्मरण ६।१।१२३ सूत्र में किया गया है। हरदत्त की व्याख्या के अनुसार माना जाता है कि आचार्य का नाम स्फोटायन नहीं था परन्तु यत वे स्फोटतत्त्वपरायण थे अतः उनका नाम स्फोटायन पड़ गया था। अन्य किसी भी सूत्र में इस प्रकार का गुणानुसारी नाम दृष्ट नहीं होता। यदि हरदत्त की बात सत्य मानी जाए तो यह भी मानना होगा कि आचार्य का यथार्थ नाम विस्मृत हो गया था। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि जो लोग इस सूत्र में स्फोटायन के स्थान पर स्फौटायन' पाठ करते हैं, उनके मतानुसार, स्फोट नामधेय कोई पुरुष स्फौटायन का पूर्वपुरुष रहा होगा। बहुसंमति के अनुसार यथार्थ नाम स्फोटायन ही है परन्तु यह उपाधि है अथवा गोत्रापत्यवाची इस विषय का निर्णय करना कठिन है। व्याख्याकारों ने स्फोटायन नाम की व्याख्या में प्रचलित प्रथा का अतिक्रमण क्यों किया यह गवेषणीय है।

आचार्याणाम् पदघटित सूत्र—कुछ सूत्र ऐसे हैं, जिनमें आचार्य-विशेष का नाम नहीं लिया गया प्रत्युत सम्प्रदाय-विशेषवाची 'प्राचाम्' (प्राचाम् = पूर्वाचार्याणाम् वा प्राग्देशीयानां वा—३।१।९० ४।१।१७) और 'उदीचाम्' (४।१।१५७ ६।३।३२ ७।३।४६) शब्द कहे गए हैं। १।१।७५ भाष्यानुसार ये पद भी केवल विकल्पार्थक हैं। यह मत कहाँ तक समीचीन है यह आगे कहा जाएगा।

कुछ सूत्रों मे जो 'प्राचाम्' पद है —सका अर्थ 'प्राग्देश' है जैसा कि ४।२।१२३ में देखा जाता है। 'प्राचाम्' पद से कहाँ देश और कहाँ आचार्य लिए जायेंगे,यह व्याख्यान से ज्ञात होता है। कहीं-कहीं सूत्राभिप्राय से भी देशरूप अर्थ प्रतिभात हो जाता है जैसा कि प्राचां कटादेः (४।२।१३९) प्राचां ग्रामनगराणाम् (७।३।१४) प्राचां नगरान्ते (७।३।२४) आदि सूत्रों में देखा जाता है।

ऐसे भी सूत्र हैं जिनमें 'प्राचाम्' पद के तात्पर्य के विषय में मतभेद देखा जाता है। 'एङ् प्राचां देशे' (१।१।७५) इसका एक उदाहरण है। काशिका में देशार्थ लिया गया है (तथा प्राग्-उदग्-देशभेद का ज्ञापक वाक्य भी कहा गया है) पर कुणि नामक प्राचीन वृत्तिकार ने प्राक्-पद को आचार्य-विशेष

मानकर सूत्र की व्याख्या की है। भाष्यकार कुणिमत को ही युक्त समझते हैं[1]। ऐसे सूत्र भी हैं जिनमे 'प्राचाम्' पद की द्विविध व्याख्या सगत हो सकती है, (लक्ष्यानुसार व्याख्या मे सकोचादिकर) जहां एकतरपक्ष का निर्धारण करना अवश्य ही दुष्कर है, कारनाम्नि च प्राचा हलादौ (६।३।१०) सूत्र गत 'प्राचा' पद की द्विविध व्याख्या की जाती है और दोनो व्याख्याए दृष्टिभेद से स्वीकृत होती हैं[2]।

हम समझते है कि ऐसे स्थलो मे प्राचीनतर व्याख्यान के विना अन्तिम निर्धारण करना दुष्कर है।

सूत्र में आचार्यशब्दोल्लेख—पाणिनि ने कुछ सूत्रो मे 'आचार्याणाम्' (७।३।४९) पद का व्यवहार किया है। यहाँ आचार्य पद का प्रयोग किस अर्थ में हुआ है—यह चिन्त्य है। किसी के मतानुसार पाणिनि ने इसका प्रयोग अपने गुरु के लिये किया है। गुरु के निर्देश मे बहुवचन का प्रयोग करने की परिपाटी अनतिप्राचीन है, अत यह मत साशयिक है। अन्यो का मत है कि 'आचार्याणाम्' अर्थात् 'केषाञ्चित् आचार्याणाम्'। हमारे मत से 'आचार्याणाम्' पद की महिमा से पाणिनि जिन पदो की सिद्धि करना चाहते हैं, वे पद अधिकाश आचार्यों द्वारा अभ्युपगत हो चुके थे और कुछ आचार्य उनके विरोधी भी थे। अभिप्राय यह है कि जिन प्रयोगो के समर्थक और खण्डनकारी दोनो तुल्यवल थे उनको 'इको यणचि' (६।१।७७) आदि की भांति नित्य नहीं कहा जा सकता, न पूर्ण रूप से उनका अभ्युपगम ही किया जा सकता, अत दोनो पक्षो का सामञ्जस्य करने के लिये सूत्रकार को 'आचार्याणाम्' कहना पडा।

१—कुणिना प्राग् ग्रहणमाचार्यनिर्देशार्थं व्यवस्थितविभाषार्थं चेति व्याख्यातम्, तेन क्रोडो नामोदग्ग्रामस्तत्र भवः 'क्रौड' इत्यणेव भवति। अन्येन तु प्राग्ग्रहण देशविशेषण व्याख्यातम्। भाष्यकारस्तु कुणिदर्शनमशिश्रियत् (प्रदीप १।१।७४)। 'आचार्यनाम' मानने पर मतभेद ज्ञात होता है, पर देश-नाम मानने पर सूत्रोक्त कार्य वैकल्पिक नही होता—प्राचामिति देशविशेषण न विकल्पार्थमिति दर्शयति (द्र० न्यास—एङ् प्राचा देशे)।

२—प्राचामिति चैतदुभयथा व्याख्यायते—प्राचामाचार्याणा मतेन, हलादावुत्तरपदे कारनाम्न्यलुक् भवति .... अथवा प्राचा देशे यत् कारनाम .. चेति (प्रदीप)।

अधिकांश आचार्य उन प्रयोगों को मानते थे, अतः उन सबों का नाम देना सम्भव न था। यही कारण है कि सूत्रकार ने बहु-आचार्य-सम्मति ज्ञापनार्थ 'आचार्याणाम्' पद का प्रयोग न्याय्य समझा[1]।

शंका हो सकती है कि सर्वाचार्यसम्मत विधि में यदि आचार्य नाम का प्रयोजन न हो तो 'हलि सर्वेषाम्' (८।३।२२) सूत्र में 'सर्वेषाम्' पद क्यों है? उत्तर यह है कि आचार्य की सूत्ररचनाशैली ही यहाँ इस प्रयोग का कारण है। यदि सूत्रों का क्रम अन्य रूप से किया जाए तो 'सर्वेषाम्' पद की कोई भी सार्थकता नहीं रह जाती जैसा कि काशिकाकार ने स्पष्ट कहा है—'सर्वग्रहणं शाकटायनस्यापि लोपो यथा स्यात्'। यह निश्चित है कि इस सूत्र में यदि 'सर्वेषाम्' पद न रहता तो सन्देह हो सकता था कि ८।३।२८ सूत्रोक्त लोप शाकटायन के मत में होगा या नहीं। अतः यह मानना होगा कि सन्देह-निरसन के लिये ही आचार्य ने 'सर्वेषाम्' पद रखा है।

८।३।१०४ सूत्र में 'एकेषाम्' पद का प्रयोग है। यद्यपि 'एकेषाम्' पद को सामान्यतः विकल्पार्थ समझा जाता है (एकेषां ग्रहणं विकल्पार्थम्—न्यास ८।३।१०४) पर इसका अभिप्राय क्या है यह विचार्य ही है। यह पद किसी भी विशिष्ट सम्प्रदाय का साक्षात् वाचक नहीं है। पता नहीं कि 'एक' शब्द 'मुख्य सिद्धान्त' के लिये प्रयुक्त हुआ है अथवा ऐसे प्रयोगों के लिये जिनको पाणिनि स्वयं नहीं मानते थे पर च कुछ प्रमाणभूत आचार्य उनको मानते थे। 'इत्येके' ऐसा वाक्य भी तभी लिखा जाता है जब ग्रन्थकार किसी बहु-अप्रमुखमत मत का उल्लेख करना चाहता है चाहे उसमें उसकी रुचि हो या नहीं। 'मुख्य' अर्थ में एक पद का प्रयोग बहुत्र किया गया है।

आचार्य-नाम-ग्रहण की पाणिनीय शैली—पाणिनि ने अनेक सूत्रों में प्राचीन आचार्यों के नाम लिए हैं परन्तु जिस रीति से उन्होंने ऐसा किया है वह अनेक अनेक आर्ष ग्रन्थकारों की रीति से भिन्न है। देखा जाता है कि अन्य शास्त्रों के आचार्य अन्य आचार्यों के नामस्मरण के समय नाम के पूर्व 'इति' शब्द का और स्वयंमात्र नाम में प्रथमाविभक्ति का प्रयोग करते हैं।

---

[1] पूर्व सूत्र से अनुवृत्त अन्याचार्यमतों की निवृत्ति की लिये 'आचार्याणाम्' पद प्रयुक्त हुआ है, ऐसा भी देखा जाता मत है। 'मातराचार्याणाम्' (६।३।४९) की व्याख्या में न्यासकार कहते हैं—असति आचार्यग्रहणे उदीचामित्यधिकाराद् विकल्पः स्यात्।

परन्तु आचार्य पाणिनि ने न तो 'इति' शब्द का प्रयोग किया है और न 'प्रथमा-विभक्ति' ही का। प्राचीन आचार्य जहाँ 'अवस्थितेरिति काशकृत्स्न" (ब्रह्मसूत्र १।४।२२), अविवेकनिमित्त इति पञ्चशिख' (साख्यसूत्र ६।६९), इन्द्रियनित्य वचनमित्यौदुम्बरायण ' (निरुक्त १।१) इत्यादि प्रयोग करते हैं, वहाँ पाणिनि कहते हैं—'ओतो गार्ग्यस्य' (८।३।२०) या 'अड् गार्ग्यगालवयो.' (७।३।९९)। यह पाणिनीय शैली प्रातिशाख्यो मे भी है, यथा—उदात्तो वाल्मीके: (तै० प्रा० १८।६)। यदि पाणिनि प्राचीनतर आचार्य की रीति को मानते तो उन्हे कहना पडता 'ओत इति गार्ग्य ' या 'अडिति गार्ग्य-गालवौ'। परन्तु उन्होने ऐसा नहीं किया। अवश्य ही प्राचीन पद्धति का त्याग कर नवीन पद्धति के आश्रयण मे सूत्रकार का कोई विशिष्ट उद्देश्य रहा होगा।

यह ज्ञातव्य है कि साख्य-वेदान्तादि के ग्रन्थो मे प्राचीन आचार्यों का केवल मत ही उपन्यस्त रहते हैं, उनके द्वारा व्यवहृत वर्णानुपूर्वी नही। हम समझते हैं कि 'इति' पद से मत का निर्देश हो सकता है, व्यवहृत शब्दावली मात्र का नही, और चूंकि सूत्रकार को पूर्वाचार्य-व्यवहृत शब्दावली अभीष्ट थी, अतः परि उन्होने 'इति' पद का त्याग किया है। ऐसा करने का विशेष प्रयोजन है। दर्शनादि-शास्त्र चिन्ता-प्रधान है, अत दर्शनशास्त्रकारो के मतोद्धरण मे यदि अर्थभेद न हो, तो शब्दभेद होना कोई दोष नही, क्योकि दार्शनिक ग्रन्थो मे सिद्धान्त का ही खण्डन-मण्डन होते हैं, प्रतिपक्ष द्वारा व्यवहृत शब्दानुपूर्वी-मात्र का नही।

परन्तु व्याकरण-शास्त्र मे यह बात नही है। इस शास्त्र का विषय और प्रमाण, दोनो शब्द ही हैं। महाभाष्यकार ने कहा है—शब्द-प्रमाणका वयम्, यच्छब्द आह तदेवास्माक प्रमाणम्[1], इसी कारण जब पाणिनि ने आचार्यों के नामो का उल्लेख किया तब उन्हे आचार्यों द्वारा व्यवहृत शब्दावली का भी ग्रहण यथासभव करना पडा। तात्पर्य यह है कि सांख्यसूत्रगत 'अविवेकनिमित्त इति पञ्चशिख ' सूत्र का यह अभिप्राय मानना आवश्यक नही है कि आचार्य पञ्चशिख ने अपने ग्रन्थो में 'अविवेकनिमित्त' शब्द का ही व्यवहार किया था, प्रत्युत यह सम्भव है कि उन्होने 'अविवेकनिमित्त' मत का प्रतिपादक किसी अन्य शब्द का (अविद्या, अदर्शन आदि) व्यवहार किया हो। परन्तु

१—शब्दानुसारेणैवार्थगतिर्न वस्त्वनुसारेण, तदुच्यते -यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणमिति (उद्द्योत ७।१।३३)।

पाणिनिसूत्र 'ओतो गार्ग्यस्य' से यही समझना चाहिए कि गार्ग्य के ग्रन्थ में 'ओत्' शब्द एतत्सम्बन्धी सूत्र में था (पूर्ण संभावना ऐसी ही है)।

इति' शब्द के प्रयोग से मतमात्र लक्षित होता है, शब्दानुपूर्वी नहीं [1] इसका एक उदाहरण लीजिए। निरुक्त (१।४ पा) में नाम के धातुजत्व के विषय में शाकटायन के मत को दिखाया है—नामानि आख्यातजानीति शाकटायन। महाभाष्य में पतञ्जलि भी इसी मत को उद्धृत करते हैं—'शाकटायन आह धातुजं नामेति' (३।३।१)। यहाँ एक ही पदार्थ के लिये पहले वाक्य में 'आख्यात' शब्द है दूसरे में 'धातु'। यदि 'इति' से शब्दानुपूर्वी के ग्रहण का ही नियम होता तो ये दो वाक्य एक ही प्रकार के होते।

आचार्यनामघटित सूत्रों में आचार्य-व्यवहृत शब्द—इस शब्द-निर्देश का सबसे बलिष्ठ प्रमाण यह है कि पाणिनि के आचार्यपदघटित सूत्रों में व्यवहृत कई पद पाणिनि से प्राचीन आचार्यों द्वारा व्यवहृत हुए हैं। एक उदाहरण लीजिए। पाणिनि का एक सूत्र है— वा सुप्यापिशलेः (६।१।९२) हमारे सिद्धान्तानुसार इसका तात्पर्य यह है कि 'सुप्' शब्द आपिशलिद्वारा व्यवहृत है, अर्थात् प्राक्पाणिनीय है। और वस्तुतः सुप् शब्द प्राक् पाणिनीय है भी क्योंकि पाणिनीय सम्प्रदाय में एक प्राक् पाणिनीय परिभाषा व्यवहृत होती है, जिसमें सुप् शब्द है—गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक्सुबुत्पत्तेः। इस उदाहरण से यह सिद्ध होता है कि आचार्य-नामघटित सूत्रों के शब्द प्राक् पाणिनीय हैं।

किसी का मत है कि पाणिनि ने इति का त्याग शाब्दिक लाघव के लिये किया है परन्तु केवल शाब्दिक लाघव के लिये एक सफल प्राचीन रीति का बहिष्कार पाणिनि ने किया ऐसा विश्वास नहीं होता। यदि यह मान लिया जाय तो यह भी स्वीकरणीय होगा कि पाणिनि की रचनाशैली में सर्वत्र प्राचार्य कृत शब्दप्रयोग की अपेक्षा शाब्दिक लाघव अधिक है। परन्तु पाणिनि की रचनापद्धति में ऐसे स्थल हैं जहाँ पूर्वाचार्यों के सूत्रों की अपेक्षा अधिक

१—पर्यायमपगम के लिये पाणिनि ने इति शब्द का प्रयोग किया है, यह 'नवेति विभाषा' (१।१।४४) सूत्र से जाना जाता है—'न-वा शब्दाभ्यां पद इतिशब्द' प्रयुज्यमान तौ स्वरूपपदार्थकात् प्रच्याव्य अर्थपदार्थकत्वे व्यवस्थापयति (न्यास)।

शाब्दिक गौरव है और स्वेच्छा से पाणिनि ने ऐसा किया है। यथा—प्राक्-पाणिनीय व्याकरण मे कार्यी और कार्य दोनो मे प्रथमा विभक्ति का प्रयोग किया गया था (द्र० प्रदीप टीका ६।१।१६३ और ८।४।७), परन्तु पाणिनि ने कार्यी मे षष्ठी विभक्ति का प्रयोग किया है, जिसमे अधिक शाब्दिक गौरव होता है, सस्कृत के प्रायः सभी शब्दो मे प्रथमा की अपेक्षा षष्ठी मे अधिक शाब्दिक गौरव है। इससे प्रमाणित होता है कि पाणिनि ने 'इति' का त्याग केवल शाब्दिक लाघव के लिये न कर किसी गूढार्थ के द्योतन करने के लिये किया है। इस गूढार्थ पर हमारा अनुमान यही है कि पाणिनि को प्राचार्यों द्वारा व्यवहृत शब्दावली अभीष्ट थी, जिन पाणिनि ने अनेक सूत्रो मे पूर्वाचार्य-व्यवहृत शब्दो का यथावत् व्यवहार किया है, जिसके कारण कही-कही सूत्रार्थ मे सशय उत्पन्न हो गया है, वे यदि आचार्यनामघटित सूत्रो मे आचार्यव्यवहृत शब्दो का प्रयोग करें तो उसमे विस्मित होने की कोई बात नही है।

पूर्वाचार्यनामघटित अनेक सूत्र पाणिनि द्वारा स्वीकृत नियम के अनुसार नही हैं, अत वे सूत्र प्राक्पाणिनीय हैं—ऐसा मानना पडता है। पाणिनिसूत्रगत शब्दवैचित्र्य भी कुछ सूत्रो के प्राक्पाणिनीयत्व का ज्ञापक है, यथा—

तृतीयादिषु भाषितपुस्क पुवद् गालवस्य (७।१।७४) सूत्र मे 'तृतीया' शब्द प्राक्पाणिनीय है। उसी प्रकार गार्ग्यादि-नामघटित ८।४।६७ सूत्र मे परवाची 'उदय' शब्द है, जो पूर्वाचार्य-व्यवहृत है।

उसी प्रकार 'उदीचामात स्थाने यकपूर्वायाः' (७।३।४६) सूत्र की स्त्रीलिङ्ग-घटित रचना भी पाणिनीय रीति के अनुसार असमञ्जस है। इस प्रकार हम देखते हैं कि पूर्वाचार्य-नामघटित सूत्रो मे प्राचार्य-व्यवहृत शब्द ही व्यवहृत हुए हैं—ऐसा कहना सगत ही है।

सूत्रान्तर्गत नामस्मरण—प्राय सभी सूत्रो मे प्राचीन आचार्यों के नाम सूत्र के अन्त मे लिए गए हैं। परन्तु कही-कही सूत्र के मध्य मे भी नाम प्रयुक्त हुए हैं, यथा—सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे (१।१।१६), यहाँ 'सम्बुद्धाविता-नार्षे शाकल्यस्य' होना चाहिए था। यह चिन्तनीय है कि सूत्र के बीच मे आचार्य का नाम क्यो पढा गया।

सब प्रकरणो मे पूर्वाचार्यस्मरण क्यों नहीं है? यह भी आचार्यनाम-स्मरणपरक विमर्श मे विचार्य वस्तु है। अष्टाध्यायी के प्राय सभी मुख्य मुख्य प्रकरणो में किसी न किसी प्राचीन आचार्य का नाम है, पर कृत्,

तद्धित और समास प्रकरण में किसी भी आचार्य का नाम नहीं है। समासान्त (५।४।११२) में सेनक का नाम है जिससे ज्ञात पड़ता है कि सेनक के व्याकरण में समास का विचार था। इतने विशाल तीन प्रकरणों में किसी का भी मत उपन्यस्त न होने से यह संदेह हो जाता है कि कदाचित् प्राचीन आचार्यों के शब्दशास्त्रों में इन तीन विषयों का सामान्य निर्देश ही था। प्रचलित प्रातिशाख्यों में इन विषयों का विवेचन दृष्ट नहीं होता। यह भी हो सकता है कि इन तीन विषयों में पूर्वाचार्यों से पाणिनि का कोई मतभेद नहीं था इसीलिये कहीं भी उन्होंने मतान्तर का उल्लेख नहीं किया परन्तु यह समाधान विचारणीय है[1]।

प्राक्पाणिनीय वैयाकरणों के जितने उद्धृत वचन आजतक मिले हैं उनसे विदित होता है कि प्राचीन व्याकरणग्रन्थों में तद्धित आदि का समावेश था। पर संभवतः यह विषय वहाँ 'सामान्य' रूप से विवृत था पाणिनि ने अनेक 'विशेष' सूत्रों का प्रवर्तन कर उन उन सामान्य विचारित विषयों को पूर्णाङ्ग किया। लोक में एक आभाणक प्रचलित है—'विशेषः पाणिनेरिह' (मुग्धबोध व्याकरण सूत्र १२ पर दुर्गादास की टीका) अतः किसी विरोधस्थल के उपस्थित न होनेके कारण सूत्रकार ने मतान्तर का उल्लेख नहीं किया।

पूर्वाचार्यनामोल्लेख का हेतु—यह प्रश्न उठ सकता है कि पाणिनि ने अपने सूत्रों में आचार्यों के नाम रखे ही क्यों? कहा जा सकता है कि जिस मत के साथ किसी आचार्यविशेष का उल्लेख है वह मत अन्य आचार्य द्वारा अभ्युपगत न हो। परन्तु पाणिनि उस मत को मानते थे या नहीं यह एक अनुसन्धेय विषय है। हम समझते हैं कि आचार्यनाम के साथ कथित मत को पाणिनि भी मानते थे अन्यथा वे उसका बहिष्कार कर सकते थे[2]। आचार्य के मत के प्रति आग्रह यदि न हो तो उनका नाम लेना अनर्थक है। निरुक्तभूत वार्ष्यायणि नाम पर

१—कृत् तद्धित और समास में व्याकरण की अपेक्षा अभिधान अधिक प्रामाणिक माना जाता है। भाष्यकारने कहा है—'अभिधानलक्षणा कृत्तद्धितसमासाः'। मुग्धबोधव्याकरणकार ने भी कहा है—कृत्तद्धितसमासानामभिधानं नियामकम् (सू ११८३)। संभव है इसीलिये प्राचीन आचार्यों ने कृत्तद्धितसमास पर अधिक विचार नहीं किया था।

२—आचार्यनामस्मरण का यह उद्देश्य अवश्य है कि वह मत स्वाभिमत है—इस तथ्य का ज्ञापन करना। व्यासभाष्य २।५५ में प्रत्याहारविषयक जैगीषव्यमत

स्कन्द कहते हैं—वाप्यायिनिरिति आचार्यग्रहण न स्वमत व्युदसितु, किन्तर्हि उक्तस्यैवार्थस्य दार्ढ्यार्थ्यं मतान्तरस्यानुपन्यासात् (पृ० २६)।

पाणिनि ने अपने से प्राचीन चाक्रवर्मण आदि शाब्दिकों के कुछ वचनों को तो अपने ग्रन्थ में ग्रहण किया है, किन्तु कुछ का पूर्णतः बहिष्कार किया है, यद्यपि वे नामग्रहणपूर्वक सिद्धान्तों का उल्लेख कर सकते थे। इससे प्रतीत होता है कि सूत्रकार ने केवल उसी मत का उल्लेख नहीं किया है जिसे वे अपनी दृष्टि में असम्यक् समझते थे, या अपने व्याकरण की परिधि में नहीं लाना चाहते थे। जहाँ-जहाँ सूत्रकार ने विकल्प का विधान किया है, वहाँ मानना होगा कि वे दोनों ही प्रयोगों को साधु समझते थे। किन्तु कुछ स्थलों में सूत्रकार ने प्राचीन आचार्यों के मतों का खण्डन भी किया है, अतः उनके ग्रन्थों में अभ्युपगत सभी सूत्र उनके मतानुसार किसी न किसी रूप से साधु रहे होंगे, अन्यथा वे असाधु मतों का खण्डन करते।

सूत्रकार ने जिन जिन मतों के साथ आचार्य-नामों का उल्लेख किया है, वे अर्वाचीन व्याकरण ग्रन्थों में वैकल्पिक विधि के रूपमें उपन्यस्त हुए हैं और अर्वाचीन वैयाकरणों ने प्रायः पाणिनि की भाँति आचार्यों के नामों का स्मरण न करमत का वैकल्पिकत्व ही दिखाया है। जैसे—लोपः शाकल्यस्य (८।३।१९), सब अर्वाचीन व्याकरणों में यह लोपविधि सर्वथा वैकल्पिक रूप से उपदिष्ट है।

परन्तु यहाँ एक और विषय द्रष्टव्य है। यदि यह माना जाए कि आचार्य नाम केवल 'वैकल्पिकत्व' के ही अभिप्राय से लिए गए हैं, तो यह प्रश्न उठता है कि 'वा सुप्यापिशलेः' (६।१।९२) सूत्र में एक साथ 'वा' और 'आपिशलि' इन दोनों शब्दों का युगपत् प्रयोग क्यों है ? प्राचीन व्याख्याकारों का कथन है कि

उद्धृत है, जिसपर विवरणकार कहते हैं—स्वाभिप्रेता [वश्यता] आख्यायते। यह भी मानना होगा कि चूंकि वैयाकरण स्मर्ता होते हैं, अतः शिष्टलोकविदित किसी शब्द (अर्थात् साधु शब्द) का स्मरण यदि कोई आचार्य करते हों, और पाणिनि स्मरण नहीं करते (या पाणिनि अपनी दृष्टि से उसको असाधु समझते हों) तो वह शब्द साधु ही माना जाएगा, भले ही पाणिनीयानुसारी वैयाकरण उसका प्रयोग न करे। वैयाकरण साधुत्व का नियामक या प्रतिपादक नहीं है—लोक ही नियामक है। व्याकरण साधुत्व का ज्ञापनमात्र करता है।

ऐसे स्थलों पर आचार्य-नामों का ग्रहण पूजार्थ है[1]। परन्तु इसका अभिप्राय स्पष्ट नहीं है। सच बात यह है कि 'वा सुपि' यह आपिशलि का मत है, अर्थात् 'अकारादि सुब्धातु परे रहते वृद्धि विकल्प करके होती है'—यह आपिशलि का मत है जिसे पाणिनि भी मानते हैं।

हम पहले कह चुके हैं पाणिनि शाकल्यादि आचार्यों के मतों को प्रमाण मानते थे अतः उन्होंने उनके नामों का उल्लेख किया है। यह भी देखा जाता है कि किसी मत के प्रतिपादन में दो आचार्यों के नाम उल्लिखित हैं, यथा— त्रिप्रभृतिषु शाकटायनस्य (८।४।५०) और सर्वत्र शाकल्यस्य (८।४।५१) यहाँ यह कहना होगा कि पाणिनि दोनों ही मतों को साधु मानते थे, अतः उन्होंने दोनों नामों का स्मरण किया।

सूत्रों में आचार्य-नाम निर्देश का हेतु क्या है, इस पर पतञ्जलि ने विचार किया है। उनका कहना है कि यदि 'कार्यशब्दवाद' माना जाए तो आचार्य-नामघटित सूत्र वैकल्पिक नहीं होगा, बल्कि एकपक्षीय प्रयोग का विधायक होगा, अर्थात् आचार्यविशेष के प्रामाण्य के कारण तत्तत् प्रयोग साधु माना जाएगा। यदि 'नित्यशब्दवाद' माना जाए तो आचार्य प्रयोग का व्यवस्थापक न होकर स्मर्ता मात्र होगा अतः स्मर्ता आचार्य का नामनिर्देश पूजार्थक होगा क्योंकि अन्य सभ्य आचार्य उस विशेष सूत्र-कार्य का स्मरण नहीं करते हैं।

इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य (६।३।६१) सूत्र का उदाहरण देकर भाष्यकार ने समझाया है कि कार्यशब्दवाद में अर्थ होगा—यतः गालव ह्रस्वप्रयोगकारी है अतः ह्रस्व का ही प्रयोग करना चाहिए (इस प्रकार यह सूत्र वैकल्पिक नहीं होगा)। नित्यशब्दवाद में अर्थ होगा-गालव ने ह्रस्व का ही स्मरण किया है, पर अन्यों ने ऐसा स्मरण नहीं किया अतः अन्य स्मृति के अनुसन्धान द्वार से यह सूत्र वैकल्पिक हो जाता है। पाणिनीय सम्प्रदाय नित्यशब्दवादी है अतः

१—तृषिमृषिकृशेः काश्यपस्य (१।२।२५) काश्यपग्रहणं पूजार्थं वेत्येव हि वर्तते (भाष्य) गिरेश्च सेनकस्य (५।४।११२) सेनकग्रहणं पूजार्थं विकल्पोऽनुवर्तत एव (काशिका) अवङ् स्फोटायनस्य (६।१।१२३) स्फोटायनग्रहणं पूजार्थं विभाषेत्येव वर्तते व्यवस्थितविभाषेयं तेन गवाक्ष इत्यत्र नित्यमवङ् भवति (काशिका ६।१।१२३) वा सुप्यापिशलेः (६।१।९२) आपिशलिग्रहणं पूजार्थं वेत्युच्यते एव (काशिका ६।१।९२) इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य (६।३।६१)— गालवग्रहणं पूजार्थमन्यतरस्यामिति हि वर्तते (काशिका)।

आचार्यनाम नियामक नही हो सकता, सुतरा आचार्यनामघटित सूत्र वैकल्पिक होता है (स्मर्ता का एक मत तथा अन्यो का उससे भिन्न मत)।

इस विषय मे निम्नोक्त युक्ति विचार्य है। यदि आचार्यनाम केवल विकल्पार्थक होता तो कुछ सूत्रो मे एकाधिक आचार्यों के नाम क्यो पढे जाते ? वैकल्पिकता का सम्यक् प्रतिपादन एक आचार्य के नाम से भी किया जा सकता है। किंच कुछ सूत्रो मे वैकल्पिकरीति के ज्ञापनार्थ 'वा' पद भी है (द्र० वा सुप्यापिशले')। कुछ सूत्रो को आचार्यनाम के रहने पर भी नित्य माना जाता है (द्र० ओतो गार्ग्यस्य)। हम समझते हैं कि आचार्यों के सम्प्रदायो मे या उनके अनुगामियो मे आचार्यमतो का ही प्रचलन था। शाकल्य पर प्रमाणबुद्धि रखने वाले ही लोप करते थे (द्र० 'लोप शाकल्यस्य'), अन्य लोग नही करते थे। पाणिनि उस एकदेशी मत को भी युक्त समझते हैं, अत वे आचार्यनाम के साथ उस विधि को कहते हैं, अन्यथा वे भी 'वा' पद का प्रयोग कर सकते थे। शाकल्यमत से भिन्न मत को पाणिनि अयुक्त समझते हैं, यह बात नही, सुतराम् आचार्यनामघटित प्रत्येक सूत्र विकल्पार्थक है, पूजार्थक भी, पूजार्थक इसलिये कि सूत्रकार आचार्यमत पर 'प्रामाण्यबुद्धि' रखते थे [१]।

हम यह निश्चित रूप से कह सकते हैं कि जब पाणिनि ने ग्रन्थ लिखा था तब वस्तुत आचार्यनामसयुक्त विधि तदनुगामियो को अनुमत थी और भाषा की गति के साथ उनकी समञ्जसता देख कर पाणिनि ने नामोल्लेख-पूर्वक उनके स्वीकार किया। उनके काल मे आचार्यविशेष पर प्रामाण्यबुद्धि न रखने वाले व्यक्ति उनके द्वारा अस्वीकृत प्रयोगो का व्यवहार नही करते थे, अन्यथा नाम का उल्लेख करना निश्चय ही पाणिनि के लिये निरर्थक होता। परन्तु परवर्ती काल मे जब सस्कृत भाषा का अत्यन्त ह्रास हुआ और शाब्दिक सम्प्रदायो का उच्छेद होने लगा, तब पुरुष-भेदप्रयुक्त व्यवस्था का

१—ननु च नित्येषु शब्देषु विकल्पिते विधौ विकल्पमात्र प्रदर्शयितव्यम्। तत्र कस्य किं मत यत् प्रच्यावित स्यात् ? उच्यते-विकल्पप्रतिपादनाय वा-ग्रहणे एव कर्तव्ये पूजार्थमाचार्या उपादीयन्ते। सा चैव पूजा भवति-यदि येनाचार्येण य शब्द. स्मृत स तेनैव स्मृर्तत्वेनोपादीयते। एव हि तस्य स्मर्तृत्वेन प्रमाणत्वेन स्तुति कृता भवति। एवञ्चाड् गार्ग्यगालवयो [इत्यादौ अनेकाचार्योपादानमर्थ-वद् भवति, विकल्पस्यैकाचार्योपादानेनापि सिद्धत्वात् (प्रदीप ७।३।९९)।

विशेषत्व नहीं रहा, सभी मत सभी सम्प्रदायों में सामान्य रूप से चलते रहे। तब (अर्थात् भाष्यकार के समय) भाष्यकार की दृष्टि में विकल्पार्थत्व को छोड़ कर आचार्यनामों का और कोई सार्थक्य नहीं रहा अतएव भाष्यकार ने वैसी ही व्याख्या की है। अवहित होकर अनुसन्धान करने पर ज्ञात होगा कि स्वयं पाणिनि को भी ऐसा ही करना पड़ा था। लुब् योगाप्रख्यानात् (१।२।५४) सूत्र इस विषय में साक्षात् प्रमाण है। यथा जनपदे लुप् (४।२।८१) सूत्र से जाना जाता है कि जनपद का नाम कदाचित् योदृप्रजाति के अनुसार होता था। पञ्चालादि-देशवाची शब्दों के साथ अवश्य ही पञ्चालादि जातियों का कोई घनिष्ठ सम्बन्ध था। किन्तु परवर्ती काल में पञ्चालजाति का अस्तित्व नष्ट होने पर भी पञ्चालरूप देशवाची शब्द नष्ट नहीं हुआ अतः पाणिनि के काल में 'जाति के अनुसार देश का नामकरण' रूप एक तथ्य कालगर्भ में विलुप्त हो गया। अतएव पाणिनि ने सूत्र किया—'योगप्रमाणे च तदभावेऽदर्शनं स्यात् (१।२।५५)। जिस प्रकार पाणिनि ने अपने समय में पञ्चाल जाति के नाम का सार्थक्य न रहने के कारण जातिनिमित्तक देशनामों का होना अस्वीकार किया, उसी प्रकार भाष्यकार ने भी अपने काल में शाकटायन शाकल्य आदि शाब्दिकसम्बद्ध पुरुषभेदप्रयुक्त व्यवस्था की सर्वथा अव्यवहार्यता को देखकर आचार्यनामों को केवल विकल्पार्थक ही प्रख्यापित किया। इस विषय में हम विद्वद्वर्ग से अन्य युक्ततर उत्तर के लिये अनुरोध करते हैं।

विभाषा वा आदि का तात्पर्य—अष्टाध्यायी के अनेक सूत्रों में विकल्पवाची 'वा' 'विभाषा' 'अन्यतरस्याम्' और 'विभाषित' पद प्रयुक्त हुए हैं। इन शब्दों का तात्पर्य क्या है, यह यहाँ विचारित हो रहा है। आधुनिक विद्वानों के मतों के अनुसार 'बोली' के अर्थ में विभाषा शब्द प्रयुक्त हुआ है या नहीं यह भी प्रसङ्गतः विचारित होगा।

विभाषा—'विकल्प' अर्थ में विभाषा का प्रयोग सघन है। वायुपुराण में विभाष् धातु का प्रयोग इसी अर्थ में मिलता है—तस्माद् विवस्वान् मार्तण्ड पुराणैर्विभाष्यते (८४।२९) अर्थात् विवस्वान् को मार्तण्ड भी कहा जाता है—ये दो एक के नामान्तर हैं। 'विभाषित' शब्द भी इस अर्थ को कहता है—वेति वैभाषिकः सूत्र (ते० प्राति० २२।७) में वैभाषिक शब्द है जो विभाषावाची है (वाशब्दो विभाषायां भवति। यत्र यत्र वाशब्दः श्रूयते तत्र तत्र विभाषायामिति वेदितव्यम्—पदक्रमसदनभाष्य)।

'विभाषा' शब्द अव्यय नही है—यह एक मत है। इसीलिये 'विभाषया' या 'विभाषायाम्' शब्द का भी प्रयोग होता है, जो इसके अव्यय होने पर नही हो सकता। बालमनोरमाकार ने इस तथ्य को सर्वथा स्पष्ट किया है—विभाषा-शब्दस्तु अव्ययमिति न भ्रमितव्यम्, न वेति विभाषायामिति भाष्यप्रयोगात्। विभाष्यते विकल्प्यते इति विभाषा, गुरोश्च हल इत्यप्रत्ययः (६।१।१३०)। यदि विभाषा अव्यय नही है तो विभाषा पदघटित सूत्रो मे 'विभाषा' न कह कर 'विभाषायाम्' क्यो नही कहा जाता (जैसा कि विभिन्न सूत्रो मे प्रयोगस्थल दिखाने में सूत्रकार ने 'मन्त्रे' 'यजुषि काठके' 'छन्दसि' 'निगमे', 'सज्ञायाम्' आदि सप्तम्यन्त शब्दो का ही व्यवहार किया है), यह प्रश्न उठता है।[1] इससे स्पष्ट हो जाता है कि विभाषा शब्द को 'भाषा का एक विशेष रूप' इस अर्थ मे पाणिनि ने प्रयुक्त नही किया।

वि+भाष् धातु का प्रयोग (=विभाषिन्) पुराणो मे 'शब्दोच्चारण-विशेष' के अर्थ मे मिलता है। स्कन्दपुराण मे प्रभासस्थ स्त्रियो के लिये 'देशभाषाविभाषिण्यो रामामण्डलमध्यत (प्रभासक्षेत्र माहात्म्य ३१३।६६) कहा गया है। यहाँ जो 'देशभाषाविभाषिणी' पद आया है, उसका 'देशभाषा बोलने वाली' रूप अर्थ स्पष्ट है।

'विभाष्' का प्रयोग देशभाषाशब्द के साथ लगने से शायद यह कहा जा सकता है कि विभाषा का प्रयोग बोली से सम्बन्ध रखता है। पर यह कहना तव तक संगत नही है, जब तक इसके लिये प्राचीन अनेक शब्द-प्रयोग न मिल जाये।

इसी स्कन्दपुराण (प्रभासक्षेत्र ०१।१९) मे 'कथा' के विशेषण मे 'विभाषा भूषिता' शब्द प्रयुक्त हुआ है। यह निश्चित नही है कि यहाँ 'विभाषा' शब्द का क्या अर्थ है? नाट्यशास्त्र १८।४८ मे 'विभाषा' शब्द है। यहाँ

१—'विभाषा' जव अव्यय नही है, तब उसका अन्वय सूत्रगत पदो के साथ किस रूप से हता है, यह विचारणीय है। सूत्र है—विभाषा कृञि (१।४।९८), अर्थात् अधि कर्मप्रवचनीयो विभाषा कृञ्धातौ परे भवति'। यहाँ 'विभाषा' पद किस रूप से पदान्तरो के साथ अन्वित होता है, यह वैयाकरणो को देखना चाहिए। कोई इसको नित्यस्त्रीलिंग मानता है। गणरत्न० ११९ मे इसे अव्यय माना गया है, जिससे समस्या नही रहती।

शबर, आभीर आदि की भाषा को 'विभाषा' कहा गया है। पर पाणिनिसूत्रों में ऐसी विवक्षा नहीं है, क्योंकि पाणिनि का शब्दानुशासन साधु शब्दों का अनुशासन है, साधु शब्द में अपभ्रंश नहीं आते।[1]

'न वेति विभाषा' कोई परिभाषा नहीं है न+वा का जो अर्थ है, उस अर्थ की 'विभाषा' यह संज्ञा है। यह संज्ञा 'अर्थ की है, 'वृद्धिरादैच्' (१।१।१) की तरह शब्द की नहीं। सभी टीकाकारों ने विशद रूप से यही प्रतिपादित किया है।[2]

संस्कृत भाषा के किसी असंस्कृत शब्द या शैली या रूपविशेष के लिये 'विभाषा' शब्द का प्रयोग पाणिनि ने किया है, ऐसा प्रतीत नहीं होता (जैसा कि कुछ आधुनिक विद्वान् समझते हैं)। पाणिनि की दृष्टि में दोनों वैकल्पिक शब्द समानरूप से साधु हैं और दोनों के अर्थ भी समान हैं (यदि व्यवस्थित विभाषा न हो) तथा दोनों रूप किसी देशविशेष या कालविशेष के लिये नियत भी नहीं हैं।

वैकल्पिक शब्दों के अन्तर्गत नियमन—यद्यपि व्याख्याकारों के अनुसार पाणिनि का मत यही है, पर यह असंभव नहीं है कि पाणिनिस्मृत वैकल्पिक शब्दों में 'देश' काल या आचार्य का नियमन हो। पाणिनि के समय जिस रूप से उन शब्दों का व्यवहार होता था (अर्थात् देश-काल-आचार्य-नियमन-हीन केवल वैकल्पिक रूप से) पाणिनि ने उसी का उस रूप से अन्वाख्यान किया—यह कहना न्याय्य है। व्याकरण काल से अवच्छिन्न होता है यह पूर्वाचार्यों का

१—साधु-अपभ्रंश-शब्द के लक्षण के विषय में हरदत्त का विचार (प्राचीन-परम्परानुसारी) द्रष्टव्य है—यद्यपि गाव्यादयोऽपि लोके विदिता' तथापि ते न सर्वे लोके विदिताः, प्रतिदेशं भिन्नत्वादपभ्रंशानाम्। लोकशब्दश्चायं सर्वस्मिल्लोके वर्तते संकोचकाभावात्, अतः सर्वलोकप्रसिद्धानां गवादीनां मित्यर्थः, साधूनामिति यावत् (पदमञ्जरी पृ १५)। गवादयोऽनादयःसाधवस्त एव साक्षाद् वाचकाः। गाव्यादयस्तु बालादिभिरशक्त्याविना गवाद्युच्चारमेवमेव तथा तथोच्चार्यन्ते। भाविमन्तोऽपभ्रंशाः (पृ ८)।

२—तयोः प्रतिषेधविकल्पयोरित्यनेन अर्थयोरेवा संज्ञेति दर्शितम् (पदमञ्जरी १।१।४४) न वेति यावर्थो प्रतीयेते प्रतिषेधविकल्पौ तयोरेवेयं संज्ञा भवति न शब्दस्वरूपयो' (न्यास)।

मत है, इसलिये जिस समय जिस प्रकार का शब्दव्यवहार प्रचलित, उस समय के व्याकरण मे तदनुसारी का अन्वाख्यान भी बहुलतया कृत होगा (एव अप्रचलित शब्दो का विवरण अल्पमात्रा में रहेगा)—यह स्पष्ट है।

अनुशासन कभी कभी अनुशास्य विषय को सभी विशेष बातो के साथ स्पष्ट नही कर सकता और इसलिये यदि हमे पाणिनीय अनुशासनो के सामान्य मत के विषय मे विशेष मत प्रामाणिक रूपेण उपलब्ध हो, तो हम उस विशेष मत को प्रमाण मानेंगे,[1] यही पाणिनिसम्मत मार्ग है। निम्नोक्त विचार से यह बात स्पष्ट होगी—

पाणिनि ने जिन विधियो के साथ किसी न किसी आचार्य का नाम पढा है, वे विधियाँ मुग्धबोध, कातन्त्र, सक्षिप्तसार आदि व्याकरणो मे वैकल्पिक रूप से पठित हुई हैं (आचार्यों के नाम नही दिए गए है), जैसे—'लोप शाकल्यस्य' (८।३।१९) सूत्र का कार्य अन्यान्य व्याकरणो मे शाकल्य के नाम लिये विना केवल 'वा' कहकर निर्दिष्ट किया गया है,[2] क्योंकि व्यवहार मे आचार्य नामयुक्त विधि वैकल्पिक ही होती है (आचार्यानुसार एक कार्य, उस आचार्य को न मानने वालो के अनुसार अन्य कार्य) और इसी लिये आधुनिक प्रक्रियाग्रन्थो मे आचार्यनामयुक्त सूत्रो के विचार मे उस सूत्र को 'वैकल्पिक सूत्र' माना गया है, 'वा' पद आचार्य नाम के स्थान पर दिया जाता है, क्योकि उन उन आचार्यों के सम्प्रदाय न होने के कारण प्रयोग मे आचार्य-नियमन व्यवहार्य नही होता। हम जब 'लोप शाकल्यस्य' (अष्टा०) सूत्र के अनुसार लोप करते है तब इसलिये लोप नही करते कि हम शाकल्याचार्य के ही प्रामाण्यवादी हैं, क्योकि यदि ऐसी बात होती तो हम लोप न कर प्रयोग भी कैसे करते। आज आचार्यनियमनयुक्त सभी विधियाँ कार्यत. वैकल्पिक ही हैं, और अन्यान्य वैयाकरणो ने भी इसे मानकर अपने अपने व्याकरण के सूत्रो की रचना की है।

१—शब्दशास्त्र मे सामान्यार्थक निर्देश रहने पर भी उसका तात्पर्य विशेष अर्थ मे हो सकता है (प्रयोगानुसार)—द्र० न्यास ७।४।६३।

२—जहाँ पाणिनि का सूत्र है—लोप. शाकल्यस्य (८।३।१९) व हाँ कातन्त्र का सूत्र है—अयादीना य-व-लोप. पदान्ते न वा लोपे तु प्रकृतिः (सन्धि० २९)।

पाणिनि ने जब आचार्यों का नाम अपने सूत्रों में लिया था तब उनका तात्पर्य यह दिखाने में था कि इन विधियों की मान्यता उन-उन आचार्यों के अनुसार है अर्थात् आचार्यनामयुक्त सूत्र शुद्ध वैकल्पिक नहीं हैं। यदि पाणिनि का तात्पर्य भी इन विधियों के शुद्ध वैकल्पिकत्व में होता तो वे कुछ सूत्रों में दो या तीन आचार्यों के नाम न लेते जैसा कि 'अवङ्गार्ग्य गालवयोः' आदि सूत्रों में देखा जाता है। वस्तुतः पाणिनि यह मानते ही थे कि आचार्यनाम-घटित सूत्र का कार्य तत्-तत् आचार्य के प्रामाण्य के मानने वालों द्वारा किया जाएगा। कैयट ने इस मत को माना है (७।२।६३ प्रदीप) 'न वेति विभाषा (१।१।४४ सूत्र-भाष्य) में पतञ्जलि ने कहा है कि आचार्यनियमन व्यर्थ है क्योंकि कोई भी आचार्य शब्दप्रयोग का नियामक नहीं है—शब्द नित्य है और आचार्य स्मर्ता हैं, शब्दों के कर्ता नहीं। इसी लिये उन्होंने आचार्यनामघटित सूत्रों का तात्पर्य शुद्ध विकल्प में लिया है। पतञ्जलि का यह मत कहाँ तक पाणिनि-सम्मत है यह देखना चाहिए (व्यवहारतः ऐसा मानने में कोई बाधा नहीं है पर तत्त्वतः वैकल्पिकत्व का स्वरूप क्या है यह यहाँ विचारित हो रहा है)।

इस विवेचन का सार यह है कि 'विभाषा', 'वा' 'अन्यतरस्याम्' पद घटित सूत्रों से निष्पन्न शब्द अवश्यमेव शुद्ध वैकल्पिक ही हैं ऐसा नहीं कहा जा सकता। हो सकता है कि उनमें भी आचार्यनियमन रहा हो पर उस नियमन की अव्यवहार्यता होने के कारण पाणिनि ने आचार्य का नामोल्लेख नहीं किया (जैसा कि अर्वाचीन वैयाकरणों ने पाणिनि-दर्शित आचार्यनियमन परिपाटी की जानबूझ कर अवहेलना की है) क्योंकि उनके काल में वे नियम अव्यवहार्य हो गये थे।

अर्वाचीन वैयाकरणों ने जिस प्रकार आचार्यनामघटित नियमों को सामान्यतः वैकल्पिक बनाया स्वयं पाणिनि ने भी वैसा ही किया है। पाणिनि ने कहा है—जराया जरसन्यतरस्याम् (७।२।१०१)। यहाँ सूत्र में 'अन्यतरस्याम्' ही कहा गया है, जो शुद्ध वैकल्पिक अर्थ का वाचक है पर यह जाना जाता है कि जरा के स्थान में जो 'जरस्' आदेश होता है वह आचार्य इन्द्र के मतानुसार है (जैन शाकटायन व्याकरण १।२।३७)। पाणिनि को यहाँ 'जराया जरसिन्द्रस्य' कहना चाहिए था अथवा स्फोटायनस्य (अष्टा०) की तरह। ऐसा न कहने का कारण यही प्रतीत होता है कि पाणिनि के समय जरस्-विधिसम्बन्धी आचार्यनियमन अव्यवहार्य हो गया था, अतएव उन्होंने

जरस् विधि को शुद्ध वैकल्पिक ही कहा। जैन शाकटायन ने आचार्य-गत मतान्तर को दिखाने के लिये आचार्य का नाम लिख दिया यद्यपि उनके समय भी यह विधि शुद्ध वैकल्पिक रूप मे नही थी। सभवतः जैन शाकटायन व्याकरण के रचयिता ने तथ्य की सूचना देने की दृष्टि से ही यह सूचना दी है। यह सूचना कहाँ तक प्रामाणिक है, इसका परिज्ञान नही है। (इस प्रसङ्ग मे यह भी ज्ञातव्य है कि वायु-यम-ब्रह्मादि कई व्याकरणो के नाम कवीन्द्राचार्य सूची पत्र में हैं, अत यदि इन्द्र का नाम कही से विदित हो गया हो तो कोई आश्चर्य नहो, यद्यपि हमें इस सूचना के प्रामाण्य मे सशय है)।

पाणिनि ने जहाँ 'वा' कहा है, वहाँ सर्वत्र शुद्ध वैकल्पिकता नही है, इसका प्रमाण है। पाणिनि ने कहा है 'स्वरितो वानुदात्तोऽपदादौ' (८।२।६), पर यह सूत्र शुद्ध वैकल्पिक नही है और इसके वैकल्पिकत्व मे विषय-भेद है (जो प्रातिशाख्यो मे वर्णित है)। यहाँ पाणिनि का अनुशासन सामान्य है, यद्यपि प्रयोग मे विषयविभाग है और सक्षेपार्थ पाणिनि ने विषयो का उल्लेख न कर सामान्य विधि का ही निर्देश कर दिया है। ऐसे स्थलो पर यह नही कहा जा सकता कि पाणिनि के समय स्वरित का प्रयोग शुद्ध वैकल्पिक था और प्रातिशाख्यो के काल मे इस स्वरित-विधि का विषय शाखानुसार विभक्त हो गया था[1]।

——

१—कुछ 'विभाषा' 'व्यवस्थित विभाषा' भी होती हैं अर्थात् दोनो वैकल्पिक शब्दो के अर्थ समान न होकर भिन्न-भिन्न होते हैं। तत्वत वे दो शब्द एक ही शब्द के दो पृथक् रूप नही, पर लाघवार्थ पाणिनि ने दोनो को वैकल्पिक कहा है, जैसा कि पूर्वाचार्यों ने दिखाया है।

[illegible] परिच्छेद

अष्टाध्यायी के पाठान्तरों का विवेचन

पाठान्तर की महत्ता—आचार्य पाणिनि की अष्टाध्यायी के लगभग २० सूत्रों में पाठान्तर हो चुके हैं। दर्शनशास्त्र की अपेक्षा शब्द-शास्त्र के पाठान्तर अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं, क्योंकि दर्शनशास्त्र का मुख्य विषय 'अर्थ' है शब्द नहीं। पाठान्तर होने पर भी यदि अर्थान्तर न हो तो दर्शनशास्त्र में उस पाठान्तर का कुछ महत्त्व नहीं रहता परन्तु शब्दशास्त्र में यह बात नहीं है। इस शास्त्र का विषय और प्रमाण शब्द ही है अतः इस शास्त्र का प्रायः प्रत्येक पाठान्तर—चाहे उससे अर्थान्तर हो, या न हो—महत्त्वपूर्ण है, विचारणीय[1] है।

पाठान्तरों की इस महत्ता के कारण उच्चारणादि से पाठान्तर हो जाने की संभावना को ध्यान में रखकर कहीं-कहीं पूर्वाचार्यों ने सूत्रगत पदों के वर्णादि का स्पष्ट निर्देश भी किया है। यदि कहीं भ्रमवश पाठभेद उत्पन्न हो गया हो, तो उसकी निवृत्ति करना भी एतादृश निर्देशों का अन्तर्निहित उद्देश्य है यथा—विदूरात् न (४।३।८४) पर दीक्षित कहते हैं—दन्त्यमध्योऽयं शाद्वलवत्, न तु मद्वलवत् मूर्धन्यमध्यः (शब्दकौ) तथैव 'नडशादाड् ड्वलच्' (४।२।८८) पर

१—पाठसमीक्षा में वे वचन भी विचार्य होते हैं जो किसी के मत में सूत्र हैं और किसी के मत में वार्तिक। पाणिनीय तन्त्र में लगभग ८।१ वचन ऐसे हैं जिनकी सूत्रता पर मतभेद है यथा—'अनभ्यासस्यचावेऽपि' यह काशिकाधृत सूत्र है (६।१।१३६) पर अन्य व्याख्याकार इसे अनार्ष (अपाणिनीय) मानते हैं (एवं च अनभ्यासस्यचावेऽपीत्यनार्षं सूत्रपाठ इति भावः—उद्द्योत ६।१।१११)। काशिकाधृत सूत्र है—नित्यमाम्रेडिते डाचि (६।१।१००) पर अन्य आचार्य इसे वार्तिक समझते हैं—वार्तिकदर्शनात् सूत्रे केचित् प्रक्षिप्तम् (प्रदीप ६।१।९९)। अपि शीर्षः—यह काशिका-धृत सूत्र है (६।१।६२) पर कैयट कहते हैं—वार्तिकं दृष्ट्वा सूत्रेषु केचित् प्रक्षिप्तम् (प्रदीप)। ध्यान देना चाहिए कि ऐसे स्थलों पर काशिकाकार कभी नहीं कहते हैं कि इन वचनों के सूत्रत्व में मतभेद है। वे इन वचनों को सूत्ररूप में ही असन्दिग्ध रूप से जानते हैं। प्रस्तुत निबन्ध में सूत्रत्वनिर्णय पर विचार नहीं किया जाएगा।

नागेश कहते हैं-शादो दोपधः (शब्देन्दु०)। (देखा जाता है कि प्रक्रियासर्वस्वादि मे विद्रूरूआ पाठ स्वीकृत हुए हैं)। इन निर्देशो से अध्येता सावधान हो सकते हैं और यदि इन निर्देशो पर उनकी श्रद्धा है तो अन्य प्रकार के पाठो का सशोघन भी कर सकते हैं।

सूत्रक्रमभेद—पाठभेदो के अतिरिक्त १) सूत्रपाठो का क्रम-व्यत्यास और (२) सूत्रपदच्छेद आदि मे मतभेद[1] रूप दो विषय विचार्य होते हैं, पर इस निबन्ध मे इन पर कोई चर्चा न की जाएगी।

क्रमव्यत्यास के उदाहरण अत्यल्प हैं। एक उदाहरण दिया जा रहा है—शब्देन्दुशेखर (तुदादि०) मे सूत्रक्रम मे एक मतभेद (भाष्यसंमतपाठक्रम एव अन्य पाठक्रम) दिखाया गया है। यहाँ काशिकोक्त सूत्रक्रम और भाष्योक्त सूत्रक्रम मे स्पष्ट अन्तर है (अध्याय ८, पाद ४, सूत्र ५२ से ६३ सूत्रो का क्रम)।

स्वाभाविक पाठभेद—यह एक प्रसिद्ध तथ्य है कि मूल पाठ यदि अस्पष्टार्थक हो या उसमे कोई ऊह्य भाव हो तो स्वभावत. बाद मे इम 'दोष' का 'परिमार्जन' हो जाता है, जिमसे पाठान्तर का उद्भव होता है। यथा—भाष्यानुसार सूत्र है—प्रत्यपिभ्या ग्रहे (३।११८), जिसका काशिकानुमार पाठ है—प्रत्यपिभ्या ग्रहेः छन्दसि। इस सूत्र पर यह ज्ञातव्य है कि यद्यपि पाणिनि ने इस सूत्र का वैदिकत्व कहा नही है, पर प्रकृतित यह वैदिक ही है, क्योकि इसका उदाहरण वेद में ही मिलता है (उदाहरण तु छन्दस्येव—तत्त्व०)। वार्त्तिककार ने सूत्रकारसमत (पर सूत्रकारानुक्त) तत्त्व को शब्दतः कह दिया है (छन्दसीति वक्तव्यम्), अत सूत्रीय कार्य के लिये अपरिहार्य होने के कारण सूत्रानुक्त 'छन्दसि' पद को बाद में सूत्र मे ही पाठ कर लिया गया है-ऐसा प्रतीत होता है।

१—यथा—भ्यसो भ्यम् (७।१।३०) मे भ्यसोऽभ्यम् रूप पदच्छेद, दो दद् घो (७।४।४६) मे दथ् दद् दघ् रूप पदच्छेद, तदो दा च (५।३।१९) मे तदोऽदा च रूप पदच्छेद, काम्यच् च (३।१।९) के च् काम्यच् च रूप की कल्पना, इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छ', दयायासश्च (३।१।३६-३७) मे महितापाठ मानकर 'अनृच्छो दयायासश्च' वाक्य का निश्चित करना और फिर 'अनृच्छ+उ+दयायासश्च' पदच्छेद करना, स्थानेऽन्तरम उरणग्पर (१।१।५०-५१) मे अन्तरतमे रूप पदच्छेद, विशेषणाना चाजाते (१।२।५२) मे च+अज्ञाते. या च+आजाते· पदच्छेद, इत्यादि।

-यहाँ यह समझना असंगत होगा कि सूत्रकार के काल में यह सूत्र लौकिक था और बाद में यह वैदिक मान लिया गया। छान्दसत्वज्ञापक निर्देश न रहने मात्र से ही कोई सूत्र अवैदिक होता है—ऐसी बात नहीं, यह पूर्वाचार्यों ने कहा है (द्र० समिसतमिवासम् ७।२।६९ सूत्रीय व्याख्याएँ)।

इस शैली का अन्य उदाहरण कृम्वस्तियोगे संपद्यकर्तरि च्विः (५।४।५२) में दृष्ट होता है। इस सूत्र पर वार्तिक है—अभूततद्भाव इति वक्तव्यम्। किन्हीं संप्रदायों में सूत्र में वार्तिक का संमिश्रण हो गया है और वे 'अभूततद्भावे कृम्वस्तियोगे सूत्र पढ़ते हैं। यह प्रक्षेप अर्थपूरण की दृष्टि से अत्यन्त स्वाभाविक है (क्योंकि च्वि प्रत्यय परिणामविषयक होता है और परिणाम में अभूततद्भाव होना अनिवार्य है) अतः यह अंश सूत्र में मिल गया है। यह नया पाठ काशिका द्वारा स्वीकृत हुआ है जिसकी व्याख्या म हरदत्त कहते हैं- वृत्तिकारेण च्विविधौ अभूततद्भावग्रहणं कर्तव्यमित्युक्तम् तदवश्यं कर्तव्यमिति सूत्रे एव प्रक्षिप्य व्याचष्टे (पद)

हम समझते हैं कि ३।२।१४५ सूत्र के 'विनाश' पाठ के स्थान पर जो विनाशि (एयन्त नशधातु) पाठान्तर मिलता है, उसका भी यही हेतु है। ण्यन्त धातु के निर्देश में 'विनाशि' पाठ ही स्वाभाविक है अतः प्राचीनतर 'विनाश' पाठ के स्थान पर बाद में विनाशि रूप स्पष्टतर पाठ स्वीकृत हुआ है।

आनुमानिक सूत्रपाठ—कुछ ऐसे पाठभेदों का उल्लेख भी मिलता है, जिनका अभ्युपगम यद्यपि किसी भी आचार्य के द्वारा नहीं किया गया पर व्याख्याविशेष के बल पर तादृश पाठ की सत्ता अनुमित होती है। पाणिनि का सर्वाचार्यस्वीकृत सूत्र है—टित आत्मनेपदानां टेरे (३।४।७९)। इसके भाष्य में सूत्रसम्बन्धी जो विचार किया गया है, उससे यह अनुमित होता है कि सूत्र का अन्य एक पाठ भी था[१]। किसी भी व्याख्याकार ने इस अनुमित पाठ को सूत्र रूप में नहीं माना यह द्रष्टव्य है।

ऐसा ही एक आनुमानिक पाठ अनुपसर्गाज्ज्ञः (१।३।७६) सूत्र में उपलब्ध होता है। भट्टोजि के कथनानुसार ज्ञात होता है कि अनुपसर्गात् के

१—कैयट कहते हैं—अथवा केचित् टितामित्येव पठन्ति तदाश्रयेण एवमुक्तम्, नागेश ने स्पष्ट ही कहा है—टितात्मनेपदानामिति भाष्यस्य तदर्थक यदि विभाज्यते इत्यर्थः। भाष्यप्रामाण्यात् तादृश एवाष्टाध्यायीपाठ इत्यन्ये (उद्योत)।

तकार में श्चुत्व न कर पढने का एक सम्प्रदाय भी था (द्र० शब्दकौ० १।१।८)। पर इस पाठ की सत्ता प्रत्यक्षत स्वीकृत नही हुई है।

इसी प्रकार नपरे न· (८।३।२७) सूत्र का एक आनुमानित पाठ 'न परे न' है, ऐसा अत्रत्य न्यास से जाना जाता है, यद्यपि किसी भी व्याख्याग्रन्थ में इस पाठ का सकेत नही मिलता। अतो लृान्तस्य (७।२।२) सूत्र का 'अतो र्लान्तस्य' रूप जिस पाठ की सत्ता उद्द्योत मे कही गई है, वह पाठ भी ईदृश आनुमानिक ही है।

पाठान्तर की समूलता—पाठान्तर होने से ही कोई पाठ निर्मूल नही हो जाता। क्वचित् पूर्वाचार्यों ने पाठान्तर की वैधता का प्रतिपादन भी किया है। समो गम्यृच्छिभ्याम् (१।३।२९) का पाठान्तर है—समो गम्यृच्छिप्रच्छि स्वरति ....। प्रच्छि आदि का पाठ वार्त्तिक मे है, अत यह स्पष्ट है कि वार्त्तिक का पाठ सूत्र मे मिला दिया गया है (दीक्षित आदि का यही उत्तर है, जो स्वाभाविक है)। इस प्रक्षिप्तता को मानकर भी उसकी वैधता का प्रतिपादन हरदत्त करते हैं कि वार्त्तिककार भी शास्त्रकार (सूत्रकार)—सदृश हैं, इसे दिखाने के लिये वार्त्तिक को सूत्र से मिला दिया गया है। (प्रच्छादयस्तु वार्त्तिकदृष्टा. सूत्ररूपेण पठिता, सूत्रकारवत् वार्त्तिककारोऽपि शास्त्रस्य कर्ता न व्याख्यातेति दर्शयितुम्)। पाठसमीक्षाविचार की दृष्टि से ऐसा कहना व्यर्थ ही है।

पा भेदनिर्देशमात्र—कुछ स्थल ऐसे हैं, जहाँ पूर्वाचार्य पाठभेद का निर्देश कर ही निवृत्त हो जाते है, पाठभेद की समीक्षादि नही करते। पाठान्तरो का निर्देश कर उनपर कुछ भी समीक्षा न करने का एक हेतु यह हो सकता है कि व्याख्याकारो के पास ऐसी कोई सामग्री नही थी, जिससे वे एकतर पाठ का निर्धारण कर सके, अत उनके लिये पाठभेदो का निर्देश करने के अतिरिक्त (चू कि प्रत्येक पाठ मान्य आचार्य द्वारा अभ्युपगत हुआ है) और कोई मार्ग नही था।

एक उदाहरण लें। किसी के अनुसार ४।३।९४ सूत्र मे 'सलातुर' शब्द है। काशिका के अनुसार 'शलातुर' पाठ है। शब्दकौ० का मुद्रित पाठ शलातुर है, प्र० म० का सलातुर। नागेशभट्ट केवल इतना ही लिख सके हैं—शलेति तालव्यपाठो वृत्तौ (शब्देन्दु०)। यह भौगोलिक शब्द है, अत तद्विषयक ज्ञान के विना साशयिक स्थल मे वैयाकरण कुछ भी नही कह सकते, ऐसी स्थिति मे नागेश शघटित पाठ के अभ्युपगमकारी का नाम देने के अतिरिक्त और क्या कह सकते हैं?

ऐसी स्थिति किसरादिभ्यः ष्ठन् (४।४।५३) सूत्र में दिखाई पड़ती है। नागश कहते हैं—तामत्र्यमध्यपाठो वृत्तौ (अर्थात् वृत्ति में विचार अन्य है)। वस्तुत प्राचीन व्याख्यान या प्रयोगदर्शन के बिना केवल युक्ति से ऐसे स्थलों में पाठ का निर्णय नहीं किया जा सकता अतः प्रमाणभूत आकरग्रन्थ का नाम कह देना ही पर्याप्त है ¹।

उभयविध पाठों का समर्थन—ऐसे स्थल अनेक हैं जिनमें सूत्रों के पाठान्तरों का औचित्य या समर्थन किया गया है यथा—

अवाद् ग्र (१।३।५१) का पाठान्तर है—अवाद् गिर । हरदत्त कहते हैं—गिर इ ग्र पाठे धात्वनुकरणत्वात् विभक्त्यविस्म् । ग इति पाठे स्वमतानुकरणं प्रदर्श्यम् । तथैव 'स्तम्बौ हस्तिकपाटयो (३।२।५४) के पाठान्तर (हस्तिकपाटयो) के विषय में कहा गया है—पाठान्तरे तु प्रटतेः पचादयच् । कर्बोऽण्यी इत्यत्र योगविभागात् कौ कवादेशः (पदमञ्जरी)।

ज्ञात होता है कि इन स्थलों में व्याख्याकार एक पाठ को मूल पाठ के रूप में मानकर भी अन्य पाठ को सर्वथा हेय नहीं समझते थे। ऐसे पाठों ² को प्रक्षिप्त या अनार्ष आदि जो नहीं मानते वे निश्चित ही इनका प्रामाण्य मानते थे।

१—पाठभेद निर्देशमात्रपरक कुछ विशिष्ट स्थल ये हैं—कुस्तम्भुम्बे पुचिमपि केचित् पठन्ति (धातुवृत्ति स्वादि पुषुधातु) अत्र मैत्रेयः विस्तुरिच्छ (३।२।१६९) इति सूत्रं यथादि पठन् विन्दुशब्दं व्युदपादयत् । वृत्तौ तु वेतेरेव तत्र पाठः (धातुवृत्ति, स्वादि विदिधातु) प्रजयत्रो पर वासुदेव कहते हैं—वृक्षमक्षोरिति पाठे वृक्षी वर्तते इत्यस्मात् क्यप्, वृजग (बालमनो)। ४।१।८१ में 'काण्ठेविद्धि' शब्द है भट्टोजि कहते हैं—पाठान्तरे तु काण्ठेविद्धस्य कण्ठे वा विद्धः काण्ठेविद्ध (शब्दकौ) काण्ठेविद्धीति पाठे काण्ठेन विद्ध इति समासेऽत्रएव निपातनात् कायकस्मैकार (शब्देन्दु) मखशाखा द्व्यञ् (४।२।८८)—शाखो दन्त्योपध: कोपध इत्यन्ये (बालमनो)। शाखुभजीबिन्य ञ. पर्वते (४।३।९१) पर नागेश कहते है—पर्वतादिति पाठान्तरम् (शब्देन्दु)।

२—अन्तर्वेणो देशे (३।३।७८)—अन्ये नकारं पठन्ति अन्तर्घणो देश इति तदपि प्राह्यमेव (काशिका)। सहसेन संमितौ च (४।४।१३०)—समित इति पाठान्तरम् उभयथापि तुल्य स्यैवार्थ (शब्दकौ) विसम्-चरणाशिखो ब्राह्मणे (५।१।९२) का पाठान्तर है—चरणाशिखा । ज्ञानेन्द्र कहते हैं—समाहाराद्वन्द्वादेकवचनम् ।

पाठभेद और दृष्टिभेद—भिन्न पाठ मानने वालो का दृष्टिकोण कभी-कभी विभिन्न होता है, क्योंकि प्रत्येक आचार्य स्वाभीष्ट पाठ के लिये युक्ति देते हैं। निम्नोक्त उदाहरणो को देखे—

४।३।११९ सूत्र मे पादप पाठ है, जिसका पदप रूप पाठान्तर का उल्लेख कर भट्टोजि कहते हैं—केचित्तु पादपस्थाने पदपशब्द पठन्ति, तन्मते अण एवायमपवाद (शब्दकौ०)। तथैव धुरो यड्ढकौ (४।४।७७) का 'धुरो यड्ढकञौ' पाठान्तर (द्र० प्रक्रियासर्वस्व) दिखाकर नागेश लिखते है—धौरेयक इति ढकञ्प्रत्यय इत्यन्ये। मूलपाठे तु धौरेयक इति स्वार्थिककन्नन्तम् (शब्देन्दु०)। ५।४।५७ मे भी यह रीति लक्षित होती है, जहाँ अर्घ के स्थान पर अर्घ्य पाठान्तर दिखाकर काशिकाकार कहते हैं कि इस पाठ मे यकार स्वार्थिक (स्वार्थ मे तद्धित य प्रत्यय, यथा—शाखा इव शाख्य) है।

व्यक्तिनाम रूप संज्ञा के पाठान्तर में भी दृष्टिभेद से समर्थन करने का एक ही दृष्टान्त ६।१।१२३ सूत्र मे है, जहा स्फोटायन के स्फौटायन पाठान्तर पर हरदत्त कहते हैं ये तु औकार पठन्ति ते नडादिषु अश्वादिषु वा पाठ मन्यन्ते (पद०)।

इस प्रसग मे हम एक असाधारण पाठभेद की ओर पाठको का ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं। सूत्र है—शाकलाद् वा (४।३।१२८)। काशिकाकार जिनेन्द्र, हरदत्त, भट्टोजि आदि सब आचार्य यही पाठ मानते हैं, पर आधुनिक स्वामी दयानन्द सरस्वती ही 'शकलाद् वा' पाठ स्वीकार करते हैं ('शाकलाद्' वा पाठ का खण्डन कर)। वैयाकरणो को स्वामीजी की युक्ति पर ध्यान देना चाहिए (द्र० ऋग्वेद पर व्याख्यान, पृष्ठ ९-१०)।

पाठान्तर पर उपेक्षा—यह देखा जाता है कि कभी-कभी व्याख्याकार अन्य प्रमाणभूत ग्रन्थ मे धृत (स्वाभिमत पाठ से पृथक्) पाठ को देखकर भी मौन रहते हैं[1], जहाँ उनको कम से कम पाठान्तर का निर्देशमात्र कर ही देना चाहिए था (क्योंकि ग्रन्थान्तरधृत पाठ के अनुसार प्रयोग में भिन्नता होती है)। इस

१—काशिका (४।२।१२६) मे 'गर्त' है, पर प्रक्रियाकौमुदी मे वर्त, प्र० कौ० कार नारायण काशिका-पाठ पर मौन ही हैं। तथैव ४।२।१४२ मे काशिकासमत पाठ पलद है, प्रक्रियासर्वस्व मे फलद है। तथैव ४।३।३२ सूत्र मे काशिका-सम्मत पाठ अपकर है और प्र०स० का पाठ अवकर है। तथैव ५।१।४४ में काशिका का पाठ है—लोकसर्वलोकात् और प्र०स०का 'लोकसर्वलोकाभ्याम्'।

अनुक्ति का कारण क्या है—यह चिन्त्य है। प्रसिद्ध प्राचीन ग्रन्थों के पाठ को वे देख नहीं सके—यह नहीं कहा जा सकता संभवतः उपेक्षाबुद्धि (पाठान्तर को अगण्य समझना) ही यहां मौन का कारण है। पाठान्तर का उल्लेख कर उस पर विचार कर ग्रन्थ को विस्तृत न बनाना भी एक हेतु हो सकता है। चाहे जो भी हो इस अनुक्तिमात्र से पाठान्तरों की असत्ता या अज्ञातता सिद्ध नहीं होती।

क्वाचित्क पाठ—व्याख्याकारों ने यह लक्ष्य किया था कि कोई 'पाठ' क्वाचित् ही (किसी ग्रन्थ में) स्वीकृत होता है। ऐसे पाठ प्रायः मूलपाठ नहीं होते। ऐसे 'क्वाचित्क' पाठ अष्टाध्यायी में अल्प हैं, यथा—

५।२।७९ का पाठ है—शृङ्खलमस्य .... । नागेश कहते हैं—शृङ्खल मिति क्वचित् पाठ (उद्योत)। शब्देन्दु० में कहा गया है—भाष्ये क्वचित् पाठः। नागेश के इन कथनों से ज्ञात होता है कि यह 'शृङ्खल' पाठ भाष्य के प्रामाणिक कोश में उन्हें उपलब्ध हुआ था। नागेश ने यहाँ 'यह लेखक प्रमाद है या अपपाठ है' आदि वाक्य क्यों नहीं कहे—यह विचार्य है।

'क्वाचित्क' आदि वाक्य न रहने पर भी यह देखा जाता है कि कुछ पाठ भेद किन्हीं आचार्यों द्वारा उल्लिखित मात्र हुए हैं (विचारपूर्वक समर्थन करने की प्रबल चेष्टा नहीं की गई) और अन्य आचार्य इस पाठ के विषय में कुछ कहते नहीं हैं ऐसे पाठ भी 'क्वाचित्क' ही माने जा सकते हैं। यथा—'ओत्' सहोम्ससत्वमसरतृतीयाया' (६।१।६) पर पुरुषोत्तम कहते हैं—इह तम' शब्द तप इति केचिद्विरे (भाषावृत्ति) यह पाठ अन्यत्र अलक्षित ही हुआ है। अतः यह भी 'क्वाचित्क ही है। प्रयोग की प्रचुरता भी इस पाठान्तर के पक्ष मे नहीं है। ६।३।६५ सूत्र का 'हारिषु' पाठ (भारिषु के स्थान पर) भी क्वाचित्क है (उपर्युक्त युक्ति से द्र० भाषावृत्ति—केचित् तन हारीति पठन्ति—न्यादि मत धारयं)।

पाठान्तर का निर्देश न होने पर भी आचार्यविशेषसम्मतपाठ 'क्वाचित्क पाठ माना जा सकता है यथा—

१ कुछ क्वाचित्क पाठ ऐसे हैं, जो विस्मरण या प्रमादमूलक ही प्रतीत होते हैं। कन धातु (६।१२१) की व्याख्या में वीवक् शब्द की निष्पत्ति के प्रसङ्ग मे क्षीरस्वामी ने 'नहि वृति ..(६।३।११६) सूत्र को उद्धृत किया है। ध्यान देना चाहिए कि कौमुदी काशिका आदि प्रामाणिक ग्रन्थों में इस सूत्र का जो

पाठ है, उसमे 'रुचि' धातु ही पठित हुआ है, रुजि नही, अतः यह मानना उचित होगा कि क्षीरस्वामी प्रकृत-सूत्र-पाठ विस्मृत हो गए। रुच् रुज् का अत्यन्त सादृश्य ही इस विस्मरण मूलक प्रमाद का हेतु है।

२ यही दृष्टि 'जनसनखना सञ्झलो' (६।४।४२) पर भी प्रयोज्य होती है। सूत्र का यह पाठ काशिकादि सर्वसम्मत है, पर क्षीरस्वामी 'जनखनसना' रूप से इसका उद्धरण देते हैं (क्षीर० ४।४०)। धातुओं के क्रम मे विस्मरण हुआ है—यही मानना सङ्गत है।

३ क्वाचित्क पाठ सूत्र-संशोधन-हेतुक भी हो सकता है। ईदृश पाठ के उदाहरण कदाचित् मिलता है। न शसददवादिगुणानाम् (६।४।१२६) सूत्र को क्षीरस्वामी ने 'न शसददवादिगुणिनाम्' कहकर उद्धृत किया हैं (१।१७), 'गुणि' पाठ अन्य कही भी स्मृत नही हुआ है। यह ज्ञातव्य है कि गुणि-पाठ मे लक्षणा की आवश्यकता नही पडती (द्र० अस्मत् सम्पादित धातुवृत्ति की टिप्पणी)। जश्शसोःशि (६।१।२०) का न्यासोक्त 'जसिशसो' पाठ भी ७।१।५० सूत्रस्थ जसि के साथ सामञ्जस्य दिखाने के लिये है, जो अनावश्यक है।

सूत्रपाठ की सम्प्रदायनियतता—ऐसा प्रतीत होता है कि सूत्रपाठ सम्प्रदायानुसार नियत था, क्योकि कोई भी व्याख्याकार स्वसमत सूत्र के पाठ पर कोई संशय नही करते। क्वचित् ही पूर्वाचार्य उभयविध पाठो को मानते हैं, वे उभयविध पाठो को मानकर भी स्वानुमत पाठ को ही अधिकतर प्रमाणिक समझते हैं। भाष्य-वार्त्तिकादि को देखने से ज्ञात होता है कि उनका व्याख्यान मुख्यतः किसी एक पाठ को लेकर ही चलता है, यथा—

विष्किरः शकुनौ वा (६।१।१५०) का एक अन्य पाठ काशिका मे है (विष्किर शकुनिर्विकिरो वा), कैयट कहते हैं—विष्किर शकुनौ वेति सूत्रपाठमाश्रित्य वार्त्तिकारम्भ (प्रदीप)। तथैव ६।१।१२४-१२५ सूत्रो पर कैयट कहते हैं—इन्द्रे च इति ये सूत्र पठन्ति, प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यमिति द्वितीय तन्मते नैष दोष (प्रदीप ६।१।१२५)।

इन उदाहरणो से ज्ञात होता है कि सूत्रो का पाठ सम्प्रदायनियत हो गया था। अष्टाध्यायी के पौर्वपाठ आदि सम्प्रदायनियत पाठो की सत्ता प० युधिष्ठिर मीमासक भी मानते हैं (संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास भाग १, पृ०२११-२१३' अस्मत्सपादित क्षीरतरङ्गिणी की भूमिका, पृ० १४-१५)। यह आश्चर्य का विषय है कि प्राचीन व्याख्यानग्रथो मे प्राच्यपाठ इत्यादि रूप सम्प्रदायभेद का उल्लेख नही मिलता।

इस विषय में निम्नोक्त स्थल विशेषतः विचार्य है। पूर्वाचार्यों ने यह मान्य किया था कि देशभेद से स्वाभाविक रूप से उच्चारण में भेद हो जाता है (पु० सूत्रमनु की उक्ति-वाचो यत्र विभिद्यन्ते तद्देशान्तरमुच्यते)। व्याकरण सूत्र में इसका विशिष्ट उदाहरण है— उपसुपिमुच्छमको र' सूत्र (५।२।१०७)। इस सूत्र के भाष्यपाठ में मुषि के स्थान पर शुषि' पाठ था ऐसा नारायण (उच्चारण कारण के साथ) कहते हैं—सुषि शुषिरमित्यादि स्वाम्याद्या पाठमस्ते मधु। प्रागुदीच्ये हि षकारस्य शकारः पठ्यते क्वचित् ॥ (प्रक्रियासर्वस्व)।

सूत्र पाठ की सम्प्रदायनियतता' में 'प्रकृत्याशिषि (६।३।८३) सूत्र और उसका काशिकोक्त पाठ (प्रकृत्याशिष्यगोवत्सहलेषु) विचार्य है। प्रकृत्याशिषि रूप सूत्र पाठ पर वार्तिक है—'प्रकृत्याशिष्यगवादिषु' जहाँ 'गो आदि' तो कहा गया पर 'आदि' पद से किन शब्दों का ग्रहण होगा—यह नहीं निर्दिष्ट हुआ। अतः यह मानना होगा कि इस वार्तिकमात्र को देखकर पूर्ति की दृष्टि से किसी ने प्रकृत्याशिष्यगोवत्सहलेषु ऐसा नहीं कहा। भाष्य में सवत्सा, सहलाय उदाहरण दिए गए हैं। इस पर यह कहना कि भाष्य को देखकर काशिकाकार ने वत्स-हल-शब्द-द्वय का पूरण कर सूत्र को पढ़ा है—असङ्गत है, क्योंकि तब वे 'केचित् प्रकृत्याशिषि इत्येव पठन्ति' ऐसा निर्देश अवश्य करते (अन्यान्य स्थलों की तरह) न्यासकार भी इस पाठभेद पर मौन हैं। किंच भाष्यकार प्रदत्त उदाहरण परिगणन है या उदाहरणमात्र है इसका निर्णय भाष्य से नहीं होता; अतः भाष्यमात्र को देखकर काशिकाकार दोनों शब्दों का समावेश कर सूत्र को पूर्ण नहीं समझ सकते थे (अन्य शब्दों की भी अपेक्षा रहती), अतः यही कहना होगा कि काशिकाकार के पास परम्परारक्षित पाठ प्रकृत्याशिष्य गोवत्सहलेषु था और वे भाष्यसम्मत 'प्रकृत्याशिषि' पाठ को अपनी दृष्टि से अनावश्यक समझ कर (अपूर्णता-हेतु) उसका कोई निर्देश वृत्तिग्रन्थ में नहीं किया।

सूत्रांश या सूत्रानुवाद—पाठान्तरों के प्रसंग में यह भी विचार्य है कि पाणिनीय वैयाकरण (पाणिनि सूत्रों के आश्रय से व्याख्या लिखने वाले) जब अपने ग्रन्थ में कोई सूत्र उद्धृत करते हैं (सूत्रकार का नाम न लेकर) और वह सूत्र अष्टाध्यायी में यथावत् नहीं मिलता है तब क्या सर्वत्र यह सोचना होगा कि उद्धृत पाठ पाणिनि-सूत्र का पाठान्तर ही है या अन्य किसी व्याकरण का सूत्र आचार्य ने उद्धृत किया है? किंच कुछ स्थलों में यह भी संशय हो सकता है कि व्याख्याकार ने सूत्र का अपेक्षित अंश ही उद्धृत किया है या पूरणादि

पूर्वक सूत्र को उद्धृत किया है इत्यादि। ऐसे स्थलो मे कौन दृष्टि सगत होगी, इसका निर्णय करना अत्यन्त कठिन है।

उदाहरणो से यह बात स्पष्ट होगी। यथा—काशिकादिसमत सूत्रपाठ है—विभाषा लीयते. (६।१।५१), पर क्षीरस्वामी 'लियो वा' पाठ करते हैं (२।६६); यहाँ 'विभाषा लीयते:' सूत्र ही तदर्थप्रतिपादक 'लियो वा' रूप मे उद्धृत किया गया है—ऐसा सोचना सर्वथा असगत नही होगा। तथैव काशिकादिसमत 'स्फुरति-स्फुलत्योर्घञि' (६।१।४७) सूत्र इसी ग्रन्थ मे 'स्फुरि-स्फुल्योर्घञि' रूप मे उद्धृत हुआ है (६।९६)। ईदृश पाठ पाठान्तररूपेण ही गण्य होंगे–ऐसा कहना कठिन है, क्योकि काशिका-प्र० स०-प्र०कौ-सि०कौ-भाषावृत्ति आदि मे ये पाठ स्मृत नही हुए हैं। यदि ये विस्मृतिमूलक पाठ नही हैं तो ये सूत्र अन्य व्याकरण के हैं–यह भी सोचा जा सकता है। सूत्रार्थस्मरण कर ये वचन प्रयुक्त हुए हैं—ऐसा मानना ही अधिकतर सगत है, क्योकि इन स्थलो मे व्याकरणान्तरनिर्देश मे ग्रथकार की प्रवृत्ति थी, इसका ज्ञापक प्रमाण कुछ भी नही मिलता।

पाठ की **पाणिनीयता**—साधारणतया यह सोचा जा सकता है कि सर्व-प्राचीन व्याख्यानग्रन्थ मे जो पाठ है, वही पाणिनिसम्मत है—ऐसा मानना ही युक्तियुक्त होगा। पर यह नियम यहाँ पूर्णरूपेण घटता नही है। प्राचीन एव प्रमाणभूत महाभाष्य के अनुसार भी पाणिनि-सम्मत पाठ का न्याय्य निर्णय सर्वस्थल मे नही किया जा सकता है। प्रतीत होता है कि प्राचीन काल मे भी महाभाष्य की सर्वोच्च प्रामाणिकता के विषय मे मान्य ग्रन्थकारो मे ऐकमत्य नही था, क्योकि काशिका आदि ग्रन्थो मे सूत्रो के ऐसे पाठ और अर्थ दिए गए हैं, जो भाष्य-दर्शित पाठ-अर्थों से विरुद्ध हैं (केवल भिन्नार्थक नही)[१]।

१—अष्टाध्यायी के प्राचीन वृत्तियो मे भी सूत्रार्थ तथा सूत्र पाठ मे पर्याप्त भिन्नता और विरोध था, जिसके उदाहरण प्रदीप आदि टीकाग्रन्थो मे प्रचुर मिलते हैं। फलत हम लोगो को यह कहना पडता है कि 'परम्परा-रक्षित पाठ' तथा 'परम्परागत व्याख्या' के रहने पर भी कार्यक्षेत्र मे परस्पर विवाद और परमतखण्डन प्रचुर मात्रा किए जाते थे। स्वविरुद्ध मतो का खण्डन कर सभी अपने मतो को यथार्थ प्रतिपादित करते हैं। ऐसी स्थिति मे एक तृतीयपक्ष को मुख्यत· युक्तिबल पर ही सत्यासत्य का निर्णय करना पडता है, किसी एक व्याख्याकार के प्रति अनन्य श्रद्धा से नही। 'पाठ की प्राचीमता' का जो स्थान पाठनिर्णय विद्या में है, वह यथायथरूप से सबको

पतञ्जलि ने कण्ठतः जिस सूत्र का जैसा पाठ कहा है, क्षीरतरङ्गिणी, काशि आदि ग्रन्थों में उससे भिन्न पाठ दृष्ट होता है और ऐसे स्थलों पर व्याख्याकार ने सर्वत्र पाठान्तर का निर्देश भी नहीं किया है (जब कि अन्य अनेक स्थलों पाठान्तर का निर्देश किया गया है) जिससे यह अनुमित होता है कि स्थलों पर वे कोई पाठान्तर नहीं मानते थे या पाठान्तर को उल्लेखयोग्य न समझते थे। महाभाष्य से प्राचीनतर श्लोकवार्त्तिक में भी जिस सूत्र का जैसा रक्षित हुआ है उसका भी पाठान्तर दृष्ट होता है[1] अतः यह मान पड़ता है कि प्राचीन व्याख्याकारगण प्राचीनतर व्याख्यान के प्रामाण्य सदा चरम प्रमाण रूप से नहीं मानते थे।

पाठनिर्णय की दुरूहता—कहा जा सकता है कि जिन पाठान्तरों में सू और वार्त्तिकों का संयोग हो गया है[2] उन स्थलों पर पाणिनि-सम्मत सूत्रपा का निश्चय करना सरल है (अर्थात् ऐसे सूत्रों से वार्त्तिकांश को निकाल देने प सूत्र का यथार्थ कलेवर ज्ञात हो जाएगा) पर बात ऐसी नहीं है। वार्त्तिक संयुक्त सूत्र काशिका में मिलते हैं पर विशद आलोचना करने पर पता चलत है कि काशिकाकार ने स्वयं वार्त्तिकों का प्रक्षेप सूत्रों में नहीं किया है। पण्डि युधिष्ठिर मीमांसकजी ने इसका सप्रमाण निरूपण किया है (संस्कृत व्याकर शास्त्र का इति॰ भाग १ पृष्ठ २०७-२११)। अतः वार्त्तिक और काशिका की पारस्परिक तुलना से सर्वत्र पाणिनि-सम्मत पाठ का अन्तिम निरूपण किया जा सकेगा—ऐसी आशा नहीं है।

मान्य ही है। काशिका-भाष्य विरोध के विषय में The Mahabhasya Vs the Kasika शीर्षक मेरा लेख द्रष्टव्य है (J V O I XV 1).

१—५ भास्वति छन्दसि सूत्र की तत्त्वबोधिनी और प्रौढमनोरमा।

२—भट्टोजि आदि ने बहुत यह दिखाया है कि सूत्रों के साथ वार्त्तिकों का मिश्रण काशिकाकार ने किया है यथा—इत्या इत्येतावदेव सूत्रं पठितं सूत्रकारेण। वृत्तिकारस्तु भाष्ये पूर्वपक्षत्वेन पठितं सूत्रे प्रक्षिप्य (शब्द॰ ३।१।१५) वृत्तिकृता तु मतान्तरमनुपदर्शं (सूत्रे प्रक्षिप्य करपक्षमामिति पठितम् तच्च भाष्यविरुद्धम् (दिङ्क्षाणस्म् ४।१।१५) बहुवचनमिति भाष्ये दृष्टं वृत्तिकृता सूत्रे प्रक्षिप्य पठितम् (विभाषितं विशेषवचने ८।१।२ की स्वरसिद्धान्तचन्द्रिका) पूवमात् पूर्विंतमनुदात्तम् (८।१।६७)—एतावदेव सूत्रम्, काष्ठादिभ्य इति तु वार्त्तिके दृष्टं वृत्तिकृता सूत्रे प्रक्षिप्य पठितम् (स्व॰ सि॰ च॰)।

उपर्युक्त तथ्य मे युक्ति यह है कि ऐसे अनेक वार्त्तिक हैं, जिनसे सूत्र मे अनुक्त पदो की सिद्धि की गई है। ऐसे वार्त्तिको मे कुछ वार्त्तिको का मिश्रण (या वार्त्तिकधृत शब्दो का पाठ) सूत्रो के साथ काशिका मे मिलता है, पर इस प्रकार के सभी वार्त्तिकों का मिश्रण सूत्रो के साथ काशिकाकार ने नही किया है, जिससे मालूम पडता कि काशिकाकार ने ऐसा प्रक्षेप नही किया है। यदि ऐसा प्रक्षेप काशिकाकार का होता, तो ऐमे सभी वार्त्तिको का प्रक्षेप काशिकासंमत सूत्रपाठ में दृष्ट होता। इससे यह भी प्रमाणित होता है कि काशिकाकार को अपने सम्प्रदाय मे प्रचलित जो पाठ मिला, उन्होने वैसा ही पाठ अपने ग्रन्थ में पढा।

यह भी देखा जाता है कि कभी कभी 'सूत्र मे वार्त्तिकप्रक्षेप' के प्रसग मे काशिकाकार का साक्षात् नाम नही लिया गया, 'केचित्', 'अभियुक्ता' आदि शब्दो का ही प्रयोग किया गया। यह सभव है कि व्याख्याकार यह समझते थे कि काशिकाकार की तरह अन्यो ने भी ऐसा प्रक्षेप किया है, अतः काशिका का नाम लेना अनावश्यक है। विशेष छानवीन करने का उद्देश्य न हो तो भी ईदृश सामान्य शब्दो का प्रयोग करना अनिवार्य हो जाता है। एक उदाहरण ले— ३।३।१२२ की व्याख्या मे कैयट कहते हैं—अध्यायसूत्रे आधारावयशब्दौ वार्त्तिके दर्शनाद् अभियुक्तै॰ प्रक्षिप्तौ (प्रदीप)। यह पाठ काशिका का है। लाक्षारोचनाट्ठक् (४।२।२) पर 'शकलकर्दमाभ्यमुपसख्यानम्' वार्त्तिक है, काशिकाधृत सूत्र में शकल-कर्दम का पाठ भी है। इन दोनो के पाठ को 'अनार्ष' (प्रदीप) और 'वार्त्तिकदर्शनजनित प्रक्षिप्त' (शब्दकौ०, पद०) माना गया है, पर प्रक्षेपकर्ता के रूप में किसी का नाम नही लिया गया है। प्रक्रियासर्वस्व मे भी इन दो शब्दो का पाठ सूत्र में है और पाठविषयक कोई चर्चा नही की गई है। यहाँ भी उपर्युक्त समाधान ही संगत होता है।

जिस प्रकार काशिका और वार्त्तिको की तुलना करने पर सूत्र के प्राचीनतम स्वरूप का ज्ञान सदैव नही हो सकता, उसी प्रकार वार्त्तिक और सूत्रो की पारस्परिक तुलना करने से भी सर्वत्र पाणिनिसम्मत सूत्रपाठ का ज्ञान नही हो सकता। कितने ही ऐसे वार्त्तिक हैं, जिनमें वार्त्तिककार ने स्वेच्छा से सूत्राश के साथ वार्त्तिको को पढ़ा है तथा कितने ही ऐसे वार्त्तिक हैं जो सूत्र-शब्दानुसारी नही हैं। जिस सूत्र में 'विभाषा' पद है, उस सूत्र के ग्रहण मे वार्त्तिककार ने 'वा' का प्रयोग किया है। तथैव विधिमुख सूत्रो के निर्देश मे वार्त्तिककार ने निषेधमुख शब्द का प्रयोग किया है, इत्यादि। अत. पाणिनि-

सम्मत सूत्रपाठ का निर्णय वार्तिक या श्लोकवार्तिक की सहायतामात्र से सर्वत्र नहीं किया जा सकता[1]।

सूत्रपाठपरक आलोचना—प्राचीन व्याख्यानग्रन्थों में भी सूत्रपाठसम्बन्धी आलोचना का दर्शन अनेक स्थलों पर हो जाता है। प्राचीन व्याख्याकारों ने जहाँ पाठान्तरों का निर्देश किया है, वहाँ कौन पाठ पाणिनि-सम्मत है—इसका निरूपण सर्वत्र नहीं किया है। किसी-किसी विशेष पाठान्तर के विषय में विचार विचार यत्र-तत्र मिल जाता है।

सब स्थलों पर पाठान्तरों में युक्तायुक्तत्व का निरूपण करना दुरूहतम कार्य प्रतीत होता है। भाष्यकार ने भी 'उभयथा ह्याचार्येण शिष्याः सूत्रं प्रतिपादिताः' (भाष्य ११।१) ऐसा कहा है काशिका न्यास आदि ग्रन्थों में भी इस मत की प्रतिध्वनि मिलती है[2]। एक ही आचार्य ने दो प्रकार का सूत्र बनाया—ऐसा मानना (वह भी सूत्र-ग्रन्थों में) क्या न्याय-संगत है? ऐसे वाक्यों का यथार्थ तात्पर्य क्या है—यह चिन्तनीय है। यदि प्रवचनकाल में ही पाणिनि ने

१—त्यदादीनामः (७।२।१ २) पर जो श्लोकवार्तिक है (त्यदादीनाम कारेण ...तत्रोऽपिति) उससे यह भ्रम हो सकता है कि सूत्र 'त्यदादीनामः' है। ऐसे स्थलों पर वार्तिकदर्शनमात्र से सूत्रपाठ का निर्णय नहीं करना चाहिए—न तु वार्तिके दर्शनेन सूत्रे तपरपाठ इति भ्रमितव्यम् इत्यर्थः (उद्द्योत)।

२—सूत्रार्थद्वयमपि चैतदाचार्येण शिष्याः प्रतिपादिताः तदुभयमपि ग्राह्यम् (काशिका ५।१।२९) शुङ्गाशब्दं स्त्रीलिङ्गमन्ये पठन्ति ततो ढकं प्रत्युदाहरन्ति शौङ्गेय इति। इदमपि चैतत् प्रमाणम् उभयथा सत्रप्रणयनात् (काशिका ४।१।११७)। ४।१।११७ में शुङ्ग और उसका पाठान्तर शुङ्गा है। इसपर न्यास में कहा गया है—इदमपि चैतत् प्रमाणमिति। कथं पुनः परस्परविरुद्धमपि प्रमाणं भवतीत्या शङ्क्याह-उभयथा सूत्रं प्रणयनादिति। उभयथा ह्येतत् सूत्रमाचार्येण प्रणीतम् तस्मात् को विरोधः। ३।१।६७ में जरद्भिः-जरतीभिः पाठद्वय हैं। व्याख्याकार कहते हैं—उभयथाऽपि शिष्या आचार्येण प्रतिपादिताः इत्युभयं सिध्यति (न्यास); जरद्भिरित्यपि पाठः शिष्या आचार्येण बोधिता इति युक्तवत् इत्यपि भवति (प्रदीप)। नाव्ययजगात् (५।१।११९)—तुल्या च संहिता ह्रस्वदीर्घयोः। उभयथा च सूत्रं प्रणीतम् (काशिका)। ५।४।१२१ में सक्थि और सक्थ्य दो पाठ हैं। विद्वान् कहते हैं—उभयथा ह्याचार्येण शिष्याः सूत्रं प्रतिपादिताः इत्युभयमपि प्रमाणम् (प्रसाद)।

दोषपरिहारार्थ सूत्र मे परिवर्तन किया है—ऐसा मान लिया जाय, तो भी २१४ स्थलो पर ही ईदृश पाठान्तरो की संभावना की जा सकती है। पूर्वाचार्यों के विषय में पतञ्जलि ने यह भी कहा है कि 'आचार्याः सूत्राणि कृत्वा न निवर्तयन्ति' अत' पाणिनि ने स्वय पाठान्तर किया—इस वाक्य की संगति लगती नही है। किच पाणिनि ने कुछ काल बाद सूत्र मे परिवर्तन किया—ऐसा मानने पर, यह भी मानना होगा कि पहले सूत्रो मे किसी प्रकार की कमी थी, पर क्या ऐसा सोचना सगत है ? यह भी सोचना चाहिए कि जो पाठ बाद मे शुद्ध कर निश्चित किया गया, वही पाठ क्यो न प्रचलित हो गया—पहले के अशुद्ध पाठ का प्रचलन क्यो रहा गया ?

अत 'पाणिनिकर्तृक पाठान्तर' एक विवादास्पद विषय है, जिसके समाधान के लिये विद्वानो को चेष्टा करनी चाहिए।

इस विषय मे हमारा मत यह है कि वस्तुतः सूत्रकार ने पूर्वप्रणीत सूत्र का सशोधनपूर्वक नया सूत्र बनाया है—ऐसा नही हो सकता (क्योकि तब प्राक्तन सूत्र का प्रचलन नही हो सकता था—उस काल की परिपाटी के अनुसार), पर ऐसे वाक्यो का तात्पर्य यही है कि सूत्रकार ने सूत्रीय शब्दो का वैसा तात्पर्य (या व्याख्यान) भी कहा (न्यायादि-दर्शनो मे भी सूत्रो का एकाधिक तात्पर्य होते ही हैं)। न्यायप्रयोग या प्रक्रिया से सबद्ध पाठभेदो मे तो यह समाधान किया जा सकता है, पर जहाँ शब्दविशेष का अधिकपाठ रूप पाठान्तर है, वहा 'प्रतिपादन-भेद मात्र' कहकर उचित उत्तर नही दिया जा सकता। ऐसे स्थलो पर 'उभयथा प्रतिपादन' रूप मत के प्रतिपादन का कारण यही हो सकता है कि व्याख्याकार एकतर पक्ष के निर्धारण के लिये समर्थ नही थे या वे पर्यवेक्षण कर अन्तिम निर्णय करना नहीं चाहते थे, अत उन्होने शकाकारी को प्रसन्न करने के लिये ऐसा उत्तर दिया है।

पूर्वाचार्यकृत पाठविचार—युक्ति से निर्णीत सूत्रपाठ बाद के आचार्यों द्वारा मान्य ही होता था, ऐसी बात नही है। चटकाया ऐरक् (४।१।१२८) सूत्र के पाठान्तर के विषय मे न्यासकार ने जिस पाठ को युक्ति से ठीक माना है, अर्वाचीन भट्टोजि दीक्षित ने उस पाठ की समीचीनता का प्रत्याख्यान किया है (शब्दकौ०)। प्रमाणभूत वैयाकरणो ने कभी कभी अपने पाठ की समीचीनता के लिये युक्ति दी है तथा परमतानुसार पाठ का प्रबल खण्डन भी किया है। अष्टाध्यायी के पाठान्तरो मे कुछ ऐसे पाठान्तर हैं, जहाँ पाणिनि—सम्मत पाठ का निर्णय करने के लिये कुछ भी उपाय दृष्ट नही होता। ऐसे स्थलो पर स्वय

प्राचीन व्याख्याकारगण ने भी अपनी असमर्थता प्रकट की है, और दोनों पाठ का ही समर्थन किया (द्र पूर्व पृष्ठ १७२) ।

प्राचीन टीकाकारों ने जहाँ पर पाठान्तरों में पाणिनिसम्मत पाठ' पर विचार किया है वहाँ सर्वत्र ऐसी युक्ति नहीं दी है कि चू कि यह पाठ प्राचीन तम ग्रन्थ में उल्लिखित है इसलिये यही पाठ पाणिनि-सम्मत है' । वे प्रतिकोई स्थलों में पाणिनि की प्रवृत्ति का अन्वेषण कर तदनुसार पाणिनि-सम्मत पाठ का निश्चय करते हैं । यदि प्राचीन विषय में प्राचीन व्याख्याकार ही प्रमाण माने जाते[1] तो पतञ्जलि अपने से प्राचीन वृत्तिकारों द्वारा स्वीकृत पाठ तथा सूत्रार्थों का बहुत खण्डन नहीं करते । प्राचीनता के आधार पर प्राचीन आचार्य प्रामाण्याप्रामाण्य का विचार प्रायः नहीं करते हैं (क्वचित् विशिष्ट स्थलों को छोड़कर, जहाँ युक्ति का प्रयोग करना संभव नहीं होता) । प्रमाद और अनवधानता से भ्रान्ति होती है (जो प्राचीन व्याख्यान में भी संभव है) अतः प्राचीन आचार्य की तुलना में यदि नवीनों में अल्प प्रमादादि हों तो नवीन आचार्य प्राचीन से अधिक प्रामाणिक हैं—यह चिन्ता आचार्यों के हृदय में थी।

यद्यपि भाष्यादि से अनेक स्थलों पर निश्चित पाठ का पता लग जाता है तथापि भाष्यकार से परवर्ती वैयाकरणों ने चू कि सर्वत्र भाष्यनिरूपित पाठ को माना नहीं है (भाष्य का प्रामाण्य मानकर भी) इसलिये हमलोग को निरपेक्ष होकर कहना पड़ता है कि 'भाष्यनिर्णीत पाठ पाणिनि से भी सम्मत होगा' ऐसा सर्वत्र निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है । काशिका और भाष्य में इतने विरोध (सूत्रार्थ सूत्रपाठ आदि विषयों में) हैं[2] जिनका समन्वय

१—'प्राचीनाचार्यसंमत पाठ की प्रामाणिकता अधिक होती है' इस नियम को सामान्यतया पूर्वाचार्य ने स्वीकार किया है यही कारण है कि जब किसी पाठ की उपेक्षा करनी होती है तब उस पाठ को अर्वाचीन पाठ कह दिया जाता है । भट्टोजि 'रुपो रोमः (२।१।८) सूत्र के 'रुपे रोम' पाठ को अर्वाचीनों का पाठ कहते हैं (प्रौढमनो) जिसकी ध्वनि यही है कि यह पाठ उपेक्षणीय है । प्राचीनशास्त्रसम्बन्धी ग्रन्थों के शब्दार्थ-निर्णय में पूर्व-पूर्वतर आचार्यों के संमत शब्दार्थ सामान्यतः अधिक प्रामाणिक होते हैं यह नियम धर्मशास्त्रीय निबन्धकारों को भी मान्य है ।

२ महाभाष्य के व्याख्यान पर जो अतिशयित श्रद्धाबुद्धि कैयट भर्तृहरि, भट्टोजि नागेश आदि में देखी जाती है वह प्रक्रियासर्वस्वकार नारायण,

करना संभव नही है, अतः एक तृतीय पक्ष द्वारा यही कहना न्याय्य होगा कि दोनो ने ही अपने अपने प्रमाणभूत आचार्यों के अनुसार ग्रन्थो की रचना की है, और हमलोग एक के वचनमात्र से अन्य के वचनो का अनादर नही कर सकते हैं। भाष्यकार को जैसा सूत्रपाठ मिला (अपनी परम्परा मे) उन्होंने तदनुसार व्याख्या की और काशिकाकार को जैसा मिला, उन्होने तदनुसार व्याख्या की— ऐसा कहना ही इस विषय पर सगत होगा। जब भाष्यकार ने सूत्र-पाठान्तरो पर विचार किया है तब यह निश्चित है कि वे पाठान्तर किसी सम्प्रदाय मे मूल पाठ के रूप मे प्रचलित थे, अन्यथा सविस्तर खण्डन की कोई भी आवश्यकता नही होती। अतः भाष्यकार का जैसा सम्प्रदाय था, वैसा वार्त्तिककार का भी था, (ये सम्प्रदाय सर्वथा समान नही थे—ऐसा जाना जाता है) और सभी अपने अपने सूत्रपाठ तथा सूत्रार्थ को पाणिनि-सम्मत ही समझते थे। अतः सूत्रपाठनिर्णय में किसी एक के ऊपर निर्भर न कर अन्य उपाय (अर्थात् युक्ति, प्रयोगदर्शन आदि) का आश्रय करना ही होगा।

अन्त मे व्याख्याकारो द्वारा चिन्तित पाठ-निर्णय-कौशलो का एक संक्षिप्त विवरण उपनिबद्ध हो रहा है। यहाँ इन कौशलो का उल्लेख मात्र (उदाहरण-स्थल-निर्देश सहित) किया जाएगा। कभी कभी एकाधिक कौशलो का प्रयोग एक पाठनिर्णय मे किया गया है—ऐसा देखा जाता है।

(क) भाष्यविरोध या वार्त्तिकविरोध या भाष्यवार्त्तिकविरोध को देखकर भाष्याद्यनुगुण पाठ को पाणिनीय पाठ माना गया है।[1]

(ख) सूत्र के अंश विशेष का कार्य यदि अन्य सूत्र से सहजत ज्ञापित हो जाय

काशिकाकार एव प्रक्रियाकौमुदीकार आदि मे नही दृष्ट होती। यही कारण है कि भाष्यानुकूल्य या भाष्यविरोध मात्र से सूत्रपाठो की पाणिनीयता या अपाणिनीयता का निर्णय सर्वत्र नही किया जा सकता। जब पतञ्जलि नही थे, तब भी सूत्रो का अध्ययनाध्यापन एव सूत्रानुसार शब्दप्रयोग सफलतापूर्वक किया ही जाता था, अत. 'यथोत्तरम् मुनीना प्रामाण्यम्' न्याय भी कल्पित ही है। यदि महाभाष्य के विना सूत्रों का अन्तिम तात्पर्य नही जाना जा सकता तो भाष्य जब नही था तब सूत्रो का तात्पर्यावधारणपूर्वक प्रयोग कैसे किया जाता था ?

१ १।३।२९ पदमञ्जरी आदि, ३।३।१२१ प्रदीप, ४।१।१५ तत्त्व, ४।१।१२८ तत्त्व०, ४।२।२ पद०, शब्दकौ०, ४।४।९ शब्दकौ०, ५।१।६६ शब्देन्दु, तत्त्व०, प्रौढ मनो०, ५।२।१०१ पद० इत्यादि अनेक स्थल।

तो उस ज्ञापकसिद्ध अंश को प्रक्षिप्त माना गया है।[1]

(ग) जिस सूत्रपाठ में सूत्रीय कार्य की प्रकृति का उल्लेख किया गया है यदि वह उल्लेख भाषा प्रकृति के अनुसार अनायास ही ज्ञात हो जाता है तो उस निर्देश को प्रक्षिप्त माना गया है।[2]

(घ) जिस पाठ के अनुसार निष्पन्न शब्द प्रसिद्ध होता है, वह पाठ प्रमाणीय माना गया है।[3]

(ङ) वैदिक सूत्रों का पाठ 'छन्दसि दृष्टानुविधिः' के अनुसार निर्णय होता है। वैदिक संप्रदाय में यादृश पाठ है, तदनुकूल सूत्रपाठ ही प्रामाणिक माना गया है।[4]

(च) लौकिक-प्रयोगदर्शन की तरह कोशादि के बचन पर भी ध्यान रखकर सांशयिक स्थलों में सूत्रगत शब्द की आनुपूर्वी का निश्चय किया गया है।[5]

(छ) पाणिनीय व्याकरण में कई 'न्याय' प्रयोज्य होते हैं, सूत्र का जो पाठ इन न्यायों का अनुवर्तन प्राचिकयेन करता है वह पाठ मौलिक है—यह नियम बाहुल्येन माना गया है।[6]

(ज) स्वर (उदात्तादि) से भी कुछ स्थलों में मौलिक पाठ का निर्णय किया गया है।[7]

(झ) जिस पाठ में अप्रचलितता, क्लिष्टता आदि हो वह पाठ प्राचीनतर है, क्योंकि सौकर्य के लिये बाद में सरल और स्पष्ट पाठ प्रस्तुत किया जाता है।[8]

एतदतिरिक्त अन्य उपायों का ऊहन भी किया जा सकता है। 'पाणिनि-संमत-पाठ-निर्णय' एक पृथक् विषय है जिस पर प्रौढ विचार अन्यत्र किया गया है, अतः इस विषय को यहीं समाप्त किया जाता है।[9]

---

१ तत्त्व शब्दकौ प्रौढमनो १।१।९५,

२. तत्त्व प्रौढमनो ३।१।११८;

३ तत्त्व ३।१।१४९

४ ४।१।३० का शब्दकौ ७।१।४२ सुबोधिनी

५ ४।२।११ प्रौढमनो

६ ७।४।१ शब्दकौ उद्द्योत

७. ३।३।१२ शब्देन्दु उद्द्योत ४।१।३७ पर शब्दकौ

८. ३।२।१४६ तत्त्व आदि

९. इ मेरा अप्रकाशित संस्कृत ग्रन्थ—श्रीमद्भगवत्पाणिनिसंमत-सूत्रार्थनिर्णय।

त्रयस्त्रिंश परिच्छेद

पाणिनीय-सूत्र-पाठान्तर-संकलन

विभिन्न व्याख्यानग्रन्थो मे अष्टाध्यायी के जो पाठान्तर निर्दिष्ट हुए हैं, उनका एक सग्रह यहाँ उपनिबद्ध हो रहा है। यह सग्रह कुछ अपूर्ण है, काव्यादि के व्याख्यान ग्रन्थ, कोषो की टीकाए एवम् व्याकरण के अप्रचलित ग्रन्थो को देखने पर कुछ और पाठान्तर मिलेगे—यह निश्चित है।[1] इस सग्रह मे भाष्यस्थ उन न्यासो को भी स्थान दिया गया है, जो सूत्रवत् प्रतिष्ठित हो चुके हैं। पाठान्तरो का सकलन कुछ उदारता से किया गया है, हो सकता है कि सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर इन पाठान्तरो के कुछ स्थल पाठान्तर रूप मे सिद्ध न हो।

यहाँ मूल पाठ के रूप मे काशिका का पाठ ही रखा गया है। यतः प्रत्येक सूत्र पर महाभाष्य मिलता नही है, अत काशिका का पाठ ही रखा गया है। यह वृत्ति प्राचीन है एवम् महाभाष्य से भी प्राचीनतर स्रोतों से इसकी सामग्री आहृत हुई है, अतः काशिकासमत पाठ को प्रथम स्थान देना दोषावह नही है।[2]

यह जानना चाहिए कि सूत्र का स्थलनिर्देश काशिकानुसारी दिया गया है। सि० कौ० आदि मे (कुछ स्थलो मे) सूत्रसख्या मे व्यत्यास है, अतः सूत्र को देखकर ही कौमुदी आदि में सूत्र का स्थान अन्वेषणीय है—पता को देखकर नहीं।

पाठान्तर के साथ जिन ग्रन्थो के नाम लिए गए हैं, तदतिरिक्त ग्रन्थो मे भी दर्शित पाठ मिल सकता है—यह ज्ञातव्य है। काशिकादर्शित पाठान्तर

१—व्याकरणातिरिक्त अन्यान्य वाङ्मय से भी सूत्रपाठ परक सामग्री का सकलन किया जा सकता है। सायणकृत ऋग्भाष्य मे कुछ सूत्रपाठ ऐसे हैं जो सर्वसम्मत नहीं हैं। अमर आदि के कोषो की टीकाओ से भी ऐसी सामग्री मिलती है। अमर० २।५।२४ की क्षीरस्वामिकृत टीका मे ६।१।१५० (विष्किर०) का पाठ काशिकानरूप है। तथैव २।६।५७ टीकागत अष्टा० ५।२।१०१ का पाठ काशिकानुरूप है।

२—काशिकाधृत सूत्रपाठ मे पदमञ्जरी और न्यास के अनुसार कहीं-कहीं मतभेद मिलते हैं, प्राचीनता की दृष्टि से न्यास-पाठ को ही 'काशिका-मूल पाठ' के रूप में माना गया है।

न्यास-पदमञ्जरी में प्रायेण व्याख्यात हुआ है, अतः काशिकोक्त पाठान्तर के साथ न्यासादि के नाम साधारणतया नहीं लिए गए हैं। यही बात सिद्धान्तकौमुदी और उसकी टीकाओं पर भी घटती है। यह नियम सापवाद है। क्वचित् टीकाकार ही पाठान्तरों की चर्चा करते हैं। तत्त्वबोधिनी के सब पाठविचार प्रौढमनोरमा में दृष्ट होते हैं। बालमनोरमा के अधिकांश पाठान्तरनिर्देश शब्देन्दु में मिलते हैं।

अधिकांश स्थलों मे पाठान्तर का स्पष्ट निर्देश मिलते हैं, कुछ स्थल ऐसे भी हैं, जहाँ व्याख्या के अनुसार पाठ को निश्चित करना पड़ता है।

चूंकि मूल सूत्रपाठ काशिकोक्त माना गया है इसलिए जहाँ काशिका का पाठ ही प्रक्रियासर्वस्व आदि मे स्वीकृत हुआ है (सि को आदि में बहाँ काशिका से पृथक् पाठ माना गया है) वहाँ इन ग्रन्थों के नामों का निर्देश करना (पाठ के साथ) प्रसक्त नहीं हुआ यह ज्ञातव्य है।[१]

आकर ग्रन्थनामों मे निम्नोक्त संक्षिप्तशब्द प्रयुक्त हुए हैं—

सि कौ = सिद्धान्तकौमुदी। बाल = बालमनोरमा। तत्त्व॰ = तत्त्वबोधिनी। शब्दको = शब्दकौस्तुभ। शब्देन्दु = लघुशब्देन्दुशेखर। क्षीर = क्षीरस्वामिकृत क्षीरतरङ्गिणी नामक धातुवृत्ति (इसका अस्मद्-सम्पादित संस्करण—रामलाल कपूरट्रस्ट प्रकाशित—व्यवहृत हुआ है। धा वृ॰ = माधवीय धातुवृत्ति (प्राच्यभारती प्रकाशन प्रकाशित)। पद = पदमञ्जरी। न्यास = विवरणन्यासपञ्जिका। का = काशिका। बृहत् = बृहच्छब्देन्दुशेखर।

यह ज्ञातव्य है कि पाठान्तरों के साथ जिन ग्रन्थों के नाम लिए गए हैं, उन ग्रन्थों मे वे पाठ सिद्धान्तरूपेण स्वीकृत हुए हैं, यह बात नहीं। अधिकांश स्थलों मे पाठान्तर का निर्देश कर व्याख्यान ही किया गया है या उसकी अप्रधानता दिखाई गई है। उक्त ग्रन्थो मे पाठान्तर का निर्देश है—इतना ही तात्पर्य है।

इस सङ्कलन मे वे पाठान्तर सङ्कलित नहीं हुए हैं, जो ग्रन्थसम्पादकादि के प्रमाद से उद्भूत हुए हैं—यह ज्ञातव्य है।

१—काशिका का ७।२।२, ५।१।६६, ५।२।१ १ ५।३।५, ५।४।८ सूत्रपाठ प्रक्रियासर्वस्व का मूलपाठ है। काशिका का ४।१।१४२ धातुवृत्ति का मूलपाठ है। काशिका का ७।४।५४ पाठ बालमनोरमा का मूल पाठ है। काशिका का ४।७।८२ ६।१।११७ सि कौ का मूलपाठ है।

[प्रथमाध्याय]

(१) स्थानेऽन्तरतमः (१।१।५०)
स्थानेऽन्तरतमे (भाष्य)

(२) रुदविदमुषग्रहि ------- (१।२।८)
रुद ------ गृहि ------ (बाल०)

(३) विशेषणानां चाजातेः (१।२।५२)
'च अजातेः', 'च आजातेः' (भाष्य, शब्दको०)

(४) समो गम्यृच्छिप्रच्छिस्वरत्यर्तिश्रुविदिभ्यः (१।३।२९)
समो गम्यृच्छिभ्याम् (भाष्य, क्षीर० १।७१०, ६।११७, पद०)।

(५) अवाद् ग्रः (१।३।५१)
अवाद् गिरः (न्यास)

(६) अनुपसर्गाज् ज्ञः (१।३।७६)
अनुपसर्गाद् ज्ञः (शब्दको० १।१।८)

(७) आकडारादेका संज्ञा (१।४।१)
प्राक्कडारात्परं कार्यम् (भाष्य)

(८) विरामोऽवसानम् (१।४।११०)
अभावोऽवसानम् (प्रदीप)

[द्वितीयाध्याय]

(९) युवा खलतिपलितवलिनजरतीभिः (२।१।६७)
------- ------- जरद्भिः (प्रदीप)

[तृतीयाध्याय]

(१०) मान्बधदान्शान्भ्यो दीर्घश्चाभ्यासस्य (३।१।६)
'दीर्घश्च अभ्यासस्य', दीर्घश्चाभ्यासस्य (भाष्य)

(११) काम्यच् च (३।१।९)
क्काम्यच् च (भाष्य)

(१२) गुपूधूपविच्छिपणिपनिभ्य आयः (३।१।२८)
गुपू ——— विच्छि ——— (क्षीर० १।२९६, १।२८०)

(१३) इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः (३।१।३६)
इजादेर्गुरुमतोऽनृछः (क्षीर० ६।१९)
अनृच्छ उ = अनृच्छो [दयायासश्च] (भाष्य)

(१४) उषविदजागृभ्योऽन्यतरस्याम् (३।१।३८)
उषविदजागुरन्यतरस्याम् (क्षीर ७।५९)

(१५) जॄस्तम्भुम्रुचुम्लुचुग्रुचुग्लुचुग्लुञ्चुश्विभ्यश्च (३।१।५८)
जॄस्तम्भु ——— (क्षीर० १।७४१ ४।२)

(१६) वाऽसरूपोऽस्त्रियाम् (३।१।९४)
वा सरूप मस्त्रियाम् (च०)

(१७) कृत्याः प्राक् ण्वुलः (३।१।९५)
कृत्याः (भाष्य)

(१८) प्रत्यपिभ्या ग्रहे छन्दसि (३।१।११८)
प्रत्यपिभ्यां ग्रहे (भाष्य)

(१९) अमावस्यदन्यतरस्याम् (३।१।१२२) का
अमावास्यदन्यतरस्याम् (क्षीर १।७१३)

(२०) आसुयुवपिरपिलपित्रपिचमश्च (३।१।१२६)
आसुयुवपिरपित्रपिचमश्च (सि० को०)

(२१) श्याद्व्यधास्रुसस्रतीणवसावहृलिहश्लिषश्वसश्च (३।१।१४१)
श्याद्व्यधास्रुसंस्रतीण्वसावहृलिहश्लिषश्वसश्च (सि०को०, प्र०को०)

(२२) प्रुसृल्व समभिहारेवुन् (३।१।१४९)
प्रुस्रुल्वः समभिहारे वुन् (बालशास्त्रिसपा० काशिका)

(२३) शक्तौ हस्तिकपाटयोः (३।२।५४)
शक्तौ हस्तिकवाटयोः (पद०, तत्त्व०)

(२४) कव्यपुरीषपुरीष्येषु ञ्युट् (३।२।६५)
हव्यपुरीष ------ (अमरकोषोद्घाटन १।१।५५)

(२५) अनो कर्मणि (३।२।१००)
अनो कर्मण (क्षीर० ४।४०)

(२६) अर्हं प्रशंसायाम् (३।२।१३३)
अर्हं पूजायाम् (क्षीर० १।४८८)

(२७) आक्वेस्तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु (३।२।१३४)
प्राक् क्वे -------- . ------ (भाष्य)

(२८) शमित्यष्टाभ्यो घिनुण् (३।२।१४१)
शमित्यष्टाभ्यो घिनिण् (क्षीर० ४।९४)

(२९) निन्दहिंसक्लिशखादविनाशपरिक्षिपपरिरटपरिवादि........ (३।२।१४६)
निन्द -------- .. विनाशि -------- --------(बाल०,पद०, तत्त्व०)

(३०) सूददीपदीक्षश्च (३।२।१५३)
सूददीपदीक्षा च (क्षीर० १।२१)

(३१) अस्मिमिलमुहुसुरुटृष पाकन् (३।२।१५५)
    अस्म ——— मुएठ ——— (क्षीर० १०।२५)

(३२) समार्थसमिश्र उः (३।२।११८)
    समार्थसमिश्राम्तु (क्षीर० ११४१७)

(३३) बिन्दुरिच्छुः (३।२।१६९)
    बिन्दुरिच्छुः (धा०वृ ११२४)

(३४) मृद् घोषे च (३।३।११)
    मृद्घोषे (उद्योत सम्मेलन)

(३५) एरच् (३।३।५६)
    एरजण्यन्तानाम् (का ३।१।१६१; प्रदीप ३।३।५६)

(३६) अन्तर्घनो देशे (३।३।७८)
    अन्तर्घणो देशे (का सि कौ)

(३७) नक्षयजोमवि क्यप् (३।३।९८)
    वृक्षमजो ——— (बाल)

(३८) विभाषाख्यानपरिप्रश्नयोरिञ्च (३।३।११०)
    प्रश्नाख्यानयोरिञ् च (क्षीर० ८।११)

(३९) अध्यायन्यायोद्यावसंहाराधारावायाश्च (३।३।१२२)
    अध्या ——— वसंहाराश्च (प्रदीप सि कौ०)

(४०) स्वाङ्गे तस्प्रत्यये कृभ्वोः (३।४।६१)
    स्वाङ्गे तस्प्रत्यये कृभुवोः (क्षीर ४।११)

(४१) टित आत्मनेपदानां टेरे (३।४।७९)
    टितात्मनेपदानाम् — (प्रदीप-उद्योत)

[चतुर्थाध्याय]

(४२) टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्कञ्क्वरप्ख्युनाम् (४।१।१५)
टिड् ··· क्वरप· (सि० कौ०, परि०, प्रौढमनो०; पद०, प्रदीप)

(४३) प्राचा स्फ तद्धित (४।१।१७)
प्राचा स्फस्तद्धितः (न्याससम्पादकटिप्पणी)

(४४) केवलमामकभागधेयपापापरसमानार्यकृतसुभङ्गलभेषजाच्च (४।१।३०)
केवल पापावर .. (पद०, शब्दकौ०)

(४५) वृषाकप्यग्निकुमितकुसीदानामुदात्त (४।१।३७)
वृषाकप्यग्निकुसितकुसिदानामुदात्तः (शब्दकौ०, पद०)

(४६) दैत्रयज्ञिशोचिवृक्षिसात्यमुग्रिकाण्डेविद्धिभ्योऽन्यतरस्याम् (४।१।८१)
दैवयज्ञि .... काण्ठेविद्धिभ्योऽन्यतरस्याम् (शब्दकौ०; शब्देन्दु०)

(४७) विकर्णगुङ्गच्छगनाद् वत्सभरद्वाजात्रिषु (४।१।११७) सि० कौ०
विकर्णशुङ्गाच्छगलात् .. . (का०, शब्दकौ०)

(४८) कल्याणादीनामिनङ् (४।१।१२६)
कल्याणादीनामिनङ् च (सि०कौ० मोतीलाल वनारसीदास संस्क०)

(४९) चरकाया ऐरक् (४।१।१२८)
चटकाद् ऐरक् (न्यास, शब्दकौ०, तत्व०)

(५०) कम्बोजाल्लुक् (४।१।१३७)
काम्बोजाल्लुक् (शब्दकौ०)

(५१) लाक्षारोचनाशाकलकर्दमाट् ठक् (४।२।२)
लाक्षारोचनाट् टक् (प्रदीप, पद०, शब्दकौ०)

(५२) सास्मिन् पौर्णमासीति संज्ञायाम् (४।२।२१)
सास्मिन् पौर्णमासीति (प्रदीप सि कौ०)

(५३) ग्रामजनबन्धुसहायेभ्यस्तल् (४।२।४३)
ग्रामजनबन्धुभ्यस्तल् (सि कौ० तत्त्व०)

(५४) नडशादाड् ड्वलच् (४।२।८८)
नडशादाद् ड्वलच् (बाल , सर्वेषु)

(५५) द्युप्रागपागुदक्प्रतीचो यत् (४।२।१ १)
द्युप्रागपाक (प्र० स प्रौढमनो , बालको)

(५६) प्रस्थोत्तरपदपलद्यादिकोपधादण् (४।२।११०)
पलद्यादि = पलदिन् पलदी वा (तत्त्व)

(५७) कच्छाग्निवक्त्रगर्तोत्तरपदात् (४।२।१२६)
कच्छा——गर्तोत्तरपदात् (प्र स)

(५८) कन्थापलदनगरग्रामह्रदोत्तरपदात् (४।२।१४२)
कन्थापलद -- -- (प्र० स)

(५९) अमावास्याया वा (४।३।२)
अमावस्याया वा (पद० न्यास तत्त्वबो)

(६०) सिन्ध्वपकराभ्यां कन् (४।३।३२)
सिन्ध्ववकराभ्यां कन् (प्र० स०)

(६१) श्रविष्ठाफल्गुन्यनुराधास्वातितिष्यपुनर्वसुहस्तविशाखाषाढाबहुलाल्लुक्
(४।३।३४)
श्रविष्ठा .. स्वाती ....(प्र स ; भा वृ १।३३ तत्त्व ; प्रौढ)

(६२) विदूराञ्ञ्यः (४।३।८४)
विदूराञ्ञ्य (प्र स०)

(६३) आयुधजीविभ्यश्छः पर्वते (४।३।९१)
आयुध .... पर्वतात् (शब्देन्दु०, प्र० स०)

(६४) तूदीशलातुरवर्मतीकुचवाराड् ढक्छण्ढञ्यकः (४।३।९४)
तूदीसलातुर .. ..(सि० को०, शब्दको०, प्र० स०)

(६५) सञ्ज्ञायाम् ॥ ४।३।११७ ॥ कुलालादिभ्यो वुञ् ॥ ११८ ॥
सञ्ज्ञाया कुलालादिभ्यो वुञ् (प्रत्याख्यानसंग्रह)

(६६) क्षुद्राभ्रमरवटरपादपादञ् (४।३।११९)
क्षुद्रा ---- पदपादञ् (शब्दको०, पद०, शब्देन्दु०)

(६७) शाकलाद्वा (४।३।१२८)
शकलाद् वा (दयानन्दकृत अष्टाध्यायी वृत्ति, द्र० ऋग्वेद पर व्याख्यान पृ ७-१२)

(६८) शम्याः ष्लञ् (४।३।१४२)
शम्या ष्लञ् (शब्देन्दु०, बाल०, शब्दको०)

(६९) नोत्त्वद्वर्ध्रबिल्वात् (४।३।१५१)
नोत्त्वद्वध्रबिल्वात् (शब्दको०)

(७०) कुलत्थकोपधादण् (४।४।४)
कुलस्थकोपधादण् (पद०)

(७१) आकर्षात् ष्ठल (४।४।९)
आकपात् ष्ठल् (तत्त्व०, शब्दको०, प्र०स०, धा०वृ० १।४४७)

(७२) विभाषा विवधवीवधात् (४।४।१७)
विभाषा विवधात् (तत्त्व०, शब्दको०, पद०, उद्द्योत, प्रदीप)

(७३) प्रतिपथमेति ठंश्च (४।४।२४)
प्रतिपथमेति ठञ् च (शब्देन्दु०)

(७४) किशरादिभ्य ष्ठन् (४।४.५३)
किसरादिभ्य ष्ठन् (सि०को०; शब्देन्दु०)

(८५) कडङ्कर-दक्षिणाच्छ च (५।१।६९)
कडङ्गर-दक्षिणाच्छ च (तत्त्व०)

(८६) पथो ण नित्यम् (५।१।७६)
पथोऽण् नित्यम् (शब्देन्दु०)

(८७) कर्मवेषाद् यत् (५।१।१००)
कर्मवेशाद् यत् (भाषावृत्ति, रामाश्रमी पृ० २०९, अमरकोशोद्घाटन पृ० १०७, सर्वानन्द टीका १।३६०)

(८८) ऐकागारिकट् चौरे (५।१।११३)
ऐकागारिकट् चोरे (प्र०स०)

(८९) न नञ्पूर्वात्तत्पुरुषादचतुरसंगतलवणवटबुधकतरसलसेभ्यः (५।१।१२१)
न नञ् ------ वटयुध ------ (प्र०स०)

(९०) आकर्षादिभ्यः कन् (५।२।६४)
आकषादिभ्यः कन् (सि०कौ०, प्र०स०)

(९१) सस्येन परिजात (५।२।६८)
शस्येन परिजात (प्र०स०; पद०)

(९२) शृङ्खलमस्य बन्धन करभे (५।२।७९)
शृङ्गलमस्य ·· · ·· (उद्द्योत)

(९३) कुल्माषादञ् (५।२।८३)
कुल्मासादञ् (प्र०स०)

(९४) प्रज्ञाश्रद्धार्चावृत्तिभ्यो ण (५।२।१०१)
प्रज्ञाश्रद्धार्चाभ्यो ण (तत्त्व०, पद०)

(९५) उपमुपिमुण्कमधो र· (५।२।१०७)
उपशुषि ------ (प्र०स०)

(९६) गाएल्यजगात् संज्ञायाम् (५।२।११०)
गाएल्यजकात् संज्ञायाम् (टीकासर्वस्व भाग १ पृ २३; अमरकोषाद्याः
(अत्र गाण्डी-गाण्डिव-शब्दौ स्त्रीकृतौ काशिकायां प्र० सर्वस्वे च)।

(९७) काण्डाण्डादीरन्नीरचौ (५।२।१११)
अत्र अण्ड-भाण्डेति पक्षेशो (प्र० स)

(९८) रजःकृष्यासुतिपरिषदो वलच् (५।२।११२)
रज कृष्यासुतिपर्षदो वलच् (पद मञ्ज आश्र सि०कौ०)

(९९) एतदोऽश् (५।३।५)
एतदोऽन् (प्रदीप सि०कौ० उद्द्योत)

(१००) इदमीश् (५।३।१८)
इदानीम् (प्रदीप उद्द्योत)

(१०१) तदो दा च (५।३।१९)
तदोऽदा च (प्रदीप)

(१०२) शाखादिभ्यो यत् (५।३।१ ३)
शाखादिभ्यो य (उद्द्योत बालमनो०,प्र०स० शब्देन्दु० ६।३।७९)

(१०३) पर्शादियौधेयादिभ्यामणञौ (५।३।११७)
पर्शादियौधेयादिभ्योऽणञौ (सि०कौ०)

(१०४) अभूततद्भावे कृभ्वस्तियोगे संपद्यकर्तरि च्वि (५।४।५०)
कृभ्वस्तियोगे संपद्यकर्तरि च्वि (सि०कौ० प्रदीप पद०)

(१०५) तद्धीनवचने (५।४।५४)
तद्धीनवचने च (प्र०स०)

(१०६) सप्यशपनात् मूनरणाद् अमणबरातपविनिता डाच् (५।४।५७)
सप्यशपा——————रात्पतविनिता डाच् (का०)

(१०७) सपत्रनिष्पत्रादतिव्यथने (५।४।६१)
सपत्र ——— व्यथने (बालमनो०)

(१०८) सुप्रातसुश्वसुदिवशारिकुक्षचतुरश्रैणीपदाजपदप्रोष्ठपदाः (५।४।१२०)
सुप्रात ——— प्रोष्ठपदभद्रपदाः (अमरकोश १।३।२२ की रामाश्रमी)
सुप्रात ——— श्रेणीपदाजपदा. (धा०वृ० ४।६४)

(१०९) नन्दु.सुभ्यो हलिसक्थ्योरन्यतरस्याम् (५।४।१२१)
नञ्दु· ——— शक्थ्योरन्यतरस्याम् (पद०,प्र०कौ०, प्रसाद)

[षष्ठाध्याय]

(११०) स्फुरतिस्फुलत्यो र्घञि (६।१।४७९)
स्फुरिस्फुल्योर्घञि (क्षीर० ६।९२)

(१११) विभाषा लीयतेः (६।१।५१)
लियो वा (क्षीर० १०।२०६)

(११२) प्रकृत्यान्त पादमव्यपरे (६।१।११५)
नान्तः पादमव्यपरे (का०, सि०कौ०, पद०, शब्दकौ० १।१।३, दीपिका)

(११३) अव्यादवद्यादवक्रमुरव्रतायमवन्त्ववस्युषु च (६।१।११६)
अव्याद ——— दवचक्रमु ——— (पद०, सुबोधिनी)

(११४) यजुष्युर (६।१।११७)
यजुष्युरो (का०)

(११५) अवङ् स्फोटायनस्य (६।१।१२३)
अवङ् स्फोटायनस्य (पद०, शब्देन्दु०)

(११६) इन्द्रे च नित्यम् (६।१।१२४)
इन्द्रे च (सि०कौ०, प्रदीप)

(११७) प्लुतप्रगृह्या अचि (६।१।१२५)
प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम् (सि०कौ० प्रदीप)

(११८) आङोऽनुनासिकश्छन्दसि (६।१।१२६)
आङोऽनुनासिकः छन्दसि बहुलम् (का०)

(११९) संपर्युपेभ्यः करोतौ भूषणे (६।१।१३७)
सम्परिभ्यो करोतौ भूषणे (सि० कौ०, प्रौढमनो०)

(१२०) किरतौ लवने (६।१।१४०)
किरतेर्लवने (क्षीर० ६।१११)

(१२१) विष्किरः शकुनिर्विकिरो वा (६।१।१५०)
विष्किरः शकुनौ वा (सि०कौ० प्रदीप उद्योत)

(१२२) तित् स्वरितम् (६।१।१८५)
तित् स्वरितः (स्व०सि० च)

(१२३) मतोः पूर्वमात् संज्ञायां स्त्रियाम् (६।१।२१९)
मतोः पूर्व मात्—— (स्व०सि० च सुबोधिनी)

(१२४) कुरुगार्हपत रिक्तगुर्व—— (६।२।४२)
क्वचित् शादिषादिषु निर्विसर्गः चतुरशब्दो दृश्यते (द०शरणास्यामसंग्रह)

(१२५) चूर्णादिष्वप्राणिषष्ठ्याः (६।२।१३४)
चूर्णादिष्वप्राण्युपपदात् (का०)

(१२६) ओजःसहोऽम्भस्तमसस्तृतीयायाः (६।३।३)
ओजः—— तमसस्तृतीयायाः (भाषावृत्ति)

(१२७) स्वाङ्गाच्चेतोऽमानिनि (६।३।४०)
स्वाङ्गाच्चेत (सि०कौ० प्रदीप)

(१२८) पादस्य पदाज्यातिगोपहतेषु (६।३।५२)
पादस्य पदाज्यति ------- (क्षीर० १।३३)

(१२९) इष्टकेषीकामालाना चिततूलभारिषु (६।३।६५)
इष्ट ------ ----- तूलहारिषु (धा०वृ० १।३२३)

(१३०) प्रकृत्याशिष्यगोवत्सहलेषु (६।३।८३)
प्रकृत्याशिषि (प्रदीप, सि०कौ०, उद्द्योत)

(१३१) विष्वग्देवयोश्च टेरद्र्यञ्चतावप्रत्यये (६।३।९२)
विष्वग्देवयोश्च टेरद्रि. (उद्द्योत ६।३।९५)

(१३२) समः समि (६।३।९३)
समः सम्यञ्चतावप्रत्यये (उद्द्योत ६।३।९५)

(१३३) नहिवृतिवृषिव्यधिरुचिसहितनिषु क्वौ (६।३।११६)
नहि - - -रुजि -- (क्षीर० ६.१२१)

(१३४) दशसञ्जस्वञ्जा शपि (६।४।२५)
दन्शसन्जस्वन्जा शपि (क्षीर० १।७१६)

(१३५) जनसनखना सञ्झलोः (६।४।४२)
जनखनसना सञ्झलोः (क्षीर० ४।४०)

(१३६) ल्यपि लघुपूर्वात् (६।४।५६)
ल्यपि लघुपूर्वस्य (पद०)

(१३७) इस्मन्त्रन्क्विपु च (६।४।९७)
इस्मन्त्रन्क्विप्सु च (क्षीर० १०।३६)

(१३८) घसिभसोर्हलि च (६।४।१००)
घसिभसोर्हलि (प्रदीप, पद०)

(१३९) न शसददवादिगुणानाम् (६।४।१२६)
न शसददवादिगुणिनाम् (क्षीर० १।१७)
न शसददवादिगुणानाम् (तत्त्व०)

[सप्तमाध्याय]

(१४०) जश्शसोः शिः (७।१।२०)
जसिशसोः शिः (न्यास)

(१४१) भ्यसोभ्यम् (७।१।३०)
भ्यसोऽभ्यम् (का०)

(१४२) यजध्वैनमिति च (७।१।४३)
यजध्वेनमिति च (सुबोधिनी सि०कौ०,पृ०)

(१४३) गोतो णित् (७।१।९०)
गोतो णित् (का० प्रसाद, व्याख्यासुधा १।१।५)

(१४४) अतो ल्रान्तस्य (७।२।२)
अतो र्लान्तस्य (धर्मेन्दु उद्योत)

(१४५) ह्म्यन्तक्षणश्वसजागृणिश्व्येदिताम् (७।२।५)
ह्म्यन्तक्षणश्वसजागृणिश्व्येदिताम् (क्षीर० १।८८०)

(१४६) श्र्युकः किति (७।२।११)
श्र्युकः क्ङिति (का० १।२।११९ भा०)

(१४७) धृषिशसी वैयात्ये (७।२।१९)
धृषशसी वैयात्ये (क्षीर० १।८८०)

(१४८) प्रभौ परिवृढः (७।२।२१)
प्रभौ परिबृढः (क्षीर० १।७३५ १।८८४)

(१४९) ग्रसितस्कभित .... क्षरितिक्षमितिवमित्यमितीति च (७।२।३४)
ग्रसित .... क्षरितिवमित्यमिति च (सि० कौ०)

(१५०) सिचि च परस्मैपदेषु (७।२।४०)
- सिचि परस्मैपदेषु (क्षीर० १।६९४)

(१५१) तीषसहलुभरुषरिष (७।२।४८)
तीषु सह ---- (क्षीर० ६।२६, प्रदीप ७।२।४९, का०)

(१५२) सनीवन्तर्धभ्रस्जदम्भुश्रिस्वृयूर्णु भरज्ञपिसनाम् (७।२।४९)
सनीव .... भरज्ञपिसनितनिपतिदरिद्राणाम् (का०)

(१५३) सेऽसिचि कृतचृतच्छृदतृदनृतः (७।२।५७)
सेऽसिचि कृति ...... (क्षीर० ७।९)

(१५४) यमरमनमाता सक् च (७।२।७३)
यमरमनमाता सुक् च (क्षीर० १।७११, २।४२)

(१५५) स्मिपूङ्रञ्ज्वशा सनि (७।२।७४)
स्मिङ्पूङ् . . सनि (क्षीर० ७।२६)

(१५६) ईडजनो र्ध्वे च (७।२।७८)
ईडजनो स्ध्वे च (उद्द्योत ७।२।७९, का०)

(१५७) अतो येय (७।२।८०)
अतो यासिय (का०, प्रदीप)

(१५८) किम क (७।२।१०३)
इम. कः (न्यास)

(१५९) परिमाणान्तस्याऽसञ्ज्ञाशाणयो (७।३।१७)
परिमाणान्तस्याऽसञ्ज्ञाशाणकुलिजानाम् (का०)

(१६०) यथातथययापुरयो पर्यायेण (७।३।३१)
यथातथायथा . ...(सि० कौ०, उद्द्योत)

(१६१) शाच्छासा (७।३।३७)
घाछासा (क्षीर० १।७३७)

(१६२) भीस्मोर्नुम्मुकावन्यतरस्यां स्नेहविपातने (७।३।६९)
भीस्मो स्नेहविपाटने (क्षीर० २ ५१)

(१६३) ष्ठिवुक्लम्याचमां शिति (७।३।७५)
ष्ठिवुक्लमुचमां शिति (सि० कौ० उद्योत प्रदीप)

(१६४) इषुगमियमां छः (७।३।७७)
इषगमियमां छ (चान्द्रेन्दु तिङन्त पृ० ५४७, चन्द्रकला प्रदीप)

(१६५) भ्राजभासभाषदीपजीवमीलपीडामन्यतरस्याम् (७।४।३)
भ्राजभासदीप (क्षीर० १।३४७)

(१६६) लोपः पिबतेरीच्चाभ्यासस्य (७।४।४)
लोप पिबतेरीच्चाभ्यासस्य (क्षीर० १।६५७)

(१६७) नीग्वञ्चुस्रंसुध्वंसुभ्रंसुकसपतपदस्कन्दाम् (७।४।८४)
नीगमुस्रंसुध्वंसुभ्रंसुकसपतपदस्कन्दाम् (क्षीर० १।६०१)

[अष्टमाध्याय]

(१६८) पूजनात् पूजितमनुदात्तं काष्ठादिभ्यः (८।१।६७)
पूजनात् पूजितमनुदात्तम् (स्व० सि० च० प्रदीप सुबोधिनी चान्द्रेन्दु०)

(१६९) विभाषितं विशेषवचने बहुवचनम् (८।१।७४)
विभाषितं विशेषवचने (स्व० सि० च)

(१७०) आसन्दीवदष्ठीवच्चक्रीवत्कक्षीवद्रुमण्वच्चर्मण्वती (८।२।१२)
आसन्दीवदष्ठीवच्चक्रीवत्कक्षीवद्रुमण्वच्चर्मण्वती (उद्योत)

(१७१) कृपो रो ल' (८।२।१८)
कृपे रोलः (तत्त्व०, प्रौढ०, क्षीर० १।५०८)

(१७२) दादेर्धातो र्घः (८।२।३२)
दादेर्घः (क्षीर० १।७।१८)

(१७३) ल्वादिभ्यः (८।२।४४)
ल्वादिभ्यश्च (क्षीर० ९।१२)

(१७४) वसुस्र सु ध्वस्वनडुहा दः (८।२।७२)
वसुस्रंसुध्वस्वनडुहो द. (क्षीर० १।५०१)

(१७५) न भकुर्छु राम् (८।२।७९)
न भकुरुर्छुराम् (क्षीर० ६।७७)

(१७६) नपरे नः (८।३।२७)
नपरे न (न्यास)

(१७७) सदिरप्रतेः (८।३।६६)
सदेरप्रते (क्षीर० १।५९४)

(१७८) अवाच्चालम्बनाविदूर्ययो. (८।३।६८)
अवादौर्जित्यालम्बनाविदूर्येपु (क्षीर० १।२७२, इद चान्द्र सूत्रं ६।४।५३ अपि स्यात्)।

(१७९) प्रष्ठोऽग्रगामिनि (८।३।९२)
प्रष्ठोऽग्रगामिणि (न्यास ४।१।४८ सम्पादकीया टिप्पणी द्र०)

(१८०) अम्बाम्बगोभूमिसव्याप -------- (८।३।९७)
अम्बाम्बगोभूमिसव्येऽप -------- (सि०कौ०मोतीलाल वनारसीदास सस्क०)।

(१८१) सदिष्वञ्जो'ःपरस्य लिटि (८।३।११८)
सदे परस्य लिटि (भा०)

(१८२) प्रनिरन्तः शरेक्षुप्लक्षाम्रकार्ष्यखदिर ——— (८।४।५)
प्रनिरन्त ——— कार्ष्य ——— (तत्त्व)

(१८३) वमोर्वा (८।४।२३)
वमोर्वा (क्षीर० २।२)

(१८४) उपसर्गाद् बहुलम् (८।४।२८)
उपसर्गादनोत्परः (मा०)

(१८५) वा निसनिक्षनिन्दाम् (८।४।३३)
वा निक्षनिसनिन्दाम् (क्षीर० १।४१९)

चतुस्त्रिंश परिच्छेद

'छन्दोब्राह्मणानि' सूत्रस्थ छन्दः शब्द का अर्थ

छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि (४।२।६६) सूत्र मे छन्द पद का अभिप्राय क्या है—यह यहाँ विचारित हो रहा है। एक ही शब्द ईषत् अर्थभेद मे पाणिनि द्वारा प्रयुक्त हुआ है,[1] अतः 'छन्द' का अर्थ वेद है' ऐसा कहने पर भी यह सशय रह ही जाता है कि क्या सभी छन्द.पदघटित सूत्रो मे छन्दः का अर्थ वेद (मन्त्र ब्राह्मणात्मक) है या किसी सूत्र मे छदोः के तात्पर्य का कुछ सकोच या विस्तार किया गया है।[2] वेद से असबद्ध-'इच्छा'-वाची छन्द शब्द के साथ इस लेख का कोई सम्बन्ध नही है, यह पहले ही ज्ञातव्य है (द्र० ४।४।९३)।

व्याख्याकारों के मत—इस सूत्र की व्याख्या के प्रसग मे पूर्वाचार्यों ने छन्द. का अभिप्राय व्यक्त किया है। कैयट कहते हैं कि यहाँ छन्द पद से गो-बलीवर्द-न्याय के बलपर मन्त्र रूप अर्थ का ग्रहण किया जाएगा—गोबलीवर्दन्यायेन छन्दःपदेन मन्त्राणां ग्रहणमिति (प्रदीप १।२।१०)।[3] पूर्वाचार्य कहते हैं कि

१—वैदिक 'चरण' शब्द अष्टाध्यायी मे एकाधिक स्थलो पर प्रयुक्त हुआ है। किन्ही सूत्रो मे चरण का अर्थ वेदशाखा है और किन्ही मे 'वेदशाखाध्येता' है (द्र० २।४।३, ४।१।६३, ६।३।८६ सूत्रो की व्याख्याएं)। इसी प्रकार 'ऋक्' शब्द 'ऋचि तु ———' (६।३।१३३) सूत्र मे ऋग्वेद का वाचक है (द्र०शब्देन्दु०), पर 'टावृचि' (४।१।९) मे मन्त्रविशेष-रूप अर्थ ही ग्राह्य होगा, यजुष्युर' (६।१।११७) मे यजुः का अर्थ पादहीन यजुर्मन्त्र है, पर 'देवसुम्नयोर्यजुषि काठके' (७।४।३८) में यजु यजुर्वेद का वाचक है (वेद = मन्त्र ब्राह्मणसमुदाय है)।

२—अर्थ का सकोच-विस्तार सर्वत्र दृष्ट होता है। वायु० ५९।३१ मे श्रुति की परिधि दिखाने के समय 'ऋचो यजूषि सामानि ब्रह्मणोऽङ्गानि च श्रुति' कहा गया है। यहाँ वेदाङ्गो की गणना भी श्रुति मे की गई है। पुराणस्थ श्लोक को भी 'मन्त्र' कहा गया है।

३—वासुदेव कहते हैं-छन्दासि मन्त्रा , ब्राह्मणानि विधिवाक्यानि (वाल०)। विशेषवाचकपदसन्निधाने सामान्यवाचक शब्दाना तद्विशेषातिरिक्तपरत्वमिति न्यायाश्रयणेनात्र छन्द.पद ब्राह्मणातिरिक्त-परत्वेन मन्त्रपरमेव (रघुनाथशास्त्रिकृत टिप्पणी)।

छन्द का मूल अर्थ वेद है पर ब्राह्मण पद के पृथक् प्रयोग से छन्द पद केवल मन्त्र का वाचक होगा। पूर्वाचार्य यह भी कहते हैं कि गायत्र्यादि-छन्दोयुक्त मन्त्रों का ही (न कि गीतिरूप साममन्त्र और पादहीन गद्यरूप यजुर्मन्त्र) ग्रहण इस सूत्र में इष्ट है मन्त्र के ग्रहण में तद्‌विलक्षण ब्राह्मण का ग्रहण नहीं होता अतः ब्राह्मण के ग्रहण के लिये पृथक रूप से ब्राह्मण शब्द भी सूत्र में पढ़ा गया है—छन्दःपदेन गायत्र्यादिच्छन्दोयुत-मन्त्राणामेव ग्रहणमिति ब्राह्मणग्रहणम् (शब्देन्दु० ४।२।६६)।[1]

इस सूत्र का 'छन्दः' पद वस्तुतः महत्त्वपूर्ण है क्योंकि छन्द के स्वरूप पर निर्भर कर एक नियम का ज्ञापन करने की चेष्टा पूर्वाचार्यों ने की है यथा—छन्द यदि वेदवाची हो तो छन्दःपद से ब्राह्मण का भी ग्रहण हो जाएगा अतः ब्राह्मण का पृथक उपादान व्यर्थ होगा और व्यर्थ होकर वह किसी न किसी सूक्ष्म अर्थ को ज्ञापित करेगा जैसा कि भट्टोजि ने कहा है—छन्दोग्रहणादेव सिद्धे ब्राह्मण ग्रहणं तद्विशेषप्रतिपत्त्यर्थम्, तेन पुराणप्रोक्तानामेव तद्विषयता (प्रौढमनो ४।२।६६)।[2] अब यदि यह सिद्ध हो जाए कि इस सूत्र में छन्द पद मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेदवाची नहीं है तो ब्राह्मण पद का पृथक ग्रहण सार्थक होगा, फलतः यह 'ज्ञापक' भी असिद्ध हो जाएगा। इस प्रकार यह निश्चित है कि छन्द पद के विवक्षित अर्थ को जानना आवश्यक है।

प्रस्तुत निबन्ध में यह दिखाया जाएगा कि छन्द का कैयटादि-दर्शित अर्थ असमीचीन है तथा इस सूत्र में छन्द में ब्राह्मण का अन्तर्भाव नहीं होता (अन्य सूत्रों में होता है)। इस सूत्र के विचार से यह भी स्पष्ट होगा कि वैदिक ग्रन्थों के नामकरण का यथावत् ज्ञान भी आधुनिक विद्वानों में कुछ अंश तक विपर्यस्त हो गया है।

१—छन्दःपदेन गायत्र्यादिच्छन्दोयुक्तमन्त्रवती संहितैव गृह्यते (बृहत् शब्देन्दु)। वस्तुतो गायत्र्यादिच्छन्दोबद्धेषु मन्त्रेष्वेव छन्दस्त्वमिति बोधयितुं तत्र ब्राह्मणग्रहणम्। (उद्द्योत)।

२—ज्ञानेन्द्र भी यही कहते हैं—छन्दोग्रहणादेव सिद्धे ब्राह्मणग्रहणं चिरन्तन प्रोक्त-ब्राह्मणानामेव तद्विषयतार्थम्। तेनेह न—याज्ञवल्क्येन प्रोक्तानि ब्राह्मणानि याज्ञवल्क्यानि — याज्ञवल्क्यादयो हि पाणिन्यपेक्षया नूतना इति वृत्तिकृतो व्यवहारः (तत्त्व)।

छन्द पद के प्रचलित अर्थ में विप्रतिपत्ति—यह सोचना चाहिए कि इस सूत्र का प्रकरणानुसार जो अर्थ किया जाता है, उस अर्थ के स्वारस्य के अनुसार छन्द का 'मन्त्र' रूप अर्थ घट सकता है या नही। सूत्र का अर्थ है—छन्दासि ब्राह्मणानि च प्रोक्तप्रत्ययान्तानि अध्येतृवेदितृ प्रत्यय विना न प्रयोज्यानि। छन्दः का अभिप्राय यदि मन्त्र[1] हो तो प्रश्न होगा कि क्या कोई एक मन्त्र या मन्त्र-समुदाय प्रोक्तप्रत्ययान्त होता है? क्या 'अग्निमीले पुरोहितम्' इत्यादि कोई एक मन्त्र या बहुमन्त्र-समुदायात्मक कोई सूक्त प्रोक्तप्रत्यय युक्त हो भी सकता है? मन्त्र या मन्त्रसमुदाय के कभी-कभी विशिष्ट नाम भी देखे जाते हैं, यथा—चमक, नमक, ज्योतिष्मती ऋक्, अघमर्षण सूक्त, त्वरितमन्त्र, पुरुषसूक्त आदि। क्या ये नाम-वाचक शब्द कभी प्रोक्तप्रत्ययान्त होते हैं? व्याकरणग्रन्थो मे या वैदिक अनुक्रमणी आदि में ऐसा कोई भी अनुशासन नही है जिससे ज्ञात हो सके कि मन्त्र या मन्त्रसमुदाय के नाम प्रोक्तप्रत्ययान्त होते हैं। अत. यह स्पष्ट ही है कि 'छन्द पदेन मन्त्राणा ग्रहणम्' रूप कैयटसमत अर्थ असंगत ही है।

जब छन्द का मन्त्र रूप अर्थ सिद्ध नही है तब 'गायत्र्यादि छन्दोबद्ध मन्त्र ही यहाँ छन्द पद का अर्थ है'—यह विचार भी अप्रसक्त ही हुआ।

ऊपर यह भी कहा गया है कि कुछ व्याख्याकार छन्द का अभिप्राय मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद समझते हैं। वे ब्राह्मण का अभिप्राय ब्राह्मणविशेष भी समझते हैं (ब्राह्मणग्रहण किम्? यावता छन्द एव तत्। ब्राह्मणविशेष-प्रतिपत्त्यर्थम्—काशिका), ब्राह्मणविशेष का अभिप्राय पुराणप्रोक्त ब्राह्मण (चिरन्तन ब्राह्मण) से है, अत' अपुराण ब्राह्मणो (जैसे याज्ञवलक्यप्रोक्त, सुलभाप्रोक्त ब्राह्मण) मे ४।२।६६ सूत्रीय तद्विषयता का नियम[2] नही लगता।

१—यह स्पष्टतया ज्ञातव्य है कि मन्त्र के लिये छन्दः पद बहुलतया प्रयुक्त होता है, निरुक्तारम्भगत 'छन्दोभ्य समाहृत्य' पर दुर्ग 'छन्दांसि मन्त्रा' ही कहते हैं। प्रकृत सूत्र में छन्द का अर्थ क्या है, यह यहाँ दिखाया जा रहा है। इस विचार के साथ मन्त्रसकलात्मक सहिता ही वेद है या मन्त्र-ब्राह्मण वेद है—इस विचार का कोई सम्बन्ध नही है।

२—'तद्विषयता नियम' का अर्थ यह है— तेन प्रोक्तम्' सूत्र द्वारा प्रत्यय हो कर जो शब्द बनेगा, उसका प्रयोग नही होगा, बल्कि 'उस प्रोक्त ग्रन्थ का अध्येता-वेदयिता' रूप अर्थ के ज्ञापक नूतन प्रत्यय का सयोजन कर हीप्रोक्त प्रत्ययान्त शब्द का प्रयोग किया जाएगा। यह नियम छन्द और ब्राह्मण मे लगता है (मुख्यत) अर्थात् कठेन प्रोक्तम्' इस अर्थ मे तद्धित प्रत्यय होकर जो शब्द

हमारी दृष्टि में यह अर्थ संगत नहीं है क्योंकि इस नियम के मूल में जो प्रोक्तप्रत्यय हैं, वे आचार्य-नाम-हेतुक ग्रन्थनामा से सम्बद्ध हैं यही कारण है कि अध्येतृ-वेदितृ-प्रत्यय के संयोग से शौनकिन 'तैत्तिरीया' 'कठा' 'तैत्तिरीया' आदि प्रवक्तृनाम-घटित शब्द (बहुवचनान्त पद) सिद्ध होते हैं। अब विचारना चाहिए कि ग्रन्थ तो संहिता, ब्राह्मण आदि रूप ही होते हैं, 'वेद' किसी ग्रन्थ का नाम नहीं है[1] ('वेद' यह शब्द आचार्यनामघटित ग्रन्थनामात्मक नहीं है—*तैत्तिरीय ऐतरेय आदि वैदिक ग्रन्थों के नामों की तरह*)। यही कारण है कि छन्दोब्राह्मणानि— सूत्र में छन्द पद से वेदरूप (मन्त्र-ब्राह्मणसमुदाय) अर्थ नहीं लिया जा सकता। यह भी विचारणीय है कि यदि छन्दः पद से वेदरूप अर्थ लिया जाता तो 'प्रोक्तप्रत्ययान्त वेद (वेदनाम) अध्येतृ-वेदितृ-प्रत्ययों के बिना प्रयोज्य नहीं है, यह अर्थ होगा। क्या ऋग्-यजुः-साम-अथर्व-रूप चार वेद नामों[2] में यह नियम कदापि घट सकता है ?

बनेगा उसका प्रयोग नहीं होगा इस प्रोक्त प्रत्ययान्त शब्द के बाद तदधीते तद्वेद' (४।२।५९) सूत्र से जो प्रत्यय होगा उसका संयोजन कर ही 'कठाः' (लुक् आदि होकर) यह प्रयोग होगा। जो छन्दः आदि नहीं हैं उनमें यह नियम नहीं लगता, जैसे—'पाणिनिना प्रोक्तम्' इस अर्थ में 'पाणिनीयम्' यह प्रयोग होता है। यदि विवक्षा हो तो 'तदधीते' अर्थ में प्रत्यय जोड़ा जा सकता है जिससे 'पाणिनीया' यह प्रयोग निष्पन्न होता है। छन्द' आदि के क्षेत्र में कठेन प्रोक्त ब्राह्मणम् इस अर्थ में कोई परिनिष्ठित प्रयोग नहीं होगा बल्कि 'कठेन प्रोक्त ब्राह्मणम् अधीयते ये इस अर्थ में 'कठाः' ही बनेगा। क्यों छन्द आदि में ही यह नियम लगता है इतिहास-पुराणादि के क्षेत्र में यह नियम नहीं लगता—इसका ऐतिहासिक कारण है जिस पर अन्यत्र विचार द्रष्टव्य है। *भारतीय शिक्षापद्धति का इतिहास ऐसे नियमों से ज्ञात होता है।*

१—'वेद' यह विद्याविशेष का नाम है—आयुर्वेद ज्योतिष, व्याकरण आदि की तरह। 'आचार्यकृत शब्दानुपूर्वी से युक्त होना' ही ग्रन्थ का लक्षण है 'संहिता—ब्राह्मण' ग्रन्थ के प्रकारों के नाम हैं शौनकीयसंहिता तैत्तिरीयसंहिता आदि 'ग्रन्थव्यक्ति' के नाम है। तथैव 'व्याकरण' किसी ग्रन्थ का नाम नहीं है—'अष्टाध्यायी ग्रन्थविशेष का नाम है। उपचारप्रयोग की संभावना सदा रहती है—यह भी ज्ञातव्य है।

२—'ऋग्वेद' आदि वस्तुतः एक ग्रन्थसमूह के नाम हैं—संहितादि के प्रवक्तृनामानुसार नाम ही प्रकृत ग्रन्थनाम हैं।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इस सूत्र मे छन्द' पद से वेदरूप अर्थ नही लिया जा सकता है, सुतरा इस अर्थ को मानकर जो 'ज्ञापक' दिखाया गया है (काशिकादि में) वह 'असति कुड्ये न चित्रम्' न्याय का उदाहरण बन जाता है।

प्रश्न होगा कि तब 'छन्द' पद का अभिप्राय क्या है? हमारा कहना है कि इस सूत्र मे 'छन्दः' का अभिप्राय 'संहिता' (ग्रन्थरूप) है, इसी प्रकार 'ब्राह्मण' का अभिप्राय 'ब्राह्मणग्रन्थ' (ब्राह्मणविशेष) है और सूत्र का तात्पर्य सहिता और ब्राह्मण ग्रन्थो के नामकरण से है। यह सहिता बाहुल्येन मन्त्रमयी है, क्वचिद् मन्त्र-ब्राह्मणमयो भी हो सकती है (तैत्तिरीय-काठक-मैत्र्यायणी की तरह)। सूत्रगत छन्दः का तात्पर्य सहितामात्र है—वह मन्त्रमयी हो या नही—इसकी कोई विवक्षा नही है। इस अर्थ को मान लेने पर सूत्र का अर्थ इस प्रकार होगा—'सहिता[1] और ब्राह्मणो के जो नाम प्रोक्तप्रत्ययान्त होते हैं, वे अवश्य ही अध्येतृ-वेदितृ प्रत्यय-युक्त होकर ही प्रयोगार्ह होते हैं'।

यत यह सूत्र नामकरणविषयक,[2] है अतः छन्द (संहिता) और ब्राह्मण का पृथक् उल्लेख करना पड़ा, क्योकि वैदिक साहित्य सहिता-ब्राह्मण रूप मे द्विधा विभक्त है। यदि 'वेद' शब्द सूत्र में रहता या वेदवाचक छन्दः शब्द ही सूत्र मे रहता (छन्दासि तद्विषयाणि या छन्द तद्विषयम्—ऐसा सूत्र होता) तो उसका कोई अर्थ न होता, यह पहले ही दिखाया गया है।

१—सहिता का अर्थ स्पष्टतः समझना चाहिए। मन्त्रो का संहनन कर (यज्ञकार्य की दृष्टि से) जो सग्रहात्मक ग्रन्थ (यहाँ ग्रन्थ से लिखित ग्रन्थरूप अर्थ न लेकर निश्चित वाक्यानुपूर्वी रूप अर्थ लेना चाहिए) बनाया जाता है, वह सहिता है (क्वचित् कारणविशेष से मन्त्रो के साथ तत्सवद्ध ब्राह्मण भी सङ्कलित हुए हैं)। मेरे प्रकाश्यमान ग्रन्थ 'पुराणगत वेदविषयक सामग्री का समीक्षात्मक अध्ययन' (सहिता परिच्छेद) मे यह विषय विस्तार के साथ विवेचित हुआ है।

२—छन्द.=छन्दोनाम, ब्राह्मण=ब्राह्मणनाम रूप अर्थ सगत है या नही—इस प्रश्न के उत्तर मे वक्तव्य है कि अनेक पाणिनिसूत्रो में ऐसा व्यवहार देखा गया है। 'नदीभिश्च' सूत्रगत 'नदी' से गङ्गा-यमुना आदि नदीनाम गृहीत होते हैं। ५।१।६२ सूत्र में ब्राह्मण शब्द है, नारायण जिसका 'ब्राह्मणनाम' रूप अर्थ कहते हैं (प्र० स०)।

यह स्पष्टतया ज्ञातव्य है कि यहाँ छन्द का अर्थ एक मन्त्र या मन्त्रसमुदाय रूप सूक्त या अनुवाक आदि नहीं हो सकता, क्योंकि मन्त्रद्रष्टा और सूक्तानुवाकादि के द्रष्टा के नाम में अध्येतृ-वेदितृप्रत्यय लगाने का कोई शास्त्रीय अनुशासन नहीं है। ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र या प्रथम सूक्त के द्रष्टा 'मधुच्छन्दाः' के नाम के साथ अध्येतृ-वेदितृप्रत्यय जोड़ने की कोई वैदिक परम्परा नहीं है। हम द्रष्टा-अर्थ में 'माधुच्छन्दसं सूक्तम्' कह सकते हैं। यहाँ तद्विषयता का नियम लगता ही नहीं है। यदि लगता तो 'माधुच्छन्दसं अधीयते ये' इस अर्थ में 'माधुच्छन्दसाः' यही प्रयोग होता (कठाः तैत्तिरीयाः की तरह) पर ऐसा व्यवहार नहीं है।

वस्तुतः संहिता (छन्द)—ब्राह्मण के नाम में ही तद्विषयता नियम लगता है संहिता-ब्राह्मणान्तर्गत मन्त्र-सूक्तादि के साथ नहीं। यह स्पष्टया देखा जाता है कि प्रोक्ताधिकार (४।३।१०१—१११) में संहिता ब्राह्मण आदि के नाम हैं किसी मन्त्र, मन्त्रसमुदायविशेष या अनुवाकादि के नहीं।

ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक परिपाटी के अनुसार संहिता और ब्राह्मण ग्रन्थ प्रोक्त हैं, प्रत्येक मन्त्र या अनुवाक-सूक्तादि के लिये 'प्रोक्त' व्यवहार नहीं होता, उनमें 'दृष्ट' शब्द का व्यवहार होता है ('दृष्ट' के तात्पर्य पर यहाँ कुछ कहना नहीं है)। पूर्वसिद्ध मन्त्रों का (कश्चित् मन्त्र-ब्राह्मण का) संहनन कर जो ग्रन्थ प्रणीत होता था वह तात्कालिक रीति के अनुसार 'प्रोक्त' कहलाता था संहननकर्ता (=प्रवक्ता) के नाम से उस कृति का नाम पड़ता था। पर यह प्रवक्ता प्रत्येक मन्त्र का प्रवक्ता नहीं माना जाता था। शिशिरप्रोक्त संहिता = शैशिरीया (ऋग्वेदीया) है पर संहितान्तर्गत प्रत्येक मन्त्र के प्रवक्ता के रूप में शिशिर को नहीं माना जाता है सूक्त-मन्त्र के 'द्रष्टा' के रूप में अन्य ऋषियों के नाम दिए गए हैं। पूर्वसिद्ध मन्त्रों और ब्राह्मणों का यथाकार्य संकलन कर सज्जीकरण करना और उनका व्यवस्थित अध्यापन करना—ये प्रवक्ता के कार्य हैं। इन संकलन-सज्जीकरण-अध्यापनकर्मों में भेद के अनुसार संहिता-ब्राह्मणमन्त्र आचार्य प्रवचनानुरूप भिन्न-भिन्न होते हैं, अतः प्रवक्ता आचार्य के नाम के अनुसार इन ग्रन्थों का नामकरण स्वभावतः होता था।

सूत्रगत बहुवचन और 'च'कार का तात्पर्य—४।२।६६ सूत्रोक्त 'बहुवचन' (छन्दोब्राह्मणानि) और 'च-कार' का सार्थकय विचार्य है। हम समझते हैं कि बहुवचन के कारण यहाँ छन्द में 'अर्थ-ग्रहण होगा' अन्यथा = तैत्तिरीयाः कहना होगा जिससे मौनकिनः तैत्तिरीयाः आदि पद निष्पन्न होंगे। 'कठाः'

आदि तद्धितप्रत्ययान्त शब्द नित्यबहुवचनान्त ही होंगे—इसके ज्ञापन के लिये यह बहुवचन है—ऐसा कहना सगत है या नहीं—यह विचार्य है। सहिता-ब्राह्मण मे प्रोक्तप्रत्यय के साथ बहुवचनान्तता का नित्ययोग सभवतः तात्कालिक वेदाध्ययन-परिपाटी को ही ज्ञापित करता है।

इस सूत्र मे जो 'च' है, उसके विषय मे व्याख्याकार कहते हैं कि वह अनुक्त-समुच्चयार्थक है,[1] अर्थात् सहिता-ब्राह्मण से पृथक् कल्पसूत्र आदि कुछ अभीष्ट नामो पर भी अध्येतृ वेदितृ-प्रत्यय-प्रयोग का नियमन (तद्विषयतानियम) प्रयोज्य हो—इसलिये च-कार का प्रयोग सूत्रकार ने किया है। तदनुसार कल्प में काश्यपिनः, कौशिकिन', भिक्षुसूत्र मे पाराशरिण, कार्मन्दिन और नटसूत्र में शैलालिन., कृशाश्विन (प्रोक्तप्रत्यय के बाद अध्येतृ-वेदितृ प्रत्यय जोडकर बहुवचनान्त पद का प्रयोग) प्रयोग निष्पन्न होंगे।

कल्प का तात्पर्य—व्याख्याकारो ने कल्प आदि के ग्रहण के विषय में यह भी कहा है कि सभी कल्प गृहीत नही होंगे—छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणीति अध्येतृ-प्रत्ययान्तत्वनियमस्तु कल्पेषु न सर्वत्र प्रवर्तते इति छन्दोब्राह्मणानीति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् (बाल० ४।३।१०५)। तथैव पुरुषोत्तम कहते हैं—केचन पुराण-प्रोक्ताः कल्पा सूत्राणि च तद्विषयाणि अध्येतृ वेदितृप्रत्ययविषयाणि स्युः (भाषावृत्ति)।

कौन कल्प गृहीत होंगे, कौन नहीं—इसका स्पष्टीकरण यह किया गया है कि पुराणप्रोक्त कल्प पर तद् विषयता-नियम लागू होगा। यह पुराणकल्प कौन हैं, पुराण और अपुराण कल्प की सीमारेखा क्या है—यह एक महत्त्वपूर्ण अवश्यविचार्य विषय है। इस विषय मे सभवत. सबसे पहले प० युधिष्ठिर मीमासकजी ने ही विचार किया है[2] कि कृष्णद्वैपायन से पूर्व काल में प्रोक्त कल्प

१—चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थ, तेन काश्यपिन. कौशिकिन. इत्यत्र कल्पेऽपि तद्विषयत्व सिद्धम् (तत्त्व०)।

२—पाणिनि निर्दिष्ट पुराणप्रोक्त और अर्वाक्प्रोक्त ब्राह्मणग्रन्थो की सीमा का परिज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। हमारे विचार मे वह सीमा है कृष्ण द्वैपायन का शाखा प्रवचन, अर्थात् कृष्णद्वैपायन के शाखाप्रवचन से पूर्व प्रोक्त पुराण और उसके शिष्यप्रशिष्यो द्वारा प्रोक्त अर्वाचीन है। इसकी पुष्टि काशिकाकार के याज्ञवल्क्यादयोऽचिरकाला इत्याख्यानेषु वार्ता (४।३।१०५) वचन से भी होती है (स० व्या० शा० इ० भा० १ पृष्ठ २३८)।

पुराणकल्प और पुराणब्राह्मण है। इस विषय में यह भी विचार्य है कि प्रचलित सभी कल्प-ब्राह्मण से पूर्व कुछ पृथक प्रकार के कल्प-ब्राह्मण 'पुराण' माने जाते थे या नहीं। वेदाङ्ग से पृथक् भी एक कल्पवाङ्मय था। उसी प्रकार वैसा भी ब्राह्मण था जिसमें प्रचलित ब्राह्मणगत अर्थवाद नहीं थे। इस प्रकार के कुछ विलक्षण प्रकार के कल्प-ब्राह्मण (जो आज स्वतन्त्ररूपेण प्रचलित नहीं हैं, जो प्रचलित कल्पब्राह्मणकारों द्वारा कुछ अंशों में गृहीत हो गए हैं)—पुराण कल्प-ब्राह्मण हो सकते हैं। यह भी चिन्तनीय है कि संहिता का ऐसा विभाग क्यों नहीं हुआ। क्या संहिताप्रणयन में कालभेदानुसार पृथक रीति का आश्रयण नहीं किया गया? इस विषय पर विशद विचार किसी लेखान्तर में किया जाएगा।

तद्विषयतानियम के अज्ञानहेतुक अपप्रयोग—तद्विषयतानियम के अज्ञान के कारण कभी-कभी असाधु प्रयोग भी किए गए हैं जिन पर आलोचना करना आवश्यक है। जब यह निश्चित है कि संहिता और ब्राह्मण ग्रन्थों के नाम अध्येतृ-वेदितृप्रत्ययुक्त होकर ही प्रयुक्त होंगे तो 'तित्तिरिणा प्रोक्ता संहिता' इस अर्थ में हम 'तैत्तिरीया [संहिता]' का प्रयोग नहीं कर सकते हैं, पर अनवधान आधुनिक विद्वान् ऐसा प्रयोग करते ही हैं। वस्तुतः प्राचीन परिपाटी के अनुसार 'तैत्तिरीयाणां संहिता' ऐसा व्यस्त प्रयोग होगा और समस्त प्रयोग यदि हो तो इस विग्रह में ही 'तैत्तिरीय-संहिता' शब्द प्रयुक्त होगा न कि कर्मधारय समास में ('तैत्तिरीया' को संहिता का विशेषण मानकर) 'तैत्तिरीय संहिता' (पुंवद्भाव होकर) शब्द का प्रयोग साधु होगा। अतः 'तैत्तिरीय' शब्द को संहिता का विशेषण बनाकर 'तैत्तिरीया संहिता' ऐसा प्रयोग (जो आजकल प्रायः देखा जा रहा है) नहीं करना चाहिए, उसी प्रकार 'तैत्तिरीयं ब्राह्मणम्' ऐसा भी नहीं लिखना चाहिए। 'तैत्तिरीयाणां ब्राह्मणम्' या इस विग्रह में समास कर 'तैत्तिरीय-ब्राह्मणम्' ऐसा प्रयोग करना चाहिए।[1]

सूत्राभिप्राय—यह स्पष्टतया जानना चाहिए कि 'छन्दोब्राह्मणानि' सूत्र का अभिप्राय संहिता आदि के ही नामकरण से सम्बद्ध है न कि वेदनामों से। अतः,

---

१—शङ्करादि प्राचीन आचार्य इस विषय में अवहित थे। यही कारण है कि वे 'काठकानां संहितायां श्रयते' (शारीरक ३।३।११) ऐसा षष्ठ्यन्त पद लिखते हैं। श्वेताश्वतराणां मन्त्रोपनिषदि (विष्णुसहस्रनाम-भाष्य), तैत्तिरीयाणां आम्नाय इत्यादि वाक्य इसी दृष्टि से कहे गए हैं।

यजुः, साम, अर्थवा[1] रूप चार नाम या अनुवाक, कण्डिका आदि के नामो के साथ इस सूत्र का कोई सम्बन्ध नही है, यही कारण है कि 'आथर्वण' वेद या 'वासिष्ठ' अनुवाक आदि मे तद्विषयता-नियम नही लगता और प्रोक्तप्रत्ययान्त प्रयोग उपपन्न होते है। इस हेतु से ही 'वासिष्ठ', 'आथर्वण' आदि प्रयोग महाभाष्यादि मे मिलते हैं। यहाँ यह नही समझना चाहिए कि तद्विषयता का नियम यहाँ इसलिये नही लगता क्योकि यह नियम वैकल्पिक है[2] (जैसा कि भ्रमवश नागेश समझते हैं), वल्कि यह नियम यहाँ प्राप्त ही नही है (संहिता आदि न होने के कारण)।

इस सूत्र मे जो 'ब्राह्मण' शब्द है, उसके विषय मे एक विशिष्ट विचार किया गया है कि चिरन्तन प्रोक्त ब्राह्मण मे ही तद्विषयता का नियम प्रवर्तित होगा, अपुराण ब्राह्मणो मे यह नियम लागू नही होगा, यथा—'याज्ञवल्क्यद्वारा प्रोक्त ब्राह्मण' इस अर्थ मे प्रोक्तप्रत्ययान्त शब्द प्रयुक्त होगा—'याज्ञवल्कानि' (ब्राह्मणानि), न कि यहाँ 'याज्ञवल्कानि ब्राह्मणानि ये अधीयते ते' इस अर्थ मे ही शब्द प्रयुक्त होगा।

ब्राह्मण का अर्थ ब्राह्मण-विशेष कैसे हुआ—इस पर कैयट कहते हैं कि छन्दोग्रहणेनैव तु ब्राह्मणग्रहणे सिद्धे ब्राह्मणविशेष-प्रतिपत्यर्थं पुनर्ब्राह्मणग्रहणम् तेन याज्ञवल्कानि ब्राह्मणानीति तद्विषयता न भवति (प्रदीप १।३।१०)।

१—अथर्व-शब्द पर कई बाते ज्ञातव्य हैं। मुख्यत: यह शब्द (ऋषिनाम) पुलिङ्ग है, अत. 'अर्थवा' यह प्रथमान्त पद होगा। 'वेद चार हैं, ऋग् यजु. साम और अथर्व' ऐसा हिन्दीभाषी लिखते रहते हैं, 'अथर्वा' लिखना चाहिए। 'वेदो हि अथर्वा' ऐसा सम्कृत के विद्वान् लिखते हैं। समास मे 'अथर्ववेद' होगा—'अथर्ववेदे सप्रोक्त कर्म चैवाभिचारिकम्', नान्त अथर्वन्-शब्द एकदेशि-मत में नपुसकलिङ्ग माना गया है, अत 'अथर्व' प्रयोग भी होगा, पुराणो में 'अथर्व च' प्रयोग भी है। इन प्रयोगो में अथर्व-रूप ऋषिनाम के बाद प्रोक्तप्रत्यय नही जुडा गया है। प्रत्यय लगने पर 'आथर्वण' होगा, क्वचित् मतान्तर मे 'अथर्वण' भी।

२—वसन्तादिभ्य ४।२।६३। अथर्वाणमिति। अथर्वणा प्रोक्तमित्यर्थ। तेत प्रोक्तमिति प्रकृत्य ऋषिभ्यो लुग् वक्तव्य, वसिष्ठोऽनुवाकः अथर्वणो वा, अथर्वा आथर्वण इति रैवतिकादिभ्य छ इति सूत्रभाष्योक्ते साधु। अस्मादेव भाष्यप्रयोगात् तद्विषयता वैकल्पिकीति वोध्यम् (बृहच् शब्देन्दु० पृ० १३११)।

ज्ञानेन्द्र कहते हैं—छन्दोग्रहणादेव सिद्धे ब्राह्मणग्रहणं चिरन्तनप्रोक्तब्राह्मणानामेव तद्विषयार्थम् (तत्त्व)।

हमारी दृष्टि में यह व्याख्या काल्पनिक है क्योंकि इस सूत्र में छन्द में (संहिता में) ब्राह्मण का अन्तर्भाव नहीं होता। पुराणों में संहिता और ब्राह्मणों के प्रवक्ताओं में भी भेद माना गया है अतः अन्तर्भाव का प्रश्न ही नहीं उठता। इस सूत्र में छन्दः शब्द वेदवाची नहीं है अतः ब्राह्मण से ब्राह्मणविशेष का अर्थ कैसे लिया जाएगा—इसके उत्तर में हमारा वक्तव्य है कि ब्राह्मण शब्द में जो बहुवचन है उससे ही अर्थ का नियमन होगा और ब्राह्मण से ब्राह्मणविशेष (=चिरन्तन ब्राह्मण) का ही ग्रहण होगा। यह दिखाया गया है कि बहुवचन [1] से इस अर्थनियमन पाणिनिसूत्रों में बहुत किया गया है। इस सूत्र में बहुवचन का इससे अतिरिक्त अन्य अर्थ हो भी नहीं सकता। [1] 'अविशेषविहिता' अथवा विशेषविहिता इत्यमस्ते यह न्याय व्याकरण में स्वीकृत होता है अतः ब्राह्मण से कहीं (लक्ष्यानुसार) यदि 'पुराणब्राह्मण' ही गृहीत हो तो यह स्वाभाविक बात है, इसके लिये गोबलीवर्द न्याय का आश्रय करना एकान्तरूप से आवश्यक नहीं है।

पञ्चत्रिंश परिच्छेद

एक लुप्त भ्राज श्लोक

पतञ्जलि ने व्याकरणाध्ययन के प्रसङ्ग में एक श्लोक का उद्धरण दिया है- जो इस प्रकार है—

यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे
शब्दान् यथावद् व्यवहारकाले।
सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र
वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः॥

भाष्य में कहा गया है कि यह 'भ्राज' श्लोक है (क पुनरिदं पठितम्? भ्राजा नाम श्लोकाः—पस्पशाह्लिक)। कैयट और हरदत्त दोनों ही मानते हैं कि भ्राजश्लोकों का रचयिता वैयाकरण कात्यायन है (द्र० स० व्या० शा० इ० भाग १, पृ० २९४-२९५)।

व्याकरणसम्बन्धी साहित्य में इन श्लोकों का प्रमुख स्थान है। यह हमारा दुर्भाग्य है कि भ्राज-सञ्ज्ञक श्लोक अब लुप्त हो चुके हैं और इस प्रकार का अन्य कोई श्लोक प्रचलित नहीं है।

अपने अध्ययनकाल में मुझे एक दूसरा भ्राज-श्लोक मिला है जो 'प्रत्ययः' (३।१।१) सूत्रीय भाष्य की प्रदीपटीका में विद्यमान है। वह इस प्रकार है—

अर्थविशेष उपाधिस्तदन्तवाच्यः समानशब्दो यः।
अनुपाधिरतोऽन्यः स्याच् छ्लाघादि विशेषणं यद्वत्॥

वाचस्पति मिश्र ने अपनी न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका में (२।२।६० पृ० ४७६ चौखम्बा संस्करण) कात्यायन को इसका रचयिता माना है—तथा च भगवान् कात्यायनः—'तदन्तवाच्यः समानशब्दोऽयम्'।[1] यहाँ विशेषण 'भगवान्' यह सिद्ध करता है कि कात्यायन एक विख्यात विद्वान् थे और यही

१—यहाँ पाठभेद द्रष्टव्य है (यः के स्थान में अयम्)। तात्पर्य टीका में इस श्लोक का पूरा तात्पर्य व्याख्यात हुआ है।

विशेषण पतञ्जलि के उस सङ्केत को उचित सिद्ध करता है कि 'भ्राजश्लोक 'अप्रमत्तगीत' है।[1]

हम समझते हैं कि इस श्लोक का रचयिता कात्यायन और भ्राजप्रणेता कात्यायन अभिन्न हैं। चूंकि नैयायिक-सम्प्रदाय में कोई नैयायिक कात्यायन नहीं है इसलिये इस श्लोक का सम्बन्ध संगत रूप से ही वैयाकरण कात्यायन के साथ जोड़ा जा सकता है जो भ्राज श्लोकों का रचयिता है। यह भी द्रष्टव्य है कि यहाँ 'उपाधि' शब्द का प्रयोग उस अर्थ में किया गया है जिस अर्थ से वैयाकरण नैयायिकों की अपेक्षा अधिक परिचित हैं। इस श्लोक का 'घ्राधादि' शब्द प्रत्यक्षतः पाणिनि के सूत्र 'गात्रचरणाघ् घ्राणपात्याकारतदर्थेषु' (५।१।१४०) की ओर संकेत करता है इसलिये इसके रचयिता को पाणिनि-सम्प्रदाय के आचार्यों के बीच में स्थान प्रदान करना होगा अतः दोनों कात्यायनों की एकता बहुत दूर तक सिद्ध हो जाती है।

यदि यह निष्कर्ष सत्य सिद्ध हुआ तो यह भी कहा जा सकता है कि उन पाणिनिमतव्याख्यानपरक श्लोकों में से कुछ श्लोक भ्राज श्लोकों के प्रणेता द्वारा प्रणीत हुए हैं जिन्हें (रचयिता के नामोल्लेख के बिना) कैयट ने प्रदीप में यत्र-तत्र उद्धृत किया है।[2]

यह अर्थविशेष उपाधि। वचन अत्यन्त प्रामाणिक माना जाता है, यही कारण है कि हेलाराज ने वाक्यपदीय ३।।२ की व्याख्या में इसको उद्धृत किया है (तथा चोक्तम्' कहकर)।

कैयट ने इस श्लोक को ५।१।१६ प्रदीप में भी उद्धृत किया है ('उपाधिनि योपन-शब्द्योश्च क्वचित् पर्यायत्वं क्रियामात्रशब्दयोरिव क्वचित्तु भेदेन व्यवहारः, तदुक्तम्'—कहकर)।

उपर्युक्त श्लोक में जो तदन्तवाच्य' पद है उसका अर्थ है—प्रत्ययान्त-शब्दवाच्य। समानशब्दः=समानाधिकरणशब्द' यथा 'हरिहरि' पशु' इति,

[1]— भ्राज'–संज्ञक श्लोक की प्रसिद्धि के विषय में यह ज्ञातव्य है कि गुरुपदपदगुरुपणी की वृत्ति में कात्यायन को 'स्मृतेश्च कर्ता श्लोकानां भ्राजनाम्नां च कारकः (वृत्तिभूमिका) कहा गया है। मुद्रित पाठ 'भ्राजमाना' है जो भ्रष्ट है (भारतवर्ष का बृहद् इतिहास भाग १ पृ ९७)।

२—६।१।८४ प्रदीप में 'प्रमाणप्रमाणत्वात्——' श्लोक उद्धृत हुआ है। इस प्रकार के श्लोक भ्राजश्लोक कहला सकते हैं या नहीं यह अभी विचार्य है।

कर्तुः प्रत्ययेनाभिधानात् पशोरुपाधित्वम् । अतोऽन्यः प्रत्ययवाच्यः व्यधिकरणश्च । यथा गार्गिकया श्लाघते इति श्लाघा (उद्द्योत)। तात्पर्य यह है कि 'दृतिहरिः पशुः' ('हरते दृतिनाथयो पशौ' सूत्र का उदाहरण) मे समानाधिकरण पशुरूप अर्थ 'दृतिहरि' शब्द मे उक्त होता है (इन् प्रत्ययान्त दृतिहरि पद मे पशु उक्त होता है), अत' 'पशु' उपाधि है, गार्गिका शब्द (गार्गिकया श्लाघते–वाक्य) मे जो वुञ् प्रत्यय है (गोत्रचरणात् सूत्रविहित) वह श्लाघा को कहता नही है, क्योकि श्लाघा के विषयभूत होने पर वुञ् का विधान किया जाता है । वुञ् प्रत्ययान्त गार्गिकापद से श्लाघा उक्त नही होती है, अत सूत्रोक्त श्लाघा उपाधि नही है, बल्कि विशेषण है। ५।१।१३४ सूत्रोक्त श्लाघादि 'विषयभूत' है—यह काशिका में भी कहा गया है। वस्तुतः सूत्रविहित वुञ् भाव और कर्म में ही होता है, गार्गिका = गर्गगोत्रीय भाव और कर्म ।

प्रतीत होता है कि विशेपण के रूप मे श्लाघादि का उपन्यास करना पाणिनीय सम्प्रदाय मे अत्यन्त प्रसिद्ध था और यही कारण है कि भ्राज श्लोक मे भी श्लाघादि शब्द ही उल्लिखित हुआ है। कैयट १।३।२ की व्याख्या मे भी उपाधि-विशेषण के प्रसङ्ग मे 'गार्गिकया श्लाघते' को उदाहृत करते हैं—उपाधिविशेषणयोश्च वाच्यत्वावाच्यत्वाभ्या विशेषः, तथाहि—दृतिहरिरिति प्रत्ययेन पशुः कर्ताभिधीयते इति पशुरुपाधि । गार्गिकया श्लाघते इति श्लाघा वुञा नाभिधीयते इति विशेषणमुच्यते (प्रदीप)।

कभी-कभी उपाधि और विशेषण का पर्याय की तरह व्यवहार होता है (उपाधिश्चेह तुल्यन्यायत्वाद् विशेषणमप्युच्यते—प्रदीप ३।१।१) । अन्यत्र नागेश ने कहा है—विशेषणमात्रमत्रोपाधिशब्देन नत्वर्थविशेष उपाधिरिति लक्षित (उद्द्योत ७।२।१८)। वृहच्छब्देन्दु गत 'विषयो देशे' सूत्र की व्याख्या में यह विचार और भी स्पष्ट है, यथा—देशोऽत्र प्रत्ययोपाधि, प्रकृतिप्रत्ययसमुदायशक्य इति यावत् । क्वचिद् देशपदप्रयोगस्तु नानार्थत्वात् सन्देहवारणाय । प्रयोगोपाधिस्तु न शक्य' इति ततो विशेष' (अयमेव विशेषणमुच्यते—यह अधिक पाठ क्वचित् है)। यथा गार्गिकया श्लाघते इत्यादौ श्लाघादय । ते हि पदान्तरसमभिव्याहारेण गम्यन्ते, न तु तत्पदजन्यबोधविषया । यथा वा 'शास्त्रे नयते' इत्यत्र शास्त्रस्थसिद्धान्त-प्रापणफलत्वेन शिष्यसम्मानन मानसबोधविषयो न शाब्दबोधविषय इति । एव जातीयकमेव विशेषणमित्युच्यते । स्पष्ट चेद प्रत्यय इति सूत्रे उपदेशेऽजनुनासिक इति सूत्रे च कैयटे (पृ० १३०७)।

अट्ठाईसवाँ परिच्छेद

वाक्यपदीय का एक सांशयिक श्लोक

कीलहर्न (Kielhorn) महोदय वैयाकरण समाज में सुपरिचित हैं। उन्होंने महाभाष्य का जो सुसंस्कृत सम्पादन किया है[1] वह चिरकाल तक गुणग्राही अध्येताओं का भूषण रहेगा। भारतीयों ने इससे अच्छा संस्करण अभी तक नहीं निकाला।

यहां एक ऐसा स्थल उपस्थित किया जा रहा है जिससे यह सूचित होगा कि आचार्य कीलहर्न भी एकस्थल में शायद अनवेक्षणदोष में पतित हो गए थे। हम चाहते हैं कि शब्दशास्त्ररसिक विद्वान् इस स्थल पर ध्यान दें जिससे तथ्य का ज्ञान हो जाय। बात इस प्रकार है—

म म पाण्डुरङ्ग वामन काणेजी Hist. of Dh में लिखते हैं—'मनु के १२।११८ श्लोक पर भाष्यकार मेधातिथि ने वाक्यप्रदीप ग्रंथ से एक श्लोक उद्धृत किया है (भाग १ पृ २७२)। यह कहकर उन्होंने यह पादटिप्पणी दी है-'उक्तं च वाक्यप्रदीपे—न तदस्ति न तन्नास्ति इत्यादि Dr Kielhorn told Dr Buhler that this verse is not found in the वाक्यप्रदीप of हरि (S B. E. भाग २५ पृ १२१ टि १)'[2] अर्थात् डा कीलहर्न ने डा० बुह्लर को कहा था कि मेधातिथि के द्वारा वाक्यप्रदीप के नाम से उद्धृत न तदस्ति ——— इत्यादि श्लोक भर्तृहरिकृत वाक्यप्रदीप ग्रन्थ में नहीं मिलता।

१—कीलहर्नजी की दूसरी कृति है—परिभाषेन्दुशेखर का अंग्रेजी अनुवाद। इस अनुवाद (सटिप्पण) की प्रशंसा सबको करनी ही होगी। कीलहर्नजी के कुछ व्याकरणसम्बन्धी लेख हैं जो बहुत ही उपादेय हैं। भर्तृहरिकृत महाभाष्य टीका की सूचना शायद इन्होंने ही सबसे पहले दी थी। कीलहर्नजी अपने को नागेशीय परम्परा के व्यक्ति कहते थे और उन्होंने यह बात परिभाषेन्दुशेखर की भूमिका में स्पष्ट कही है।

२—Prof Kielhorn informs me that the verse does not occur in हरि's वाक्यपदीय which sometimes is called वाक्यप्रदीप।

उपर्युक्त विषय मे पहले ही यह ज्ञातव्य है कि 'वाक्यप्रदीप' पाठ के स्थान पर 'वाक्यपदीय' होगा। मनुस्मृति के सुसपादित संस्करणो मे 'वाक्यपदीय' पाठ ही है। हरि या भर्तृहरि का वाक्यप्रदीप नामक कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ ज्ञात नहीं है।

अब उपर्युक्त श्लोक वाक्यपदीय मे है या नही—इसपर विचार किया जा रहा है। वाक्यपदीय के तृतीय काण्ड मे एक श्लोक इस प्रकार है—

न तदस्ति च तन्नास्ति न तदेक न तत् पृथक्।
न संसृष्ट विभक्त वा विकृतं न च नान्यथा॥

(वाक्य प० ३।२।१२, द्रव्यसमुद्देश)। हमारा कहना है कि मेधातिथि का लक्ष्य यह श्लोक है।

इस विषय में ये युक्तियाँ हैं—

मनु के १२।११८ श्लोक में आत्मज्ञान (सर्वात्मदर्शन) का विचार है। (इससे पहले श्लोक मे मनुकर्तृक शास्त्रप्रवचन की बात कही गई है)। कुल्लूक कहते हैं—'आत्मज्ञान प्रकृष्टमोक्षोपकारकतया पृथक्कृत्याह सर्वमिति' (१२।११८ श्लोकटीका की पातनिका)। यह अन्य टीकाकारो का भी सम्मत है। यहाँ जो 'सपश्येत्' किया है, उसके विषय मे मेधातिथि कहते हैं—'अत. सपश्येदिति ज्ञेयान्तरविषयज्ञाननिराकरणेन तदेकज्ञेयनिष्ठाम् अनुब्रूयात्', अत जो अद्वैतात्मक एकमेव ज्ञेय विषय है, तत्सम्बन्धी विषय ही इस श्लोक का प्रतिपाद्य है।

श्लोक मे जो 'आत्मन्' शब्द है, उसका विवक्षित अर्थ 'परमात्मा' है, यह मेधातिथि ने बहुत विचार कर दिखाया है (शरीरात्मा आदि अन्य अर्थ यहाँ अप्रयोज्य हैं)। इससे यह स्पष्ट होता है कि इस श्लोक के मेधातिथिभाष्य मे उद्धृत श्लोक परमात्मविषयक या परमब्रह्मविषयक या अद्वैतवस्तुविषयक होगा।

अब यदि हम वाक्यपदीय के ३।२।१२ श्लोक को देखे तो प्रतीत होगा कि मेधातिथि ने जिस प्रसङ्ग मे वाक्यपदीय श्लोक का उद्धरण दिया है, उस प्रसङ्ग मे यह श्लोक ठीक बैठता है। वाक्यपदीय-टीकाकार हेलाराज 'न तदस्ति' श्लोक की व्याख्या मे लिखते हैं— 'वैकारिकसर्वव्यवहारातीतत्वात् परमार्थिकेन रूपेण विकारात्मक तत्त्व न भवति। तथाहि-अस्तीति न शक्यते व्यवहर्तुम्, सत्त्वोपाधिकस्य स्वरूपस्य तत्त्वस्वरूपायोगात् तेनात्मना व्यवहारानवतारात्। नापि नास्तीति अभावोपाधिकस्यापि अतथात्वात्। प्रमाणेन भावात्मकस्य तत्त्वस्य अचोदितत्वात्। एकसख्योपाधीयमानस्वरूपविशेष तत्त्व न भवति, निरूपाधिन·

सत्त्वस्य वस्तुतऽभिन्नत्वात् तथा च एकमित्यप्रतीतेः। नापि पृथकत्वादिगुणविशेष सद्भिन्नस्य प्रसत्त्वात्। नापि संसर्गोपाधिकं विभागोपाधिकं वा। ततो द्वितीयस्य प्रमाणेन अनुपपत्तः कुतः अभिन्नं विभक्तं च केन वा संसृष्टं स्यात्। परिणाम निषेधेन विवर्ताभ्युपगमात् न विकृतम्। अनेकमात्रग्रामस्यतथा वाङ्मयतया वृत्त्या विवर्तनाद् अविकृतमित्यपि न शक्यते व्यवहर्तुं मिति सर्वव्यपदेशातीतं परं ब्रह्म"।

इस व्याख्या से सूचित होता है कि वाक्यपदीय का 'न तदस्ति——' (१।२।१२) श्लोक को ही मेधातिथि ने मनुभाष्य (१२।१८) में उद्धृत किया है।

'नास्ति' के स्थान पर 'नास्मि'[1] पाठ हो जाना बहुत साधारण बात है जो लोग ग्रन्थसम्पादन करते हैं वे जानते हैं कि ऐसा भ्रम हो ही जाता है।

इतना होने पर भी हम यह कहना चाहते हैं कि कीलहर्नसदृश विद्वान् में ऐसे प्रमादेक्षण दोष का होना एक आश्चर्य की बात है। क्या कीलहर्न के पास कोई अन्य संस्करण था या किसी ऐसे हस्तलेख के आधार पर उन्होंने अपना निश्चय किया था जिसमें यह श्लोक नहीं था? मेधातिथि ने पूरे श्लोक का उद्धरण नहीं दिया अतः हम अधिक विचार भी नहीं कर सकते। मेधातिथि ने 'न तदस्ति न तत्नास्मि' इतना ही अंश उद्धृत किया है। वाक्यपदीय में ऐसा अन्य श्लोक नहीं मिल रहा है, अतः अन्तिम निर्णय विद्वानों पर छोड़कर लेख की समाप्ति कर रहा हूँ।

इति महावैयाकरण-श्रीरघुनाथशर्मास्तेवासिना गार्ग्येण तैत्तिरीयेण रामशंकरभट्टाचार्येण विरचितः 'पाणिनीयव्याकरण का अनुशीलन'-नामा ग्रन्थः समाप्तः ॥

—◆—

[1]—मेधातिथिभाष्य के सभी संस्करणों में 'तत्नास्मि' पाठ ही है, यह आश्चर्य का विषय है। मानवधर्मशास्त्र म हरप्रसादपरिश्रम का गङ्गानाथ झा महोदय भी यही पाठ स्वीकार करते हैं जो कि उनके द्वारा इस अनुवाद (There is nothing in name ——) से ज्ञात होता है।

प्रमुखशब्द-सूत्र-वाक्यादि की सूची